प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधाराएं

Ancient Indian Political Thought

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारायें

ANCIENT INDIAN POLITICAL THOUGHT

रस्तोगी पब्लिकेशन्स
शिवाजी रोड मेरठ-२५०००२

समस्त विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्य-पुस्तक

लेखक

डा० सुरेन्द्र नाथ मित्तल

राजनीति शास्त्र विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

प्राक्कथन

डा० अम्बादत्त पंत

अध्यक्ष राजनीतिशास्त्र विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारधारायें

ANCIENT INDIAN POLITICAL THOUGHT

रस्तोगी पब्लिकेशन्स

शिवाजी रोड मेरठ–२५०००२

अन्य महत्वपूर्ण पाठ्य-पुस्तकें

१. पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें भाग १ (प्लेटो से बर्क तक)	डा० के. एन. वर्मा
२. पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें भाग २ (बेन्थम से वर्तमान तक)	,,
३. राजदर्शन भाग १ (प्लेटो से कन्सीलियर आन्दोलन तक)	,,
४. राजदर्शन भाग २ (मैक्यावली से बर्क तक)	,,
५. राजदर्शन भाग ३ (बेन्थम से मैग्डूगल तक)	,,
६. राजदर्शन भाग ४ (मार्क्स से वर्तमान तक)	,,
7. History of Political Thought (Vol. I—Plato to Burke) (Vol. II—Bentham to Present day)	**Dr. Sukhbir Singh**
८. आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधारायें	डा० वीरेन्द्र शर्मा
९. भारत में शासन एवं राजनीति का विकास	डा० पी. शरण
१०. भारत में शासन एवं राजनीति	,,
११. प्रमुख शासन पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन	,,
१२. लोक प्रशासन	डा० डी. सी. चतुर्वेदी
१३. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (१९१९ से वर्तमान तक)	,,
१४. अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (१९३९ से वर्तमान तक)	,,
१५. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति	,,
१६. राजनीतिक निबन्ध	डा० के. एन. वर्मा

प्रथम संस्करण :

मूल्य : १५·०० रुपये

राकेश रस्तोगी द्वारा रस्तोगी पब्लिकेशन्स, शिवाजी रोड, मेरठ—२५० ००२
के लिए प्रकाशित तथा पायनियर प्रिंटर्स मेरठ—२५० ००२ में मुद्रित ।

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों तथा संस्थाओं पर गत पाँच दशकों में भारतीय विद्वानों द्वारा अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतीय इतिहास तथा समाज और राज्य के वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारम्भ किया था परन्तु उनकी यह धारणा थी कि यद्यपि प्राचीन भारत ने धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की थी, तथापि लौकिक शास्त्रों का उस काल में विकास नहीं हो सका था, क्योंकि मुमुक्षु होने के कारण उनके लिए भौतिक जगत तथा लौकिक उपलब्धियाँ निरर्थक थीं। वास्तव में धर्मशास्त्रकारों का दृष्टिकोण भी इस प्रकार एकांगी नहीं था। मनु ने स्पष्ट ही त्रिवर्ग पर बल दिया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के उद्धार के उपरान्त पाश्चात्य विद्वानों के इस दृष्टिकोण में क्रमशः परिवर्तन अवश्यम्भावी था। सभी विद्वानों ने इस ग्रन्थ को प्रत्येक दृष्टि से राजनीतिशास्त्र का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ स्वीकार किया और पाश्चात्य राजनीति के साहित्य में जो स्थान ऐरिस्टाट्ल की "पालिटिक्स" का है, वही इसे प्राचीन भारत में दिया गया। कौटिल्य पर अनेक पुस्तकें तथा लेख भारतीय विद्वानों द्वारा तथा पाश्चात्य विद्वानों द्वारा लिखे गये। इसी काल में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के कारण समस्त प्राचीन भारतीय राजनीतिक साहित्य का अध्ययन एक नवीन दृष्टिकोण से किया गया। भारतीय विद्वानों का मुख्य प्रयास यह सिद्ध करना था कि प्राचीन भारतीय उन संस्थाओं अथवा सिद्धान्तों से अपरिचित नहीं थे जिन्हें पाश्चात्य विद्वान प्राचीन योरुप की विशेष उपलब्धि मानते थे। इसीलिये लोकतंत्र, गणतंत्र, संवैधानिक शासन, सीमित राजतंत्र, निर्वाचित-सभाएं आदि सभी की सत्ता का प्राचीन भारत में सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया। इसमें, निस्सन्देह ऐतिहासिक आधार पर सभी सत्य नहीं था। इसलिये अधिक संतुलित दृष्टिकोण से अध्ययन आवश्यक था और अनेक भारतीय विद्वानों ने ऐसा किया।

भारतीय विश्वविद्यालयों में प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार तथा संस्थाओं के अध्ययन को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया है। इसलिये इस विषय में प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रणयन की अतीव आवश्यकता है। साथ ही यह भी वाञ्छनीय है कि प्राचीन-पाश्चात्य राजनीतिक अवधारणाओं तथा भारतीय अवधारणाओं में जो अन्तर है उसे स्पष्ट कर दिया जाय। डा० सुरेन्द्र नाथ मित्तल ने, जो प्रयाग विश्वविद्यालय में गत अनेक वर्षों से पाश्चात्य तथा भारतीय राज्य सिद्धान्तों के अध्यापक हैं इसी दृष्टि से, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की

आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये, इस पुस्तक को लिखा है। विद्वान लेखक ने मौलिक तथा प्रामाणिक सहायक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया है और इसके फलस्वरूप प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की विशिष्टताओं के स्पष्टीकरण में वे सफल हुए हैं।

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र-प्रणेता राज्य को मनुष्य-जीवन के सुव्यवस्थित संचालन के लिये अनिवार्य समझते थे। परन्तु साथ ही राज्य 'आत्मनोवर्ल्मनः' रेखा मात्र भी अतिक्रमण नहीं कर सकता था। अधार्मिक तथा अनैतिक राजा के लिये शान्तिपर्व में कहा गया है कि "अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थाधिगच्छति। अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति।।" जब राजा को 'कालस्य कारनम्' या 'सर्व-देवमय' कहा गया है तो वास्तव में ये उक्तियाँ उसके कर्तव्यों पर बल देती हैं न कि प्रजा के प्रति उसके अनुत्तरदायित्व पर। राज्य की सुरक्षा के लिये गम्भीर संकट उत्पन्न हो जाने पर आपद्धर्म के रूप में अनैतिक मार्ग का अवलम्बन किया जा सकता है, परन्तु इसकी कभी भी सामान्य नियम के रूप में प्रतिष्ठा नहीं की गई है। इस पुस्तक में विद्वान लेखक ने प्रसंग क्रम से विषय-वस्तु का विवेचन आलोचनात्मक दृष्टिकोण से किया है। मुझे पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक अपने उद्देश्य में सफल होगी।

अध्यक्ष, राजनीति विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

अम्बादत्त पंत

के मन में रही हो कि भारतीय सभ्यता यूरोपीय सभ्यता से पुरानी न मान ली जाये और हो सकता है कि इसके आधार पर भी कुछ मात्रा में काल-निर्णय हुआ हो। अतः प्रत्येक ग्रन्थ को कितने बाद में रखा जा सकता है, इसकी विद्वानों में होड़ सी लगी दिखायी देती है। इस समय के अध्ययन को जो धारणा पर्याप्त मात्रा में प्रभावित कर रही है, वह यह है कि भारतीय विकास-क्रम यूरोपीय विकास-क्रम के सदृश तथा उसी के समकालीन होना चाहिये। इस कारण प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के आधुनिक काल निर्धारण को बहुमात्रा में निष्पक्ष मानना कठिन है। कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि अधिकांश ग्रन्थों का काल-निर्धारण बहुत कठिन और आनुमानिक है। अतः उसके आधार पर अध्ययन करना कहाँ तक उचित है, इस पर आधुनिक विद्वानों को पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

इस पद्धति के अध्ययन में एक और त्रुटि है, वह यह कि उससे भारतीय विचार खण्डित, मतभेदपूर्ण और परिवर्तनशील तथा प्रवाहमान प्रतीत होता है। इसके कारण भारतीय विचार की आत्मा और उसका स्वरूप समझना कठिन हो जाता है। इस कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में इस पद्धति से विचार नहीं किया गया है और, भारतीय विचारों का, जो प्रायः सर्वमान्य स्वरूप है, वह दिग्दर्शित करने का प्रयत्न है। इसके पीछे यह भाव नहीं है कि विभिन्न ग्रन्थों में मतभेद है ही नहीं परन्तु वह मतभेद इतने ऊपरी है कि मौलिक विचारों की एकता को प्रभावित नहीं करते।

यह पुस्तक लेखक द्वारा प्रयाग विश्वविद्यालय में डी० फिल० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोध-प्रबंध के राजनीति सम्बंधी अध्यायों का एक परिवर्धित रूप है। शोध-प्रबन्ध का विषय था, "राष्ट्र, राज्य और समाज की समस्याओं पर भारतीय विचार।" उसमें से राज्य-सम्बन्धी अध्याय निकाल कर उसमें दो पृथक् प्रास्ताविक अध्याय जोड़े गये हैं। इसके अतिरिक्त उस शोध प्रबन्ध की तुलना में राजनीतिक विचारों सम्बन्धी लगभग १००-१५० पृष्ठों की सामग्री और जोड़ी गयी है जिससे पुस्तक विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी हो सके। पुस्तक बहुत-कुछ मात्रा में प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों के मौलिक अध्ययन पर आधारित है। जिन विषयों पर लेखक का मौलिक अध्ययन नहीं है वह बाद में परिशिष्ट के रूप में जोड़े गये हैं, क्योंकि पाठ्य-पुस्तक की दृष्टि से वे जोड़ने आवश्यक थे। वह अन्य विद्वानों की पुस्तकों पर आधारित हैं जिनमें प्रमुख श्री काशी प्रसाद जायसवाल की Hindu Polity और History of Ancient Indian Political Ideas श्री उपेन्द्रनाथ गोपाल की Studies in Indian History and Culture तथा महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे की History of Dharmashastra का तृतीय खण्ड। इन पुस्तकों के अतिरिक्त जिन अन्य ग्रन्थों को विभिन्न प्रकार के मतों के लिए पढ़ना होगा वे हैं—डा. डी. आर. भण्डारकर की Some Aspects of Ancient Indian Polity, श्री एन. सी. बन्धोपाध्याय की Development of Hindu Polity and Political Theories श्री रामशरण शर्मा की Aspects

अन्त में लेखक उन सब व्यक्तियों के प्रति आभार प्रकट करता है जो इस पुस्तक के इस रूप में प्रकाशन में सहायक हुए हैं। सर्वप्रथम प्रयाग विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग के भूतपूर्व तथा वर्तमान अध्यक्ष डा० ईश्वरीप्रसाद तथा डा० अम्बादत्त पन्त के प्रति लेखक आभार प्रकट करता है जो उसके शोध प्रबन्ध में मार्गदर्शक रहे। इनमें भी डा० पन्त के प्रति विशेष आभार है क्योंकि उस शोध-प्रबन्ध का अधिकांश भाग उन्हीं के मार्गदर्शन में किया गया तथा इस पुस्तक का प्रकाशन भी उन्हीं के प्रोत्साहन से सम्भव हो सका है। इसके अतिरिक्त डा० पन्त ने इस पुस्तक का 'प्राक्कथन' भी लिखा है जो उनकी अतिशय कृपा का परिचायक है। लेखक प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकेडेमी तथा उसके सचिव और सहायक सचिव श्री उमाशंकर शुक्ल तथा डा० सत्यव्रत सिन्हा के प्रति भी कृतज्ञ है जिन्होंने हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित लेखक की पुस्तक के चार अध्यायों को प्रस्तुत पुस्तक में उपयोग करने की कृपापूर्वक अनुमति दी है। लेखक 'रस्तोगी पब्लिकेशन्स' मेरठ के प्रबन्धक रस्तोगी बन्धुओं का आभारी है जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन आदि सभी बातों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

राजनीतिशास्त्र विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग

सुरेन्द्र नाथ मित्तल

विषय-सूची

अध्याय

अध्याय १

प्रस्तावना

भारतीय राज्यशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व भारतीय विचारों से सम्बन्धित कुछ प्रमुख मान्यताओं को पहिले जान लेना आवश्यक है। इसलिये हम इन्हीं मान्यताओं से विचार का प्रारम्भ करेंगे।

१. भारतीय विचार

भारतीय शास्त्रों की एकात्मता—भारतीय विचारों का अध्ययन करने पर जो सबसे प्रथम और सबसे महत्व की बात दिखाई देती है वह यह है कि विभिन्न भारतीय शास्त्रों का विचार (समाजशास्त्र, राज्यशास्त्र, वित्तशास्त्र, आदि) एकात्मतापूर्ण है। जबकि पश्चिम में विविध शास्त्रों के अपने-अपने पृथक क्षेत्र में, उनके अपने-अपने पृथक सिद्धान्त विकसित हुये हैं तथा उन शास्त्रों का पारस्परिक सम्बन्ध पाठ्य पुस्तकों में सिद्ध करने की आवश्यकता होती है वहाँ भारतीय विचार में उनका सम्बन्ध तथा उनकी एकता स्वयं सिद्ध है। यह इससे तो स्पष्ट हो ही सकता है कि भारत में बहुत से विषय तो वेदों से सम्बन्धित ही माने गये हैं, यथा १. आयुर्वेद, गान्धर्ववेद (संगीत और नाट्य), धनुर्वेद (अर्थात् सैनिक शिक्षा और शस्त्रविद्या) और अर्थशास्त्र जो उपवेद हैं, तथा शिक्षा, कल्प, (अर्थात् धर्मसूत्र जिससे समाज-जीवन और व्यक्ति-जीवन के नियमों का वर्णन है, २. गृह्यसूत्र जिसमें व्यक्तिगत संस्कारों और पारिवारिक कृत्यों का वर्णन हैं, ३. श्रौतसूत्र जिसमें समाज-जीवन संगठित करने वाले यज्ञों का वर्णन है—देखिये आगे यज्ञ, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण जो वेदांग कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त चार पुरुषार्थों का वर्णन करने वाले—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का वर्णन करने वाले ग्रन्थ तथा चार विद्यायें—आन्वीक्षकी अर्थात् दर्शनशास्त्र, त्रयी अर्थात् धर्मशास्त्र, दण्डनीति, तथा वार्ता—भी परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध माने जाते हैं। इन सब विषयों के अन्तर्गत ही प्रायः सभी विषयों का समावेश हो जाता है और इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि भारतीय परम्परा में इन सब विषयों को किस प्रकार एकात्मतापूर्ण माना गया है। परन्तु भारतीय परम्परा की इस मान्यता को यदि हम एक बार छोड़ भी दें और इन विषयों का विवेचन ही देखें तो वहाँ भी इन विषयों की एकात्मता स्वयमेव ज्ञात हो जाती है। सम्पूर्ण भारतीय विचार का ही प्रारम्भ मोक्ष से होता है अर्थात् इस बात से कि मनुष्य को शनैः शनैः सांसारिक स्वार्थों और तृष्णा से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त परमात्मा के साथ एकात्म हो जाना चाहिये। सभी शास्त्र अपने-अपने विवेचन का प्रारम्भ यहीं से करते हुए उसके ही आधार पर अपने

सम्पूर्ण सिद्धान्तों का विकास करते हैं। केवल दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र ही नहीं अपितु अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, आयुर्वेद और नाट्यशास्त्र जैसे लौकिक शास्त्रों का विवेचन भी मोक्ष का लक्ष्य सम्मुख रखकर होता है और इन शास्त्रों के विवेचन के प्रारम्भ में ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि यह शास्त्र किस प्रकार मनुष्य के लिये उसकी उस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है तथा उनमें से प्रत्येक शास्त्र उसी दृष्टि को ध्यान में रखकर जीवन के व्यवहार का विवेचन करता है। इसके अतिरिक्त जहाँ कहीं भी इन शास्त्रों में समान विषयों का वर्णन है वहाँ यही दिखाई देता है कि इन सभी शास्त्रों में उन समान विषयों का एक ही विवेचन किया गया है (यथा दर्शन और धर्मशास्त्रों में सामान्य धर्म का यम और नियमों के रूप में विवेचन तथा धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में समाज-जीवन के नियम)। भारत के अन्दर विविध विषयों अर्थात् शास्त्रों की एकता की मान्यता इससे भी स्पष्ट हो सकती है कि प्रमुख भारतीय ग्रन्थों में यथा श्रुतियों में अथवा इतिहास-पुराण ग्रन्थों में विविध विषयों का एक साथ ही विवेचन किया गया है यहाँ तक कि उपनिषद जैसे अध्यात्म परक श्रुति ग्रन्थों में भी जीवन के विविध अंगों के नियम मिलते हैं। इस कारण जब हम भारतीय राज्यशास्त्र का विचार प्रारम्भ करें तो हमें इस बात को सदैव ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है। यदि यह बात ध्यान में नहीं रही तो भारतीय विचार का अध्ययन त्रुटिपूर्ण होगा। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो ही जाता है कि भारतीय ग्रन्थों में राज्य व्यवस्था की विवेचना भारतीय समाज-रचना से पृथक नहीं उससे गुंथी हुई ही है।

समाज-रचना की पूर्णता और सनातनत्व—भारतीय समाज-रचना और उससे सम्बद्ध राज्य-रचना के विषय में अध्ययन करते हुए भारतीय विचार की इस मान्यता को भी ध्यान में रखना होगा कि यह सम्पूर्ण रचना साक्षात् या परम्परा श्रुति से निकली हुई है अर्थात् आप्तकाम अतः निःस्वार्थी और परमात्मा से एकात्मता प्राप्त किये हुए अर्थात् सांसारिक जीवन के मोहों और संघर्षों से ऊपर उठे हुए ऋषियों के द्वारा विभिन्न सत्यों का साक्षात्कार कर उनके आधार पर इस समाज-जीवन का विकास किया गया है। इस कारण एक तो यह माना जाता है कि यह समाज-रचना (जिसमें राज्य-रचना भी सम्मिलत है) पूर्ण है अर्थात् इसमें सभी सम्भव परिस्थितियों और दृष्टिकोणों को ध्यान में रख इसका निर्माण किया गया है तथा दूसरे, यह कि यह समाज-रचना सनातन है अर्थात् किसी भी काल में यदि इसे इसके पूर्णरूप में लागू किया किया जाय तो यह समाज में सबसे अधिक सुख देने वाली तथा मनुष्य को सबसे शीघ्र उसके लक्ष्य की ओर विकसित करने वाली होगी अर्थात् मनुष्य को सबसे शीघ्र अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग पर पहुँचाने वाली होगी। भारतीय समाज-रचना और राज्य रचना का विचार करते समय इस एक मान्यता को ध्यान में रखना इसलिये बहुत आवश्यक है क्योंकि इसके आधार पर भी उसका स्वरूप समझने में सुविधा होगी।

भारतीय विचार पश्चिमी विचार से भिन्न—भारतीय विचार का विश्लेषण करते समय बहुत से विद्वानों में यह भी प्रवृत्ति दिखाई देती है कि वे वर्तमान कालीन पश्चिमी विचारकों के सिद्धान्त इन भारतीय ग्रन्थों में खोजने का प्रयत्न करते हैं अथवा उन्हें कहीं-कहीं इन वर्तमानकालीन सिद्धान्तों का प्रतिरूप भी अपने इन प्राचीन ग्रन्थों में दिखाई देता है। उदाहरण के लिये राज्य उत्पत्ति की भारतीय कथाओं में दैवी उत्पत्ति का तथा सामाजिक समझौते का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न किया है यद्यपि भारतीय विचारकों ने इनमें से किसी को ध्यान में रखकर विचार नहीं किया। अथवा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि भारत में किस प्रकार से पश्चिमी विचार पर आधारित संवैधानिक लोकतन्त्र अथवा गणतन्त्र ही मान्य था जबकि भारत में राजतन्त्र अथवा गणतन्त्र की धारणा पश्चिम से बिल्कुल भिन्न है। भारतीय विचारों में उपरोक्त प्रकार के सिद्धान्त बलपूर्वक खोजने का प्रयत्न, विशेष रूप से यह सिद्ध करने के लिये कि वर्तमान काल के अग्रणी पश्चिमी देशों में जो बातें अच्छी मानी जाती हैं अथवा उन देशों के अन्दर जिन बातों का विचार किया है वे सब भारत में विद्यमान थीं अथवा उनका स्पष्ट विचार इन ग्रन्थों में मिलता है, अनुचित है। भारतीय विचारकों ने तो केवल अपने विचारों के अनुसार तथा अपने सिद्धान्तों पर आधारित एक सुव्यवस्थित तथा सुयोजित रचना का विचार किया था और उसी का मण्डनात्मक वर्णन इन ग्रन्थों में मिलता है। इसलिये उसमें जो बातें उन्हें अपने सिद्धान्तों के अनुकूल और अपनी रचना के अन्तर्गत ठीक लगीं उसी को उन्होंने स्वीकार किया है, अन्य किसी को नहीं, और वर्तमान काल के पश्चिमी सिद्धान्तों अथवा पद्धतियों को ध्यान में रखकर उनके अनुकूल उन्होंने विचार नहीं किया था, जैसा वर्तमानकालीन कुछ विद्वान मानना चाहेंगे। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय विचारों का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष के रूप में जानना संभव है कि कौन-कौनसे सिद्धान्त (चाहे वे किसी काल के हों) भारतीय विचार में मान्य थे और कौनसे नहीं और कोई सिद्धान्त यदि मान्य भी था तो किस सीमा तक। भारतीय विचार वर्तमानकालीन विचारों की छाया नहीं हैं, वे स्वतन्त्र विचार हैं।

२. भारतीय ग्रन्थों में विचारों की एकता

इन विविध ग्रन्थों में राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी जिन विचारों का उल्लेख किया गया है उनके विषय में इस धारणा से विचार करना भी अनुचित होगा कि इन ग्रन्थों में पारस्परिक मतभेद हैं। इस मान्यता का मूल यह है कि पश्चिम में दिखाई देता है कि वहाँ के विभिन्न विचारकों और शास्त्रकारों में पारस्परिक विचार भेद है तथा इस कारण उनमें से लगभग प्रत्येक अपने पूर्व के विचारकों की आलोचना करते हुए उनका खण्डन करता है। उसी आधार पर पश्चिमी विद्वानों ने तथा उसी परम्परा के आधार पर चलने वाले भारतीय विद्वानों ने यह विचारकर कि विविध भारतीय ग्रन्थों में भी ऐसा ही मतभेद तथा इसी प्रकार का परस्पर

खण्डन-मण्डन होना ही चाहिये उसको यहाँ खोजने का प्रबल प्रयत्न भी किया है परन्तु इसके विपरीत भारतीय मान्यता यह है कि यह विविध ग्रन्थ एक ही विचारों का प्रतिपादन करते हैं। इसलिये भारतीय विचार का विचार करते समय इसी भारतीय मान्यता के अनुसार चलना ठीक होगा क्योंकि यदि हम किसी जाति का विचार उचित रूप से समझना चाहते हैं तो हमें उसकी मान्यताओं को मानकर चलने से ही उसे समझना संभव होगा। इससे विपरीत ढंग से विचार करने पर उसके संबंध में योग्य धारणायें नहीं निर्माण हो सकतीं। इतना तो हो सकता है कि इन ग्रन्थों में विषय का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया हो अथवा किसी एक लेखक द्वारा किसी एक विषय का वर्णन दूसरे लेखक की तुलना में अधिक हो गया हो और किसी दूसरे का कम हुआ हो परन्तु यह मतभेद का द्योतक नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिये शान्तिपर्व में राज्यशास्त्र का विवेचन युधिष्ठिर और भीष्म के प्रश्नोत्तर के रूप में किया गया है जिसमें कुछ ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर मिलता है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है तथा राजतन्त्र की मान्यता का कारण अथवा राजतन्त्र में अनैतिक दिखने वाली नीतियों के अनुसार चलने के कारण। परन्तु इससे यह सिद्ध करना गलत है कि इस ग्रन्थ में वर्णित मत दूसरे ग्रन्थों के मतों से भिन्न है। अथवा कौटिल्य अर्थशास्त्र में पर-राज्य सम्बन्धों की कुछ बातों का (विशेष रूप से परकीय राजा को मारने का तथा उसकी प्रजा को अपनी ओर मिलाने के प्रयत्नों का) बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह बातें अन्य ग्रन्थों में संक्षेप में लिखी गई हैं परन्तु इन सबमें मतभेद कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता अथवा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजा का दैनिक कार्यक्रम दिया हुआ है जिसमें थोड़ा बहुत अन्तर होगा परन्तु यदि हम उसका विस्तारपूर्वक विचार करेंगे तो हमें उनमें लगभग समान कार्यक्रम ही दिखाई देगा। कौटिलीय अर्थशास्त्र में ऐसा अवश्य है कि कौटिल्य ने अपने पूर्व के कुछ विचारकों अथवा पूर्व की विचार पद्धतियों का मत प्रकट कर उनका खण्डन किया है परन्तु वे विचारक अथवा विचार-पद्धति आज अपने मूल रूप में नहीं मिलती हैं जिससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भारत ने जिस प्रकार मान्य ग्रन्थों और प्रमुख विचार पद्धतियों के संरक्षण करने का प्रयत्न सहस्रों वर्षों तक किया था वैसा संरक्षण कौटिल्य द्वारा वर्णित इन विचार-पद्धतियों का नहीं किया गया और इस कारण यह निश्चित ही है कि उन्हें भारत में विशेष मान्यता नहीं मिली थी। कहीं-कहीं पर ऐसा भी होता है कि कुछ साधारण बातों पर मतभेद भी है, पर ऐसा मतभेद बहुत विस्तार की बातों पर है, प्रमुख बातों में नहीं। उदाहरण के लिये मनुस्मृति में राज्य के सात अंग माने गये हैं— स्वामी, मंत्री, पुर, राष्ट्र, कोश, दण्ड और मित्र। कौटिल्य के अनुसार भी राज्य के सप्तांग यही हैं। इसके पश्चात दोनों ग्रन्थों ने उनके महत्व का क्रम वर्णित किया है। यह महत्व का क्रम भी एक ही है केवल पुर और राष्ट्र का क्रम दोनों में बदला हुआ

है। यह साधारण सा अन्तर है और दोनों ग्रन्थों की मूल विचारधारा के मतभेद का द्योतक नहीं है। अथवा याज्ञवल्क्यस्मृति तथा शुक्रनीति ने न्यायालयों की जो सूची दी है वह एक ही है। दूसरी ओर कौटिल्य अर्थशास्त्र ने न्यायालयों का जो वर्णन किया है उससे ऐसा प्रकट होता है कि वह इन सूचियों से भिन्न है, परन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होगा कि दोनों में अपराध-सम्बन्धी तथा अन्य धन-सम्बन्धी विवादों के लिये पृथक न्यायालयों का वर्णन है तथा दोनों में सर्वोच्च रीति से न्याय का कार्य राज्य के ही पास है। अतः दोनों में प्रमुख अन्तर कोई नहीं है। केवल कौटिलीय अर्थशास्त्र के वर्णन में स्थानीय न्यायालयों की परम्परा का प्रमुख रीति से वर्णन किया गया है तथा अन्य दोनों ग्रन्थों में जातीय न्यायालयों की परम्परा का। इस प्रकार यह ग्रन्थ यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार के न्यायालयों का वर्णन करते हैं परन्तु एक दूसरे से मतभिन्नता नहीं रखते।

भारतीय विचार-मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित—इन सभी अधिकृत ग्रन्थों के विचारों की एकात्मता का मूल कारण, जैसा ऊपर बताया गया, यह है कि सभी विचारकों के विचार का प्रारम्भ कुछ मूल-भूत तत्वों से हुआ है और उन तत्वों के आधार पर क्रमशः रेखागणित के वृद्धिगत सिद्धान्तों के समान एक बढ़ती हुई पद्धति का निर्माण किया गया है। जो मूलभूत तत्व हैं उनको सभी भारतीय विचारकों ने रेखागणित के स्वयंमान्य सत्यों (axioms) के समान ही स्वयंसिद्ध तथा सर्वकालिक माना है। इसलिये उसके आधार पर निर्मित इस सम्पूर्ण समाज और राज्य रचना को भी उन्होंने सर्वकालिक ही माना है। अतः सभी मान्य भारतीय ग्रन्थ, चाहे वे किसी भी काल में लिखे गये हों समान रूप से उसी एक पद्धति का (उसके श्रेष्ठ मानने के कारण) वर्णन करते हैं तथा यह भी आग्रह करते हैं कि समाज और राज्य द्वारा उसी को माना और उसी का पालन किया जाय। भारतीय विचार में यह भी माना गया है (जैसा ऊपर बताया गया) कि यह आधारभूत तत्व संसार से अलिप्त तथा त्रिकालदर्शी ऋषियों द्वारा अनुभूत हैं और उन्होंने ही स्वयं उन तत्वों के आधार पर यह व्यवस्था खड़ी की है, अतः इसमें मतभेद होने का कोई कारण नहीं। सब ग्रन्थों की पारस्परिक मतभिन्नता के अतिरिक्त कुछ लोगों ने मोटे तौर पर यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यहाँ पर धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों की परम्परा ही भिन्न है तथा एक पारलौकिक है और दूसरा लौकिक अर्थात् एक में जहाँ धर्म को प्रमुख मानकर उसके अनुसार विचार किया है वहाँ दूसरे प्रकार के ग्रन्थों में धर्म को महत्व न देकर वर्तमान पश्चिमी विचार के समान केवल सांसारिक बुद्धि से तथा सांसारिक जीवन को ही प्रमुखता देते हुए विचार किया गया है। परन्तु अर्थशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों को (कौटिलीय, कामन्दकीय तथा शुक्र) ही देखने के पश्चात् यह भ्रम स्वाभाविक रूप से मिट जाता है। यह सभी ग्रन्थ भी मोक्ष का विचार सम्मुख रखते हुए वर्णाश्रम व्यवस्था का वर्णन करते हैं तथा धर्मशास्त्रों के समान उसी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य व्यवस्था को विकसित करते हुए धर्मशास्त्रों के सभी नियमों को

मानकर चलते हैं। संक्षेप में कहा जाय तो भारत की व्यवस्था Subjective (तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार निर्मित) नहीं है, Objective (उनके विचारानुसार सनातन तत्वों पर आधारित) है। आगे इन मूल सिद्धान्तों पर आधारित समाज-व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन कर यह भी दिखाया जाएगा कि राज्य-व्यवस्था इससे भिन्न न होकर इससे किस प्रकार सम्बद्ध और इस पर किस प्रकार आधारित थी।

भारतीय विचारों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति—भारतीय विचार में यह एकात्मता मानने का एक और भी कारण है। भारत की प्रवृत्ति ही समन्वयात्मक है। इसलिये भारतीय प्रयत्न यही है कि सभी विचार को समन्वयात्मक दृष्टि से देखा जाय। इसका यह अर्थ नहीं कि असत्य के साथ अथवा हानिकारक अथवा पूर्णतया प्रतिकूल तत्वों के साथ भी समन्वय किया गया हो, परन्तु विभिन्न विरोधी दिखनेवाली परन्तु सत्य बातों को भारतीय विचार में समन्वित रूप में देखा गया है। यथा ईश्वरोपासना की विभिन्न पद्धतियाँ तथा विविध देवताओं की उपासना भारत में समान रीति से स्वीकार की गई हैं। अथवा जब एक ओर संसार से मुक्ति पाने का आग्रह करते हुए भी श्रेष्ठ सांसारिक जीवन का वर्णन है तथा जब अर्थ और काम का महत्व बताने के लिये उन्हें भी समस्त संसार का इसी प्रकार आधार बताया गया है जिस प्रकार धर्म को बताया गया है तो इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में कोई परस्पर विरोध नहीं है, अपितु यह परस्पर समन्वयात्मक बातों का ही वर्णन है। अतः इस समन्वयात्मक वृत्ति के कारण विशेष परिस्थिति तथा विशेष व्यक्तियों के लिये यदि हमें कहीं भिन्न नियम भी दिखाई दें यथा आपत्तिकाल में राज्य को किसी भी प्रकार से धन-संग्रह करने की अनुमति अथवा व्यक्तियों को सूतक लगने पर भी राजा को सूतक नहीं लगना तो वहाँ भी कोई पारस्परिक विरोध अथवा मतभिन्नता नहीं है और उसे खोजना भी नहीं चाहिये। अथवा यदि इसी समन्वयात्मक वृत्ति के कारण उपहास में अथवा मृत्यु की सम्भावना में अथवा सर्व धन का विनाश होने की स्थिति में झूठ बोलने की भी अनुमति दी गई है तथा तीन दिन तक भूखे रहने पर चोरी करने को भी पाप नहीं माना गया है तो इसमें भी विरोध खोजना बुद्धिमानी नहीं, यह सब समन्वयात्मक नियमों का उल्लेख है। अतः जहाँ साधारणतया विभिन्न ग्रन्थों में अथवा एक ही ग्रन्थ के विविध स्थलों पर परस्पर विरोध प्रतीत हो वहाँ ध्यान देने पर दिखाई देगा कि वैसा कोई वास्तविक विरोध नहीं है अपितु एक ही बात के दो पहलुओं का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से राज्यशास्त्र के नियमों में भी समन्वय है। मन, वाणी, कर्म से अहिंसा का आग्रह करते हुए भी धर्म के लिये युद्ध करना अथवा चक्रवर्ती राज्य की स्थापना के लिये दूसरों के ऊपर विजय प्राप्त करना अथवा चक्रवर्ती राज्यों का आग्रह करते हुए भी छोटे राज्यों के अस्तित्व को मान्यता भी परस्पर विरोधी नहीं माने गये हैं। इस प्रकार जहाँ साधारणतया किसी को विरोध का आभास होगा वहाँ भारतीय विचार में कोई पारस्परिक विरोध नहीं है। फिर भी यदि विविध ग्रन्थों में कहीं विरोध हो तो भारतीय विचार में साधारणतय

इसी समन्वयात्मक वृत्ति के अनुसार देखने की ही पद्धति है। अतः हमें भी अपना विश्लेषण उसी आधार पर करना उपयुक्त होगा और आगे वैसा ही किया गया है।

३. मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त

सभी तत्वों की परमात्मा से उत्पत्ति—सम्पूर्ण भारतीय विचार का प्रारम्भ परमात्मा से होता है जो इस समस्त जगत में व्याप्त है, जो इसकी उत्पत्ति, पालन और विनाश का हेतु है तथा जो विविध सत्ताओं के रूप में (जिन्हें 'देवता' संज्ञा दी गई है) इस संसार में अपने को व्यक्त करता है। जब वह संसार को प्रकाशित करता है तो वह सूर्य और चन्द्र का रूप ग्रहण करता है, जब वह ताप देकर अथवा पिपासा शान्त कर सुख पहुँचाता है तो वह अग्नि अथवा वरुण है, जब वह संसार की उत्पत्ति अथवा संहार करता है तो वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश है परन्तु इन सब विविध रूपों भी वह एक ही है। उसी के द्वारा संसार की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है अर्थात् यदि समाज के सम्मुख श्रेष्ठ तत्वज्ञान (वेद) कहीं से आया है तो उसी के पास से, यदि समाज की योग्य व्यवस्था के लिये वर्णों को किसी ने उत्पन्न किया है तो उसी ने, यदि संसार की रक्षा के लिये तथा लोगों को ठीक मार्ग पर रखने के लिये राज्य तथा दण्ड का किसी ने निर्माण किया है तो उसी ने, फिर यह सब करने में चाहे उसका उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मा का रूप हो अथवा पालनकर्ता विष्णु का। उसका जो रूप संसार को ज्ञान देनेवाला बताया गया है वह ब्रह्मा तथा विद्या की देवी सरस्वती का है और इस कारण वेद, दण्डनीति, लेख आदि की भी उत्पत्ति उसी के द्वारा मानी गई है। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्मा अथवा विष्णु अथवा सरस्वती कोई ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, इनका प्रयोग तो केवल अव्यक्त परमात्मा के व्यक्त रूप में किया गया है। इसका यह अर्थ है कि क्योंकि यह सब बातें कल्याणकारी हैं इसलिए उनके विषय में यह मानना चाहिए कि उनकी उत्पत्ति का स्रोत परमात्मा है। भारतीय विचार यह भी नहीं अमान्य करता कि किसी श्रेष्ठ पुरुष ने, जो परमात्मा का ही रूप था, इन सत्यों का दर्शन व प्रकटीकरण किया होगा।

'देवता' का अर्थ—जैसा बताया गया कि परमात्मा की सत्ता जब विविध रूपों में प्रकट होती है तो उन सत्ताओं को 'देवता' की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार समाज के रक्षण के लिये निर्मित जो सत्ता अर्थात् राजा अथवा दण्ड है उसे भी 'देवता' कहा गया है और धर्मरूप बताया गया है। अतः राजा को 'देवता' कहने के पीछे पश्चिमी दैवी सिद्धान्त की भावना का प्रतिबिम्ब देखना ठीक नहीं है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि राजा को देवता कहने के कारण उसे मनमानी करने की छूट है क्योंकि जबतक राजा समाज का ठीक प्रकार से रक्षण करता है तब तक वह 'देवता' है परन्तु यदि वह समाज का भक्षण कर समाज को त्रास देता है तब भारतीय विचारधारा के अनुसार उसे 'देवता' नहीं 'राक्षस' की संज्ञा ही दी जा सकती है।

जीवन का लक्ष्य मोक्ष—जो परब्रह्म इस सृष्टि का आदि और अन्त है तथा जो अपने मूलरूप में शुद्ध, निर्विकार तथा सर्वतेजमय है उसकी प्राप्ति ही मनुष्य-मात्र का लक्ष्य है। वैसे जीव भी अपने शुद्ध रूप में उसी परमात्मा का स्वरूप है परन्तु 'अहंकार' से वेष्टित हो जाने के कारण उसके अन्दर अपने और पराये की, तथा स्वार्थ, काम, मोह आदि की ओर उनके लिये संघर्ष करने की भावना विद्यमान रहती है। वह इन भावों से पूर्ण होने के कारण इस संसार का सत्य मानता है, जबकि यह विनाशशील है और इस कारण इसमें लिप्त रहता हुआ, इसके सुख-दुःखों में फंसा रहता है। यदि वह अपने और जगत के सत्य स्वरूप को समझ ले अर्थात यह जान जाय कि यह सम्पूर्ण नामरूपमय सृष्टि मिथ्या है तथा वह स्वयं इस संसार से एकात्म है तो वह इस संसार के स्वार्थों से ऊपर उठकर जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जायेगा। संसार से एकात्मता प्राप्त कर जन्म मृत्यु के बन्धन से मुक्त होने का ही नाम 'मोक्ष' है तथा इसी को भारतीय विचारधारा में 'अध्यात्म' की संज्ञा दी है, जो कि भारतीय संस्कृति का मूल स्वरूप तथा सम्पूर्ण भारतीय विचार का केन्द्र बिन्दु है।

संसार की वास्तविकता—यह तो ठीक है कि यह संसार विनाशशील है अर्थात मिथ्या है। परन्तु इस बात की वास्तविक अनुभूति तो कई जन्मों के निरन्तर प्रयत्न के फलस्वरूप ही 'जीव' को हो सकती है। इस प्रकार की उन्नत अवस्था-प्राप्त व्यक्ति एक काल में संसार में बहुत थोड़े ही हो सकते हैं। केवल इतना ही हो सकता है कि श्रेष्ठ अवस्था में अर्थात जब धर्म का पालन समुचित रीति से होता हो उस समय उनकी संख्या तुलनात्मक बहुत अधिक हो तथा जब निकृष्ट अवस्था हो अर्थात जब अधर्म का ही प्रमुख रीति से बोलवाला हो तब ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अल्प अर्थात लगभग नगण्य हो। समाज के शेष जीव तो विकास की प्रारम्भिक अथवा मध्य अवस्थाओं में ही रहते हैं। उनके लिये तो यह संसार, इसके सुख-दुःख, इसके अन्दर के हानि लाभ, सभी कुछ सत्य होते हैं और इसलिये उनसे यह कहना, कि वह इस संसार को मिथ्या समझकर ही व्यवहार करें, लाभदायक नहीं। जो जिस उन्नत अवस्था तक नहीं पहुँचा है उससे उस उन्नत अवस्था के व्यवहार का आग्रह उसकी भावी उन्नति को अवरुद्ध करने वाला तो है ही परन्तु उसकी इस वर्तमान अवस्था से भी अवनति करने वाला है। इसलिये भारतीय विचार में इस प्रकार का दुराग्रह नहीं किया गया है कि लोगों से उनकी तत्कालीन सिद्धता से अधिक ऊँचा व्यवहार करने पर बल दिया जाय। अतः इसी आधार पर भारतीय विचार में उन लोगों से, जो जातिगत अथवा स्थानीय प्रथाओं का पालन करते हैं, उनकी उन्हीं प्रथाओं को पालन कराने का आग्रह है तथा उनके ऊपर दूसरी कोई भी व्यवस्था, जिसके अन्तर्गत आगे वर्णित व्यवस्था भी आती है, बलपूर्वक लागू करना वर्जित है। इसके अतिरिक्त यह भी नियम है कि जो व्यक्ति विभिन्न सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने में असमर्थ हैं उनके लिये उन सामाजिक मर्यादाओं के पालन न करने के

अर्थ और काम—अतः एक ओर तो जीवन का श्रेष्ठतम लक्ष्य मोक्ष है, परन्तु, दूसरी ओर, जो इस तक नहीं पहुँच सकते, उनके लिये सांसारिक लक्ष्य 'अर्थ' और 'काम' भी माने गये हैं। 'काम' के अन्तर्गत मनुष्य की केवल स्त्री-पुरुष संबंध की इच्छा ही नहीं, उसकी समस्त कामनाओं का समावेश होता है। 'अर्थ' के अन्तर्गत वह सत्ताएँ आती हैं जो मनुष्य को श्रेष्ठता प्रदान करती है और वह हैं धन तथा राज्य। 'अर्थ' और 'काम' के यह दो पुरुषार्थ उचित ही नहीं आवश्यक भी हैं क्योंकि इनसे सन्तुष्ट व्यक्ति को ही धर्म और मोक्ष की बातें हृदय में आना संभव है तथा यदि मनुष्य इनसे अतृप्त रहा तो उसके मन में इनकी ही लालसा सदैव बनी रहेगी और वह इन से ऊपर उठकर श्रेष्ठ जीवन की ओर नहीं बढ़ सकेगा। परन्तु, दूसरी ओर, मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष होने के कारण उसका अर्थ और काम में भी लिप्त रहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर भी उसका इस लक्ष्य तक पहुँचना सभव नहीं। 'अर्थ' और 'काम' तो तत्कालीन सुख दे सकते हैं स्थायी सुख नहीं क्योंकि उनमें सुख और दुःख का परिवर्तित क्रम अनवरत चला करता है और मनुष्य तो स्थायी सुख की खोज करता है। यह स्थायी सुख भी उसे तभी प्राप्त हो सकता है जब उसके मन से सभी लालसा छूटकर, स्वार्थ नष्ट होकर, सांसारिक कामना ही शेष न रह जाय, जिससे उसे उस कामना के पूर्ण न हाने का दुख ही न सताये। केवल इसी प्रकार से चिरन्तन सुख संभव है जिसका अर्थ है कि मोक्ष के लक्ष्य तक पहुँचना मनुष्य के स्थायी सुख तथा स्थायी सन्तुष्टि के लिये भी अनिवार्य ही है।

धर्म—परन्तु 'अर्थ' और 'काम' में लिप्त व्यक्ति मोक्ष की ओर कैसे बढ़ें ? अतः 'अर्थ' और 'काम' के इन सांसारिक लक्ष्यों अर्थात पुरुपार्थो और 'मोक्ष' के चरम 'पुरुपार्थ' को जोड़ने का साधन 'धर्म' नाम का पुरुपार्थ है। दूसरे शब्दों में भारतीय विचार में मनुष्य जीवन के चार पुरुपार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष माने गये हैं। 'धर्म' का अर्थ है

'मर्यादा' और धर्म सांसारिक सुखों तथा स्वार्थों पर मर्यादा लगाता हुआ अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के लिये अर्थ और काम के मर्यादित उपभोग का आयोजन करता हुआ और मनुष्य को क्रमशः उनसे विरत करता हुआ उसे मोक्ष की ओर प्रेरित करता है। इस कारण धर्म भारतीय व्यवस्था में उसके सभी अंगों की, अर्थात सभी अवस्थाओं की चाहे वह साधारण काल हो अथवा आपतकाल और सभी व्यक्तियों की भी चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, राजा हो, मंत्री हो, न्यायाधीश हो, मर्यादाएँ स्थापित करता है। इसलिये 'धर्म' भारतीय इहलौकिक जीवन का सबसे प्रमुख और सबसे श्रेष्ठ तत्व है जिसके कारण सब लोग मर्यादा में रहते हैं और समाज-जीवन अधिकाधिक निःस्वार्थी, सुखी, व्यवस्थित, संघर्षविहीन तथा कर्त्तव्य प्रवण बनता है। "धर्म से उत्कृष्ट कुछ नहीं है इसलिये जिस प्रकार राजा की सहायता से उसी प्रकार धर्म के द्वारा भी निर्बल पुरुष बलवान को जीतने की इच्छा करने लगता है। यह जो धर्म है वह निश्चय ही सत्य है।" धर्म का महत्व बताने के लिये नारदपुराण ने अधर्मी को ब्रह्महत्यारे के समान तथा वामनपुराण ने धर्महीन को नरक में जाने योग्य बताया है। धर्म के उपरोक्त लाभ और उसके विभिन्न अर्थ उसकी विविध परिभाषाओं में वर्णित है। वेशेषिक सूत्र में कहा गया है कि "जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो वह धर्म है" अर्थात जो सांसारिक जीवन की योग्य व्यवस्था के द्वारा मनुष्य को इस संसार में भौतिक सुख प्राप्त करने में समर्थ बनाने वाला तथा 'अर्थ' और 'काम' के उपभोग में मर्यादा स्थापित कर मनुष्य को मोक्ष की ओर प्रेरित करने वाला तत्व है वह धर्म है। धर्म के इस व्यक्तिगत स्वरूप के अतिरिक्त धर्म का सामाजिक स्वरूप स्पष्ट करते हुए महाभारत में कहा है "धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः" अर्थात धारणा करने के कारण उसे धर्म कहते हैं और धर्म प्रजा की अर्थात समाज की धारणा करता है तथा इसकी स्पष्ट व्याख्या करते हुए वायुपुराण में कहा है कि 'जिसके आचरण से कुशल हो उसे धर्म कहते हैं तथा जिसके आचरण से अमंगल की प्राप्ति हो उसे अधर्म कहते हैं। धारणात्मक 'धृ' धातु से धर्म शब्द की निष्पत्ति होती है। दूसरे शब्दों में जिसके कारण समाज-जीवन में व्यवस्था स्थापित हो समाज का जीवन संघर्ष विहिन, समन्वयात्मक तथा सुखी होता है वही 'धर्म' है। परन्तु केवल इतनी व्याख्या करने मात्र से सर्वसाधारण व्यक्ति को किसी स्थिति में कैसा व्यवहार करना और कैसा न करना यह स्पष्ट नहीं हो सकता अर्थात व्यवहार के नियमों का ज्ञान नहीं होता। इसलिये विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों, कालों तथा व्यक्तियों के नियम बताने के लिये धर्म की एक और भी व्याख्या है 'चोदना लक्षणार्थो धर्मः' अर्थात विभिन्न प्रकार के विधि प्रतिषेधात्मक नियम जो श्रुतियों में और उन पर आधारित स्मृतियों में दिये गये हैं, वे धर्म हैं।

धर्म की इस श्रेष्ठता के कारण यह कहा गया है कि 'यह जो धर्म है क्षत्रिय का भी नियन्ता है" अर्थात राज्य भी इस धर्म के ऊपर नहीं है, इसके आधीन ही है

'धन' जिसके द्वारा व्यक्ति सुखोपभोग के साधन जुटा सके तथा 'राज्य' जो व्यक्तियों के सुखी जीवन में बाधा न आने दे तथा उनकी आवश्यक सहायता भी करे—यह दोनों ही आते हैं। इस 'अर्थ' का भी भारतीय विचार में बहुत महत्व वर्णित है। शान्ति-पर्व में कहा है कि 'अर्थ से ही सब कार्यों का प्रारम्भ होता है तथा "जिस प्रकार सभी जीवन देने वाले पानी के स्रोतों का उद्गम पर्वतों से होता है उसी प्रकार मनुष्य के सभी कार्य 'अर्थ' में से ही उत्पन्न होते हैं। विविध पुरुषार्थों का जहाँ विभिन्न पाण्डवों द्वारा वर्णन किया गया है वहाँ अर्जुन भी 'अर्थ' का महत्व बताते हुए कहता है कि "अर्थ ही समस्त कर्मों के योग्य रीति से करने में सहायक है। श्रुति के अनुसार अर्थ के बिना धर्म और काम नहीं सिद्ध होते। श्रुति के अनुसार धर्म और काम अर्थ के ही अवयव हैं। अर्थ की सिद्धि होने से उन दोनों की भी सिद्धि हो जायगी। इस प्रकार अर्थ का बहुत महत्व वर्णित किया गया है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि 'अर्थ' ही सब पुरुषार्थों में सर्वश्रेष्ठ है। वह वर्णन तो केवल 'अर्थ' का महत्व प्रबलता के साथ बताने के लिये तथा यह भी प्रदर्शित करने के लिये है कि 'अर्थ' के बिना न 'काम' संभव है, न 'धर्म'। परन्तु अर्थ ही सर्वश्रेष्ठ नहीं है, इसलिये सभी पुरुषार्थों के समान 'अर्थ' को भी महत्वपूर्ण बताने के साथ-साथ उसके तुलनात्मक स्थान का भी वर्णन किया गया है। 'अर्थ' और 'धर्म' का सम्बन्ध बताते हुए नकुल तथा सहदेव कहते हैं "जो अर्थ धर्म से युक्त तथा जो धर्म अर्थ से युक्त है वह आपके (राजा के) लिये अमृत के समान होगा, ऐसा हम लोगों का मत है। जिसके पास अर्थ नहीं है उसके लिये कामनाएँ (काम) नहीं होती तथा अधर्मी को भी अर्थ कहा है? इस कारण जो धर्म और अर्थ से विहीन है उनसे लोग रुष्ट रहते हैं। अतः संयतात्मा व्यक्ति के द्वारा धर्म को प्रधान मानकर अर्थ का साधन होना चाहिये क्योंकि तभी प्राणियों का उस पर विश्वास होने पर उसकी सभी इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है। सबसे पहिले धर्म का आचरण करे, तब धर्म से युक्त अर्थ का और फिर उसके पश्चात् काम सेवन करे। यहीं पर विदुर भी कहते हैं कि "राजन! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थ को मध्यम बताया जाता है तथा काम सबसे लघु है, ऐसा मनीषी लोग कहते हैं"। इसी आशय

का कथन वात्स्यायन कामसूत्र का भी है, और मनुस्मृति में भी तीनों का तुलनात्मक स्थान सिद्ध करते हुए यही बताया गया है।

'उन्नति' और 'योग्यता' त्रिगुण पर आधारित—उपरोक्त वर्णन में यह सिद्ध हुआ है कि मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक 'अर्थ' और 'काम' का उपभोग करते हुए उन से निवृत्त हो क्रमशः मोक्ष की ओर बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि मनुष्य ऐसा करता है तो यह उसकी 'उन्नति' है अन्यथा इसके विपरीत दिशा में जाने में अर्थात संसार के सुखोपभोग और स्वार्थों अधिकाधिक लिप्त होने पर उसकी अवनति है। अतः भारतीय धारणा में मनुष्य की 'उन्नति' प्रमुख रीति से इसमें नहीं कि वह भौतिक दृष्टि से श्रेष्ठता प्राप्त करे, यद्यपि यह भी उसकी उन्नति का एक अङ्ग है क्योंकि उन्नति के लिये भौतिक सुखोपभोग में सन्तुष्टि भी आवश्यक है। परन्तु मूलतया उसकी उन्नति इसी में है कि वह सांसारिक जीवन से, स्वार्थ से, सुखोपभोग से, व्यक्तिगत अहं से ऊपर उठता जाय। भारतीय धारणा के अनुसार किसी भी व्यक्ति की उन्नत अथवा अवनत अवस्था का मापदण्ड यही है। इसी प्रकार भारतीय धारणा में किसी व्यक्ति की किसी श्रेष्ठ स्थान के लिये योग्यता केवल इससे नहीं नापी जाती कि वह व्यक्ति कितना बुद्धिमान अथवा चतुर और चालाक है अथवा उसके पास भौतिक विषयों का कितना अधिक ज्ञान विश्वकोष के समान संग्रहीत है, परन्तु भारतीय धारणा में किसी कार्य के लिये व्यक्ति की योग्यता प्रमुखतया इससे नापी जाती है कि वह धर्म-पालन में कितना अधिक अग्रसर है, दूसरे शब्दों में, वह मोक्ष के मार्ग में किस सीढ़ी पर पहुँच गया है, (और इसी को भारतीय विचार में '(ज्ञान)' कहा गया है। यद्यपि यह भी सत्य है कि आध्यात्मिक दृष्टि से व्यक्ति की यह उन्नति उसकी बुद्धि की श्रेष्ठता तथा भौतिक ज्ञान के आधिक्य की संभावना की भी सूचक है)। अर्थात धर्म-स्थापना और धर्म-वृद्धि में ही प्रमुखतया लगा रहता है अर्थात भारतीय विचार में योग्यता तथा उन्नति आध्यात्मिक अथवा चारित्रिक दृष्टि से नापी जाती है। इस कारण मनुष्य की यह उन्नति और यह योग्यता नापने का मापदण्ड 'त्रिगुण' रखा गया है अर्थात व्यक्ति का तमोगुणी, रजोगुणी होना उसकी योग्यता तथा उन्नति और अवनति का मापदण्ड है। इन तीनों गुणों के लक्षण मनुस्मृति तथा गीता में दिये हुए हैं। यहाँ मनुस्मृति का उद्धरण दिया जाता है। "सतोगुण ज्ञान, तमोगुण अज्ञान तथा रजोगुण राग-द्वेष है। आत्मा में जो कुछ प्रीतिसंयुक्त (अर्थात् समाज अथवा सम्पूर्ण विश्व के प्रेम से प्रेरित), प्रशान्त तथा शुद्ध तेज से परिपूर्ण दिखाई दे उसको सतोगुण मानना चाहिये। जो आत्मा को अप्रसन्नताकारक और दुःख से सयुक्त दिखे तथा जो प्राणियों को लिप्त करे उसे रजोगुण समझना चाहिये। जो मोहयुक्त है (अर्थात जिसमें सत, असत् का विवेक नहीं है) जिसमें समझने की, तर्क करने की तथा व्यक्त करने की क्षमता नहीं है तथा जो विषयों में ही मग्न है उसे तमोगुण समझना चाहिये। इन तीन गुणों से उत्तम, मध्यम और हीन फलों की जो प्राप्ति होती है उसे मैं पूर्ण रीति से कहता हूँ

वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शुद्धि (मानसिक और शारीरिक), इन्द्रियनिग्रह, धर्मकार्य में रुचि तथा आत्मा का विचार, ये सतोगुण के लक्षण हैं। फल के लिये कर्म में रुचि, अधैर्य अनत्कार्य में प्रेम तथा निरन्तर विषयोपभोग, ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, कलह, याचना का स्वभाव तथा प्रमाद, ये तमोगुण के लक्षण हैं"। इन सब गुणों के आधार पर अर्थात व्यक्ति की 'उन्नति' के स्तर तथा उनकी 'योग्यता' के आधार पर ही भारतीय व्यवस्था में कार्य-विभाजन किया गया है।

पुनर्जन्म—साधारणतया किसी भी जीव द्वारा अपनी पूर्ण उन्नति इतने शीघ्र करना संभव नहीं जिसके लिये केवल एक जीवन ही पर्याप्त हो। उदाहरण के लिये भारतीय विचार में पशुओं और वनस्पतियों को भी जीव माना है और यदि एक ही जीवन में उन्नति अथवा अवनति की समाप्ति हो जाय तो फिर उनको पूर्ण उन्नति का कोई अवसर ही नहीं मिल सकता। इस कारण भारतीय विचार में पुनर्जन्म माना गया है अर्थात यह माना गया है कि जीव के विविध जन्म होते हैं और इन जन्मों में वह अपनी उन्नति अथवा अवनति करता है। इन जन्मों में उसे एक जन्म के संस्कार अगले जन्म में प्राप्त होते हैं। यदि वह इस जन्म में सत्कर्म करता है तो वह वही धारणाएँ लेकर अगला जन्म लेता है और यदि वह इस जन्म में दुष्कर्म करता है तो उसके आगे के जीवन के विकास के लिये उसके साथ यह बंधी हुई पूँजी है। अर्थात मनुष्य अपने पूर्व जन्म के संस्कारों का समुच्चय होता है और इस जन्म में पुनः उन संस्कारों में श्रेष्ठता की ओर प्रगति कर अथवा निम्नता की ओर अवनति कर अगला जन्म लेता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है "इस प्रकार से प्राप्त हुए जन्म में वह पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार को पाता है और हे, कुरुनन्दन—वह उससे फिर सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में भारतीय विचार में यह भी मान्य है कि मनुष्य अपना जन्म गुणानुसार प्राप्त करता है। "यहाँ आया अनुशयी जीव अपनी पूर्व वासना के अनुसार कीट अथवा पतंग, पक्षी अथवा व्याघ्र, सिंह अथवा मछली, सांप-बिच्छू अथवा मनुष्य या दूसरा कोई जीव होकर इनके अनुकूल शरीरों में अपने कर्म और विद्या-उपासना के अनुसार जहाँ कहीं उत्पन्न होता है"। अथवा छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार "उनमें जो अच्छे आचार वाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं, वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं। वे कुत्ते की योनि, शूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं। यह बात सम्पूर्ण भारतीय विचारधारा को मान्य और उसकी व्याख्या का आधार है।

जन्म 'गुण' और 'कर्म' पर आधारित—पूर्वजन्म के ही साथ जुड़ा हुआ कर्मफल का सिद्धान्त है। वह सिद्धान्त इस प्रकार है—परमात्मा की प्रकृति, जो बहुत सुनिश्चित नियमों के आधार पर चलती है, उसके नियम भारतीय विचार के अनुसार जीव-प्रकृति में भी सुनिश्चित रूप से ही प्रयुक्त होते हैं। यदि मनुष्य इस जन्म में दुःख अथवा सुख अनुभव करता है अथवा

कभी दुःख अनुभव करता है और कभी सुख तो यह अकारण, अयोजित अथवा आकस्मिक नहीं है। इसके पीछे निश्चित आधार हैं। और वह आधार यह है कि मनुष्यों को लाभ और हानि, सुख और दुःख, ऐश्वर्य और कष्ट उसके पूर्व कर्मों के आधार पर ही प्राप्त होते है। इसलिये मनुष्य के इस जन्म की अवस्था (जाति) और उसके अन्दर प्राप्त होने वाले भोग उसे पूर्व कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्य का यह जन्म उसके गुण और कर्म का समुच्चय होता है अर्थात उसके पूर्व जन्म के गुण और कर्म के आधार पर ही उसे यह जन्म प्राप्त होता है। साधारणतया तो जैसे कर्म किसी व्यक्ति ने पिछले जन्म में किये होंगे वैसा ही उसका गुण और उसकी प्रकृति होगी और इसलिये साधारणतया तो व्यक्ति के अन्दर गुण और कर्मो में कोई मतभेद न होकर उसका जन्म तदनुसार होगा, परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि पूर्वजन्म के किसी कर्म के कारण श्रेष्ठ गुणवाला व्यक्ति भी निकृष्ट जन्म प्राप्त करे। विदुर का ऐसा एक उदाहरण है जहाँ श्रेष्ठ गुण वाले व्यक्ति ने पिछले जन्म में अधर्म करने के कारण हीन अवस्था में जन्म लिया था तथा हीन गुणों वाले व्यक्तियों के पिछले किसी कर्म के कारण श्रेष्ठ स्थिति में जन्म लेने के उदाहरण भी प्राप्त होते है। जहाँ कही सभी कार्यो का विभाजन गुणानुसार अर्थात एक व्यवस्थित योजनानुसार होता है वहाँ साधारणतया गुण और कर्म दोनों में एकता निर्माण होकर उनके ही अनुसार व्यक्तियों का जन्म होगा अन्यथा ऐसे लोगों की पर्याप्त संख्या होगी जो गुण की श्रेष्ठता के आधार पर नहीं परन्तु किसी श्रेष्ठ पूर्वकर्म के ही फलस्वरूप किसी श्रेष्ठ स्थिति को अथवा किसी निकृष्ट कर्म के फलस्वरूप निकृष्ट स्थिति को प्राप्त करेगे और गुणानुसार जन्म की संभावना कम होगी।

दान और यज्ञ—मनुष्य को उन्नति के मार्ग पर बढ़ाने के लिये चित्तशुद्ध सहायक होती है तथा उसके साधन हैं—देवपूजा, सन्ध्या, जप, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, दान, तप, होम, यज्ञ आदि। इन में से अधिकांश के विस्तारपूर्वक वर्णन की आगे के राज्यशास्त्र के विवेचन के लिये कोई आवश्यक नहीं है। केवल दान और यज्ञ का यहाँ वर्णन करना पर्याप्त होगा। 'दान' का अन्तर्निहित भाव केवल धन का अथवा अन्य किसी वस्तु को किसी को दे देना मात्र नही है, उसके पीछे का अर्थ है उस वृत्ति का निर्माण जिसके आधार पर व्यक्ति अपना स्वार्थ छोड़कर सब कुछ समाज को अर्पण करने को प्रस्तुत रहता है। विशेष रूप से उन लोगों को दान देने का आग्रह है जो या तो स्वयं अपना पोषण करने में असमर्थ हैं अथवा जो समाज के कल्याण में रहते हुए ही उसके लिये अपना सम्पूर्ण जीवन बिताते हैं और इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उनको जीवन में सुख मिलता है अथवा दुख। ऐसे व्यक्तियों का पोषण समाज के साथ साथ राज्य का भी कर्तव्य बताया गया है। दान में अन्तर्निहित वृत्ति जो ऊपर बताई गई है उसको हृदय में धारण रखकर यदि राजा कार्य करेगा तो वह स्वाभाविक रूप से निःस्वार्थी होगा तथा अपने

व्यक्तिगत ऐश्वर्योपभोग की तुलना में समाज-हित की वह अधिक चिन्ता करने वाला होगा। इस कारण राजा से दान देने का बहुत आग्रह है तथा समाज-पोषण उनका प्रमुख कर्तव्य बताते हुए उससे कहा गया है कि समाज-पोषण के पश्चात् ही जो शेष बचे उसमें अपना काम चलाये। 'यज्ञ' शब्द 'यज' धातु से बना है जिसका निरुक्त के अनुसार अर्थ है देवपूजा, संगतिकरण और दान अर्थात् विभिन्न सत्ताओं (सामाजिक और प्राकृतिक) की शक्ति में वृद्धि कर उनकी योग्य योजना करना समाज में व्यवस्था बनाये रखना तथा समाज का संगठन करना और उसका पोषण करना। संक्षेप में यज्ञ शब्द के यह सब अर्थ समाज के संगठन के द्योतक हैं। इसी अर्थ में साधारणतया 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग भारतीय ग्रन्थों में हुआ है। अत्रिस्मृति में राजाओं के पाँच यज्ञ बताये गये हैं, दुष्टों को दण्ड, सज्जन की पूजा, न्यायपूर्ण रीति से कोष की वृद्धि, न्याय माँगने वालों के प्रति अपक्षपात तथा राष्ट्र की रक्षा। इसी प्रकार से जब स्थानों पर यह कहा गया है कि यज्ञ की सिद्धि के लिये तथा यज्ञकृत्य के द्वारा परमात्मा ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को उत्पन्न किया तो यहाँ भी यज्ञ का अर्थ समाज का संगठन है। अथवा जब गृहस्थों के कर्तव्यों में पंचमहायज्ञ बताये गये हैं जिनके अन्तर्गत स्वाध्याय (स्वयं का विकास), होम (प्राकृतिक शक्तियों का पोषण), श्राद्ध (पूर्वजों के गुणों का स्मरण), अतिथि सत्कार तथा बलिवैश्वदेव (पशु-पक्षियों का पोषण) तो यहाँ भी यज्ञ शब्द समाज-संगठन का द्योतक है। अतः यज्ञ शब्द अंग्रेजी के 'sacrifice' शब्द का समानार्थक नहीं है जैसा उसे भ्रमपूर्ण रीति से समझाया गया है। यह यज्ञ करना समाज का पोषण करने वाले राजाओं का एक प्रमुख कर्त्तव्य है और अश्वमेध, राजसूयादि यज्ञ समाज-संगठन के लिये ही राजाओं को बताये गये हैं।

४. अन्य मूलभूत सिद्धान्त

अधिकार भेद—यहाँ तक बताया गया है कि मनुष्य अपने लक्ष्य मोक्ष को विविध जन्मों में गुणोत्कर्ष द्वारा प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में भारतीय विचार में यह मान्य है कि समाज में किसी समय विभिन्न मनुष्य गुणोत्कर्ष की विभिन्न सीढ़ियों पर रहते हैं अर्थात सांसारिक जीवन में सभी मनुष्यों में एक समय में गुणों की समानता नही होती। आध्यात्मिक दृष्टि से तो मनुष्य-मात्र ही नहीं समस्त जीव ही परमात्मा के अंशरूप हैं और इस कारण समान ही नहीं एक ही हैं परन्तु व्यवहार में वह सब विभिन्न श्रेणियों में माया से व्याप्त रहते हैं अर्थात कोई मोह और अज्ञान में अधिक फँसा रहता है तथा किसी को ज्ञान का प्रकाश अधिक मात्रा में होता है। भारतीय विचार के द्वारा मनुष्यों में यह स्वभाविक भेद माने जाने के कारण यह भी मान्य है कि जो जिस श्रेणी का व्यक्ति है उसे समाज में वैसा ही ही स्थान प्राप्त होना चाहिये। दूसरे शब्दों में भारतीय विचार में अधिकार-भेद का सिद्धान्त मान्य है अर्थात प्रत्येक व्यक्ति का कार्य, उसके अधिकार और कर्तव्य, उसकी 'योग्यता' के अनुसार निर्धारित होने चाहिये। परन्तु भारतीय विचार में

अधिकार-भेद का आधार धन अथवा सत्ता अथवा प्रतिष्ठा नहीं मामे जाकर व्यक्ति के अन्दर विद्यमान गुण माने गये हैं। अधिकार-भेद के अनुसार कार्यों का यह विभाजन समाज और व्यक्ति दोनों के ही लिये आवश्यक है। व्यक्तिगत दृष्टि से तो किसी भी व्यक्ति को वैसा ही कार्य सौंपना चाहिए तथा उसके लिए वैसे ही कड़े नियम होने चाहिये जिनका वह पालन कर सके और उनका पालन करते हुए उन्नति कर सके। यदि उसे ऐसा कार्य दिया गया जिसका वह सफलतापूर्वक सम्पादन नहीं कर सकता अथवा जिसे करने में उसे कर्त्तव्य-त्रुटि होगी तथा जिसके कारण उसके द्वारा बेईमानी के साथ अथवा स्वार्थ-लिप्सा की भावना से ही कार्य करना संभव होगा तो उसको वह कार्य देना योग्य नहीं, जैसे चरित्र-भ्रष्ट व्यक्ति को अध्यापक का अथवा कायर को सैनिक का कार्य। ऐसे नियम तथा कर्तव्य रहा तो वह सुविधा और सफलता पूर्वक कर सके तो उसमें उसकी उन्नति संभव है। सामाजिक दृष्टि से व्यक्ति को ऐसा ही काम मिलना चाहिये जो उसके गुणों के अनुकूल हो। यदि हीन व्यक्ति को श्रेष्ठ कार्य दिया गया तो वह सम्पूर्ण समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करेगा, चरित्र-भ्रष्टता का आदर्श उपस्थित करेगा तथा सम्पूर्ण समाज विघटित हो नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा और यदि श्रेष्ठ व्यक्ति को साधारण कार्य मिला तो उसकी योग्यता का पूर्ण प्रयोग न हो सकेगा। संक्षेप में भारतीय विचार में अधिकार-भेद का सिद्धान्त पूर्ण रीति से मान्य है। गुणों के आधार पर व्यक्तियों का यह विभाजन किस प्रकार संभव है यह आगे समाज-व्यवस्था के संक्षिप्त वर्णन में बताया जाएगा।

भारतीय जीवन के अन्य सिद्धान्त—उपरोक्त वर्णन से समाज-व्यवस्था के अन्य भारतीय सिद्धान्त भी स्पष्ट होते हैं। क्योंकि भारतीय जीवन में व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर समाज से एकात्मता निर्माण करने का आदर्श रखा गया है, इसलिये भारतीय संस्कृति त्यागवादी है। इस कारण भारतीय संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति के लिये **यज्ञशेष के उपभोग का आग्रह** है अर्थात समाज के कार्यों में व्यय करने के पश्चात जो शेष बचे उसी का उपभोग करना चाहिये। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति धर्मवादी हैं। धर्मवादी होने के कारण प्रत्येक का उसके गुणानुसार जो धर्म निश्चित है उसे अपने उस **स्वधर्म के पालन करने का आग्रह है** तथा राजा भी उसके ऊपर नहीं है। अतः राजा को भी सबका विभाग करने के पश्चात स्वयं उपभोग करना चाहिए तथा राज्य में एक भी व्यक्ति के भूखे रहने पर राजा को स्वयं भोजन न करना चाहिए। सभी जीवों में एक ही परमात्मा के दर्शन करने के कारण, सभी देवताओं को एक ही परमात्मा के विभिन्न रूप मानने के कारण तथा विभिन्न दृष्टि से भारतीय विचार में **विविधता में एकता** का सिद्धान्त माना गया है और लागू किया गया है। अतः यहाँ पर देश की तथा इनके धर्म की एकता निर्माण करते हुए विविध राज्यों (जनपदों) का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया गया है तथा आचार और विचार की भी स्वतन्त्रता है और यद्यपि एक निश्चित समाज-व्यवस्था को श्रेष्ठ माना गया है फिर भी आचार और विचार की स्वतन्त्रता देने के कारण उसे

बलपूर्वक लादना वर्जित है। उपरोक्त आधार पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचार में **समन्वयवादिता** का सिद्धान्त मान्य है अर्थात विविध प्रकार के दृष्टिकोणों, परिस्थितियों तथा व्यक्तियों की आवश्यकता का समन्वय किया गया है जिसके कारण परस्पर विरोधी दिखनेवाली परन्तु वास्तव में समन्वित बातों का साथ-साथ वर्णन दिखाई देता है। उदाहरण के लिये भारतीय धर्म, अर्थ के ग्रन्थों में जो राज्य-व्यवस्था वर्णित है उसमें राजा को मान्यता दी गई है तथा क्षत्रियों के हाथ में सत्ता सौंपी गई है। परन्तु साथ साथ में राजा को जनता के हित में तथा जनता की इच्छानुसार शासन करने का भी आदेश है। दूसरे शब्दों में राजतंत्र, आभिजात्यतंत्र तथा जनतन्त्र का समन्वय किया गया है। इसी प्रकार से यद्यपि राज्य के कर निश्चित रूप से निर्धारित कर दिये हैं परन्तु आपतकाल में राज्य को किसी भी साधन से धन संग्रह करने की छूट दी गई है। अथवा पर-राज्य सबंधों में राजा को शत्रुओं के साथ युद्ध करने का तथा विजय करने का आदेश है परन्तु दुर्बल राजा से यही कहा गया है कि वह बलवान के आगे झुककर उसकी अधीनता स्वीकार करले। इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से उदाहरण हैं—यथा राजा से धर्मपूर्ण व्यवहार करने का आग्रह करते हुए भी अनैतिक साधनों के प्रयोग की अनुभूति अथवा राजा को परमात्मा का रूप तथा देवताओं के अंश से समन्वित मानते हुए भी उसका विरोध करने की स्वीकृति। समन्वयवादिता के कारण भारतीय व्यवस्था में बहुत सी निम्न बातें जिनका मानना अनिवार्य समझा गया है उन्हें स्वीकार कर उनके अन्दर **उदात्तभावना भर** उसे समाज-जीवन के लिये उपयोगी बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। उदाहरण के लिये राज्यकर्त्ताओं के सम्बन्ध में यह माना गया है कि उनमें महत्वाकांक्षा स्वाभाविक रीति से होती है तथा उसे अमान्य करना अव्यावहारिक भी है और हानिकारक भी, अतः विभिन्न राज्यों का पारस्परिक संघर्ष अनिवार्य है। परन्तु इस संघर्ष को स्वीकार करते हुए भी इसमें उदात्त भावना भर इस तथ्य का समाज के लाभ के लिये उपयोग करने का प्रयत्न है और इसलिये यह आग्रह किया गया है कि राजा को धर्म के लिए संघर्ष अवश्य करना चाहिये तथा उसे सार्वभौम अर्थात एक-छत्र राज्य स्थापित करने का भी प्रयत्न करना चाहिये जिससे देश में यथा-संभव राजनैतिक एकता भी स्थापित रहे।

समाज-व्यवस्था की आवश्यकता—उपरोक्त सिद्धान्तों का वर्णन होने के पश्चात् यह नहीं समझ लेना चाहिये कि भारतीय विचार ने केवल यहीं पर ही समाप्त कर दिया इसके विपरीत भारतीय विचारकों के मन में यह भी स्पष्ट कल्पना थी कि केवल सिद्धान्तों के उच्चारण मात्र से ही, चाहे वह कितने ही बलपूर्वक किया जाय, उनका पालन कराना संभव नहीं है। उसके लिये एक योग्य व्यवस्था की भी अनिवार्य आवश्यकता है जिसमें व्यक्तियों पर योग्य मर्यादा रहकर, समाज में उपयुक्त वातावरण निर्माण होकर, चारों महापुरुषों का योग्य पालन होते हुए तथा समाज-जीवन सुव्यस्थित रहते हुए व्यक्ति उन्नति कर सके। भारतीय विचारकों की धारणा के अनुसार यदि योग्य व्यवस्था रही तो साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति उसके

अन्दर भी स्वयमेव अपनी वर्तमान स्थिति से विकसित हो सकता है। इसके विपरीत यदि ऐसी कोई व्यवस्था न रही तथा व्यक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तो उसमें केवल कुछ ही लोग जो बहुत विचारशील हैं तथा अपने विकास के लिये बहुत प्रयत्नशील हैं, स्वयं उन्नत हो सकेंगे तथा शेष लोगों के लिये तो अर्थ और काम के निम्न तथा अधिकाँश रूप से दुःखी जीवन से ऊपर उठना कठिन हो जाएगा तथा यदि उनकी उन्नति भी होगी तो भी बहुत धीरे-धीरे। साथ ही साथ यदि योग्य व्यवस्था रही और प्रत्येक व्यक्ति को उसके योग्य स्थान प्राप्त होने के कारण समाज के सभी कार्यों का योग्य रीति से संचालन हुआ तो इसके कारण समाज में सुव्यवस्था निर्माण होकर पारस्परिक पूरकता का तथा समन्वयात्मक वातावरण निर्माण होगा तथा समाज का जीवन सुखी, संघर्षविहीन, धर्मानुकूल तथा उन्नत चलेगा। दूसरे शब्दों में भारतीय विचारकों के अनुसार यदि समाज के प्रत्येक व्यक्ति की योग्य उन्नति करना है तथा समाज-जीवन अधिकाधिक सुगठित, सुसम्पन्न, सुव्यवस्थित, मर्यादित और सुखी बनाना है तो केवल श्रेष्ठ सिद्धान्तों की घोषणा करने से काम न चलेगा उसके लिये एक व्यवस्था भी निर्माण करनी पड़ेगी। अतः भारतीय समाज-शास्त्रियों ने एक योग्य व्यवस्था भी निर्माण की थी जैसी व्यवस्था अन्यत्र कहीं निर्माण की गई तथा जिसका निर्माण आकस्मिक रूप से तथा परिस्थितिवश ही नहीं हो गया अपितु जिसे विचारपूर्वक निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर निर्माण किया गया। अगले अध्याय में उसी समाज-व्यवस्था का संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा तथा उसके आगे उसके अन्तर्गत वर्णित राज्य व्यवस्था का विस्तृत वर्णन होगा।

—:o:—

अध्याय २

समाज-व्यवस्था

१. समाज-रचना—वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण

जैसा पीछे बताया गया है भारतीय जीवन में व्यक्ति की आन्तरिक उन्नति को बहुत महत्व दिया गया था। इस आन्तरिक उन्नति को बहुत महत्व देते हुए भी यह माना गया था कि इस आन्तरिक उन्नति के लिए एक उपयुक्त बाह्य वातावरण की आवश्यकता है। यह भी विचार था कि यदि समाज का ठीक प्रकार से संगठन किया गया तो उचित तथा आवश्यक वातावरण भी अधिक सरलता से उत्पन्न हो जायेगा। इसलिये भारतीय समाजशास्त्रियों ने उपयुक्त वातावरण निर्माण करने वाली एक ऐसी समाज रचना और उसी से संलग्न राज्य-व्यवस्था तैयार की जिसमें व्यक्ति की उन्नति भी हो सके तथा सामाजिक सुव्यवस्था भी रहे। अतः सामाजिक व्यवस्था के रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था का निर्माण किया गया।

वर्णाश्रम व्यवस्था त्रिवर्ग पर आधारित—वर्णाश्रम व्यवस्था के कारणों की विस्तारपूर्वक मीमांसा करना यहाँ आवश्यक है। पिछले अध्याय में यह बताया गया है कि मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए अर्थ और काम का धर्मानुसार उपभोग ही लाभप्रद होगा। वर्णाश्रम व्यवस्था इसीलिए है कि अर्थ और काम का धर्मपूर्ण उपभोग करते हुए व्यक्ति क्रमशः उन्नति करता जाये। वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से धर्म का अर्थ के ऊपर नियन्त्रण स्थापित किया गया है अर्थात ऐसी व्यवस्था की गई कि समाजसत्ता (अर्थ) का सब वर्ग नियन्त्रित और समुचित उपयोग करें। उसके लिए प्रत्येक वर्ण की अर्थात ज्ञानी, शिक्षक तथा समाज-नियन्ताओं (ब्राह्मणों) की, राज्य सत्ताधारियों (छत्रियों) की तथा धनिक वर्ग (वैश्यों) की मर्यादायें स्थापित कर दी गई हैं। विभिन्न आश्रमों के द्वारा कामोपभोग की मर्यादा निश्चित की गई है अर्थात धर्म का काम के ऊपर नियंत्रण व्यक्ति-जीवन में प्रस्थापित किया गया है। वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण धर्म का प्रतीक है (अन्य सब वर्ण अर्थ और काम के है) और उसको अन्य सबों के ऊपर श्रेष्ठ स्थान देकर तथा उसका नियंत्रण प्रस्थापित कर धर्म का अर्थ और काम के ऊपर नियन्त्रण प्रस्थापित कर धर्म का अर्थ और काम के ऊपर नियंत्रण प्रस्थापित किया गया गया है। आश्रम व्यवस्था में सन्यासी ही श्रेष्ठ धर्म (मोक्ष) का प्रतीक है और उसकी श्रेष्ठता प्रस्थापित करने का अर्थ है अर्थ और काम के ऊपर धर्म की श्रेष्ठता प्रस्थापित करना। वर्ण-व्यवस्था से मनुष्य विभिन्न जन्मों में काम-प्रधान शुद्र, अर्थ प्रधान वैश्य,

धर्म, अर्थ का समन्वय करने वाला क्षत्रिय तथा धर्म प्रधान ब्राह्मण, इन विभिन्न सीढ़ियों के माध्यम से बढ़ता जाता है। आश्रम-व्यवस्था में एक जन्म के अन्दर व्यक्ति की क्रमशः उन्नति का विधान है। वर्ण-व्यवस्था सामूहिक पद्धति से व्यक्ति की उन्नति का ढंग है। आश्रम व्यवस्था में व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति करता है।

सामाजिक व्यवस्था—व्यक्तिगत उन्नति ही नहीं सामाजिक व्यवस्था निर्माण करना भी वर्णाश्रम व्यवस्था का उद्देश्य था। वर्णाश्रम व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति और अवस्था के अनुसार कार्य का विभाजन कर दिया गया था और प्रत्येक को अपने कार्य में पूर्णता प्राप्त करने का पूरा मार्ग था। इस प्रकार कार्य विभाजन के द्वारा समाज में सुव्यवस्थितता, पारस्परिक पूरकता तथा पारस्परिक सहयोग का वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न था। श्रम-विभाजन का इतना पूर्ण, व्यवस्थित और आदर्शानुसार रूप अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। वर्ण-व्यवस्था में यह श्रम-विभाजन और भी पूर्णता को प्राप्त था क्योंकि वंशगत रूप से एक ही कार्य करने के कारण पारिवारिक परम्पराओं, पारिवारिक वातावरण और पारिवारिक स्वभाव तथा गुण (heredity) के कारण अधिकाधिक कुशलता निर्माण होना स्वाभाविक था। इस श्रम-विभाजन को इतने व्यवस्थित रूप से रखा गया कि पारस्परिक सहायोग के द्वारा समाज का एक वर्ग दूसरे वर्ग का पूरक बन सके। इस प्रकार एक सहकारितापूर्ण समाज (Co-operative Commonwealth) का निर्माण किया गया था।

वर्ण-व्यवस्था के लाभ—वर्ण-व्यवस्था के सामाजिक लाभ अन्य भी बहुत से थे। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा समाज में एक प्रकार का अधिकार विभाजन और शक्ति संतुलन किया गया था। जिसे ज्ञान का अधिकार दिया उसे राज्य का अधिकार अथवा सम्पत्ति का अधिकार नहीं दिया अपितु उसे राज्य व्यवस्था और धन लालसा से दूर रखा। जिसे राज्य का अधिकार दिया उसे सम्पत्ति पर अधिकार नहीं दिया—राज्य दारा किस किस साधन से और कितनी मात्रा में धन-प्राप्ति की जा सकती है यह निश्चित था, (देखिए अध्याय ८ आगे) तथा ज्ञानियों पर भी नियन्त्रण करने का अधिकार उसे नहीं दिया गया। सम्पत्ति के अधिकार को राज्य में अथवा धर्म में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। इस प्रकार अधिकार का विभाजन कर शक्ति संतुलन निर्माण किया गया। एक ही वर्ग के पास विभिन्न प्रकार के अधिकार रहते तो समाज के ऊपर असीमित अत्याचार करने की उस वर्ग की शक्ति रहती। भारतीय समाज रचना की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है। अधिकार का विभाजन होने पर भी अधिकार की उत्तरोत्तर वृद्धिगत श्रेणियाँ है। सबसे निम्न श्रेणी पर शरीर प्रधान शूद्र हैं, उसके ऊपर सम्पत्ति का स्वामी वैश्य है, उसके भी ऊपर राज्य सत्ता का अधिकारी क्षत्रिय है, तथा सबसे ऊपर अधिकार रखने वाला ज्ञानवान ब्राह्मण है। इस प्रकार भारतीय व्यवस्था में विभिन्न

प्रकार की सामाजिक शक्तियों की श्रेणियाँ (गुरुता और लघुता) भी निर्धारित कर दी। कार्य का और अधिकार का विभाजन भी योग्यता और पात्रता के अनुसार किया गया। धर्म पर अर्थात समाज जीवन नियंत्रण का सबसे श्रेष्ठ अधिकार सबसे अधिक निःस्वार्थी, अल्प संतोषी, अमहत्वाकांक्षी तथा धर्मवृत्तिपूर्ण वर्ग को दिया गया। राज्य पर नियंत्रण का अधिकार उन्हें दिया गया जो महत्वाकांक्षी हैं परन्तु फिर भी जिनमें धार्मिकता है, शौर्य है, उत्साह है, तथा साथ साथ अन्याय को दूर करने की तथा उसे न सहने की वृत्ति है। सम्पत्ति पर उसका नियन्त्रण रखा गया जिनका सामाजिक दृष्टि से अधिक विकास तो नहीं हुआ परन्तु जिनको धन प्राप्ति की लालसा है तथा उसकी पात्रता है। सामाजिक जीवन में कार्य का और अधिकार का विभाजन ठीक रहना समाज जीवन की सुव्यवस्था की दृष्टि से आवश्यक है। वर्तमान काल में अधिकार का समुचित विभाजन न होने के ही कारण कई बार ऐसे व्यक्ति जिनके दुगुर्ण शेष हैं ऊँचे स्थानों पर पहुँच जाते है और समाज की अव्यवस्था का यह एक बहुत बड़ा कारण है। वर्ण-व्यवस्था का एक लाभ यह भी था कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वाभाविक रीति से ही व्यवसाय प्राप्त हो जाता था तथा प्रत्येक व्यवसाय के लिए, चाहे वह कितना भी निम्न क्यों न हो, व्यक्ति भी गुणानुसार निश्चित कर लिये गये थे। इस प्रकार इस व्यवस्था के द्वारा जीवन की अनिश्चिततायें समाप्त कर दी गई। वर्ण-व्यवस्था के ही अन्तर्गत जाति-व्यवस्था का भी समावेश है। चारों वर्णों के अतिरिक्त पृथक-वर्णों के स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों से विभिन्न वर्णसंकर जातियों का भी निर्माण हुआ। इन सभी जातियों के पृथक-पृथक व्यवसाय निश्चिति किये गये हैं। इस प्रकार जाति व्यवस्था के माध्यम से व्यावसायिक संगठन निर्माण करने का प्रयत्न किया गया जो अपने व्यवसाय के सदस्यों का हित-साधन कर सके, परन्तु साथ ही साथ दूसरे व्यवसायों से भी द्वेष न कर सकें। जाति-व्यवथा का यह भी एक लाभ हुआ कि बाहर से आई विभिन्न जातियों का तथा देश के ही अन्दर इधर उधर छिटकी हुई जातियों का समाज के अन्दर समावेश किया जा सके।

२. वर्ण व्यवस्था

'वर्ण' शब्द का अर्थ—'वर्ण' शब्द के विभिन्न अर्थ बताये गये हैं। डा० भगवान दास 'वर्ण' की व्याख्या करते है "वृ, वरणे, वर्ण वर्णने, वृ, आच्छादने। जीविकार्य व्रियते इति वर्णः। वर्णयति वा पुरुष इति वर्णः। वस्त्रवद् आच्छादयति श्वेतः, रक्त, पीत, कृष्णः इति वर्णः।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए यह कहते हैं कि वर्ण का अर्थ है जो वरण के योग्य हो अर्थात जो विभिन्न कार्यों के लिए अपनी योग्यतानुसार चुना जा सके अथवा वह स्थान जिसके द्वारा व्यक्ति का वर्णन किया जा सकता है। डा० राधाकमल मुकर्जी भी इसी प्रकार अर्थ करते हुए वर्ण को 'वरणीयस (चुने जाने योग्य) का पर्यायवाची कहते है। 'वर्ण' शब्द रंग का भी पर्यायवाची है और इसके कारण यह अर्थ निकाला गया है कि यह बाहर से आये

हुए श्वेत आर्य तथा देश के अन्दर रहने वाली काली द्राविड़ आदि जातियों की भिन्नता का बोध कराने के लिये प्रयुक्त किया गया और इसलिये जो काले थे वह शूद्र हुए तथा शेष द्विज हुए। यह तो ठीक है कि 'वर्ण' शब्द रंग का प्रतीक है और इसलिए चारों वर्णों का श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण (काला) वर्ण बताया गया है, परन्तु यह रंग इसलिए बताये गये हैं कि ये रंग इन वर्णों के विभिन्न गुणों के प्रतीक हैं। ब्राह्मण सतोगुणी हैं, इस कारण उसका रंग श्वेत है। शूद्र तमोगुणी है, उसका रंग कृष्ण है। यह बात सर्वाविदित है कि श्वेत रंग सबसे श्रेष्ठ और कृष्ण रंगों सबसे निकृष्ट है। रजोगुणी होने के कारण क्षत्रिय रक्तांग माना गया तथा रज और तम का मिश्रण होने के कारण वैश्य पीत वर्ण। वामनपुराण में चार प्रकार की देवियों का वर्णन है जिन्हें सरस्वती, जयत्री, लक्ष्मी, और प्रियदेवी (काम-पावनायुक्त देवी) कहा गया है तथा जिनकी क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उपासना करते हैं। इन देवियों को क्रमशः श्वेतांगी तथा सत्वगुणसम्पन्ना, रक्तांगी तथा रजोगुण सम्पन्ना पीतवर्णा और नीलवर्णा तथा तमोगुण सम्पन्ना कहा गया है। इस प्रकार इन गुणों (सत्य, रज, तम) के आधार पर विभिन्न रंगों का स्वरूप माना गया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि 'वर्ण' शब्द का प्रयोग पहिले किस अर्थ में हुआ, रंग के अर्थ में अथवा इन जातियों के अर्थ में, क्योंकि 'वर्ण' धातु (मूल) अर्थ 'गुण' से सम्बन्धित है। अतः यही सम्भावना अधिक प्रतीत होती है कि पहिले इस शब्द का प्रयोग इन चार जातियों के अर्थ में हुआ, और फिर, क्योंकि इन जातियों को इनके गुणानुसार कुछ रंग आरोपित थे इस कारण बाद में इस शब्द का रंग के अर्थ में भी प्रयोग होने लगा। श्री राधाकृष्णन का यह भी कहना हैं कि विभिन्न वर्णों के अन्दर रंग आरोपित करने का कारण यह है कि विभिन्न व्यक्तियों में उनके गुणानुसार एक विशेष प्रकार के रंग की आभा निकलती है जो कि सर्वसाधारण व्यक्ति को नहीं दिखाई देती। उसे वही देख सकता है जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत हो।

वर्ण 'गुण' तथा 'कर्म' पर आधारित—इस प्रकार श्रेष्ठ और निकृष्ट गुणों के अनुसार व्यक्तियों का और कार्यो का विभाजन किया गया और इस आधार पर वर्ण-व्यवस्था निर्मित हुई। अतः वर्ण गुणों पर तो आधारित थे ही परन्तु वर्ण 'कर्म' पर भी आधिरित थे। 'गुण' और कर्म दोनों दुअर्थी शब्द हैं। 'गुण' का अर्थ जहां एक ओर सत्व, रज, तमोगुण है वहाँ गुण का वह अर्थ भी है, जिस अर्थ में साधारणतया हम गुण शब्द का प्रयोग करते हैं। सत्व, रज, तम भी जीवन के साधारण गुणों के द्योतक हैं। वनपर्व में धर्मव्यास कौशिक ब्राह्मण को उपदेश देते हुए कहता है 'जो लोग इन्द्रियासक्त, आलसी, अधिक सोने वाले, और क्रोध, मोह, अविद्या तथा अज्ञान से परिपूर्ण हैं वे तमोगुणी है। जिनकी विषयवासना और मन्त्रणा शक्ति अत्यन्त प्रबल है, जो ईर्ष्या रहित, माना, अच्छे चरित्रवाले, अच्छे वचन बोलने वाले और अपने को श्रेष्ठ समझने वाले हैं, उन्हे रजोगुणी समझना चाहिये। जो अधिक जानने वाले, धीर, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान, सर्वत्र प्रसिद्ध

ईर्ष्या और क्रोध से रहित तथा विषय वासना की अधिकता से बचे हुए हैं वे सत्व-गुणी पुरुष हैं। मनुस्मृति में भी कहा है कि 'वेदाभ्यास, तप, शौच, इंद्रियसंयम, धर्मानुष्ठान और आत्म-चिंतन में सब सतोगुण के लक्षण है। कर्म प्रारम्भ करने की अरुचि, अधैर्य, असत्कार्य के प्रति प्रेम और विषयोपभोग, ये रजोगुण के लक्षण है। लोभ, निद्रा, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, आचार का लोभ, याचना का स्वभाव और प्रमाद यह तमोगुण का लक्षण है। अतः सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी कहने का अर्थ व्यक्ति के अन्दर कुछ गुणों का परिलक्षित करना है। वर्णों के अन्दर गुणों का दोनों प्रकार से समावेश बताया गया हैं। वामनपुराण के जिस उद्धरण का ऊपर उल्लेख किया गया है उसी उद्धरण के प्रारम्भ में विभिन्न वर्णों को सत्व, रज, तम गुणों से समान्वित कहकर तत्पश्चात इन वर्णों के व्यक्तियों का वर्णन किया गया है सत्य तथा पवित्रता से युक्त, दान, उत्सव से लगे हुए व्यक्ति, हैं दानवपति। महापदमा देवी (सरस्वती) के आश्रित होते है। यश करने वाले, अच्छे व्यवहार वाले पर अभिमानी, बहुत दक्षिणा देने वाले और सर्वसामान्य रीति से सुखी जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य पदमादेवी (जयत्री) के आश्रित रहते हैं। सत्य और झूठ दोनों से युक्त, न्याय और अन्याय से युक्त, दान देने वाले, यज्ञ करने वाले महानीला देवी (लक्ष्मी) के आश्रित रहते हैं तथा नास्तिक, शौचरहित (अपवित्र) कृपण, माँग भी न कर सकने की पात्रता वाले, झूठ बोलने वाले तथा चोरी करने वाले मनुष्य, हे वाले! शंखाश्रित (प्रियदेवी के आश्रित) रहते हैं। महाभारत में कहा है तमोगव शूद्रों में, रजोगुण क्षत्रियों में तथा सत्वगुण ब्राह्मणों में होता है। 'कर्म' शब्द का प्रयोग भी दो अर्थ में है। सर्वप्रथम तो कर्म का अर्थ तो यह है कि कर्मफल पर अर्थात पूर्व जन्म के कर्म पर व्यक्ति का वर्ण निर्भर रहता था। योग-सूत्र में यह कहा ही है कि जाति, आयु और भोग कर्म के अनुसार प्राप्त होते हैं। महाभारत में भी धर्मव्याध तथा विदुर के उदाहरण हैं जिनके विषय में बताया गया है कि वे सतगुणी होने पर भी पूर्वजन्मों के कर्म के कारण शूद्र हुए। अतः ऐसा हो सकता है कि कई बार गुणों में श्रेष्ठ होने पर भी व्यक्ति निम्न वर्ण में जन्म ले अथवा निकृष्ट गुणवाला व्यक्ति भी किसी पूर्व कर्म के पुण्यफल के कारण श्रेष्ठ वर्ण में जन्म ले। कर्मफल का सिद्धान्त मानने के कारण श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट जाति में जन्म, पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर मिलता है, यह मानना स्वाभाविक था। साधारणतया तो 'गुण' (सत, रज, तम) और 'कर्म' का समन्वय रहता था। व्यक्ति के जैसे कर्म होते थे तदनुसार ही उसके मन पर संस्कार निर्माण होकर उसके अन्दर वैसे ही गुण भी निर्माण होते थे। इसलिए यह धारणा थी कि 'कर्म' और 'गुण' दोनों के ही समन्वय से व्यक्ति किसी एक वर्ण की योग्यता प्राप्त करेगा। परन्तु कई बार अपवाद के रूप में बहुत श्रेष्ठ गुण के व्यक्ति को भी किसी दुष्कर्म के परिणाम-स्वरूप निम्न वर्ण में जन्म लेना पड़ता है। 'कर्म' शब्द का दूसरा अर्थ है कि चारों वर्णों के कर्म निश्चित थे। ब्राह्मणों का कर्म था यज्ञ करना, कराना,

दान देना तथा लेना, अध्ययम करना और कराना; क्षत्रिय के कर्म थे यज्ञ और अध्ययन करना, दान देना तथा प्रजापालन, वैश्य के कर्मो में यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन, कृषि, वाणिज्य और पशुपालन तथा शूद्र का कर्म था सेवा तथा कारीगरी। केवल कर्म ही निर्धारित नहीं थे परन्तु यही कर्म व्यक्ति करे और अन्य दूसरा कर्म न करे इस बात का भी आग्रह था। इन्ही सब अर्थो में गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'चातुर्वर्ण्य की सृष्टि मैंने गुण और कर्म के आधार पर की है।'

जन्मना वर्ण-व्यस्था—वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा है कि चारों वर्ण एक दूसरे से जन्म से ही श्रेष्ठ है। वसिष्ठ धर्मसूत्र का भी कहना है कि चारों वर्ण प्रकृति (जन्म) से और संस्कारों से जाने जाते हैं। प्रत्येक वर्ण के पुरुष को अपनी ही सवर्णा स्त्री से विवाह करने का आदेश है और इसलिए स्वाभाविक रूप से एक समान वर्ण के स्त्री-पुरुष से उत्पन्न सन्तान उसी वर्ण की मानी गई है। विभिन्न वर्णो के स्त्री-पुरुष के योग से (अर्थात यदि पुरुष एक वर्ण का हो और स्त्री दूसरे वर्ण की तो ऐसे योग से) उत्पन्न सन्तति को चारों वर्णो से भिन्न स्थान दिया गया और ऐसी वर्णसंकर जातियों का वर्णन कई स्मृतियों में है। वर्णसंकरता अर्थात विभिन्न वर्णो के स्त्री-पुरुषों के संयोग की सर्वत्र बहुत निन्दा भी की गई है। साथ ही साथ सर्वत्र यही कहा गया है कि ब्राह्मण अध्ययन, अध्यापन आदि कार्य करेगा, क्षत्रिय प्रजा रक्षक का कार्य करेगा आदि। यह कहीं नहीं कहा गया कि जो अध्यापन करेगा वह ब्राह्मण है अथवा जो शासन कार्य करेगा वह क्षत्रिय है। वर्ण को जन्म पर आधारित करना बहुत स्वाभाविक भी था। यदि ऐसा न किया जाता तो वर्ण-व्यवस्था ही शेष न रहती और वर्णो का स्वरूप अव्यवस्थित हो जाता। यदि जन्म पर वर्णो को आधारित न किया होता तो फिर वर्ण निर्धारित करने का अन्य कोई आधार रखना भी बहुत कठिन था। जन्म पर जाति निर्धारित करने का नियम मानकर भारतीय धर्म-व्यवस्थापकों ने जाति-निर्धारण का काम प्रकृति के ऊपर छोड़ दिया। ऐसा माना गया कि प्रकृति द्वारा वर्ण निर्धारण अधिक प्राकृतिक और न्यायानुकूल होगा बजाय इसके कि मनुष्य द्वारा वर्ण-निर्धारण हो क्योंकि प्रकृति के सभी काम सुनिश्चित नियमों के आधार पर होते हैं। यह भी माना गया कि वर्ण के अन्दर जन्म साधारणतया योग्यता के अनुसार ही होगा। साधारतया जो जिस वर्ण के योग्य होगा वह उसी वर्ग में उत्पन्न होगा। जन्मना वर्ण-व्यवस्था मानने का एक यह भी कारण था कि यह एक स्वीकृति सिद्धान्त के रूप में माना गया है कि माता पिता के गुण उनकी सन्तान में भी आते है मनुस्मृति में कहा है पूर्वोक्त (पुत्र) पिता के अथवा माता के अथवा दोनों स्वभाव को प्राप्त होता है। दुष्ट योनि द्वारा उत्पन्न सन्तति कभी भी अपने स्वभाव को नहीं छिपा सकती। वायुपुराण में कहा है, "पुत्र सदा पिता के स्वरूप का अनुकरण करता है, पराक्रम में भी पुत्र माता और पिता के समान होता है।" इस कारण यह विचार था कि एक वर्ण के

स्त्री-पुरुष से उत्पन्न सन्तान स्वाभाविकतया उन्हीं के गुणानुसार होगी और इस कारण उसी वर्ण की पात्रता उस सन्तान के अन्दर होगी।

स्व-धर्म पालन का महत्व और आग्रह—वर्ण, जन्म पर आधारित तो थे ही, साथ ही साथ इस बात का भारतीय धर्मशास्त्रों का आग्रह था कि सब को स्वधर्म पालन करना ही चाहिये अर्थात् जिस वर्ण के व्यक्ति को जो काम सोपा गया है वही उसका धर्म है और उसे उस धर्म अर्थात् कर्म को कदापि नहीं छोड़ना चाहिये। अत्रिस्मृति में कहा है कि "पराया धर्म इस प्रकार त्यागने योग्य है जैसे श्रेष्ठ रूप वाली पराई स्त्री।" गीता में कहा है "स्वधर्म में मृत्यु भी श्रेयस्कर है परन्तु परधर्म भयानक है।" नारद पुराण में स्वधर्म का त्याग करने वाले को पाखण्डी कहा है (२४१६)। इस कारण राजा को यह आदेश है कि वह प्रत्येक वर्ण के और आश्रम के व्यक्तियों से अपने-अपने धर्म का पालन कराये। स्वधर्म पालन पर आग्रह इस कारण है कि यदि प्रत्येक वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन छोड़ दे तो समाज जीवन अव्यवस्थित हो जाय। स्वधर्मपालन पर आग्रह करके प्रत्येक प्रकार के श्रम के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न की गई है। किसी भी कार्य को हेय समझकर न करना भूल है। उसी को यदि कर्तव्य भावना से किया तो वह व्यक्ति को कल्याणकारी होगा। इसका अर्थ यह भी है कि किसी भी व्यक्ति को किसी भी कारण अपने धर्म से च्युत नहीं होना चाहिये तथा अपने-अपने कर्म को धर्मपूर्वक करते रहना चाहिये, चाहे वह कैसा ही कर्म हो और वही कर्म मनुष्य की उन्नति करने वाला होगा। स्वधर्म पर इसलिये भी आग्रह है कि प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति का कर्म उसकी अपनी पात्रता और योग्यता के आधार पर स्थिर किया गया था। यदि वह कर्म व्यक्ति छोड़ दे तो फिर सब कर्मों का विभाजन योग्यतानुसार न रहने के कारण सभी कार्यों में गड़बड़ी तथा अव्यवस्था उत्पन्न होगी।

वर्ण-परिवर्तन के अपवाद—इतनी कड़ाई होने पर भी हो सकता है कि पिछले जन्म के किसी कर्म विशेष के कारण व्यक्ति को उसके गुण की तुलना में ऊँचा अथवा नीचा वर्ण प्राप्त हो जाय, अथवा इस जन्म में ही ससर्ग के कारण अथवा वातावरण के कारण अथवा व्यक्तिगत कारणों से व्यक्ति के अन्दर उन्नति अथवा अवनति हुई हो। ऐसी स्थिति की भी अपवाद रूप में व्यवस्था की गई है। यह नियम बताया गया है कि यदि ब्राह्मण स्व-धर्म पालन न करता हो तो उसे शूद्र समझकर व्यवहार करना चाहिये। परन्तु जो व्यक्ति अयोग्य हो अर्थात् अपात्र हो उसे नीचे के वर्ण का मानकर चलना चाहिये। यह नियम लागू करना अधिक सरल रखा गया था परन्तु भारतीय समाज व्यवस्था में निम्न वर्ण के योग्य व्यक्ति को ऊँचे वर्ण का मानने का मार्ग इतना प्रशस्त नहीं था। ऊँचे वर्ण के व्यक्ति को यदि एक बार भूल से भी नीचे वर्ण का मानकर उसके साथ तत्समान व्यवहार किया तो इस भूल में समाज जीवन को विशेष हानि न पहुँचेगी परन्तु नीचे वर्ण के व्यक्ति को यदि भूल से ऊँचे वर्ण का स्थान दे दिया गया तो अधिक हानि

होगी क्योंकि ऊँचे वर्ण का कार्य अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण, अधिक योग्यता की अपेक्षा रखने वाला तथा अधिक आदर्शपूर्ण है और ऐसे स्थान पर व्यक्ति को बहुत संभाल कर पहुँचाना ही उचित है। फिर भी ऊँचे वर्ण के अन्दर श्रेष्ठता उत्पन्न करे, इन्द्रियसयम करे और गुणोत्कर्ष करे तो उसे ऊँचे वर्ण के अधिकार दिये जा सकते हैं। विश्वामित्र का उदाहरण है ही और वह रामायण (बालकाण्ड) में विस्तार के साथ वर्णित है। उन्होने कई वर्षो तक तपपूर्ण जीवन व्यतीत कर पहिले काम का, फिर अहकार का और फिर क्रोध का त्याग किया और तत्पश्चात वे क्षत्रिय से ब्राह्मण माने गये। वायुपुराण में कहा है, "ऐसा सुना जाता है कि क्षत्रिय गुणकर्म स्वभाव वाले अनेक द्विजो ने तपस्या द्वारा सिद्धि प्राप्त की। नरपति विश्वामित्र, मान्धाता, संक्रति, कपि, पुरुकुत्स, सत्य, आनहवान, आर्ष्टिषरण, अजमीढ, भागान्य, शिंजय तथा अन्य स्थीतर, रुन्द, विष्णुवृद्ध आदि महारथी राजाओं ने क्षत्रिय जाति में उत्पन्न होकर तपस्या द्वारा ऋषि पदवी प्राप्त की।" शान्तिपर्व में जनक पराशर से पूछते हैं, "बहुत से मुनि नीच जाति की स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी किस प्रकार ब्राह्मण हो गये," पराशर उत्तर देते हैं "उनकी तपस्या से उनकी आत्मा श्रेष्ठ हो जाती है। पिता के द्वारा चाहे जिस वर्ण में वे उत्पन्न किये गये परन्तु फिर तपोबल से उनमें ऋषित्व आया।" मनु ने भी तपस्या के आधार पर वर्णोत्कर्ष बताया है।

वर्ण व्यवस्था की यह कड़ाई उन्हें बहुत विचित्र लगती है। जो इसके वातावरण से अपरिचित हैं तथा उनको अन्य देशों के स्वतन्त्र जीवन की तुलना में यह कड़ाई हेय भी प्रतीत होती है। अन्य देशों में भी व्यवसाय हैं परन्तु इन व्यवसायों के परिवर्तन करने की भी व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता भारत में नहीं स्वीकार की गई। भारतीय समाज नियन्त्राओं की यह धारणा थी कि प्रत्येक व्यवसाय उसके योग्य व्यक्ति को ही मिलना चाहिये और योग्यता का आधार आध्यात्मिक उन्नति तो है ही, परन्तु यह आध्यात्मिक उन्नति बहुत कुछ पैतृक गुण और पारिवारिक वातावरण के प्रभाव पर निर्भर है। इसी प्रकार मोक्ष-धर्म का ज्ञाता धर्म-त्याग भी शूद्र ही रहा। मनुष्यों के करोड़ों जन्मों की जहाँ कल्पना वहाँ अगला जन्म कुछ सुदूर नहीं कहा जा सकता। फिर जब यह विचार है कि मृत्यु का अर्थ केवल शरीर परिवर्तन है, जीवन की समाप्ति नहीं, जीवन तो अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है, तब दूसरे जीवन में वर्ण परिवर्तन (छोटी दृष्टि रखने पर चाहे विशेष अन्तर प्रतीत हो) भारतीय विचार में एक ही जीवन में परिवर्तन के समान है। वह इसी प्रकार है जैसे एक सत्र में एक व्यक्ति एक कक्षा में रह कर दूसरे सत्र में ही दूसरी कक्षा में जाता है। जहाँ आध्यात्मिक योग्यता के अनुसार व्यक्ति को काम सौंपा गया है तो उस काम को बदलने की भावना असामाजिक, स्वार्थपूर्ण, कर्त्तव्य भावना के विपरीत और श्रेयस्कर मानी गई है। जब अपना-अपना कर्म करना ही व्यक्ति की उन्नति करने का एक मात्र मार्ग है तब इसी जन्म में व्यक्ति अपने वर्ण का परिवर्तन चाहे, इसका अर्थ है कि वह व्यक्तिगत महत्वकांक्षा की दृष्टि से यह चाहता है, समाज

सेवा की उसकी दृष्टि नहीं है। समाज सेवा तो वह अपना निज कर्म करते हुए ही कर सकता है और व्यक्तिगत महत्वकांक्षा होने का अर्थ है कि उस व्यक्ति में उच्च वर्ग की पात्रता नहीं है। वह निजी स्वार्थ को समाज से श्रेष्ठ समझता है, उसमें अहंकार भावना अधिक है, वह समष्टि से अर्थात् परमात्मा से दूर है और ऐसा व्यक्ति वर्णोन्नति का पात्र हो ही नही सकता। दूसरे, यह तो अवश्य सत्य है कि भारत में वर्ण के आधार पर उच्चता और हीनता मानी जाती है, परन्तु अन्य देशों में भी समाज विभिन्न वर्गो में विभाजित है। जहाँ अन्य देशों में वर्ग अनिश्चित आधार पर निर्माण होते हैं वहाँ भारत में वर्णों को निश्चित स्वरूप देकर तथा उसे धन, सम्पत्ति अथवा पद प्रतिष्ठा पर नहीं अपितु व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति पर आधारित कर वर्ग विद्वेष की भावना ही यहाँ समाप्त कर दी गई। फिर, ऊँचे वर्ण के व्यक्तियों को जो आध्यात्मिक दृष्टि से इतने उन्नत नहीं थे और जो इस कारण उतना कठिन और अनुशासन पूर्ण जीवन व्यतीत करने में अक्षम थे—उन ऊँचे वर्णों में प्रवेश करने की इच्छा ही होना कठिन था। फिर जितना ऊँचा वर्ण होगा उतनी ही प्रतिष्ठा अधिक होगी, सम्मान भी अधिक होगा, परन्तु साथ ही साथ उतना ही कड़ा अनुशासन भी होगा, सुखोपभोग की सुविधा भी कम होगी, उत्तरदायित्व अधिक होगा तथा आदर्श के रूप में समाज में जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता भी अधिक होगी। निम्न वर्ण के व्यक्ति का सम्मान तो अवश्य कम है, परन्तु उसके जीवन में सुविधा, सुखोपभोग की सम्भावना भी उतनी ही अधिक है।"

३. ब्राह्मण

गुण—समाज-व्यवस्था में सर्वश्रेष्ठ स्थान ब्राह्मण को प्राप्त था। स्वाभाविक ही है कि जबकि सन्तोष, क्षमा, शान्ति, उदारता, संयम, अनुशासन, अलोभ, चरित्र आदि सद्गुणों के प्रतिमूर्ति के रूप में ब्राह्मण की कल्पना की गई तब उसको श्रेष्ठ स्थान देना ही चाहिए था। ब्राह्मणों के सम्बन्ध में धर्मग्रन्थों में इतना लिखा गया है कि यदि उसे संकलित किया ही जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ तैयार हो जाय। इस कारण ब्राह्मणों के विषय में समाज व्यवस्था से सम्बन्धित मूल बातों का ही यहाँ उल्लेख किया जायगा जिन गुणों के कारण ब्राह्मण की श्रेष्ठता वर्णित है। उदाहरण के लिए शान्तिपर्व में कहा है "जिसके जात-कर्म आदि संस्कार होते हैं, जो वेदाध्ययन करता हुआ प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन, स्नान, जप, होम, देवपूजा और अतिथि सत्कार करता रहता है, वही ब्राह्मण है। जो सदाचारी, सत्यव्रती, गुरुप्रिय और सत्यपरायण रहकर ब्राह्मणों को भोजन कराने से बचा हुआ अन्न खाता है और जो दान, अद्रोह, कोमलता, दया, क्षमा और तपस्या में लगा रहता, है वही ब्राह्मण है।" इस कथन का भाव यह है कि ब्राह्मण के पूर्व संस्कार होने चाहिये क्योंकि संस्कार के द्वारा बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की शुद्धि तथा व्यक्ति की उन्नति होती है। ब्राह्मणों के द्वारा प्रतिदिन आचार का पालन भी होना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा

पारमार्थिक बुद्धि का विकास होता है तथा ब्राह्मणों के अन्दर सद्गुण होने चाहिये। इसी प्रकार से ब्राह्मणों के गुण अन्य ग्रन्थों में भी वर्णित है।

धर्म-रक्षा का कार्य—इन सब गुणों की श्रेष्ठता के ही कारण इस वर्ण को ब्रह्म प्राप्त करने में समर्थ तथा उस दृष्टि से प्रयत्नशील समझकर और उन्नतिशील समझकर 'ब्राह्मण' नाम दिया गया है। 'जिसके हृदय में निर्मल निर्गुण ब्रह्म का भाव उदय हो, वही ब्राह्मण है।' बृहदारण्यक उपनिषद में कहा है "हे गार्गी। जो इस अक्षर (ब्रह्म) को जानकर इस लोक मे मरकर जाता है वही ब्राह्मण है।" उपरोक्त गुणों के कारण तथा वह ब्रह्म प्राप्ति की दृष्टि से सबसे अधिक निकट है इस कारण समाज की व्यवस्था बनाये रखने का काम अर्थात धर्म स्थापन का कार्य ब्राह्मणों को सौंपना स्वाभाविक ही था।" तीनों लोक (समाज), तीनों वेद (धर्म) तथा तीनों अग्नि (आचार) इनकी रक्षा के लिए पहिले ब्राह्मणों की सृष्टि हुई थी। ब्रह्मा ने तप करके हव्य कव्य पहुँचाने के लिए और इस सम्पूर्ण जगत की रक्षा के लिए अपने मुख से सबसे पहिले ब्राह्मण को उत्पन्न किया। ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म का अविनाशी शरीर है। वह धर्म के लिए उत्पन्न हुआ है और (अपने तथा अन्य सबों के लिए) ब्रह्मत्व प्राप्ति की दृष्टि से प्रयत्न करता है। उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पृथ्वी पर सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह प्राणियों के धर्म समूह की रक्षा के लिए ईश्वर है।"

आदर्श जीवन व्यतीत करने की अनिवार्यता—धर्मस्थापन करने वाले ब्राह्मण को समाज के सम्मुख आदर्श रूप में रहना चाहिये, यह आवश्यकता भी भारतीय समाज निर्माताओं ने अनुभव की। इसलिये वे सब कृत्य जो समाज व्यवस्था को दूषित करने वाले हैं वे ब्राह्मणों को करना वर्जित हैं। इस कारण ऐसे समाज भावना हीन अथवा समाज व्यवस्था के विपरीत कर्म करने वाले ब्राह्मणों को निम्न समझकर उन्हें श्राद्ध में आमंत्रित करना अथवा दान देना वर्जित किया गया है। श्राद्ध में आमंत्रित किये जाने के अयोग्य ब्राह्मणों की मनुस्मृति में दी गई सूची यहाँ दी जाती है। इसी प्रकार से दान के अपात्र ब्राह्मणों की भी सूची है। इस प्रकार की विविध शास्त्रों में जो सूचियाँ दी हुई हैं उन्हें देखने से ज्ञात होगा कि जो अधर्मी है, जो अपने कर्म को छोड़कर अन्य कर्मों में रत हैं, जो समाज व्यवस्था के नियमों का उल्लंघन करने वाले हैं अथवा जो ऐसी जीविका करते हैं जिनमें धन के लोभ का स्वाभाविक रीति से विकास करता है तथा जो क्रूरकर्मा, चरित्रहीन, दुष्ट हैं उन सबों को श्राद्ध में आमंत्रित करना अथवा दान देना वर्जित है। संक्षेप में जो समाज जीवन की दृष्टि से आदर्श प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं उनको ब्राह्मणों में योग्य स्थान देना मना किया है।

जीविका के नियम (ब्राह्मणों के)—ब्राह्मण को धन की दृष्टि से भी समाज के सामने चरम आदर्श प्रस्तुत करना है। ऐसा नहीं हो सकता कि श्रेष्ठता के नाम से वह समाज में सबसे अधिक ऐश्वर्य तथा सुखोपभोग की कामना करे और स्वयं वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर समाज को सन्तोष की ओर सर्वस्व त्याग की शिक्षा दे।

उन्हें स्वयं भी चरम संतोष का तथा स्वार्थ त्याग का जीवन व्यतीत करना है। ब्राह्मण की जीविका के सम्बन्ध में मनु ने जो नियम दिये हैं, वह यहाँ पूर्ण उद्धृत करने की आवश्यकता है। "अनापदकाल में विप्र ऐसी वृत्ति के द्वारा रहे जिसमें प्राणियों का अद्रोह हो (अर्थात् कष्ट न हो) अथवा कम से कम द्रोह हो। अपनी (जीवन) यात्रा पूरी करने के ही अर्थ अपने अनिन्दित कर्मों द्वारा शरीर को पीड़ा न देते हुए धन संचय करें। ऋत, अमत, मत, प्रमत, सत्यानृत से अपनी जीविका कमाये परन्तु श्ववृत्ति से कभी नहीं। उच्छ (खेत में पड़े हुए अन्न के दाने बीनना) तथा शिल (खेत में पड़ी हुई बालियाँ बीनना) को ऋत कहते हैं, अयाचित (बिना माँगी वस्तु) अमृत होता है, याचित भिक्षा मृत कहलाती है तथा खेती को प्रमृत कहते हैं, वाणिज्य को सत्यानृत कहते हैं। उससे भी मनुष्य जीविका चलाते हैं। सेवा को श्ववृत्ति कहते हैं इस कारण उसे वर्जित करना चाहिये। कुमूलधान्यक (बारह दिन का धान रखने वाला-गोविन्दराज तथा मीताक्षर टीका के अनुसार), अथवा कुम्भी धान्यक (घड़े भर अर्थात् लगभग छः दिन का धान रखने वाला) अथवा तीन दिन का धान रखने वाला अथवा उसी दिन का धान रखने वाला हो (परन्तु) इन चारों गृहस्थी ब्राह्मणों में आगे आगे वालों को पीछे कहे हुओं से श्रेष्ठ जानना चाहिए, और वह धर्म के द्वारा (इहलोक) और (परलोक) जीतता है। इनमें (ब्राह्मणों में) कोई छः कर्म, (अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान देना. दान लेना,) कोई तीन कर्म, कोई दो कर्म और अन्य कोई ब्रह्म यज्ञ (अध्ययन) के द्वारा ही जीवन व्यतीत करता है। शिल और उच्छ में लगा हुआ ब्राह्मण अग्निहोत्र परायण हो तथा पर्व और अयनों में होने वाले यज्ञों को सदा करें। अपनी वृत्ति के लिये कभी भी संसार को प्रसन्न करने का प्रयत्न न करें। ब्राह्मण शूद्र और शठता से विहीन और दम्भ आदि से विहीन जीविका से जिये। सन्तोष ही परम वस्तु है, इस कारण सुख चाहने वाला संयमी हो। सुख का मूल संतोष है और असन्तोष दुखकारक है। इसीलिए स्नातक ब्राह्मण किसी एक आजीविका से जीता हुआ स्वर्ग आयु और यश देने वाले उपरोक्त वृत्तों को धारण करे तथा वेद में कहे हुए अपने कर्म को निरालस्य भाव से करे। उसे यथाशक्ति करने से परम गति प्राप्त करता है। न तो विरुद्ध (बुरे) कर्म से जीविका चाहे और न प्रसंगानुसार बात (चापलूसी) करके। विद्यमान अर्थ में भी इधर उधर न जावे (अर्थात् धन के लिये इधर उधर न घूमे)। समस्त इन्द्रियों में अपनी इच्छानुसार आसक्त न हो तथा मन के द्वारा अति आसक्ति त्याग दे। जो स्वाध्यायविरोधी हों ऐसे सब अर्थों को त्याग दे। जिस किसी प्रकार सम्भव हो अध्यापन करें। यही उसकी कृतज्ञयता है।" उपरोक्त नियमों के द्वारा ब्राह्मण किस प्रकार अपनी जीविका का निश्चय करे यह स्पष्ट कर दिया गया है। सन्तोष का आग्रह है और सन्तोष की भावना की दृष्टि से शिल और उच्छ (खेत में पड़ी हुई अन्न की बाली अथवा दानों को बीनकर निर्वाह करना) तथा कुसूल धान्यक और कुम्भीधान्यक (बारह, छ, तीन अथवा एक दिन का अन्न संग्रह करने) का

आग्रह किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसी जीविका करने के लिए मना किया है जो स्वाध्याय में बाधा डालने वाली हो अथवा निन्दित वृत्ति की हो, अथवा शठतापूर्ण हो अथवा जिससे प्राणी को थोड़ा भी कष्ट हो। संसार को प्रसन्न करके अथवा व्यक्ति की चापलूसी करके जीवित रहना भी मना किया गया है। सेवा करना भी मना है क्योंकि इससे किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रहती, न विचार व्यक्त करने की, न जीवन व्यतीत करने की, न इच्छानुसार कार्य करने की और फिर ऐसा व्यक्ति समाज का मार्गदर्शन करने में किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता। सन्तोष की भावना पर और आग्रह करने के लिए यह फिर कहा गया है कि जिस किसी प्रकार से भी हो (अर्थात् कष्ट में, चाहे निर्धनता में) अध्यापन का कार्य करते रहना चाहिये तथा यज्ञ भी करते रहना चाहिये।

ब्राह्मणों की जीविका के साधन तथा उनमें कठिनाई—ब्राह्मण की जीविका के तीन साधन बताये गये हैं। 'षटकर्मों में पढ़ाना, यज्ञ कराना और विशुद्ध व्यक्तियों से दान लेना, ये तीनों ब्राह्मण की जीविका कही हैं'। इन तीन साधनों में भी ब्राह्मण के लिये बहुत कठिनाई रखी गई है। पढ़ाने के सम्बन्ध में ऐसा निर्देश किया गया है कि ब्राह्मण धन के लिये कभी न पढ़ावे। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा अनुशासनपर्व में मृतकाध्यापक को अर्थात् जो पढ़ाने के बदले में धन लेने वाला हो उसे श्राद्ध में आमन्त्रित करने के अयोग्य बताया है। विष्णु धर्मसूत्र और याज्ञवल्क्य स्मृति आदि में धन के लिए अध्ययन उपपातकों में से एक गिना गया है। यज्ञ कराने के सम्बन्ध में भी यह नियम है कि ग्रामजायक को, अर्थात् जो दक्षिणा के लिए कई व्यक्तियों को यज्ञ कराये, न श्राद्ध में बुलाना चाहिये और न दान देना चाहिये। दान का जहाँ तक प्रश्न है प्रतिग्रह की अर्थात् दान माँगने की निन्दा की गई है। कौषीतकि ब्राह्मोपनिषद् में कहा है "दीनतापूर्वक दूसरों के सामने प्रार्थना करना—यह याचक का धर्म होता है अर्थात् याचना करने वाले को ही दैन्य प्रदर्शन करना पड़ता है। याचना और दैन्य प्रदर्शन से दूर रहने पर ही उसे लोग यों निमन्त्रण देते हैं कि 'आओ हम तुम्हें देंगे।' याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है कि प्रतिग्रह लेने में समर्थ होने पर भी यदि ब्राह्मण न ले तो वह सर्वश्रेष्ठ लोक प्राप्त करता है। मनुस्मृति में तो प्रतिग्रह की बहुत ही अधिक निन्दा की गई है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिबन्ध है कि दान अच्छे ही व्यक्ति का लेना चाहिये और इसी कारण याज्ञवल्क्यस्मृति तथा मनुस्मृति में लोभी तथा शास्त्र-नियमों का उल्लंघन करने वाले राजा का दान लेना मना किया गया है। कुछ वस्तुओं का भी दान लेना मना किया है जो ब्राह्मण के जीवन के लिये अनुपयुक्त हैं।

ब्राह्मण के कार्य—क्योंकि ब्राह्मण को समाज के सामने आदर्श जीवन व्यतीत करना है और क्योंकि जो वैसा आदर्श जीवन नहीं व्यतीत करता उसे उसके स्थान से च्युत करने का आदेश है अतः ऐसे वर्ग को ही समाज को शिक्षित करने का तथा यज्ञ कराने का महत्वपूर्ण कार्य दिया गया है। स्वयं आदर्श जीवन व्यतीत करने के

कारण ही वही समाज की भावी सन्तति को ठीक मार्ग पर लगाने में समर्थ हैं, वही उनमें निःस्वार्थी समाज-जीवन व्यतीत करने की पात्रता और सिद्धता उत्पन्न कर सकता है। तथा वही मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा और शक्ति दे सकता है। ऐसे ही व्यक्ति के पास यज्ञ अर्थात् समाज जीवन को व्यवस्थित रखने वाले कर्मों का संचालन करने की पात्रता है। ब्राह्मण को प्रायश्चित करने का, धर्म-निर्णय का तथा न्यायकर्ता का काम भी सौंपा गया है। मनु का कहना है कि ब्राह्मण उत्पत्ति से ही देवताओं का देवता है और संसार में वह प्रमाण माना जाता है, इसमें वेद ही कारण है। उन ब्राह्मणों में से तीन वेदपाठी ब्राह्मण पाप के प्रायश्चित का उपदेश करें क्योंकि विद्वानों की वाणी पवित्र और पापियों को पवित्र करने वाली है।" अत्रिस्मृति में कहा है, "जो वेद और शास्त्र को पढ़े और शास्त्र के अर्थ का ज्ञान रखे, उस ब्राह्मण को वेदविद् कहते हैं, उसका वचन पवित्र करने वाला है। एक भी वेद को जानने वाला ब्राह्मण जिसे धर्म कहे वही परम धर्म जानना चाहिये और जिसे दससहस्त्र मूर्ख कहें वह भी धर्म नहीं है।" न्याय के के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य तथा शुक्र का कहना है कि न्यायकर्ता ब्राह्मण होना चाहिये। धार्मिक, विद्वान न्यायप्रिय होने के कारण ब्राह्मणों को यह काम सौंपे गये।

४. क्षत्रिय

क्षत्रिय का प्रमुख कार्य—ब्राह्मणों के पश्चात् समाज का शेष उत्तरदायित्व क्षत्रियों और वैश्यों के पास है जिन्हें राज्यसत्ता तथा धनसत्ता का अधिकार दिया गया है। इनके सम्बन्ध में विचार राज्य-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत विस्तार से किया जायगा। यहाँ क्षत्रियों और वैश्यों के व्यक्तिगत कर्त्तव्यों का ही उल्लेख करना पर्याप्त है। ब्राह्मणों के ही साथ क्षत्रियों को भी धर्म और समाज के संरक्षण का कर्त्तव्य है। ऋगवेद में कहा गया है "हे वृहस्पति और इन्द्र! तुम दोनों हम लोगों का वर्णन करो। हम लोगों के प्रति तुम दोनों का अनुग्रह एक समय में ही प्रयुक्त हो। तुम दोनों हम लोगों के यज्ञ की रक्षा करो, हमारी स्तुति से जागरित हो और स्तोताओं के शत्रुओं (धर्म-विरोधियों) के साथ युद्ध करो।" ऋग्वेद में वरुण को धृतव्रत अर्थात् धर्म का संरक्षक कहा है और उसकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा है" राजा धर्म का संरक्षक है······वह और श्रोत्रिय दोनों मनुष्यों में धर्म को धारण कराने वाले हैं। गौतम ने कहा है "संसार में दो धर्म को धारण करने वाले हैं—राजा और विद्वान ब्राह्मण।" मनुस्मृति में कहा है, "प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न कर सबको ब्राह्मण तथा राजा को दे दिया।" नारद पुराण का कथन है, "शास्त्र का यह मत है कि पृथ्वी क्षत्रियों के अधिकार में है और उनकी आज्ञा में रहकर सब परमसुख का लाभ करते हैं।" 'क्षत्रिय' शब्द का अर्थ ही है क्षत (घाव) से त्राण (संरक्षण) करने वाला अर्थात् जो समाज जीवन में व्रण उत्पन्न हुए हैं उन सबको धोने वाला क्षत्रिय है।"

अन्य कार्य और गुण—समाज के पालन का कार्य क्षत्रिय के पास होने के कारण क्षत्रिय को भी अध्ययन, यजन और दान यह तीन कर्त्तव्य बताये गये हैं। अध्ययन इसलिये कि उससे ज्ञान प्राप्त होता है तथा समाज का काम करने की पात्रता उत्पन्न होती है, यजन इसलिये कि वह समाज को सुसंगठित करने का एक साधन है, और दान इसलिये कि यह समाज का पोषण करने वाला है। परन्तु इन सबसे भी क्षत्रिय का प्रमुख कर्त्तव्य है समाज का रक्षण और पालन। मनु का कथन है, "अपने-अपने कर्मों में ब्राह्मण के लिये वेद का अभ्यास, क्षत्रिय के लिये प्रजा-पालन, तथा वैश्य के लिये वाणिज्य कर्म श्रेष्ठ है।" शंखस्मृति का कथन है कि क्षत्रिय का विशेष कार्य प्रजापालन है। शान्ति पर्व में कहा गया है "यज्ञ करना, विद्या पढ़ना, पौरुष दिखलाना, सम्पत्ति से सन्तुष्ट न हो जाना, धन का उपार्जन, तप करना, उग्रता, दण्ड धारण, प्रजापालन, वेदज्ञान, और सत्पात्र को दान देना क्षत्रियों का कर्त्तव्य है। क्षत्रिय इन्हीं सब कर्मों के प्रभाव से दोनों लोक में विजयी होते हैं। इन सबमें भी दण्ड धारण सबसे श्रेष्ठ गुण है तथा दण्ड का प्रयोग बल से ही होता है।" क्षत्रियों को इस दृष्टि से आवश्यक गुणों का उपार्जन भी बताया गया है। गीता में कहा है "शूरता, तेज, धृति निपुणता, या सबके प्रति अनुकूलता, युद्ध से विमुख न होना, दान तथा स्वाभिमान ये क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।" वामन पुराण में जयश्री नामक एक देवी का वर्णन है जिसके आश्रित वही पुरुष होते हैं जो यज्ञ करने वाले, धर्मयुक्त, अभिमानी तथा बहुत दक्षिणा वाले होते हैं, और उस देवी की यह प्रतिज्ञा है कि "मैं शौर्यवान पुरुष के ही पास जाती हूँ, नपुंसक के पास कभी नहीं।" मनु का कथन है कि, 'क्षत्रियों में ज्येष्ठता वीर्य से प्राप्त होती है।" सबसे अधिक प्रशंसा क्षत्रिय के लिये शास्त्रों में रण से विमुख न होने की है और रण में यथासंभव विजय प्राप्त करनी चाहिये, यह आदेश दिया गया है। यदि क्षत्रिय अपने धर्म पर डटा रहेगा और कभी भय से अथवा स्वार्थ से विमुख न होगा तभी धर्म रक्षित रह सकता है। यदि रक्षा करने वाला ही दब जाय तो अधर्मियों का राज्य हो जायगा। संपूर्ण गीता के उपदेश का भी यही आशय है।

ब्राह्मण-क्षत्रिय सम्बन्ध—यह तो अवश्य था कि क्षत्रिय भी धर्म का ज्ञाता था परन्तु ब्राह्मण के गुण (सन्तोष, क्षमा, मृदुता, सात्विकता आदि) और उसको सौंपे गये कार्य (अध्यापन आदि) के कारण उसे क्षत्रिय से श्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। यह तो अवश्य है कि समाज को ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रियों और वैश्यों की भी आवश्यकता है क्योंकि उनके बिना न तो समाज में पूर्णता आ सकती है, न समाज का संरक्षण हो सकता है, परन्तु फिर भी, यदि धर्म की व्यवस्था करने वाले और उसकी मर्यादाये बताने वाले व्यक्तियों की श्रेष्ठता न मानी गई तो धर्म नीचे दब जायेगा और धर्म के नीचे दब जाने पर फिर संरक्षण किस बात का होगा? साथ ही साथ यदि राज्यकर्ताओं के ऊपर धर्म का अंकुश जमाने वाला वर्ग न रहा जिसे समाज की श्रद्धा प्राप्त हो और जो इसी आधार पर राज्यकर्त्ताओं को अपनी

है। वह सुतृप्त होकर अपने गृह में निवास करता है, पृथ्वी उसके लिये सब काल में फल प्रसव करती है, प्रजागण स्वयं उसके निकट अवनत रहते हैं। वनपर्व में कहा है—"जिन ब्राह्मणों ने धर्म और अर्थ के बारे में ज्ञान प्राप्त करके मोह जाल को काट डाला है उनकी सहायता पाकर राजा लोग सहज ही अपने शत्रुओं का नाश कर देते है। राजा वाली ने प्रजापालन के अर्थ मोक्ष धर्म का आचरण करने के लिये ब्राह्मणों की ही सेवा की थी और उसी से उनका मनोरथ सिद्ध हुआ था। ब्राह्मणों के प्रसाद से उन्हें समुद्र पर्यन्त पृथ्वी और अचल राज्य लक्ष्मी प्राप्त हुई। अन्त को ब्राह्मणों का अपमान करने से ही राजा वाली का सर्वनाश हुआ। यह रत्नगर्भा पृथ्वी ब्राह्मण-सेवा (धर्म) विमुख व्यक्तियों के आधीन नहीं रहना चाहती। जो कोई श्रद्धा और भक्ति से साथ ब्राह्मणों के उपदेश को मानता है उसी को ही पृथ्वी अपना स्वामी बनाती है। संग्राम-भूमि में अंकुश की चोट से हाथी का बल जैसे घट जाता है वैसे ही ब्राह्मण विमुख क्षत्रिय के बल का भी नाश हुआ करता है।" इसी तथ्य को परशुराम और सहस्त्रार्जुन तथा वशिष्ट और विश्वामित्र की कथाओं द्वारा उद्धृत किया गया है। जब क्षत्रिय, जिनके सबसे प्रमुख प्रतिनिधि के रूप में सहस्त्रबाहु था, निरंकुश हो गये और प्रजा पर तथा विशेषरूप से धर्म के त्राता और व्यवस्थापक ब्राह्मणों पर अत्याचार करने लगे तब परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय कर क्षत्रियों के दर्प और उनकी निरंकुशता को खंड़ित किया, यद्यपि बाद में अपने पद पर प्रस्थापित किया गया। इसी प्रकार जब राजा विश्वामित्र ने ब्राह्मणों से स्वयं को श्रेष्ठ समझकर वशिष्ठ का अपमान करने का प्रयत्न किया तब उन्हें पराजय खाकर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा। इस प्रकार क्षत्रिय की तुलना में ब्राह्मण की श्रेष्ठता धर्मशास्त्रों ने निश्चित रूप से स्वीकार की है तथा उपरोक्त कथाओं के माध्य से यह आग्रह किया है कि क्षत्रिय निरंकुश हो जायेगा और प्रजा की पीड़न करेगा तो उस समय ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह समाज की श्रद्धा के आधार पर उसे ठीक मार्ग पर लगाये।

५. वैश्य और अर्थ-व्यवस्था

वैश्य—ज्ञान-सत्ता और राज्यसत्ता के पश्चात् अर्थ-सत्ता को स्थान दिया गया और इस कारण वैश्य का स्थान ब्राह्मण और क्षत्रिय के पश्चात् था। समाज की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना वैश्य का काम था। इसीलिये उसके कार्यों में वार्त्ता (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन) को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। वैश्य-धर्म का विस्तार से वर्णन शान्तिपर्व में है, "दान, अध्ययन, यज्ञ, ईमानदारी से धन का संचय करना और पुत्र के समान पशुओं का पालन करना वैश्यों का धर्म है। ब्रह्मा ने संसार की सृष्टि करके ब्राह्मणों और क्षत्रियों को मनुष्यों की रक्षा तथा वैश्यों को पशुओं की रक्षा का भार सौंपा है। वैश्य लोग पशुओं का पालन करके सुखी रहेंगे। वैश्यों को अपना निर्वाह कैसे करना चाहिये—यह बतलाता हूँ, सुनो। वैश्यों को घर में गायों का पालन करने पर एक गाय का दूध, सौ गायों की रक्षा करने पर वर्ष में एक गाय और एक बैल, दूसरे से धन लेकर वाणिज्य करने पर आय का सातवाँ भाग, मूल्यवान सींग और खुर का सोलहवाँ भाग तथा खेती में पैदा हुए अन्न का सातवाँ हिस्सा अपने वेतन स्वरूप लेना चाहिये। श्रुति ग्रन्थों में भी यह बताया गया है कि वैश्य को धन कमा कर उसके द्वारा खूब समाज का पोषण करना चाहिये। ताण्डव महाब्राह्मण का कहना है कि वैश्य ब्राह्मण तथा क्षत्रिय द्वारा खाये जाने के योग्य है क्योंकि उसे इन दोनों से निम्न स्थान दिया गया है। तैत्तिरीय संहिता का भी यही कहना है। वैश्यों के गुण शान्तिपर्व पर बताये गये हैं जहाँ कैकय देश का राजा कहता है—"मेरे राज्य के वैश्य भी अपने कर्मों में लगे रहते हैं। वे छल-कपट छोड़कर खेती, गोरक्षा और व्यापार से जीविका चलाते हैं। प्रमाद में समय नहीं बिताते, सदा काम में ही लगे रहते हैं, उत्तम व्रतों का पालन और सत्य भाषण करते है। अभ्यागतों को देकर खाते हैं तथा सबके हित का ध्यान रखते हैं। इन्द्रीयसंयम और पवित्रता कभी नहीं छोड़ते।" संक्षेप में वैश्यों को शुद्ध, जितेन्द्रिय, सावधान, क्रियावान, सत्यवादी और व्रती होना चाहिये।

'वार्त्ता' का महत्व—भारतीय अर्थ-व्यवस्था में यह बात ध्यान देने योग्य है है कि भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों के समान वह भी भारतीय जीवन दर्शन और समाज-व्यवस्था पर आधारित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इसे जीवन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र नहीं माना गया है। अपितु इसे भी जीवन का एक पृथक क्षेत्र मानकर इस क्षेत्र के लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'वार्ता' नाम दिया गया है और इसके अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य तथा पशुपालन रखा है। वन की व्यवस्था भी स्वाभाविक रीति से कृषि के अन्तर्गत आ जाती है तथा खनिज पदार्थों के विषय में विचार वाणिज्य के साथ हो जाता है और इस प्रकार अर्थ के उत्पादन, तथा बहुअंशों में वितरण का भी विचार 'वार्ता' के अन्तर्गत हो जाता है। अतः यद्यपि 'वार्ता' के नियम समाजिक जीवन के नियमों पर आधारित है परन्तु उसे जीवन का एक विशेष और बहुत महत्वपूर्ण क्षेत्र माना गया। केवल उपयोग का और कुछ अंशों में वितरण

का भी विचार धर्मशास्त्रों में किया गया है। भारतीय जीवन में 'वार्ता' को कितना महत्व दिया गया था कि यह इसी से समझा जा सकता है कि महाभारत तथा रामायण दोनों ही में कहा गया है कि 'वार्ता पर आश्रित रहने से यह संसार सुख पाता है' तथा कौटिल्य ने इसे उपकार करने वाली विद्या बताया है। इनके अतिरिक्त वार्ता का महत्व शुक्रनीति में कामन्दकीय नीतिसार में तथा कई स्थानों पर महाभारत में भी बताया गया है। इसका समाज का जीवन में महत्व इससे भी समझा जा सकता है कि राजा के शिक्षा के पाठयक्रम में इसे एक आवश्यक विषय बताया गया है क्योंकि समाज की योग्य व्यवस्था करने वाले राजा को यदि इसका ज्ञान न रहा तो वह समाज का समुचित पालन नहीं कर सकता। इस निबन्ध में हम केवल 'वार्ता' का ही (कृषि, वाणिज्य, पशुपालन का ही) विचार नहीं करेंगे अपितु आर्थिक जीवन से सम्बन्धित अन्य विषयों का भी विचार करेंगे जिनका विचार 'वार्ता' के अन्तर्गत नहीं किया गया है।

पुरुषार्थों में 'अर्थ' को स्थान—अर्थ के अतिरिक्ति धन की भी प्रशस्ति स्थान-स्थान पर की गई है परन्तु साथ-साथ में धन की निन्दा भी की गई है। धन की प्रशंसा इस रूप में की गई है कि धन न होने से व्यक्ति जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ति नहीं कर सकता, धन न रहने से व्यक्ति को अपमान प्राप्त होता है, धन न रहने से व्यक्ति धर्म-पालन भी नहीं कर सकता, धन न रहने से बन्धु बांधव भी व्यक्ति को छोड़ देते हैं तथा धन से विहीन पुरुष को पुत्र, गुण तथा बन्धु बान्धव भी शोभा नहीं देते। नारदपुराण में कहा है कि 'बहुत पुत्र होने पर भी ऐश्वर्य विहीन का जन्म व्यर्थ है। सौम्यता, विद्वता तथा सत्कुल में जन्म आदि गुण उस व्यक्ति को शोभा नहीं देते जो दारिद्रय रूपी समुद्र में निमग्न है। ऐश्वर्य विहीन व्यक्ति को प्रिय पुत्र, पत्नी, बान्धव, माता, शिष्य आदि सब छोड़ देते हैं। दरिद्र पुरुष इस संसार में मुर्दे के समान निन्दित होता है परन्तु यदि व्यक्ति सम्पत्ति से युक्त हो तो वह निष्ठुर हो अथवा अनिष्ठुर हो, गुणहीन हो अथवा गुणवान हो, मूर्ख हो अथवा पण्डित हो वही पूज्य होता है इस में कोई संशय नहीं है। इसके साथ-साथ धन की जो निन्दा की गई है उसके कारण यह बताये हैं कि धन रहने से व्यक्ति का सन्तोष नष्ट होकर लोभ तथा तृष्णा उत्पन्न होती है तथा धन रहने से राजा को चोर का तथा बन्धु-बान्धवों का भय रहता है। संक्षेप में धन प्राणों का घातक और पापों का साधक है। इन सब कारणों में धन की निन्दा का प्रमुख कारण है कि यह मनुष्य को संसार में लिप्त करने वाला है तथा उसे आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग से रोकता है। यद्यपि इस प्रकार धन की निन्दा तथा प्रशंसा दोनों की गई है फिर भी यह परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं अपितु भारतीय जीवन दर्शन पर आधारित जीवन का दो पहलू मात्र हैं। इस संसार में जीवन चलाने के लिए धन की आवश्यकता है और इस संसार में धन के बिना किसी प्रकार जीवन नहीं चल सकता। अतः इस संसार के व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से धन की प्रशंसा की गई है तथा आवश्यकता बताई गई है, परन्तु इस सांसारिक जीवन

से यदि आगे बढ़ कर देखा जाय तो मनुष्य के सामने संसार त्याग का जो महान् लक्ष्य रखा गया है उसको ध्यान में रख कर धन की निन्दा की गई है क्योंकि यह मनुष्य को अपने ध्येय से विचलित करता है। इस प्रकार जीवन के एक अंग के लिए उन लोगों के लिए जो सांसारिक जीवन सफलतापूर्वक बिताना चाहते हैं धन की आवश्यकता और महत्व का वर्णन है तथा जीवन के दूसरे अंग के लिए उन लोगों के लिए जो धीरे-धीरे संसार से निवृत्त होना चाहते हैं धन की इच्छा की, उसके मोह की निन्दा की गई है। यह उसी के अनुसार है जिस के अनुसार मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य बताते हुए भी तथा संसार की सब कामनाओं और लिप्साओं से तथा भौतिक जीवन के माया जाल से मुक्त होने की अनिवार्य आवश्यकता बताते हुए भी 'अर्थ' और 'काम', को चार पुरुषार्थों में स्थान दिया गया है। यह भारत के समन्वयात्मक जीवन की विशेषता है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि भारतीय विचार में 'धन' का भी वही अर्थ है जो वर्तमान काल के पश्चिमी अर्थशास्त्र में है। शुक्र ने 'धन' और 'द्रव्य' के अन्दर भेद करते हुए बताया है जो वस्तुएँ वस्तु विक्रय के लिये प्रयोग होती है वह तो द्रव्य हैं तथा अन्य सभी वस्तुएँ जो मनुष्य जीवन के उपयोग की हैं अर्थात् जिनमें उपयोगिता है, जिनको मोल लिया और बेचा जा सकता है तथा जिन्हें प्राप्त करने की मनुष्य इच्छा करता है, वह सब धन है।

'उपभोग' का महत्व—वर्तमान काल के अर्थशास्त्र में आर्थिक जीवन के नियमों के अन्तर्गत पहला विचार उपभोग का है। भारतीय विचारकों ने भी मनुष्य जीवन में उपभोग और उसकी आवश्यकता का महत्व समझा था। उनकी धारणा थी कि मनुष्य की जो आवश्यकताएँ हैं (कम से कम न्यूनतम आवश्यकताएँ) उनकी अवश्य पूर्ति होनी चाहिए, क्योंकि एक तो यदि इन आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई और मनुष्य का मन इन्हीं में लिप्त रहा तो वह आध्यात्मिक उन्नति न कर सकेगा और दूसरे, यदि मनुष्य की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति न हुई तो एक बार उस की इच्छा होने पर भी वह धर्म पर भी वह धर्मपालन नहीं कर सकेगा। उपभोग का यह महत्व समझने के ही कारण सभी वर्णों और आश्रमों के व्यक्तियों की जीविका की व्यवस्था की गई है और राजा के लिए, जो सबका संरक्षक है, यह नियम है कि वह सबका विभाग कर तब स्वयं उपभोग करे अर्थात् जब तक वह यह न देख ले कि सब लोग संतुष्ट हैं तब तक वह स्वयं उपभोग न करे और न उसे वैसा करने का अधिकार ही है।

मर्यादित उपभोग पर आग्रह—धनार्जन का महत्व है और जीवन में आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता है, अर्थात् उपभोग का महत्व है। इसका अर्थ यह नहीं है कि धन का अपव्यय करने की, ऐश्वर्योपभोग (luxury) की अथवा धन को संग्रह कर रखने की धारणा भारतीय विचार में मान्य है। इसके विपरीत शुक्रनीति में अधिक व्यय करने वाले व्यक्ति को राज्य से बाहर निर्वासित करने योग्य व्यक्तियों की सूची में रखा गया है तथा यह आग्रह किया गया है कि 'बुद्धिमान व्यक्ति अधिक व्यय वाले कार्य को करें।' इसके अतिरिक्त मनुस्मृति में और

महाभारत में असज्जनों से धन लेकर उसका सज्जनों में वितरण करने का तथा उससे संसार का रंजन करने का आग्रह किया है। "निष्क्रिय लोगों और दस्युओं का धन (जो धन का सदुपयोग नहीं करते) अपहरण करने के लिए है।" "व्यर्थ की लताओं और वृक्षों को काटकर और उसका ईंधन के रूप में प्रयोग करने पर ही भोजन पकाया जाता है।" इसलिए जो धन धर्म के काम में नहीं आता वह राजा को ले लेना चाहिए। व्यक्ति को यज्ञशेष का ही उपभोग करना चाहिए अर्थात् समाज के प्रति तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के प्रति जो कर्तव्य हैं अर्थात् जो लोकसंग्राहक कर्म है (यज्ञ) उनकीपूर्ति करके ही जो कुछ शेष बच सके उसमें ही व्यक्ति को निर्वाह करना चाहिए (गीता ३/१२-१३)।

६. शूद्र

सेवा कार्य—समाज की तीन आवश्यकताओं—ज्ञान, राज्यसत्ता तथा धन की व्यवस्था होने पर भी समाज के अन्दर कुछ अन्य कर्म शेष रह जाते हैं जिनकी व्यवस्था करनी आवश्यक होती है। जो यह तीन वर्ण बताये गये हैं यह अपना-अपना काम निश्चिततापूर्वक कर सके इसके लिये इसकी जो अन्य साधारण आवश्यकताएँ हैं उनकी भी पूर्ति होनी चाहिए। इस कारण शूद्र वर्ण का भी निर्माण किया गया जिसका कार्य था अन्य तीन वर्णों की सेवा करना। शूद्र को तमोगुणी होने के कारण ही उसे यह सेवा कार्य दिया गया है। पीछे विस्तार के साथ तमोगुण के लक्षण बताये गये हैं और यह भी स्पष्ट किया गया है कि वर्णों का विभाजन गुणानुसार होने के कारण तमोगुणी व्यक्तियों को शूद्रवर्ण की संज्ञा दी गई है। तमोगुणी व्यक्तियों को शूद्र वर्ण में रखा गया है अतः उन्हें केवल त्रैवर्णिकों की सेवा का कार्य है, जिसमें ब्राह्मण की सेवा सबसे श्रेष्ठ मानी गई है। जब वह अन्य तीन वर्णों की सेवा करता है तो उसके पोषण का भी भार इन्हीं तीन वर्णों के ऊपर है और चाहे वह सेवा करने के अयोग्य भी हो जाये (वृद्धावस्था, रोग आदि के कारण) तो भी त्रैवर्णिकों के लिये यह उचित नहीं है कि वह इन्हें छोड़ दे अपितु उनको चाहिए कि वे इस दशा में भी उनका भरण पोषण करते रहें। वैदिक यज्ञों का शूद्र को अधिकार न देने का कारण यह है कि लोकसंग्राहक होने के कारण यह यज्ञ समाज पर अधिकार और समाज में प्रतिष्ठा देने वाले हैं। अतः यह माना गया है कि शूद्र को इनका अधिकार देने का अर्थ है समाज-जीवन को दूषित करना। भारतीय विचारकों की गुणों के अनुसार अधिकार भेद करने की धारणा के कारण शूद्र के सम्बन्ध में उपरोक्त नियम हैं।

शूद्रों का महत्व और सुविधायें—शूद्र को भारतीय समाज व्यवस्था में छोटा स्थान अवश्य दिया गया है, फिर भी शूद्र माना गया है, समाज का ही एक अंग। इस कारण ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में शूद्र का विराट पुरुष के एक अंग के ही रूप में वर्णन किया गया है। तैतिरीय संहिता तथा शुक्ल यजुर्वेद में कहा है, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में तेज रख।' शूद्र समाज का केवल एक अभिन्न अंग ही नहीं

माना गया अपितु उसके स्वभाव के अनुसार उसे उत्तरदायित्वों से तथा व्यक्तिगत अनुशासन से मुक्त रखा गया है। गृहस्थ के लिये जो दैनिक आचार हैं वह शूद्रों के लिये आवश्यक नहीं बताये गये और विवाह के अतिरिक्त अन्य कोई संस्कार भी उसको अनिवार्य नहीं है। खाने, पीने के कोई प्रतिबन्ध भी शूद्र के लिये नहीं हैं और न शास्त्र नियमों का उल्लंघन करने पर उसके लिये प्रायश्चित की ही अनिवार्यता है। उन्हें इन्द्रियोपभोग की पूरी स्वतन्त्रता है और उनके जीवन में कोई विशेष मर्यादाएँ (अन्यद्विजो के समान) लागू नहीं की गई हैं। विष्णुपुराण में व्यास मुनि कहते हैं, द्विजों को पहले ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुये वेदाभ्यास करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरण से उपार्जित धन के द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त क्लेश से पुण्यलोकों को प्राप्त करते हैं, परन्तु जिसे केवल मन्त्रहीन पाकयज्ञ का ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजों की सेवा करने से ही सद्गति प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियों की अपेक्षा अन्तर है।

७. जीवन-रचना (आश्रम-व्यवस्था)

उद्देश्य—वर्ण-व्यवस्था से ही संलग्न आश्रम व्यवस्था है। वर्णों के द्वारा विभिन्न जन्मों में व्यक्ति उन्नति करते करते अपनी पूर्णता आश्रम व्यवस्था के द्वारा प्राप्त करता है। वर्ण व्यवस्था के द्वारा मूल रीति से सामाजिक व्यवस्था की गई है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की पात्रता और योग्यता के आधार पर कार्य, विभाजन किया गया है अर्थात सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि उससे व्यक्ति की उन्नति हो जाय। आश्रम व्यवस्था के द्वारा मूल रीति से व्यक्ति की उन्नति का प्रयत्न है (ब्रह्मचर्य से सन्यास तक) परन्तु साथ ही साथ आश्रम व्यवस्था के द्वारा भी सामाजिक व्यवस्था निर्माण करने का प्रयत्न है। वर्ण-व्यवस्था के द्वारा, क्रमशः विभिन्न जन्मों में व्यक्ति उन्नति करें, इसकी व्यवस्था है, परन्तु यदि उसने इस जन्म में थोड़ी सी भी उन्नति न की हो फिर अगले जन्मों में उसकी उन्नति कैसे होगी ? इस कारण वर्ण-व्यवस्था परिपूर्ण नहीं है, आश्रम व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था मिल कर ही पूर्णता आती है। व्यक्तिगत उन्नति की दृष्टि से आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्याश्रम में गृहस्थाश्रम की, अर्थात सांसारिक जीवन ठीक प्रकार से व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती थी, तथा वानप्रस्थाश्रम में संन्यास की अर्थात सांसारिक जीवन के त्याग की शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति यह सीखता था कि धर्म का अर्थ और काम के ऊपर किस प्रकार नियंत्रण किया जाये और इसे गृहस्थाश्रम में वह व्यवहार में लाता था। अर्थ और काम का उपभोग कर चुकने पर व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में मोक्ष की दृष्टि से जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करता था और फिर संन्यासाश्रम में वह पूर्ण संन्यस्त (त्यागपूर्ण) जीवन व्यतीत करता था। त्रिऋण पूर्ण करने की दृष्टि से भी आश्रम व्यवस्था है। प्रत्येक व्यक्ति तीन ऋण लेकर पैदा होता है—ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण। जैसा तैत्तिरीय संहिता में कहा गया है ब्रह्मचर्याश्रम से ऋषिऋण पूर्ण होता है, गृहस्थाश्रम से पितृऋण और

वानप्रस्थ के द्वारा देवऋण पूर्ण होता है (अग्निहोत्र तथा तपपूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण) तथा अन्त में संन्यासाश्रम से ब्रह्मऋणपूर्ण होता है। राधाकृष्णन का यह भी कहना है कि श्रुति के चार भाग—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद–के आधार पर चार आश्रम हैं। व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में वेद का अध्ययन करता है, ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड का वर्णन है जिसका व्यवहार गृहस्थाश्रम में होता है। आरण्यक ग्रन्थ अरण्यवासी वानप्रस्थ के लिए है तथा उपनिषदों का ज्ञान ब्रह्मप्राप्ति की ओर अग्रसर होने वाले संन्यासी की दृष्टि से है। आश्रम व्यवस्था के अन्य कारण वर्णाश्रम व्यवस्था के कारणों का उल्लेख करते समय इस अध्याय के प्रारम्भ में दिये गये हैं।

८. नैतिक नियम

भारत में नैतिकता की धारणा—पीछे यह बताया गया है कि भारतीय जीवन में धर्म के आधार पर सम्पूर्ण जीवन का संचालन होता था। अतः भारत में सब कार्यों का अधिष्ठान ही नैतिकता थी। इसलिए भारत में मनुष्य के जीवन के लिए नैतिक लक्ष्य तो रखा ही गया था (जिसके अनुसार मनुष्य आत्मिक उन्नति करता हुआ धीरे-धीरे सब स्वार्थ छोड़कर सम्पूर्ण विश्व को आत्मवत समझ कर विश्व कल्याण के हितार्थ प्रयत्न करे), परन्तु इस लक्ष्य के अतिरिक्त इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए मनुष्य जीवन की विस्तृत योजना भी की गई थी और मनुष्य जीवन के सभी कर्त्तव्य कर्म निर्धारित किये गये थे। जैसा पीछे बताया गया है, भारतीय विचारकों की यह धारणा थी कि मनुष्य जीवन में लक्ष्य की केवल घोषणा मात्र से ही काम नहीं चलता। इस लक्ष्य को जीवन में व्यवहार में लाना भी आवश्यक है और उसे व्यवहार में लाने के लिए मनुष्य के मन पर तदनुकूल निर्माण होना चाहिए और मनुष्य का प्रत्येक क्षण मार्ग निर्देशन करने के लिए उस उद्देश्य के अनुकूल व्यवहार के नियम निश्चित होने चाहिए। भारतीय विचारकों की यह धारणा नहीं थी कि केवल अन्तरात्मा की पुकार उन्हीं का ठीक मार्ग निर्देशन कर सकती है जिनकी अन्तरात्मा परिष्कृत है परन्तु सर्वसाधारण व्यक्ति को जो संसार की सुख कामना में लिप्त है यह अन्तरात्मा की पुकार सदा ठीक मार्ग पर लायेगी, यह विचार करना गलत है। मनुष्य की अन्तरात्मा उसके मन के पूर्व संस्कारों से प्रभावित रहती है, शुद्ध लक्ष्य से नहीं। इसलिए अन्तरात्मा के अनुसार चलकर व्यक्ति निश्चित रूप से अपने उन पूर्व संस्कारों के आधार पर ही निर्णय लेगा, चाहे वह पूर्व संस्कार अच्छे हों अथवा बुरे। अतः भारतीय विचार में नैतिकता को जीवन में व्यवहार में लाने के लिए, उद्देश्य में अतिरिक्त जीवन की सम्पूर्ण योजना और जीवन के प्रत्येक अंग और क्षेत्र के कर्तव्य भी निश्चित किये गये हैं। इस प्रकार भारतीय विचारकों में नैतिकता को केवल दार्शनिक रूप नहीं था, उसे विज्ञान (एक सुसम्बद्ध ज्ञान) और कला (व्यवहार का विषय) भी माना गया था। इनके अतिरिक्त भारतीय विचार में नैतिकता निर्माण करने के लिए बाह्य आचारों, रूढ़ियों और

प्रथाओं को भी आवश्यक समझा गया था। भारतीय विचारकों की यह धारणा थी कि यह सब मनुष्य को अनुशासित कर उसमें नैतिकता का अभ्यास डालने में, उसके अनुसार व्यवहार करने में सहायक होंगे और उसकी वृत्ति में धीरे-धीरे परिवर्तन कर उसे उसके लक्ष्य की ओर पहुँचाने में भी सहायक होंगे। इसलिए व्यक्ति से उसकी दिनचर्या को, जिसमें शौच, पूजा, सन्ध्या, पंचमहायज्ञ आदि सभी थे, कड़ाई के साथ पालन करने का आग्रह था, क्योंकि यह मनुष्य के मन को धीरे-धीरे शुद्ध करते हुए, उसके अन्दर से सांसारिक जीवन की कामना हटाते हुए उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचा देते हैं। भारतीय विचारकों की यह धारणा नहीं थी कि इसमें व्यक्ति परतन्त्र होता है। इसके विपरीत उनकी यह धारणा थी कि व्यक्ति वास्तव में सांसारिक स्वार्थ और सांसारिक सुखोपभोग की कामनाओं में ही परतंत्र रहता है, उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए अनियन्त्रित प्रयत्न करने में और सांसारिक सुखों के अनियन्त्रित उपभोग में नहीं है अपितु उसकी वास्तविक स्वतंत्रता इनसे मुक्त होने में है और इनके ऊपर उठकर अर्थात इन क्षुद्र तथा अस्थायी सुखों से ऊपर उठकर चिर सुख की प्राप्ति में है। इस कारण 'भारतीय विचारकों में इस व्यवस्था को ईश्वरीय अथवा परमात्मा द्वारा प्रदत्त कहने में कोई संकोच नहीं किया था (चाहे इस विचार को वर्तमान काल में कितना ही हेय क्यों न समझा जाय और क्योंकि उन्होंने प्रकृति को भी परमात्मा का ही दूसरा रूप माना था। अतः इसी व्यवस्था को उन्होंने प्राकृतिक नियमों के समानार्थक माना था। इस कारण भारतीय समाज में नैतिक नियम और पाप, पुण्य की धारणा बहुत विस्तृत है। जो सम्पूर्ण समाज व्यवस्था स्थापित की गई है उसके किसी भी भाग का उल्लंघन पाप है। अन्य समाजों के केवल कुछ नैतिक गुणों के उल्लंघन को ही पाप कहते हैं। ऐसा नहीं कि भारत में इन नैतिक गुणों का विचार न किया गया हो।

भारतीय धर्म के विस्तृत नियम ही नैतिक नियम—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'धर्म' के अन्तर्गत भारतीय विचार में मनुष्य-जीवन का लक्ष्य तो था ही (मोक्ष) परन्तु जीवन को संचालन करने वाले विविध नियम थे। 'धर्म' की परिभाषाएँ पिछले अध्याय में बतायी ही गयी हैं और उनके अनुसार समाज-जीवन के वह सनातन नियम, जो ऋषियों ने अनुभव और विचार के पश्चात खोज निकाले हैं तथा जिन्हें उन्होंने श्रुति, स्मृति, पुराण आदि धर्मग्रन्थों में दिया है, जिनसे व्यक्ति को अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती है तथा जिनसे समाज की धारणा होती है, 'धर्म' है। इस धर्म के अन्दर सभी स्तर के व्यक्तियों के तथा आपद्धर्म के नियम दिये हुए हैं अतः भारतीय जीवन की नैतिक धारणा के अनुसार धर्म के अर्थात व्यक्ति-जीवन और समाज-जीवन के इन नियमों का पालन करना ही 'पुण्य' और उनका उल्लंघन करना ही अधर्म अथवा 'पाप' है। भारतीय जीवन में नैतिकता की यही धारणा है। अन्य समाजों में नैतिक नियमों की तुलना में भारतीय जीवन के नैतिक

नियमों में एक विशेषता है। भारतीय जीवन में समाज का एक परिपूर्ण ढाँचा खड़ा किया गया है और जीवन के सभी अंगों के सम्बन्ध में विचार कर उस ढाँचे के अन्दर इन सभी अंगों को सुयोजित किया गया है अर्थात भारतीय जीवन में कुछ मूलभूत सिद्धान्त लेकर उनके आधार पर जीवन के सभी अंगों की सूत्रबद्ध तथा परिपूर्ण योजना स्थापित की गयी है। इस कारण भारतीय समाज में नैतिक नियम और पाप, पुण्य की धारणा बहुत विस्तृत है। जो सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था स्थापित की गयी है उसके किसी भी भाग का उल्लंघन पाप है। ऐसा नहीं कि भारत में इन नैतिक गुणों का विचार न किया गया हो। परन्तु भारतीय विचार में एक तो विशेष धर्म है, जो प्रत्येक के लिए उसकी पात्रता के अनुसार पृथक निर्धारित किया गया है, जैसे प्रत्येक वर्ण का तथा प्रत्येक आश्रम व्यतीत करने वाले का पृथक-पृथक धर्म है, स्त्री-धर्म है, राजधर्म है। इनके अतिरिक्त सामान्य अथवा साधारण धर्म है (नैतिक गुण—सत्य, अहिंसा आदि) जो प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान हैं चाहे उसका समाज में कोई भी स्थान हो। अभी तक इस अध्याय में विशेष धर्मों का (वर्णों और आश्रमों का) विचार किया गया है। आगे साधारण धर्म के नियमों का विचार किया जायेगा।

नैतिक गुणों के वर्णन—साधारण धर्म के ये गुण प्रत्येक धर्म ग्रन्थ में कम अथवा अधिक मात्रा में दिये गये हैं, परन्तु किसी ग्रन्थ में किसी गुण का उल्लेख करने अथवा न करने के पीछे कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता। नैतिक गुणों का वर्णन विविध रूप से किया गया है। एक तो 'यम' और 'नियमों' का वर्णन है और यमों के रूप में इन नैतिक गुणों का वर्णन है तथा नियमों के रूप में अधिकांशत: उन विषयों का उल्लेख है जिन्हें पहले अध्याय में चित्तशुद्धिकारी कहा गया है अथवा जिन्हें साधारणतया धर्म कृत्यों की भी संज्ञा दी जा सकती है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), माधुर्य (मधुर स्वभाव) तथा दम (इन्द्रियदमन) को 'यम' कहा गया है तथा 'नियमों' के रूप में स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह (लिंग-इन्द्रिय का निग्रह), गुरुसेवा, शौच (शुद्धि), अक्रोध और अप्रमाद (चिन्ता-विहीनता का अभाव) बताये गये हैं। नारदपुराण में तो यम और नियम व्याख्या के साथ दिये हुए हैं। परन्तु इन यम और नियमों में यमों का, अर्थात् नैतिक गुणों का, नियमों से, अर्थात् चित्त-शुद्धीकारी परन्तु वाह्य साधनों से, अधिक महत्व बताया गया है। मनुस्मृति में कहा है "बुद्धिमान पुरुष यमों का सदा सेवन करे, नियमों का (चाहे) नित्य सेवन न करें। जो केवल नियमों (अर्थात् वाह्य औपचारिक साधनों) का ही पालन करता है परन्तु यमों (नैतिक गुणों) का पालन नहीं करता वह पतित होता है। अत्रिस्मृति मे भी यही कहा गया है। नैतिक गुणों का दूसरा वर्णन संस्कारों के अन्तर्गत किया गया है। गौतम ने ४० संस्कार बताये हैं तथा ८ आत्मा के गुण कहे हैं। वे गुण हैं, सब प्राणियों के प्रति दया, क्षमा, अनसूया (ईर्ष्या, द्वेष का अभाव) शौच, अनायास

(शरीर को अत्यन्तिक कष्ट देने वाले कर्म न करना), मंगल (शुभ आचरण करना तथा निन्दित आचरण का त्याग), अकार्पण्य (कृपणता का अभाव) तथा अस्पृहा (इच्छाओं का अभाव)। अग्निपुराण में भी इन्हीं आठ गुणों का उल्लेख है। इन ४० संस्कारों तथा ८ गुणों का वर्णन करने के पश्चात् गौतम ने कहा है "जिसमें ४० संस्कार हों तथा आठ गुण न हों वह ब्रह्म के सालोक्य और सायुज्य (निकटता अथवा एकता) में नहीं जाता है और जिसमें चालीस संस्कारों में से चाहे कुछ संस्कार कम ही हों परन्तु जिसमें आठ गुण हों वह ब्रह्म के लोक और ब्रह्म के समीप जाता ही है।" इसका भी अर्थ यही है कि नैतिक गुणों का वाह्य संस्कारों से अधिक महत्व है।

सामान्य धर्म—नैतिक गुणों का वर्णन यमों के नाम से तथा संस्कारों के अन्तर्गत तो किया ही गया है परन्तु इसके अतिरिक्त सभी वर्णों का अथवा सभी आश्रमों का सामान्य धर्म, इस नाम से भी नैतिक गुणों का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में कहा है "इन चारों आश्रमों के पालन करने वाले द्विजों के द्वारा इस दश लक्षण के धर्म का नित्य सेवन करना चाहिए। धैर्य, क्षमा, दम (मन को वश में रखना), अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दस धर्म के लक्षण हैं। धर्म के इन दस लक्षणों को जो ब्राह्मण पाते हैं तथा पाकर उनका पालन करते हैं वे परम गति पाते हैं।" इसका अर्थ यह है कि इन गुणों के उत्पन्न होने पर व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति की ओर बढ़ सकता है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी संक्षेप में वर्णों और आश्रमों का धर्म वर्णन करने के पश्चात् इस सामान्य धर्म का उल्लेख है, "सबों (सभी वर्णों और आश्रमों) का धर्म है अहिंसा, सत्य, शौच, अनसूया, अनृशंसता (निर्दयता का अभाव) तथा क्षमा।" इनके अतिरिक्त वसिष्ठ धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति, शंखस्मृति, शान्तिपर्व तथा पुराणों में भी साधारण धर्म का वर्णन किया गया है तथा आपस्तम्बधर्मसूत्र में नाश करने वाले गुणों को नष्ट करना और इसके विपरीत गुणों का पालन करना बताया गया है और ऐसे गुणों की लम्बी सूचियाँ दी गई हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि नैतिक गुण भारतीय विचार के अन्तर्गत बताये ही नहीं गये हैं अपितु उनका महत्व भी पूरी प्रकार से वर्णित है। उनको जो सामान्य धर्म अथवा साधारण धर्म का नाम दिया गया है इसका यह कारण नहीं है कि इन गुणों का कोई महत्व नहीं है परन्तु इसलिये कि इन गुणों का तो प्रत्येक को सामान्य रीति से पालन करना ही चाहिये। इनका पालन न करने का अर्थ ही यह है कि व्यक्ति पतित होता है अथवा वह ब्रह्मप्राप्ति की ओर बढ़ ही नहीं सकता। भारतीय विचार में नैतिक गुणों के महत्व के सम्बन्ध में यह बात ध्यान में रखने की है कि भारतीय संस्कृति में यद्यपि वाह्य उपचारों और आचारों को वहुत महत्व दिया गया है। फिर भी, आन्तरिक नैतिकता को उससे भी अधिक महत्व दिया है। उदाहरण के लिये तीर्थयात्रा का बहुत महत्व वर्णन करने के पश्चात् भी ब्रह्मपुराण, स्कन्दपुराण आदि अन्य पुराणों में तथा

महाभारत में इस बात पर बल दिया गया है कि तीर्थयात्रा तभी सफल होता है जब अन्तःकरण शुद्ध होता है। इसी प्रकार दक्ष स्मृति में शौच दो प्रकार का बताया गया है। बाह्य शौच और अन्तः शौच। पहला शौच जल और मिट्टी से होता है तथा दूसरे प्रकार का शौच है मनः शुद्धि। इसमें बाह्य शौच से आन्तरिक शुद्धि अधिक श्रेष्ठ बतायी गयी है। अतः ऐसा कहना भूल होगी कि भारतीय विचारों में नैतिक जीवन की अथवा नैतिक गुणों की कोई धारणा ही नहीं है अथवा बाह्य औपचारिक साधनों के समक्ष उनका कोई महत्व नहीं है।

नैतिक गुणों के अपवाद—यद्यपि नैतिक गुणों का सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि का स्थान-स्थान पर बहुत महत्व वर्णित है परन्तु इनके विषय में अपवाद भी माने गये है, जैसे विशेष धर्मों के भी अपवाद हैं। विशेष धर्मों में एक अपवाद तो आपत्काल का है जिसे आपद्धर्म कहा है जैसे ब्राह्मण आपत्तिकाल में क्षत्रिय का कर्म कर सकता है, अथवा आपत्तिकाल में जो भी रक्षा करे चाहे वह किसी वर्ण का हो उसे राजा मान लेना चाहिए अथवा आपत्तिकाल में राजा साधारण करों के अतिरिक्त प्रजा से विशेष रूप से धन ले सकता है। दूसरा अपवाद व्यक्तियों का अपनी पात्रता का है जैसे राजा का जन्म, मृत्यु आदि का अशौच नहीं लगता। इसी प्रकार नैतिक गुणों के भी अपवाद हैं। सत्य का अपवाद मत्स्यपुराण में बताया है "परिहास के अवसर पर बोला गया मिथ्या वचन हानि नहीं पहुँचाता, न स्त्रियों से अथवा विवाह के अवसर पर बोला गया मिथ्या वचन। इसी प्रकार प्राणों के संकट के समय अथवा सब सम्पत्ति नष्ट होने की संभावना पर। यह पांच प्रकार के असत्य पातक नहीं माने गये।" महाभारत में भी बताया है कि महाभारत में अर्जुन की यह प्रतिज्ञा थी कि जो उसके धनुष गाण्डीव की निन्दा करेगा उसका वह वध कर देगा। एक बार महाभारत युद्ध में जब युधिष्ठिर शत्रुओं के बीच में फंस गये और बड़ी कठिनाई से बचे तब उन्होंने अर्जुन को बहुत धिक्कारा तथा उसके गाण्डीव की भी भर्त्सना की। जब अर्जुन ने अपनी प्रतिज्ञा निबाहने का आग्रह किया उस समय श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा "साधु पुरुष सत्य ही बोलते हैं। सत्य से बढ़कर और कुछ नहीं है किन्तु उस सत्य का स्वरूप मेरी समझ में अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है। कहीं पर सत्य न बोलकर मिथ्या बोलना ही उचित होता है। जहाँ पर सत्य मिथ्या की भांति अधर्मजनक होता है वहाँ पर सत्य ही मिथ्या है और मिथ्या ही सत्य है। ......जो कोई सत्य और मिथ्या के इस विशेष मर्म को न जानकर सत्य बोलता है वह झूठ है। सत्य और मिथ्या के इस तत्व को जानने वाला ही यथार्थ धर्मज्ञ है।" इसके पश्चात् श्रीकृष्ण ने कौशिक ब्राह्मण की एक कथा सुनायी जो बड़ा शास्त्रज्ञ, तपस्वी, तथा सत्य बोलने का व्रत लिये था। एक बार डाकुओं के भय से कुछ व्यक्ति वन में आ छिपे और डाकू उन्हें खोजते हुए आये। डाकुओं ने उन व्यक्तियों के विषय में कौशिक से पूछा। कौशिक ने उन लोगों को डाकू जानते हुए भी उन व्यक्तियों के छिपने का स्थान बता दिया जिससे डाकुओं

ने उन व्यक्तियों को मार डाला। श्रीकृष्ण ने यह कथा सुनाकर कहा "सूक्ष्म धर्म को न जानने वाला सत्यवादी कौशिक ने मूढ़तावश सत्य बोलकर जो हत्या करायी थी उसी पाप से उन्हें नरक में जाना पड़ा।" इसी प्रकार से अहिंसा के विषय में अपवाद है कि आततायी ब्राह्मण का भी चाहे वह गुरु हो वध किया जा सकता है (मनुस्मृति, वसिष्ठसूत्र, महाभारत, मत्स्यपुराण) अथवा युद्ध में शत्रुओं की हिंसा ही धर्म है और उस समय व्यक्ति युद्ध न करे तो वही अधर्म है। इन्द्रिय-निग्रह का आग्रह होने पर भी ऋतुकाल के समय पुरुष का स्त्री के पास जाना आवश्यक बताया गया है और ऐसा न करना ही पापपूर्ण है। "जो स्त्री ऋतुस्नान करके (रजोदर्शन के पश्चात्) पति के समीप नहीं जाती वह मरकर नरक में जाती है और बार-बार विधवा होती है तथा जो पुरुष ऋतुस्नान की हुई अपनी स्त्री के पास नहीं जाता उसे भ्रूण हत्या लगती है।" (व्यासस्मृति, अत्रिस्मृति)। चोरी का भी अपवाद मनुस्मृति में वर्णित है।" जिस मनुष्य ने छः समय (तीन दिन) तक भोजन नहीं किया वह सातवें भोजन के काल में हीन कर्म करने वाले व्यक्ति से एक दिन के निर्वाह-योग्य धन चोरी से ले आये। खलिहान से, खेत से, घर से अथवा जैसे भी उपलब्ध हो ले लेना चाहिये और यदि वह पूछता है तो उससे सब बता दे। उसको धार्मिक राजा दण्ड न दे क्योंकि क्षत्रिय (राजा) की ही मूर्खता से ब्राह्मण क्षुधा से पीड़ित होता है।" शौच का अपवाद दक्षस्मृति में बताया ही है। "दिन में जो शौच किया जाता है उसका आधा रात्रि में कहा है और उससे भी आधा रोग में कहा है।" इसी प्रकार से अन्य नैतिक गुणों के विषय में भी यही नियम है कि स्थान, काल, पात्र आदि देखकर धर्मनिर्णय करना चाहिए अर्थात् यह विचारपूर्वक देखना चाहिए कि इन नैतिक गुणों का कहाँ तक पालन करना उचित होगा और कहाँ तक नहीं। महाभारत में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है "धर्म और अधर्म के तत्व का निर्णय करने के लिए उनके विशेष लक्षण शास्त्र में अवश्य बताये गये हैं परन्तु कहीं-कहीं बुद्धि और अनुमान के द्वारा भी उत्पन्न दुर्बोध सूक्ष्म धर्म का निर्णय करना पड़ता है। कुछ लोग शास्त्र को ही धर्म के सम्बन्ध में प्रमाण बताते हैं, मैं इस पर दोषारोपण नहीं करना चाहता। शास्त्र में प्रायः सब कुछ बता दिया गया है फिर भी धर्म की बहुत सी विशेष बातें और अवस्थायें ऐसी हैं कि वैसा प्रसंग कभी न आने के कारण उनका निर्णय शास्त्र में नहीं किया गया। वैसी अवस्थाओं में अवश्य ही अनुमान से काम लेना चाहिए।" नैतिक गुणों के सबसे बड़े अपवाद राजनीति के अन्तर्गत हैं जहाँ शत्रुओं से व्यवहार करने में, राजपुत्रों से व्यवहार करने में तथा आपत्तिकाल में राज्यकार्य के लिए धन एकत्रित करने में, ऐसे बहुत से उपाय बताये गये हैं जो आदर्शवाद के कारण नैतिक गुणों के अपवाद रहित पालन करने पर अत्यधिक बल देने वाले व्यक्तियों को घोर अनैतिक लगते हैं, परन्तु जो राजनीति की व्यावहारिकता और आवश्यकता को देखते हुए बहुत आवश्यक है।

नैतिक दुर्गुण—धर्म शास्त्रों में नैतिक गुणों का पालन तो बताया ही गया

है परन्तु कुछ नैतिक दोष भी वर्णित और वर्जित हैं। इन दोषों में प्रमुख काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, षड् रिपुओं के नाम से विख्यात हैं। वसिष्ठ धर्मसूत्र में जब कहा है कि "चुगली, मत्सर, अभिमान (मद), अहंकार, अश्रद्धा, अनार्जव (धूर्तता), मन का शोक, परनिन्दा, दम्भ, लोभ, मोह, क्रोध, वर्जित करना सब आश्रमों का इष्ट धर्म है।" तब प्रायः इन सभी षड् रिपुओं का इसमें उल्लेख है। दक्षस्मृति में भी है "पैशुन्य (चुगली), असत्य, माया, मोह, क्रोध; काम, अप्रिय (वचन), दम्भ (मद), द्वेष (मत्सर), परद्रोह, इन सबको वर्जित करे।" मनुस्मृति में भी काम, क्रोधादि की निन्दा की गयी है। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में इन दोषों की हानि का उदाहरण बताने के लिए कथायें हैं।

ऊपर जिन नैतिक गुणों तथा दोषों की विवेचना की गई है उनका पालन अथवा उनका त्याग व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक है। व्यक्तिगत दृष्टि से तो यह नैतिक गुण मनुष्य के मन में निःस्वार्थता, निरहंकारिता, सामाजिकता तथा परार्थ-चिन्तन की वृत्ति उत्पन्न करते हैं, और इस प्रकार, व्यक्ति को समष्टि अर्थात् परमात्मा की ओर बढ़ने में सहायक होते हैं। सामाजिक दृष्टि से ये समाज में व्यक्तिगत दोषों को दूर कर समाज का स्तर ऊँचा करने में सहायक होते हैं, समाज के अन्दर पारस्परिक संघर्ष तथा विद्वेष कम करने वाले हैं और इस प्रकार, समाज का वातावरण सुमधुर; स्निग्ध तथा उन्नतिकारक बनाने में सहायक होते है। जो लाभ नैतिक गुणों के निर्माण से होता है वही लाभ नैतिक दोषों को दूर करने से होता है।

पाप—जैसा बताया गया है भारतीय नैतिकता की कल्पना में यह नैतिक गुण तो सम्मिलित हैं ही, परन्तु भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्य नियमों का उल्लंघन भी पाप माना गया है। इन पापों का महापातक और उपपातक के रूप में विभिन्न धर्मशास्त्रों में वर्णन किया गया है। पापों का वर्णन अन्य रीति से भी किया गया है जैसे नरक में ले जाने वाले कर्म, अगले जन्मों में निम्न योनियों में ले जाने वाले अथवा विविध प्रकार के शारीरिक रोगों को उत्पन्न करने वाले कर्म। अन्य प्रकार से पापों का वर्णन है। उदाहरण के लिये महाभारत के अनुशासन पर्व में एक कथा है—'कुछ ऋषि लोग एक तालाब पर थे। उनमें से एक ऋषि अगस्त्य ने तालाब में से कुछ मृणाल निकाले परन्तु मृणाल चोरी चले गये। तब उपस्थित अन्य ऋषियों, राजाओं आदि ने अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिये शपथ खायी और यह कहा कि यदि उन्होंने चोरी की हो तो उन पर विविध पापों को करने का दोष लगे।' उन ऋषियों द्वारा गिनाये गये पापों की सूची बहुत विस्तृत होने के कारण यहाँ दी जाती है। "जिसने आपके मृणाल चुराये हों, वह गाली के बदले में गाली दे, मार खाने के बदले स्वयं भी मारे तथा पीठ का माँस खाये, वह स्वाध्याय से विमुख हो, कुत्ता साथ लेकर शिकार खेले तथा नगर में भिक्षा माँगे, वह सर्वत्र सब प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करे, धरोहर हड़प ले तथा झूँठी गवाही दे, वह अहंकारी,

बेईमानी तथा अयोग्य का साथ देने वाला हो, कृषि कार्य करे तथा ईर्ष्यावान हो, वह अपवित्र, वेद (अथवा ब्रह्म) को अमान्य करने वाला, ब्रह्म हत्यारा तथा पापों का प्रायश्चित न करने वाला हो, वह मित्रों के प्रति अकृतज्ञ हो, शूद्रों से सन्तान उत्पन्न करे तथा अकेला स्वादिष्ट अन्न खाये, वह चिकित्सा का धन्धा करे, पत्नी की कमाई खाये तथा ससुराल में जीवित रहे, वह वृथा मांस खाये, दिन में मैथुन करे तथा राजा का दूत हो, वह निषिद्ध समय में अध्ययन करे, श्राद्ध में मित्र को खिलाये, तथा शूद्र के श्राद्ध में खाये, वह अग्निहोत्र किये बिना मरे, यज्ञ में विघ्न डाले तथा तपस्वियों का विरोध करे, वह ऋतुकाल के अतिरिक्त पत्नी के साथ समागम करे तथा वेदों का निराकरण करे, वह सन्यासी होकर गृहस्थ हो जावे, यज्ञ में दीक्षित हो मनमाना व्यवहार करे, वेतन लेकर पढ़ाये, वह क्रूर हो, स्त्रियों, जाति-बन्धनों तथा गौओं के प्रति धर्म का पालन करे तथा ब्राह्मणों पर प्रहार करे, वह घर पर पढ़ा हुआ, शास्त्र का ज्ञान न रखने वाला, ठीक स्वर से पाठ न करने वाला तथा गुरुजनों का अपमान करे, वह झूठ बोले, सज्जनों का विरोध करे तथा शुल्क लेकर कन्या दे, वह गौओं के ठोकर मारे, सूर्य की ओर मुँह करके पेशाब करे तथा शरणागत का त्याग करे, वह राजा का पुरोहित हो तथा यज्ञ के अनधिकारी को यज्ञ कराये, वह निर्बुद्धि, स्वेच्छाचारी तथा पापी राजा होकर अधर्मपूर्वक शासन करे, वह पापियों से भी अधिक असम्माननीय हो तथा अपने द्वारा दिये दान का बखान करे, वह स्त्री अपनी सास की निन्दा करे, पति के प्रति दुर्भावना रखे तथा अकेली स्वादिष्ट भोजन करे, वह धर्मज्ञाता होकर भी धर्मपालन न करे, वह सन्यासी होकर भी स्वेच्छाचारी हो। स्पष्ट है कि यह धर्मशास्त्रों में दिये हुये व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नियमों के उल्लंघन का वर्णन है।

पापों से शुद्धि की आवश्यकता—जो ऊपर पाप दिये हुए हैं उनके करने पर अर्थात् नैतिक गुणों का अथवा सामाजिक नियमों का उल्लंघन करने पर यह आवश्यक रखा गया कि व्यक्ति ने चाहे वे पाप इच्छापूर्वक अर्थात् जानकर और चाहे अनजाने में अथवा बाध्य होकर किये हों, परन्तु तत्पश्चात व्यक्ति को शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध होने का अर्थ है कि मन के अन्दर पश्चाताप उत्पन्न होकर जो भूल की है उस भूल के परिमार्जनार्थ व्यक्ति को तत्समान ही कोई बड़ा प्रायश्चितपूर्ण कर्म करना चाहिए, जिससे उसके मन में भी स्वयं यह पाप-पुण्य दुहराने की भावना न रहे तथा अन्य लोगों को भी उस पाप की भयंकरता का अनुमान हो तथा वे उसको करने से विमुख हों। सबसे अच्छा यही माना गया है कि बाहर से दण्ड लागू किये जाने की अपेक्षा स्वयं के मन में पश्चाताप की वृत्ति उत्पन्न होना अधिक अच्छा हैं। बाहर का दण्ड यद्यपि व्यक्ति को वह कर्म दुबारा करने से रोक सकता है तथा अन्य लोगों को भी वह कर्म करने के सम्बन्ध में भय उत्पन्न कर सकता है और यह भी कभी-कभी हो सकता है कि उस दण्ड के कारण पाप करने वाले व्यक्ति का मन भी उस पाप से विमुख हो जावे तथा समाज में उस पाप के लिये एक घृणा

की भावना भी उत्पन्न हो परन्तु मन का परिवर्तन बाहरी दण्ड से सदैव होगा ही यह आवश्यक नहीं। भारतीय समाज व्यवस्थापकों के मन में समाज का दूषण रोकने की भावना तो थी ही और इसलिए दण्ड की व्यवस्था की गई थी, परन्तु साथ-साथ व्यक्ति की उन्नति की दृष्टि से यह आवश्यक था कि उसमें आन्तरिक परिवर्तन हो। अतः यदि व्यक्ति स्वयं ही इच्छानुसार उस पाप का परिमार्जन करने के लिये प्रायश्चित करे तो सबसे अच्छा। फिर बहुत से समाज जीवन के अथवा व्यक्तिगत जीवन के ऐसे भी नियम हैं जिनके उल्लंघन करने का राजा की ओर से कोई दण्ड नहीं हो सकता, परन्तु यह पाप है और उसका प्रायश्चित होना चाहिये। इस प्रकार यदि व्यक्ति दूषित भोजन कर ले तो इस पर दण्ड नहीं दिया जा सकता प्रायश्चित ही हो सकता है। प्रायश्चित का भारतीय विचार के अनुसार यह भी एक लाभ है कि प्रायश्चित करने पर मनुष्य कर्म-विपाक से अर्थात् दूसरे जन्म में उसके फल से तथा नरक से मुक्त हो जाता है।

प्रायश्चित के अन्य नियम—अनादिष्ट अर्थात् बिना बताये गये पापों का प्रायश्चित राजा की अनुमति से विद्वानों की परिषद् द्वारा बताया जाना चाहिये। इसके सम्बन्ध में ये नियम हैं 'राजा की अनुमति से प्रायश्चित बताये परन्तु स्वल्प प्रायश्चित स्वयं ही बता दे। यदि उन ब्राह्मणों का (परिषद्) के अवलंघन राजा करता है (प्रायश्चित का स्वयं आदेश देता है) तो यह पाप चौगुना होकर राजा को लगता है। प्रायश्चित न करने की स्थिति में राजा द्वारा दण्ड दिये जाने की आवश्यकता थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा है, 'जो शास्त्रों के अनुसार कार्य करते हैं परन्तु अपनी इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण पथभ्रष्ट हो गये हैं उन्हें आचार्य इनके कार्य और धर्मशास्त्रों के आदेशानुसार प्रायश्चित बताये। यदि वह आचार्य की आज्ञा का अवलंघन करे तो आचार्य उन्हें राजा के पास ले जावे। राजा धर्म और अर्थ में कुशल पुरोहित के पास उन्हें भेजेगा। पुरोहित उन ब्राह्मणों को प्रायश्चित पालन करने की आज्ञा दे। वह उन्हें दण्ड और दासता के अतिरिक्त अन्य भागों में बाध्य करेगा। मनु ने कहा है 'जो ये चारों (महापालकी) प्रायश्चित न करे तो राजा इन्हें धर्मपूर्वक धन संयुक्त नीचे लिखा शारीरिक दण्ड दे।' इसका अर्थ यह है कि प्रायश्चित करने की अवस्था में फिर कोई दण्ड देने की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति का सुधार और समाज में अपराध के प्रति घृणा यह दोनों प्रायश्चित के द्वारा ही पूरे हो जाते थे परन्तु प्रायश्चित न करने पर फिर राजा को दण्ड देना आवश्यक था।

—:o:—

अध्याय ३

राजनीतिशास्त्र और राज्य

समाज रचना और राज्य

समाज रचना की श्रेष्ठता—पिछले अध्याय में, भारतीय विचारकों ने जो समाज रचना निर्दिष्ट की है, उसका वर्णन किया गया है। यह समाज रचना भारतीय विचारकों ने इसलिये श्रेष्ठ मानी क्योंकि यह मनुष्य को उसके लक्ष्य-मोक्ष तक पहुँचने के लिये सिद्ध करती है अर्थात् उसको इस योग्य बनाती है कि मनुष्य जितने शीघ्र सम्भव हो उतने शीघ्र क्रमशः इस जन्म में तथा अन्य जन्मों में उन्नति करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सके। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिये क्रमशः उन्नति की जो सीढ़ियाँ निर्दिष्ट हैं, उनमें प्रत्येक में एक विशेष स्तर के आध्यात्मिक अतः सामाजिक दृष्टि से उन्नत व्यक्तियों के लिए स्थान निर्धारित किया गया है अर्थात् जो जितना अधिक आध्यात्मिक और इसलिये स्वाभाविक रूप से सामाजिक दृष्टि से उन्नत है उसको उतना ही अधिक श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। परन्तु प्रत्येक को जो स्थान दिया गया है और उसके लिये जो कर्तव्य निर्धारित किये गये हैं उसे अपने उन कर्तव्यों में पूर्णता स्थापित करने का आग्रह है अर्थात् प्रत्येक के लिये जो जीवन निर्दिष्ट है उसे उस जीवन की दृष्टि से आदर्श प्रस्तुत करता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसके कार्य के अनुरूप भौतिक, पूर्णता का तथा साथ ही साथ क्रमशः आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने का अर्थात् व्यक्तिगत उन्नति करने का तो आग्रह है ही परन्तु इसके अतिरिक्त इस बात का भी प्रयत्न किया गया है कि प्रत्येक वर्ग में रहने वाला व्यक्ति समाज-जीवन के लिये उपयोगी हो, समाज जीवन में योगदान करे और इस प्रकार अपना व्यक्तिगत जीवन सामाजिक परिपूर्णता के लिये व्यतीत करे। अतः कार्य विभाजन के तथा पारस्परिक सहयोग के द्वारा एक सन्तुलित और समन्वयात्मक समाज रचना तथा समाज-जीवन निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है जिसमें अधिकार विभाजन और शक्ति-सन्तुलन इतना श्रेष्ठ हो कि कोई भी वर्ग शेष समाज के ऊपर अपनी एकात्मक सत्ता स्थापित करे अनाचारी और अत्याचारी बनने में और समाज को अपने चंगुल में कर उसे दीन पतित भ्रष्ट करने में समर्थ न हो सके। इस प्रकार व्यक्तिगत और सामाजिक अथवा आध्यात्मिक और भौतिक सभी दृष्टियों से आदर्श समाज रचना प्रस्तुत की गई है।

समाज-रचना के संरक्षण की आवश्यकता—यह तो ठीक है कि यह समाज-रचना श्रेष्ठ है परन्तु केवल इतनी ही समाज-रचना मात्र से तो काम नहीं चल सकता। यह भी इसके साथ आवश्यक है कि समाज के संरक्षण की व्यवस्था हो

क्योंकि यदि समाज ही न रहा तो फिर वह समाज-रचना किसके लिये होगी। परन्तु केवल समाज संरक्षण भी पर्याप्त नहीं है, उसके साथ जो समाज-रचना लागू की जाये, उस समाज-रचना को अर्थात् धर्म को व्यवस्थित भी रहना चाहिये तथा उसका संरक्षण भी होना चाहिये। इसलिये समाज-जीवन के मार्ग में तथा इस समाज को व्यवस्थित करने वाली इस समाज-रचना के मार्ग में जो बाधाएँ हों उन्हें भी दूर होना आवश्यक है। अतः समाज में जो भी गड़बड़ी उत्पन्न होती है (समाज-जीवन अथवा समाज-व्यवस्था की दृष्टि से) वह उन्हीं लोगों के द्वारा होती है जो निजी स्वार्थ को महत्व देते हैं और इस समाज के सुखी जीवन में तथा समाज की व्यवस्था में, जिस व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक को समुचित विभाजन के आधार पर अपना योग्य स्थान प्राप्त हो सके, बाधा पहुँचाते हैं और अपने ही लिए श्रेष्ठ स्थान सम्पूर्ण सत्ता तथा अधिकाधिक सुखोपभोग प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। अतः समाज-जीवन के मार्ग की अथवा समाज की व्यवस्था के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने का अर्थ है कि समाज-जीवन और समाज-व्यवस्था के मार्ग में आने वाले दुष्टों का दमन किया जाये तथा समाज के लिये हितकारी और समाज जीवन की उन्नति में तथा समाज-व्यवस्था के सुचारू रीति से चलने में सहायक सज्जनों का संरक्षण किया जाये। यदि सज्जनों का संरक्षण किया और दुष्टों का दमन कर दिया तो समाज-जीवन स्वतः ही उत्तम रीति से चलकर और समाज की जो व्यवस्था समाज के श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा निश्चित और लागू की गई है वह भी सुचारू रीति से चलने लगेगी। इसलिये राज धर्म के वर्णन करने वाले सभी ग्रन्थों में दुष्टों के दमन का तथा सज्जनों के संरक्षण का बार-बार आग्रह किया गया है क्योंकि यही समाज की और समाज-व्यवस्था की सुस्थिति के लिये सहायक है।[1] महाभारत में कहा गया है कि "राजा को दुष्टों का दमन करने में तथा शत्रुओं से युद्ध करने में जो हिंसा होती है उस पाप से वह राजा पापी मनुष्यों को दण्ड देकर सत्पुरुषों को आश्रय देकर, यज्ञों का अनुष्ठान कर तथा दान देकर निष्पाप और शुद्ध हो जाता है। जैसे खेत को साफ करने वाला किसान खेत को साफ करने के लिये खेत में से घास आदि को बीनकर निकाल देता है और कमजोर धान्य को भी उखाड़कर फेंक देता है इससे धान्य का नाश नहीं होता है, इसी प्रकार जो शस्त्र लेकर आये हुये वध करने के योग्य अनेकों को मारता है और उससे वह सज्जनों की रक्षा करता है तो इसी से उसके पाप की निष्कृति हो जाती" है।[2]

समाज-रचना के संरक्षण के लिये राज्य—अतः समाज-जीवन और समाज-व्यवस्था के संरक्षण के लिये दुष्टों का दमन और सज्जनों का प्रतिपालन बहुत

---

१. याज्ञ १।३, ३५४, ३५८-५९; कामन्दक ६।८, २३।४३, ५१; अग्नि ११।१०; शुक्र १।२४, २।३७; मनु ९।२५३; अग्नि ३८।२८; शा० ६८।४५, ७५।३५-३७, ७८।४५-४४, ८६।१८, ९१।४१

२. शान्ति ७।३, ६-७

आवश्यक है। दुष्टों का यह दमन सर्वसाधारण ढंग से नहीं हो सकता क्योंकि जो स्वयं अपनी शक्ति और कुटिलता के आधार पर समाज में अपना आतंक और प्रभाव निर्माण करने का प्रयत्न करेगा उसका सीधे मार्ग से वश में आना कठिन है। उसके दमन के लिये तो प्रबल शक्ति की आवश्यकता होगी और इसलिये भारतीय समाज-निर्माताओं ने यह काम करने के लिए एक विशेष वर्ग क्षत्रियों का निर्माण किया है। परन्तु क्योंकि इतना ही पर्याप्त नहीं था इसलिये इससे भी आगे बढ़कर उन्होंने समाज के दुष्टों से संरक्षण के लिये एक अन्य शक्ति पूर्ण दण्डधारी संस्था का निर्माण किया जिस संस्था को उन्होंने 'राजा' की संज्ञा दी तथा जिस संस्था का मूल काम ही यह रखा कि वह अपनी शक्ति और दण्ड के आधार पर समाज का तथा समाज-व्यवस्था का संरक्षण करे।

२. राजनीतिशास्त्र

राजनीतिशास्त्र की आवश्यकता—इस राज्य की व्यवस्था का वर्णन प्रमुख स्मृतियों में राजधर्म के नाम से किया गया है परन्तु समाज-जीवन के लिये इसका बहुत अधिक महत्व होने के कारण इस पर बहुत से ग्रन्थ पृथक् रूप से भी लिखे गये हैं क्योंकि भारतीय विचारकों ने राज्य व्यवस्था की आवश्यकता बहुत अधिक अनुभव की। जैसे शुक्र नीति, बार्हस्पत्य नीतिसूत्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र, चाणक्यसूत्र, कामन्दकीय नीतिसार, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, सोमेश्वर का मानसोल्लास, भोज का युक्तिकल्पतरु, चण्डेश्वर का राजनीतिरत्नाकर, मित्र मिश्र का राजनीति प्रकाश, नीलकण्ठ का नीतिमयूख, अनन्तदेव का राजधर्म कौस्तुभ, केशव पण्डित की दण्डनीति, लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु का राजधर्मकाण्ड। जैसा ऊपर बताया गया है यह तो आवश्यक है ही कि दुष्टों का दमन और सज्जनों का संरक्षण किया जाय क्योंकि समाज में इन स्वार्थी तथा दूषित प्रवृत्तियों के व्यक्तियों के द्वारा ही बुराइयाँ प्रारम्भ होती हैं तथा उनके ही कारण सज्जन लोगों का रहना कठिन ही नहीं कई बार असम्भव भी हो जाता है। इसलिये ऐसे लोगों के दमन के लिये राज्य की आवश्यकता है और राज्य करने के लिये राज्य कर्त्ता वर्ग की भी। इस प्रकार यद्यपि राज्य के द्वारा समाज का संरक्षण होगा तथा दुष्टों का दमन भी होगा परन्तु क्योंकि राज्य के पास भी शारीरिक शक्ति अर्थात दण्ड शक्ति बहुत प्रबल है, अतः दूसरी ओर यह भी भय है कि कहीं यह राज्यकर्त्ता वर्ग ही असंयमित और अत्याचारी न हो जाय। "जब दण्ड नीति नष्ट हो जाती है और राज्य धर्म का ह्रास हो जाता है तो राजा की दुष्टता के कारण सब प्राणी मोहित हो जाते हैं (अपना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य भूल जाते हैं)"।[3] साथ ही साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि राज्यकर्त्ता वर्ग को उसके कार्य की शिक्षा प्राप्त हो जिससे वह अपना कार्य सुचारु रूप से और सफलता पूर्वक कर सके। मनुस्मृति में कहा है कि "विचारपूर्वक (सोच समझकर) उसको (दण्ड को)

---

३. महाभारत १२।७८।२४, देखिये १२।६९।६१ भी।

उचित रीति से धारण करने से वह सम्पूर्ण प्रजा को सुख देता है परन्तु बिना विचारे देने से वह सबका नाश करता है।"[४] इसलिये इस बात की आवश्यकता भारतीय सामाजिक विचारकों ने अनुभव की कि राज्यकर्त्ताओं को (उनके शब्दों में राजा को) उनके कार्य का योग्य ज्ञान देने के लिये तथा उनको संयमित करने के लिये कुछ नियम बनाये जाने चाहिये। इसलिये नीति का केवल यही अर्थ लगाना भूल होगी कि राजाओं को छल-छद्म की शिक्षा देने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र है, परन्तु राजाओं को उनके कार्य का योग्य ज्ञान देने वाला तथा राजाओं के लिये वैसे सब नियम बताने वाला शास्त्र, जिनसे वह ठीक से शासन कर प्रजा को सुख और धर्म के मार्ग पर लगा सकें तथा स्वयं नियंत्रित रह सकें, नीतिशास्त्र है। कामन्दक ने कहा भी है कि नीतिपूर्ण रहने का अर्थ है विनयपूर्ण ढंग से कार्य करना।[५] इसलिये नीतिशास्त्र का क्षेत्र बताते हुए कहा है कि उसमें राज्य के चार प्रकार के कार्यों का वर्णन किया जाना है—न्यायपूर्वक अर्थ का अर्जन (राज्य-प्राप्ति), उसका रक्षण, वर्द्धन तथा सत्पात्रों में उसका विभाजन (सज्जनों का पोषण)।[६] इन चार कार्यों का मनुस्मृति के अनुसार अर्थ है[७]—दण्ड अर्थात् सेना के द्वारा अलब्ध की प्राप्ति (अर्थ का अर्जन)[८] प्राप्त हुए अर्थ की योग्य शासन के द्वारा रक्षा[९], रक्षा किये हुए राज्य की व्यापार आदि साधनों के द्वारा वृद्धि (भौतिक उन्नति) तथा वृद्धिगत सुख समृद्धि का समुचित विभाजन करते हुए समाज के सज्जन व्यक्तियों का पोषण। दूसरे शब्दों में अन्य राज्यों को जीतने की पद्धति, अपने राज्य की सुरक्षा तथा ठीक से शासन करने का ढंग, राज्य में व्यापार आदि के द्वारा सुख समृद्धि में वृद्धि करने का ज्ञान और सत्पुरुषों के पोषण तथा अभिवर्धन का ढंग यह सब नीतिशास्त्रों में वर्णित हैं।

राजनीतिशास्त्र के विभिन्न समानार्थक नाम—नीतिशास्त्र का वर्णन विभिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न नाम से किया गया है। धर्मशास्त्र के जितने भी ग्रन्थ हैं वह उस विषय का वर्णन 'राजधर्म' के नाम से करते हैं। महाभारत में जहाँ नीतिशास्त्र के ग्रन्थ लिखने वालों के नाम बताये गये हैं।[१०] वहाँ 'राजशास्त्र' का नाम दिया गया है तथा उसके तुरन्त पहले ही इसे 'राज धर्म' भी कहा गया है। कौटिल्य ने राजनीति सम्बन्धी अपने ग्रन्थ का नाम 'अर्थशास्त्र' रखा है तथा अन्य भी कई स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। शुक्र और कामन्दक अपने ग्रन्थ को 'नीतिसार' (अथवा

---

४. ७।१६.
५. १।१६.
६. शान्तिपर्व ५८।३२
७. ६६।७६
८. कामन्दक २।२५; शुक्र १।५६; देखिए दण्ड नीति की परिभाषा; शान्तिपर्व ५६।७८; कौटिल्य १।४।४-५.
९. ६३।२८.
१०. १५।१।१-३.

'नीतिशास्त्र) कहते हैं। एक अन्य शब्द जिसका लगभग सभी ग्रन्थों ने प्रयोग किया है वह है 'दण्डनीति'। इन विभिन्न शब्दों के प्रयोग से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि इन विविध नामों के ग्रन्थों ने भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन किया है। केवल इतना ही है कि एक ही शास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों को महत्व देने वाले ये भिन्न-भिन्न नाम हैं। उदाहरण के लिये समाज के विभिन्न वर्गों के कर्त्तव्यों का वर्णन करने वाले धर्म शास्त्रों अथवा इतिहास पुराण ग्रन्थों में राज्य सम्बन्धी सभी नियमों का वर्णन राजा के कर्त्तव्य के रूप में 'राजधर्म' के नाम से किया गया है। इसी प्रकार राजा द्वारा लोगों को नियंत्रित और संयमित कर धर्म के पथ पर रखने का अर्थात् 'दम' का वर्णन जिस शास्त्र में किया जाता है उस शास्त्र का नाम 'दण्ड नीति' है। परन्तु दोनों में ही राजा द्वारा लोगों को शासित कर उन्हें अपने-अपने धर्म में लगाने की नीति अर्थात् धर्म का वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व में दण्डनीति के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "दण्डनीति चारों वर्णों को धर्म में प्रस्थापित करती है। यदि इसका राजा द्वारा ठीक प्रयोग किया जाय तो यह धर्म की ओर ले जाने वाली है।"[११] दण्ड नीति की स्पष्ट व्याख्या कामन्दकीय नीतिसार तथा शुक्र-नीति में की गई है। इस व्याख्या के द्वारा यह भी स्पष्ट प्रकट होता है कि दण्ड-नीति ही वास्तव में राजधर्म है। "दम (दमन अथवा संयम) का ही नाम दण्ड है, वह दण्ड राजा में ही स्थित है, उसकी नीति दण्ड नीति है और नीति उसे इसलिए कहते हैं कि वह लोगों को ठीक मार्ग पर ले जाती हैं।"[१२] शान्तिपर्व में जिस प्रकार 'राजशास्त्र' और 'राजधर्म' को समानार्थक प्रयुक्त किया गया है इसी प्रकार 'राज-धर्म' और 'दण्डनीति' को भी समानार्थक रूप में प्रयुक्त किया गया है।[१३] तीसरा जो शब्द प्रयोग किया गया है वह है 'अर्थशास्त्र'। यह शब्द भी राज्य-व्यवस्था के एक विशेष अंग का बोधक है अर्थात् यह बताया है कि राजा द्वारा अर्थोपार्जन की व्यवस्था होनी चाहिये अर्थात् राजा द्वारा अन्य भूमियों को अधिकार में लाने का प्रयत्न होना चाहिये तथा साथ ही साथ राजा द्वारा समाज की जीविका ठीक प्रकार से चले इसकी भी व्यवस्था होनी चाहिये। कौटिल्य ने कहा है कि "मनुष्यों की वृत्ति (जीविका का साधन) 'अर्थ' है। मनुष्यों को धारण करने वाली भूमि भी 'अर्थ' है। उस पृथ्वी को पाने तथा उसका पालन करने (समाज के जीवन की व्यवस्था करना) का शास्त्र 'अर्थशास्त्र' है।[१४] परन्तु इसके विषय के अन्तर्गत भी वही वर्णन किया गया है जो 'राजधर्म' अथवा 'दण्ड नीति' में वर्णन किया जाता है। शुक्र नीति का

---

११. ९१६.

१२. ५९।७५. देखिये नीतिशास्त्र और दण्डनीति की एकता, शान्ति ५८।७४-७८; राज-धर्म और नीतिशास्त्र की एकता शान्तिपर्व १२०।५१-५२.

१३. ५८।२८.

१४. ५८।७७.

कहना है कि "जिसमें श्रुति और स्मृति के विरोध में राजा के कार्य व नियम दिये हुए हों और जिसमें युक्तिपूर्वक अर्थार्जन बताया गया हो उसे अर्थशास्त्र' कहा जाता है।" स्पष्ट ही है कि इस परिभाषा के अनुसार यह प्रकट हो जाता है कि यह राजधर्म का पर्यायवाची है। अमरकोश में 'दण्डनीति' और 'अर्थशास्त्र' को पर्यायवाची शब्द बताया गया है (शब्दादिवर्ग-आन्वीक्षिकी दण्डनीतिस्तर्क विद्यार्थ शास्त्रयां)। उपरोक्त शब्दों के अतिरिक्त जो शब्द प्रयुक्त हुआ है वह शब्द नीतिशास्त्र है जो इस अर्थ का बोधक है कि राजा किन साधनों और उपायों का प्रयोग कर सफलता प्राप्त कर सकता है। नीतिशास्त्र की और अर्थशास्त्र की एकता बनाने के लिये कामन्दक ने अपनें नीतिसार में इसे अर्थशास्त्र के समानार्थक प्रयोग किया है। वह कहता है कि उस विष्णुगुप्त को नमस्कार है जिस बुद्धिमान ने अर्थशास्त्र के महासमुद्र में से नीतिशास्त्र रूप अमृत निकाला है"[१५] अर्थात् वह कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के लिये 'नीतिशास्त्र' शब्द का प्रयोग करता है। इस शब्द की अन्य शब्दों से एकता इस बात से स्पष्ट होती है कि शान्तिपर्व में जहाँ ब्रह्मा के बनाये नीतिशास्त्र का उल्लेख है वहाँ उस नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में कहा है कि "जिस आय से संसार आर्यपथ से विचलित न हो वह सब उपाय हैं, राजसिंह ! इस नीतिशास्त्र में वर्णित हैं।"[१६] अर्थात् इस परिभाषा के द्वारा नीतिशास्त्र को दण्डनीति का और एक प्रकार राजधर्म का पर्यायवाची बताया गया है।

३. भारतीय राजनीतिक विचारों के स्रोत

श्रुति—भारतीय नीतिशास्त्र का वर्णन थोड़ा अथवा बहुत, विविध प्रकार के ग्रन्थों में मिलता है। भारतीय विचार में यह धारणा है कि सभी बातों का मूल स्रोत श्रुति है। श्रुति का अर्थ है वह सत्य जिन्हें ऋषियों ने श्रवण किया है अर्थात् जिन सत्यों का उन्होंने साक्षात्कार किया है। वर्तमान अध्ययन-परम्परा श्रुति को उतना महत्व देने को तैयार नहीं हैं जितना उसे परम्परागत पद्धति में दिया गया है। फिर भी वर्तमान विद्वानों द्वारा भारतीय साहित्य में श्रुति-ग्रन्थों को सबसे पुराना तो माना ही गया है और इसलिए आधुनिककालीन भारतीय विचारों के लेखक सभी विवेचनों का प्रारम्भ वहीं से करते हैं और कई विचारों का मूल उन्हीं में खोजने का प्रयत्न भी करते हैं। श्रुति ग्रंथों में हैं—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद। वेद चार हैं ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। इसमें से प्रथम तीन 'त्रयी' के नाम से

---

१५. १।१४-१६, देखिये नीति प्रशंसा—शान्ति पर्व ५६।३-७, दण्ड नीति का महत्व—शान्ति पर्व १२०।५१-५२, ५६।७६-७८, कामन्दक ११।३०-४६

१६. राजधर्म की उपयोगिता—
शान्ति पर्व ६३।२४-३०, ५६।३७, ६४।१-७, २१, २७-२८, मनु ७।१,
दण्डनीति की उपयोगिता—
शान्ति पर्व ६९।७५-१०५, ६५।२४-२७, कामन्दक २।८-९.
अर्थशास्त्र की उपयोगिता—
कौटिल्य १।१।१.

विद्यमान हैं और प्राचीन भारतीय विचार में सभी धर्मों का मूल इन्हीं को माना गया है। आधुनिक विद्वान् इनमें से ऋग्वेद को सबसे पुराना मानते हैं और उसमें भी भाषा के आधार पर कुछ अंशों को बाद का और कुछ अंशों को पूर्व का निर्धारित करते हैं। यह तो सत्य है कि कुछ सूक्तों की रचना (अथवा उनका साक्षात्कार) पहले हुई होगी और कुछ की बाद में (और यह एक गवेषणा का विषय है कि सुक्तों का कालानुसार क्रम क्या है) परन्तु सम्पूर्ण ऋग्वेद को अन्य वेदों की तुलना में प्राचीनतम मानने का कोई ठोस आधार नही है जबकि सामवेद में कुछ सूक्तों को छोड़कर शेष सूक्त ऋग्वेद के ही हैं और जबकि अन्य वेदों में भी ऋग्वेद के सूक्त अथवा मंत्र प्राप्त होते हैं। वेदों में किसी भी विषय की क्रमबद्ध सामग्री नहीं है अतः राजनीति का भी कोई व्यवस्थित विवेचन नहीं है, परन्तु यत्र तत्र राजनीति सम्बन्धी विचार और तथ्य दिखायी देते हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में राजसूय, अश्वमेध, ऐन्द्र महाभिषेक आदि यज्ञों का वर्णन है, इसलिए स्वाभाविक रूप में उन यज्ञों के वर्णन में राजनैतिक पद्धतियों और फलस्वरूप राजनैतिक सिद्धान्तों का वर्णन वेदों की तुलना में अधिक मिलता है। वेदों की कई शाखाएँ हो जाने के कारण, यद्यपि वेदों को तो परम्परागत-पद्धति से ब्राह्मणों ने स्मरण रखा, परन्तु ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों की बहुत सी शाखाएँ आज लुप्त हैं। इनमें आरण्यक ग्रंथ तो सबसे कम उपलब्ध हैं और उपनिषद मूल रीति से आध्यात्मिक ग्रंथ हैं। इस कारण इन दोनों प्रकार के ग्रंथों में राजनीति सम्बन्धी सामग्री बहुत अल्प है।

धर्मसूत्र—चार उपवेद हैं और छः वेदांग। उपवेदों के अन्तर्गत अर्थशस्त्र का भी उल्लेख एक उपवेद के रूप में मिलता है, परन्तु इसका विचार हम बाद में करेंगे। वेदांगों में एक वेदांग है कल्प जिसके तीन भाग माने जाते हैं—स्त्रौत (अर्थात् यज्ञों की पद्धतियों का वर्णन), गृह्य (अर्थात् गृहस्थ के नित्य और नैमित्तिक कर्मों का वर्णन) तथा धर्म (व्यक्ति और सामाजिक जीवन के अन्य नियम जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था और उसके अन्तर्गत राजधर्म का वर्णन आता है)। इन तीनों विषयों पर सूत्रों की पद्धति पर लिखे गए ग्रन्थ उपलब्ध हैं। यद्यपि सम्पूर्ण तीनों को मिलाकर एक कल्पसूत्र केवल आपस्तम्ब का ही मिला। इनमें से राजनीति सम्बन्धी स्त्रौत और गृह्य सूत्रों में तो अल्प है, केवल धर्मसूत्रों में ही राज धर्म का विस्तृत वर्णन हैं। आपस्तम्ब के अतिरिक्त अन्य भी धर्मसूत्र उपलब्ध हैं जैसे गौतम, वशिष्ठ आदि का, परन्तु यह कल्पसूत्र के रूप में नहीं मिले हैं।

पश्चिमी विद्वानों ने वेदों का काल १५०० से १००० ईसा पूर्व तक, ब्राह्मण उपनिषदादि ग्रन्थों का १००० से ७०० ईसा पूर्व तक और धर्मसूत्रों का काल ५००-२०० ईसा पूर्व तक रखा है, परन्तु यह काल निर्धारण अनुमान पर ही आधारित है।

स्मृति—धर्मसूत्र यद्यपि कल्प के अंग के रूप वेदांग हैं परन्तु वे स्मृतियों के अन्तर्गत माने जाते हैं। अतः प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के स्रोत के रूप में श्रुति के पश्चात् आती है स्मृति। स्मृति के अन्तर्गत धर्मसूत्र ही नहीं श्लोक-बद्ध

स्मृतियाँ भी हैं जिनमें राजनीति सम्बन्धी विचारों की दृष्टि से प्रमुख हैं मनुस्मृति और याज्ञ-वल्क्य-स्मृति। मनुस्मृति में लगभग तीन अध्याय राजधर्म और व्यवहार (विधि) पर मिलते हैं और याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति के तीन अंग किये हैं—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। इनमें व्यवहार अंश में तो न्यायालयों द्वारा विविध विषयों पर निर्णय दिये जाने के नियम दिए गए हैं, और राजधर्म का वर्णन 'आचार' अंश के अन्त में कुछ श्लोकों में किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के राजधर्म सम्बन्धी श्लोक के विषय में कई स्थानों पर लगता है कि मनुस्मृति के विचारों का संक्षिप्तीकरण किया गया है। फिर भी राजनीति सम्बन्धी विचारों की दृष्टि से यह दोनों स्मृतियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनका रचना काल ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक माना गया है परन्तु इस काल निर्णय के विषय में भी पुनर्विचार की बहुत आवश्यकता है। दर्शन, व्याकरण आदि के ग्रन्थ भी स्मृतियों में माने जाते हैं और इनमें से पाणिनि की अष्टाध्यायी में विद्वानों ने कुछ मात्रा में राजनीति सम्बन्धी सामग्री खोजने का प्रयत्न किया है।

इतिहास-पुराण—तीसरे प्रकार के ग्रन्थ, जिनका हम प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के अध्ययन के रूप में उपयोग कर सकते हैं, इतिहास-पुराण ग्रन्थ हैं। इतिहास में महाभारत और रामायण है तथा पुराणों में अष्टादश महापुराण और उपपुराण हैं। यद्यपि आधुनिक विद्वान महाभारत और रामायण को ईसा के समीप के किसी काल का मानते हैं परन्तु प्राचीन मत यह है कि रामायण की रचना वाल्मीकि ने रामचन्द्र जी के राज्यकाल के अन्त में की जिसका अर्थ है कि उसकी काल-गणना वर्तमान पद्धति से करना कठिन है। व्यास मुनि जो महाभारत के समय में अर्थात् वर्तमान काल-गणना के अनुसार ईसा से लगभग तीन सहस्त्र पूर्व माने गए हैं महाभारत और पुराणों के रचयिता बताए जाते हैं। यह ठीक है कि महाभारत और पुराणों की लेखन पद्धति एक सी है, परन्तु यह भी ठीक है इन ग्रन्थों में बाद में बहुत से अंश जोड़े गये हैं। आधुनिक विद्वान इन पुराणों को ईसा के पश्चात् तीसरी से नवीं शताब्दी तक का मानते हैं। महाभारत में राजनीति की समस्याओं पर विचार उसके बारहवें पर्व शांतिपर्व में किया गया है जहाँ महाभारत युद्ध के पश्चात् शर शय्या पर लेटे हुए तथा मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए भीष्म के पास अर्जुन जाते हैं और उनसे बहुत से प्रश्नों के उत्तर पूछते हैं। शाँतिपर्व में इस दृष्टि से उसका 'राजधर्म पूर्व' महत्वपूर्ण है। परन्तु महाभारत में राजनीति सम्बन्धी सामग्री अन्यत्र भी मिलती है। महापुराणों में इस दृष्टि से अग्निपुराण, मत्स्यपुराण प्रमुख हैं तथा अन्य पुराणों में विष्णु धर्मोत्तर पुराण तथा बृहद्धर्म पुराण। परन्तु ऐसा लगता है कि इन पुराणों में बहुत सी सामग्री अन्य ग्रन्थों से ली गयी है। राजनीति का कुछ विवेचन रायायण में भी मिलता है।

नीतिशास्त्र के ग्रन्थ—राजनीति पर पृथक ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। इनमें से आजकल जिसका बहुत अधिक महत्व है तथा जो लगभग निर्विवाद रूप से मौर्यराजा

चन्द्रगुप्त के सहायक चाणक्य द्वारा कौटिल्य के नाम से लिखा गया ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' है। इसलिए यह ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी का ग्रन्थ माना जाता है। शुक्रनीतिसार नामक ग्रन्थ परम्परागत रूप से दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य द्वारा रचित माना जाता है परन्तु आधुनिक विद्वानों ने उसे ईसा के पश्चात् दसवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक का माना है। अन्य प्रमुख ग्रन्थ हैं कामन्दक का नीतिसार जो बहुत कुछ कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर आधारित है, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत आदि।

टीकाएँ और निबन्ध—इसके अतिरिक्त धर्मसूत्रों, मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति तथा अन्य ग्रन्थों पर टीकाएँ हैं जिनमें यद्यपि मूल को समझाने का प्रयत्न है परन्तु जिनमें लेखक का अपना कुछ विचार प्रकट हो ही जाता है; जैसे—गौतम धर्मसूत्र पर हरदत्त की टीका, मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका, याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा आदि। कुछ निबन्ध हैं, जैसे—लक्ष्मी धर का कृत्य कल्पतरु तथा चण्डेश्वर का कृत्य रत्नाकर और इन निबन्धों में एक एक खण्ड तथा कुछ अन्य स्वतन्त्र निबन्ध राजनीति पर भी हैं। इन निबन्धों में राजनीति सम्बन्धी विधि विषयों पर धर्मग्रन्थों के उद्धरण दिये गय हैं। साहित्य के ग्रन्थों में भी यथा कालिदास का रघुवंश, माघ का शिशुपालवध, दण्डिन के दशकुमार चरित में भी राजनीति-सम्बन्धी सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, परन्तु क्योंकि इनमें प्रायः धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के ग्रन्थों के विचार के अनुसार विचार हुआ है इसलिए इनका राजनीति की दृष्टि से इतना महत्त्व नहीं है।

बौद्ध-जैनग्रन्थ—बौद्ध और जैन धार्मिक ग्रन्थों में प्रासंगिक रूप से राजनीति के विचारों का भी उल्लेख हुआ है। इन विचारों का अभी बहुत विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ। यह तो सत्य है कि बौद्ध और जैन विचारों में उनके धार्मिक इतिहास का थोड़ा प्रभाव है। परन्तु यदि उस धार्मिक प्रभाव को हटाकर मूल सिद्धान्तों को देखा जाय तो प्रतीत होगा कि उनमें तथा धमशास्त्रों और अर्थशास्त्रों के विचारों में विशेष मतभेद नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि कामन्दक बौद्ध मतानुयायी हैं तथा सोमदेव जैन है परन्तु दोनों के सामाजिक और राजनैतिक विचार नीतिशास्त्र के ग्रन्थों के विचारों के समान ही हैं। बौद्ध और जैन धार्मिक ग्रन्थों के राजनैतिक विचारों का थोड़ा बहुत उल्लेख आगे परिशिष्टों में किया गया है।

४. भारतीय राजनीतिक विचारों की विशेषताएँ

मोक्ष पर आधारित—उपरोक्त ग्रन्थों में वर्णित विचारों अर्थात् प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों की कुछ विशेषताएँ भी हैं। प्रथम दो अध्यायों में वर्णित विचारों के आधार पर यह विशेषताएँ स्पष्ट रूप से समझ में आ सकती हैं। सर्वप्रथम सम्पूर्ण भारतीय विचार एक लक्ष्य को ध्यान में रख निर्मित हैं तथा उसी को केन्द्र मानकर सब बातों का विचार किया गया है। वह लक्ष्य है मोक्ष तथा राजनीति के सिद्धान्तों का विचार और राज्य-व्यवस्था की रचना उसी लक्ष्य पर आधारित है। राज्य का होना इसलिए आवश्यक है कि उसके कारण समाज में संघर्षविहीन और

निरापद जीवन व्यतीत होना सम्भव है और ऐसे ही वातावरण में आध्यत्मिक उन्नति हो सकती हैं। राज्य उस समाज व्यवस्था को लागू भी करता है जो क्रमशः मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जाती है। इसके अतिरिक्त राज्य-व्यवस्था के प्रतीक क्षत्रियों को आध्यत्मिक उन्नति के प्रतीक ब्राह्मणों के अनुसार चलना आवश्यक है। राजा को अपने कर्त्तव्यों का पालन करने का आग्रह भी इसी आधार पर किया गया है कि जो राजा ऐसा करता है वही परलोक में भी उन्नति कर सकता है; यह बात शान्ति-पर्व, शुक्रनीति तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में आग्रह के साथ कही गयी है। राज्य के बहुत से कार्यों का निर्धारण भी इसी आधार पर हुआ है। जैसे—राज्य द्वारा उत्सवों का पालन, देवपूजा, धार्मिक दृष्टि से काम में आने वाली वस्तुओं पर कर न लेना आदि। इन सभी बातों का विस्तार पूर्वक विचार आगे स्थान स्थान पर हुआ है।

धर्म का आधार—इसी से संलग्न यह तथ्य है कि भारतीय विचार में सभी कुछ 'धर्म' द्वारा परिचालित है। धर्म एक व्यापक शब्द है। मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न भी धर्म' के अन्तर्गत है। इसलिए यह कहना कि सम्पूर्ण भारतीय विचार मोक्ष के लक्ष्य की ओर उन्मुख है, यह कहने के समान है कि सम्पूर्ण भारतीय विचार 'धर्म' द्वारा प्रेरित हैं। परन्तु संक्षेप में 'धर्म' शब्द के अन्तर्गत आते हैं व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नियम और इस दृष्टि से राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी नियम और उन पर आधारित राज्य सम्बन्धी विचार भी 'धर्म' के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में 'राज्य' का विचार 'राजधर्म' के नाम से किया गया है अर्थात् राजा का और प्रजा का पारस्परिक धर्म। दूसरे सम्पूर्ण धार्मिक विधि-विधान राज्य-व्यवस्था में समाविष्ट हैं यथा अभिषेक की विधि, राजाओं द्वारा श्रौत यज्ञ करने का आग्रह, पुरोहित की नियुक्ति, राजा द्वारा प्रातःकाल उठकर धर्मकृत्यों को करना, राजकुमारों के संस्कार होना आदि। तीसरे, राज्य-सम्बन्धी विचारों में राज्य से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के कर्त्तव्य वर्णित हैं और उसमें केवल यही नहीं बताया गया है कि राजा को अर्थात् शासकों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना, चाहिए अपितु मंत्रियों के कर्त्तव्य, पुरोहित के कर्त्तव्य, सेनापति के कर्त्तव्य, दूत के कर्त्तव्य, राज कर्मचारियों के कर्त्तव्य (सामूहिक रूप में तथा पृथक्-पृथक्), न्यायाधीश के कर्त्तव्य, साक्षियों के कर्त्तव्य आदि। कर्त्तव्य और 'धर्म' समानार्थक हैं और इस कारण भी राज्य सम्बन्धी विचार 'धर्म' से प्रेरित हैं। धर्मराज्य, की कल्पना का आगे विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

अन्य मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्त—धर्म के अतिरिक्त भारतीय दर्शन के अन्य विविध सिद्धान्त भी राज्य-व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए **त्रिगुण का सिद्धान्त**। इसके अनुसार क्षत्रिय को रजोगुणी होने के कारण राज्य का कार्य सौंपा गया है अथवा **कर्मफल के सिद्धान्त** के अनुसार एक व्यक्ति हाथ, पैर, मुँह आदि में अथात् शरीर में अन्य सब व्यक्तियों के समान होने पर भी अपने पूर्वजन्म के कर्मों के कारण राजा होता है। इसी प्रकार यद्यपि धर्म प्रमुख पुरुषार्थ है, अर्थ

मध्यम और काम सबसे हीन परन्तु राजा के लिए उसके राज्य के कारण 'अर्थ' सबसे महत्वपूर्ण पुरुषार्थ है और इसीलिए उसके सामने विजिगीषु वृत्ति का, पुरुषार्थ का तथा सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने का अर्थात् अर्थ प्राप्त का आदर्श रखा गया है अथवा अधिकार भेद का सिद्धान्त मानने के कारण और इस कारण राज्य का कार्य ब्राह्मणों, वैश्यों तथा शूद्रों के न दिये जाने के कारण साधारणतया भारतीय विचार में जनतंत्र नहीं स्वीकार किया गया है। भारतीय दर्शन के अन्य भी सिद्धान्त हैं जिन पर राजनैतिक विचार आधारित हैं। उनका प्रारम्भिक अध्याय में वर्णन किया गया है।

समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत—राज्य सम्बन्धी भारतीय विचारों की एक विशेषता यह है कि भारतीय विचार में राज्य-व्यवस्था को समाज-व्यवस्था के एक अंग के रूप में माना गया है। यह भारतीय समाज-व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत राज्य व्यवस्था भी आती है) की एक विशेषता है जो भारतीय विचार और अन्य विचारों का अन्तर स्पष्ट करती है। अन्य समाजों में राज्य-व्यवस्था से स्वतंत्र समाज की अपनी कोई व्यवस्था नहीं है और इसलिए जब राज्य व्यवस्था नष्ट हो जाती है तो समाज भी विश्रृंखलित हो जाता है तथा फिर उसके अन्दर स्थिरता बनाये रखने का कोई मार्ग नहीं है। भारतीय विचार में भी राज्य-व्यवस्था का महत्व माना है। राज्य के न रहने पर समाज में मात्स्यन्याय का निर्माण हो जाता है अर्थात् सब एक दूसरे को मछलियों के समान खाने लगते हैं। फिर भी भारतीय विचारकों ने राज्य-व्यवस्था के अतिरिक्त एक समाज-व्यवस्था का निर्माण किया है और इसी का परिणाम है कि शताब्दियों तक परकीय राज्य रहने के बाद भी, जो भारतीय जीवन पद्धति को नष्ट करने पर तुले हुए थे, भारतीय व्यवस्था संघर्ष करती हुई, चाहे विश्रृंखलित अवस्था में ही हो जीवित रही। इतना ही नहीं भारत में समाज-व्यवस्था का निर्माण किया गया हो परन्तु इसके साथ ही राज्य-व्यवस्था को उसके अन्तर्गत रखा गया। इस कारण धर्म शास्त्रों ने अपने एक अंग के रूप में राजधर्म का वर्णन किया है तथा अर्थशास्त्र के ग्रंथ भी पहिले समाज-व्यवस्था का वर्णन कर, फिर तदनुसार राज्य-सम्बन्धी विचारों और व्यवस्था का विस्तार से विश्लेषण करते हैं। उदाहरण के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, सोमदेव के नीतिवाक्यामृत की योजना यही है। शुक्रनीति में समाज-व्यवस्था का वर्णन ग्रंथ के मध्य में है। इसलिये राज्य-व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था से अलिप्त नहीं है अपितु उसके अन्तर्गत और उस व्यवस्था को बनाये रखने के लिए है। इसीलिए समाज व्यवस्था के नियमों के निर्माण करने का अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार राज्य को नहीं है, अपितु समाज व्यवस्था के नियम वर्णित हैं और राजा को उन्हीं को लागू करना पड़ता है तथा नयी परि-स्थितियों में उन्हें लागू करने की आवश्यकता पड़ने पर विद्वान ब्राह्मणों की परिषद द्वारा जिसमें विविध आश्रमों (ब्रह्मचारी, आदि) के व्यक्ति तथा विविध विषयों के

विद्वान (नैयायिक आदि) सम्मिलित हों उसका निर्णय करने का आग्रह है (इस विषय का आगे भी विधि सम्बन्धी अध्याय में वर्णन किया गया है)।

परमात्मा द्वारा रचित—भारतीय राजनैतिक विचारों के आध्यत्मिक स्वरूप के आधार पर उसकी एक अन्य विशेषता यह है, जैसा पीछे बताया गया है कि मनुष्य के लिये सभी कल्याणकारी बातें जैसे राजनीतिशास्त्र, राज्य, राजा, दण्ड आदि परमात्मा द्वारा निर्मित बताये गये हैं। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि परमात्मा ने स्वयं आकर पृथ्वी पर इनकी रचना की परन्तु इसका इतना ही अर्थ है यह सब समाज के लिये लाभप्रद हैं तथा जिसने भी इनकी रचना की होगी उनमें परमात्मा तत्व रहा होगा तथा उसके लिए उन्हें परमात्मा से प्रेरणा प्राप्त हुई होगी।

विचारों की एकता—उपर्लिखित विचार से भारतीय राजनैतिक विचार की एक और विशेषता स्पष्ट होती है। भारतीय राजनैतिक विचार एक लक्ष्य के आधार पर रचित हैं, भारतीय राजनैतिक विचार भारतीय दर्शन पर आधारित है, भारतीय राज्य-व्यवस्था समाज-व्यवस्था का एक अंग है, इन सब बातों का निष्कर्ष यह है कि साधारणतया भारतीय राजनैतिक विचारों में एक स्थिरता और निरन्तरता दिखायी देती है। कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण यह स्थिरता बहुत स्वाभाविक है। इसलिए चाहे धर्मसूत्र लें, चाहे मनुस्मृति को लें, अथवा चाहे शुक्रनीति देखें, अथवा कौटिलीय अर्थशास्त्र, अथवा कामन्दकीय नीतिसार, सोमदेव का नीति-वाक्यामृत लें इनके विचारों में विशेप अन्तर नहीं है। यह हो सकता है कि किसी ग्रंथ में कोई एक विचार दिया हो जो दूसरे में न हो और ऐसा ही अन्य ग्रंथों के विषय में भी हो सकता है परन्तु यह मतभेद का द्योतक नहीं, यह विविध ग्रंथों के विषय विश्लेषण का अन्तर है। यदि मतभेद हैं भी तो विस्तार की बातों में, जिसके उदाहरण आगे के विषय-विवेचन में मिलेंगे। कौटिल्य ने कुछ विचारों का उल्लेख कर उनका खंडन किया है, चाहे यह विचार कुछ व्यक्तियों के नाम से वर्णित हों जैसे भारद्वाज, कोणपदन्त आदि, चाहें कुछ विचार-पद्धतियों के नाम से जैसे 'मानवाः' 'पाराशराः' आदि, परन्तु इन लोगों के कई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए यह कहना कठिन है कि यह वास्तविक व्यक्तियों का अथवा समाज में प्रचलित विचार पद्धतियों का उल्लेख किया गया है अथवा कौटिल्य ने अपने विचारों को स्पष्ट रूप से तथा प्रभावी ढंग से रखने के लिये कुछ कृत्रिम विचारकर्त्ताओं के नाम से विचारों का उल्लेख कर उनका खण्डन किया है। फिर भी यदि वह व्यक्ति अथवा विचार पद्धतियाँ वास्तविक भी थीं तो कम से कम उन ग्रन्थों को आग्रहपूर्वक बनाये रखने का कोई प्रयत्न नहीं हुआ और इसलिए यह कहना कठिन है कि भारत में उनकी कहाँ तक मान्यता थी और उनका कहाँ तक औचित्य स्वीकार किया गया था। विचारों

की इस एकता का कारण, जैसा पीछे बताया गया यह है कि एक लक्ष्य से विचारों का प्रारम्भ कर उसके आधार पर समाज-रचना का निर्माण करते हुए, उस समाज व्यवस्था से संलग्न तथा उसी के अनुसार निर्मित राज्य की संपूर्ण व्यवस्था की रचना की गयी है। इसलिए रेखागणित के समान राज्य व्यवस्था का स्वरूप भी क्रमशः एक सिद्धान्त तथा उसके पश्चात् उसके आधार पर, दूसरा, इसी अनुसार, तीसरा ऐसे ही संपूर्ण विचारों को खड़ा किया गया है।

समन्वयात्माक प्रवृति—विचारों की इस एकता का एक और भी कारण है। भारतीय राजनैतिक विचार भारतीय दार्शनिक विचारों तथा सामाजिक विचारों के समान समन्वयात्मक प्रवृत्ति पर आधारित हैं। इसके कारण विभिन्न विरोधी दिखने वाले विचारों को भी समन्वित रूप में रखने का प्रयत्न है यथा राजा का प्रभुत्व तथा प्रजा की स्वतन्त्रता, युद्ध को अन्तिम साधन के रूप मानने का आग्रह तथा साथ-साथ युद्ध को न टालने का तथा संपूर्ण शक्ति के साथ युद्ध लड़ने का आग्रह, राजा के विषय में श्रेष्ठ नैतिक नियमों के वर्णन के साथ-साथ अनैतिक उपायों के आवलम्वन का भी परामर्श आदि। समन्वयवादिता का वर्णन प्रथम अध्याय में कुछ मात्रा में किया गया है।

व्यावहारिक—भारतीय राजनीतिक विचारों की एक विशेषता यह है कि यह विचार व्यवहार पर आधारित हैं। इसका अर्थ यह है कि पश्चिम में जिस प्रकार राजनीतिक विचारकों ने राजनीति के दार्शनिक विचारों का निर्माण किया है, भारतीय विचारों में उस प्रकार राजनीति का दार्शनिक पद्धति से विचार नहीं किया गया। इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय ग्रंथों में राजतीति संबंधी दार्शनिक विचार नहीं हैं अथवा राजनीति शास्त्र के ग्रंथों में किये गये विवेचन से उन विचारों के विषय में निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। राजनैतिक विचारों का वर्णन भी भारतीय ग्रंथों में कई स्थानों पर मिल जायेगा। उदाहरण के लिए शांतिपर्व में युधिष्ठर के प्रश्नों के उत्तर में भीष्म के मुख से कई स्थानों पर राजनैतिक विचारों का वर्णन हुआ है; जैसे—गणतंत्र का विवेचन, राजनीति में धर्मपूर्ण व्यवहार करने विषय में विचार आदि, तथा कोटिलीय अर्थशास्त्र में भी प्रारम्भ में त्रिवर्गक; राज्य की उत्पत्ति आदि का विचार हुआ है। इसलिए राज्य की आवश्यकता और महत्व (अराजकता के वर्णन द्वारा) दण्ड के स्वरूप का वर्णन, राज्य का स्वरूप (राजा के अन्दर विभिन्न देवताओं के वर्णन के समय) राज्य व्यवस्था और समाज जीवन का सम्बन्ध, कर के सिद्धान्त, दण्ड के सिद्धान्त, न्याय के सिद्धान्त स्मृतियों में अथवा नीतिशास्त्र के ग्रंथों में पाये जाते हैं। परन्तु भारतीय विचार में मूख्य रीति से राजनीति तथा राज्य व्यवस्था का व्यवहारिक विवेचन है। उदाहरणार्थ राज्य के सप्तांगों का विचार पूर्ण रीति से व्यावहारिक ढंग से किया गया है और इस कारण उसमें सेना, कोष तथा मित्र को भी राज्य का अंग बताया गया है। अथवा विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्वन्धों के विषय में मंडल का विचार, षड्गुणों का विचार

(संधि, विग्रह आदि) तथा और सब विचार व्यावहारिक ढ़ंग से किये गए हैं। राजनीति सम्बन्धी अधिकांश भारतीय सिद्धान्तों को इन्हीं व्यावहारिक विचारों में से खोजकर निकाला जा सकता है।

राजतंत्र की प्रमुखता—भारतीय राजनीतिक विचार मुख्य रीति से राजतंत्र का विचार है। राजनीति का वर्णन करने वाले सभी भारतीय ग्रंथ राज्य-व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु राजा को मानकर तदनुसार संपूर्ण विचार करते हैं तथा इसलिए राज्य के सप्तांगों में भी सर्वप्रमुख अंग राजा ही बताया गया है। राज्य की उत्पत्ति का भी विचार 'राजा' की सर्वप्रथम नियुक्ति के रूप में बताया गया है। यह अवश्य है कि 'राजा' सम्बन्धी विचारों को किसी भी शासक अथवा शासकगण पर लागू किया जा सकता है। फिर भी यही कहना उचित होगा कि भारतीय विचार में राजतन्त्र की दृष्टि से संपूर्ण विवेचन है। यूनान के समान यहाँ गणतंत्र तथा कुलीनतंत्र का विवेचन लगभग नहीं है। महाभारत के दो अध्यायों में तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र के एक अध्याय में 'गण' अथवा 'संघ' के नाम से इन राज्यपद्धतियों का कुछ विवेचन है परन्तु केवल इसके आधार पर ही यह नहीं माना जा सकता कि राजतन्त्र के अतिरिक्त अन्य शासन पद्धतियों का भी समुचित विचार किया गया है।

छोटे राज्यों का विचार—भारतीय राजनीतिक विचार यह मानकर चलता है कि पृथ्वी अथवा भारतवर्ष भी कई राज्यों में विभाजित है। इसलिए अन्तर्राज्य संबंधों के विचार में विजिगीषु को केन्द्र मानकर संपूर्ण विचार है, जो एक विशेष क्षेत्र पर शासन करता हुआ राजनीति का इस प्रकार संचालन करेगा कि वह संपूर्ण भारत अथवा पृथ्वी पर प्रभुत्व स्थापित कर ले। चक्रवर्तित्व का, सर्वभौम राज्य का वर्णन भी इसी दृष्टि से है तथा अश्वमेध यज्ञ का किया जाना भी इसी बात को सिद्ध करता है कि विजिगीषु राजा अन्य राजाओं को अपनी शक्ति से पराभूत करता हुआ उन्हें अपने आधीन कर लेगा। परन्तु भारतीय विचार में विजिगीषु द्वारा अन्य राजाओं के राज्य अपने राज्य में मिलाने का उल्लेख कम है, उन्हें करदाता बना लेने का उल्लेख अधिक है तथा यदि विजिगीषु से युद्ध करता कोई राजा मर जाये तो उसके राज्य को आत्मसात करने के स्थान पर उसी के पुत्र अथवा सम्बन्धी को, जो विजिगीषु की आधीनता स्वीकार करे राज्य देने का आग्रह है। ऊपर के सम्पूर्ण वर्णन का अर्थ यह है कि भारतीय राजनीतिक विचार का आधार एक ऐसा राज्य है जो बहुत बड़ा नहीं है परन्तु जिसका शासक अन्य राजाओं को अपने आधीन करने के लिए प्रयत्नशील है अर्थात भारतीय राजनीतिक विचार छोटे राज्यों का विचार है, और विजिगीषु का राज्य भी, चाहे उसका साम्राज्य कितना ही बड़ा हो छोटा मानकर ही उस राज्य की व्यवस्था का वर्णन किया गया है। इसके कारण भारतीय राजनीतिक ग्रंथों में जो वर्णन है वह छोटे राज्य के प्रशासन पद्धति का है। अतः किसी ग्रंथ में बहुत बड़े राज्य का विचार न

होने के आधार पर उस ग्रंथ का काल निर्णय करना बड़ी भारी भूल होगी। इतने राज्यों के होते हुए प्राचीनकाल में भारतीय एकात्मता का आधार मुख्य रीति से उसका धर्म है, जिसमें उसकी समाज-व्यवस्था भी सम्मिलित है। इसी कारण उस एकात्मता का भाव व्यक्त करते हुए विष्णु धर्मसूत्र में कहा गया है कि जहाँ चातुर्वर्ण्य स्थापित नहीं है वह म्लेच्छ देश है तथा उसके आगे आर्यावर्त हैं और मनु का टीकाकार मेधातिथि कहता है कि यदि कोई साधु आचरण वाला क्षत्रिय राजा म्लेच्छों को पराजित कर (किसी भूमि में) चातुर्वर्ण्य की स्थापना कर दे और आर्यावर्त में चाण्डालों के समान म्लेच्छों की व्यवस्था कर दे तो वह (भूमि) भी यज्ञ के उपयुक्त हो जायेगी तथा यदि ब्रह्मावर्त आदि देश पर भी म्लेच्छ आक्रमण कर वहां स्थित हो जायेंगे तो वह देश म्लेच्छ हो जाता है। संक्षेप में भारतीय राजनैतिक विचार बहुत से छोटे छोटे राज्यों का विचार होने के कारण तथा भारतीय विचार में एक एकात्मक राज्य का अस्तित्व भारत की एकता का आधार नहीं बताया गया है।

प्रतीकों का प्रयोग—जैसा पीछे बताया गया भारतीय राज्य व्यवस्था में बहुत से धार्मिक विधि-विधानों का भी प्रयोग है। इन विधि-विधानों में बहुत सी बातें प्रतीकात्मक रूप में रखी गयी हैं अर्थात भारतीय राजनैतिक व्यवस्था में प्रतीकों के रूप में बहुत से सिद्धान्तों का वर्णन है। अभिषेक की पद्धति में प्रतीकों का प्रयोग विस्तार से किया गया है। उसका आगे वर्णन किया जायेगा परन्तु अन्य कई स्थानों पर प्रतीकों का प्रयोग है।

विशेष शब्दावली—सबसे अन्त में भारतीय राजनीति शास्त्र की अपनी शब्दावली है जो वर्तमान काल की पश्चिमी राजनैतिक विचारों पर आधारित शब्दावली से बिल्कुल भिन्न है। उदाहरण के लिए राज्य के सप्तांग, षडगुण, चार उपाय, तीन शक्ति आदि। इसलिए संक्षेप में भारतीय राजनैतिक विचार अपने एक विशेष वातावरण से प्रभावित है और उसका उसी वातावरण के आधार पर अध्ययन करना उपयुक्त होगा। यद्यपि पश्चिमी राजनैतिक विचारों से कहीं कहीं तुलना करना संभव है परन्तु पश्चिमी राजनैतिक विचारों और पश्चिमी राजनैतिक पद्धतियों के अनुसार भारतीय राजनैतिक विचारों का अध्ययन करना भूल होगी।

भारतीय राजनैतिक विचारों की उपयोगिता तथा त्रुटियाँ

उपयोगिता—प्रश्न यह उठता है कि वर्तमान काल में प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के अध्ययन की क्या कोई उपयोगिता है? वस्तु स्थिति यह है कि आज का जीवन प्राचीनकाल के जीवन से बिल्कुल भिन्न है तथा आज की राज्य-पद्धति पश्चिमी जीवन से प्रभावित होने के कारण प्राचीन भारतीय राजनैतिक परम्परा से पूर्णतया पृथक है। इस स्थिति में प्राचीन यूनानी विचारों के अध्ययन का भी उपयोग कम है। परन्तु कम से कम वर्तमान राजनैतिक पद्धतियों और विचारों का स्रोत होने के कारण तथा वर्तमान राजनैतिक विचार प्राचीन यूनानी

विचारों से कुछ मात्रा में प्रभावित होने के कारण उनके अध्ययन की तो कुछ उपयोगिता भी है। पर क्या प्राचीन भारतीय विचारों के अध्ययन की इतनी उपयोगिता है ? इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि किसी भी राजनैतिक, विचार का अध्ययन, चाहे वर्तमान जीवन को प्रभावित न करता हो, परन्तु उसके अन्दर क्या धारणायें थी, उसका क्या स्वरूप था और वह विचार इस प्रकार का क्यों था, यह विचारों के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए स्वयमेव महत्वपूर्ण है। पर प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के अध्ययन की केवल इतनी ही उपयोगिता नहीं है। आधुनिक भारतीय जीवन पश्चिमी राजनैतिक पद्धति और पश्चिमी राजनैतिक विचारों ने चाहे कितना ही प्रभावित हो उसकी अपनी एक परम्परा है और भारतीय को और यहाँ के व्यक्तियों को यह परम्परा प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए राजा का अर्थात शासकों का आदर्श, राज्य का समाज-जीवन को योगदान, राज्य के कार्य, राज्य का विधि-निर्माण का और समाज-जीवन को मनमानी ढंग से बदलने का अधिकार आदि, सब बातें ऐसी हैं जो भारतीय परम्परा में गुंथी हुई है और चाहे भारतीय राज्य किसी भी विचार से प्रभावित हों, परन्तु प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचार के इन पहलुओं का प्रभाव, इस राज्य पद्धति पर अवश्य पड़ता था। इसके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के अध्ययन की एक और उपयोगिता है। जैसा पीछे बताया गया है भारतीय राजनैतिक विचार कुछ मूलभूत दार्शनिक सिद्धान्तों, और उन सिद्धान्तों के अनुसार गठित समाज व्यवस्था से प्रभावित हैं। इन सब विचारों को भारतीय धारणा के अनुसार 'सनातन' माना गया। इसका अर्थ यह है कि कुछ मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण इन विचारों की सनातन उपयोगिता है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि समाज की व्यवस्था का और उसके अन्तर्गत चलने वाली राज्य-व्यवस्था का यह एक आदर्श ढाँचा है। यदि जिन लक्ष्यों की ओर ले जाने के लिए यह ढाँचा निर्मित हुआ है वे सत्य हैं तो फिर उन लक्ष्यों की ओर ले जाने वाली यह समाज-व्यवस्था और उस समाज-व्यवस्था के अनुरूप विचार किये गये राज्य-जीवन के सिद्धान्त भी सत्य हैं। यदि व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन उन लक्ष्यों से और उन लक्ष्यों पर आधारित सामाजिक पद्धति तथा समाज-व्यवस्था के सिद्धान्तों से विलग हो गया है तो उन सिद्धान्तों को एक 'आदर्श' के रूप में अपने सम्मुख रखकर समाज और राज्य-जीवन को उस ओर ले जाने का प्रयास करना चाहिए। आधुनिक काल में नयी-नयी विचारधाराएँ उत्पन्न हुई हैं। और हो रही हैं पश्चिमी राजनैतिक विचारों में तो यह सदैव होता ही रहा है और यद्यपि चाहे वही विचार बदल बदल कर बार-बार नये रूपों में और नये नाम लेकर आकर आते रहे हों परन्तु धारणा यही उत्पन्न होती है कि कोई नयी विचारधारा आयी है और विचार तथा जीवन प्रगति की ओर बढ़ रहा है और इन नयी विचारधाराओं के समक्ष प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक विचारों को आदर्श मानकर चलना 'प्रतिगामिता' कहा जाये, परन्तु उसकी अपनी उपयोगिता

है और वर्तमान दिग्भ्रमित जीवन के लिए वह मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है। कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचार-धारा विभिन्न प्रतियोगी विचारों में विचार करने के लिए एक अपनी विचारधारा है और समाज के ढाँचे के निर्धारण के लिए उसको भी ध्यान में रख कर और यदि और जिसे मात्रा में वह ठीक लगे उस मात्रा में उसे लागू करना आवश्यक है।

त्रुटियाँ—भारतीय राजनीतिक विचारधारा की विशेषताओं का अध्ययन करने पर उसकी सीमायें भी स्पष्ट हो जाती हैं। प्रथमतः जैसा कहा गया भारतीय राजनैतिक विचारधारा में साधारणतया विभिन्न विचारों का खंडन-मंडन नहीं पाया जाता है और विभिन्न प्रतियोगी विचारों का विवेचन नहीं है। इस कारण यह कहा जा सकता है भारतीय राजनीतिक विचार एक व्यापक रूप प्रस्तुत नहीं करते हैं और उनमें एक नीरस एकरूपता दिखायी देती है। इसका कारण पीछे बताया गया है कि भारतीय विचारधारा विभिन्न परस्पर विरोधी विचारों का यथा राजतंत्र और जनतंत्र का, स्वतंत्रता और संप्रभुता का समन्वय प्रस्तुत करती है, और व्यापकता के अभाव के रूप में जो कमी दिखाई देती हो, वह इस समन्वयवादिता से बहुत-कुछ पूरी कर दी जाती है। दूसरी कमी यह कही जा सकती है कि भारतीय राजनीतिक विचार साधारणतया राजतंत्र का ही विचार है और अन्य राजनीतिक पद्धतियों का विश्लेषण कम है। तीसरे, भारतीय राजनैतिक विचार धार्मिक वातावरण से प्रभावित है और कहा जा सकता है कि उनमें लौकिकता कम है तथा उनका धार्मिक विचारों से एक स्वतंत्र रूप नहीं है। इन सीमाओं के होते हुए भी जैसा कहा गया इसके अध्ययन की अपनी उपयोगिता है और उसे दुर्लक्ष्य करना कठिन होगा।

५. राजनीतिशास्त्र की आवश्यकता और महत्व

जैसा पीछे बताया गया नीति शास्त्र का (अर्थात अर्थशास्त्र अथवा दण्डनीति) निर्माण इसलिये हुआ और इसे महत्वपूर्ण भी इस कारण समझा गया कि इसके द्वारा शासनकर्त्ता वर्ग को उसके कर्त्तव्य का ज्ञान हो जाय, वह अपने पथ से भ्रष्ट न हो तथा वह अपना कार्य योग्यतापूर्वक, सफलता पूर्वक, और सुविधा पूर्वक अर्थात सुचारू रीति से सम्पन्न कर सके जिससे कि समाज का तथा समाज-व्यवस्था का ठीक प्रकार से रक्षण हो सके। यही नीतिशास्त्र की उपयोगिता है। इसलिये शान्ति-पर्व में जहां सर्व प्रथम राज्य के निर्माण की कथा वर्णित है वहां बताया गया है कि 'राज्य' और 'राजा' के निर्माण होने के पूर्व ब्रह्मा जी ने नीतिशास्त्र की आवश्यकता समझकर उसकी रचना की[१७] जिससे राजाओं के मार्गदर्शन के लिये यह सर्वदा प्रस्तुत रहे और कहा कि "दण्ड के अतिरिक्त यह शास्त्र भी संसार के लिये कल्याण-कारी है क्योंकि यह (दुष्टों के) नियमन और (सज्जनों के) पोषण के द्वारा संसार

---

१७. शुक्र १।१५३, कामन्दक २।७, कौटिल्य १।२।११.

को ठीक मार्ग पर लगायेगा।"[१८] नीतिशास्त्र की राजा के लिये आवश्यकता शुक्रनीति में बहुत भावपूर्ण ढंग से व्यक्त की गई है जहाँ यह बताया है कि नीतिशास्त्र का ज्ञान रखने के ही कारण राज्यकर्त्ता गण अपना कार्य सुचारु रीति से कर पाते हैं, इसी के अध्ययन से वह शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, इसी के आधार पर वह अपनी मर्यादा में रहकर अत्याचार नहीं करते तथा इसी के द्वारा उन्हें यश और उन्नति प्राप्त होती है।[१९] "प्रजाओं का पालन और दुष्टों का नाश ये राजा का परम धर्म है और ये दोनों नीति के बिना नहीं हो सकते। अनीति राजा का एक महान् छिद्र है जो नित्य भय प्रद है, और जिसे जल को कम करने वाला तथा शत्रु का संवर्धन करने वाला कहा गया है। नीति को त्याग कर जो राजा स्वतंत्र (मर्यादा रहित होकर) व्यवहार करता है वह दुख का भागी होता है तथा ऐसे स्वतंत्र स्वामी (राजा) की सेवा तलवार की धार में मुँह देने के समान है। नीतिमान राजा ठीक से सेवा करने के योग्य है परन्तु अनीतिमान की सेवा करना बहुत कठिन है। जहाँ नीति और बल दोनों होते हैं वहाँ सर्वतोमुखी श्री होती है। जिससे कि बिना प्रेरणा दिये ही सम्पूर्ण राष्ट्र हितकारी हो जाय, इसलिये राजा अपने ही हित के लिये नीति का धारण करे। प्रजा, सेना, मित्र, अमात्य इत्यादि में भेद सदा ही अनीतिमान राजाओं की अकुशलता के कारण होता है।"[२०] इसी प्रकार राजधर्म के अथवा दण्ड नीति के अथवा अर्थशास्त्र के अनुसार काम करने की तथा उसके अध्ययन की राजा के लिये उपयोगिता बताई गई है। नीतिशास्त्र का इसी प्रकार से उपयोग बताने के लिए जहाँ-जहाँ चारों विद्याओं का वर्णन किया गया है वहीं यह कहा गया है कि दण्ड नीति में 'नय' और 'अनय' स्थित है अर्थात दण्डनीति का ज्ञान होने से व्यक्ति न्यायपूर्ण और नीतिपूर्ण काम करना सीखता है तथा यह ज्ञान प्राप्त करता है कि क्या नीति है और क्या अनीति है।[२१] नीतिशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता समझकर राजा की शिक्षा के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया गया है।[२२] तथा राजा के गुणों में भी उसे अर्थशास्त्र का ज्ञाता होना आवश्यक बताया है और उसके अनुसार व्यवहार करना भी।[२३] केवल राजा ही नहीं, अपितु पुरोहित के

---

१८. कौटिल्य १।१७।३५, १।४।१४, मनु ७।४३, अग्नि पुराण २३८।६, शुक्र १।१५१.

१९. याज्ञ १।३११ शान्ति पर्व ११८।२२, कौटिल्य १।१६।४०, कामन्दक २।६, ४।१५, ५।४, शुक्र १।१५०.

२०. पुरोहित नीतिशास्त्रज्ञ हो— विष्णु धर्मसूत्र ३।७०, याज्ञ १।३१३, कौटिल्य १।६।१५, शुक्र १।७६, कामन्दक ४।३२, अग्नि पुराण २३६।१६, शान्ति पर्व ७३।१.
मंत्री नीतिशास्त्रज्ञ हो—अग्नि पुराण २३६।७, १२, कामन्दक ४।२५, मनु ७।६०, शान्ति पर्व ११८।१०.

२१. १।४।४–५ देखिये कौटिल्य १।२।६–७; १।४।७; कामन्दक २।५,४४; शुक्र १।१५६;

२२. शुक १।२-३; कामसूत्र १।५-८; शान्ति पर्व ५६।३०,७६.

२३. शान्ति पर्व १२१।२४.

लिये भी जो राजा को उनके कार्य के लिये यथायोग्य उपदेश देता है तथा मंत्री के लिये भी दण्डनीति का अर्थात नीतिशास्त्र का ज्ञान आवश्यक बताया है।[२४] दण्ड नीति का और अधिक महत्व बताने के लिये उसका चारों विद्याओं में विशेष स्थान प्रदर्शित किया गया है तथा कौटिल्य कहता है कि "आन्वीक्षिकी (दर्शन), त्रयी (धर्म) तथा वार्ता (कृषि, वाणिज्य, पशु पालन) का योग क्षेत्र सिद्ध करने वाला दण्ड है और उसकी नीति दण्डनीति है।"[२५] अर्थात दण्ड नीति के ही आधार पर यह सब अन्य विद्यायें टिकी रह सकती हैं अन्यथा उन विद्याओं का कोई लाभ नहीं है क्योंकि फिर उनके अनुसार व्यवहार नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं इस विद्या का महत्व प्रदर्शित करने के लिये यह तो कहा ही गया कि इसका प्रारम्भ ब्रह्मा ने किया[२६], परन्तु इसके साथ यह भी बताया गया कि "जो ब्रह्मकन्या लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती के नाम से जानी जाती है तथा जो जगत का धारण करने वाली है वही दण्ड नीति है।[२७] इस प्रकार दण्डनीति को देवी का स्वरूप देकर उसे जगतमाता देवियों के समकक्ष रखा है। यह भी कहा गया है कि भगवान विष्णु द्वारा दण्ड के उत्पन्न होने पर नीति की देवी सरस्वती ने इस दण्ड नीति की रचना की जो तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गई।[२८] इस प्रकार सभी विद्याओं के आदि स्रोत ब्रह्मा तथा सरस्वती, दोनों से ही दण्डनीति की उत्पत्ति मानकर इसे संसार के लिये सदैव के लिये आवश्यक माना गया।

अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का संबंध—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दृष्टि में 'अर्थ' का अथवा 'दण्डनीति' का कितना महत्व है क्योंकि इसी के अनुसार चल कर राज्यकर्त्ता वर्ग समाज के अन्दर सुस्थिति निर्माण करने में तथा समाज की सुव्यवस्था करने में समर्थ हो सकता है, परन्तु फिर भी यह आवश्यक है कि राजनीति के नियम समाज-जीवन के समग्र नियमों के आधीन और उनके अनुसार हों। राजनीति को इतना अधिक महत्व नहीं देना चाहिये कि समाज के सम्पूर्ण जीवन के नियम (धर्म शास्त्रों के नियम) राजनीति के आधीन हो जांय। दूसरे शब्दों में धर्म के नियम धर्मशास्त्र अर्थात अर्थशास्त्र के अनुसार नहीं चलने चाहियें अपितु अर्थशास्त्र (राजनीति) के नियम धर्म शास्त्रों के अनुसार बनाये जाने आवश्यक हैं तथा यदि कहीं धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में संघर्ष हो तो वहां धर्मशास्त्र का नियम अधिक श्रेष्ठ माना जाना चाहिये। इस बात को याज्ञवल्क्य ने सूत्र रूप में कह दिया है कि 'अर्थशास्त्र से धर्मशास्त्र बलवान है।[२९] इसी बात को मनु ने

२४. शान्ति पर्व १२२।२५.
२५. २।२१; देखिये आपस्तम्ब १।८।२४।२३; अग्निपुराण २५३।५०.
२६. १२।१००.
२७. ४।२६६-६७.
२८. ४।७८५; देखिये शान्ति पर्व (६१, ५२, ६२।७); शुक्र ३।२-३; कामन्दक १।१५.
२९. ३।१।५६.

विस्तार के साथ कहा है कि "सेनापत्य (सेनापति का कार्य), राज्य, दण्डनेतृत्व (दण्ड का प्रयोग), और सभी लोकपर आधिपत्य यह सब वेद शास्त्र के अनुसार होना चाहिए।"[३०] परन्तु इस बात को केवल यह धर्म ग्रन्थ ही नहीं कहते हैं अपितु शुक्र-नीति में भी कहा गया है कि जिसमें राजा के कार्य के नियम श्रुति और स्मृति के अविरोधी हों वही अर्थशास्त्र है।[३१] तथा राज्य को आदेश दिया है कि वह धर्म-शास्त्र के अविरोध से नीतिशास्त्र का विचार करे।[३२] कौटिल्य ने भी यही कहा है कि व्यवहारिक शास्त्र तथा धर्मशास्त्र में जहाँ अर्थ में परस्पर विरोध हो वहां धर्मशास्त्र के अनुसार अर्थ लगाने चाहिये।[३३] यह अवश्य है कि कौटिल्य ने एक स्थान पर अपना एक यह भी मत व्यक्त किया है कि "कौटिल्य के अनुसार अर्थ प्रधान है तथा धर्म और काम दोनों का मूल अर्थ है।" परन्तु कौटिल्य का यह कथन धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के नियमों के परस्पर विरोध को निबटाने के लिये मार्गदर्शक के रूप में नहीं कहा गया है और न इस वाक्य के द्वारा कौटिल्य ने धर्म और अर्थ के पुरुषार्थों की तुलना ही की है परन्तु इस नियम के द्वारा कौटिल्य ने केवल इतना बताया है कि अपने व्यवहार में राजा को तीनों पुरुषार्थों अर्थात त्रिवर्ग में से किसे महत्व देना चाहिये अर्थात यह नियम केवल राजा अर्थात राज्य कर्त्ताओं के लिये और उनके भी केवल निजी व्यवहार के लिये हैं क्योंकि यदि राजा अपने मूल कार्य को छोड़कर अन्य बातों पर प्रमुख ध्यान लेने लगेगा तो फिर वह स्वयं तो नष्ट होगा ही परन्तु साथ ही समाज को भी नष्ट करेगा। जिस अध्याय में कौटिल्य के ये सूत्र हैं उस अध्याय का नाम ही है 'राजर्षिवृत्तम्' अर्थात 'राजर्षि का व्यवहार' तथा

---

३०. १।७।१०-११. पूर्ण

३१. कौ० २।१।८; २।१।३०-३१;२।२७।३८:२।२८।२४;३।२।१-१३;३।७; ३।७;३।११ २५, २८; ३।१६।२७-२८; ३।१६।२९; ३।११।१-५; ३।१४।४७; ३।१५।१८-२०; ३।१६।९-१०; ३।१ ६।४२; ३।१९।१३;३।२०।१८; ३।२०।२२;४।७।२८-३०;४।७। ३१; ४।८।३२-३८; ४।१२।११। १३; ४।१३।४५-५५;२।१।३३-३७;२।१।३८-३९
शुक्र १।३६-४६; ४।९३-१०५, २५७-५९;८००३।२८,३२, ३९-४०, ५०, ५२, ५३, ५६, ६१, ६५, ९५-९६, १०७-९, १११, ११७-२१, १२४, १३१, १३४, १३९, १५०-५१, १६५-७०, १९९-२०६, २१३, २२८, २६५, २६७-७०, १७-२०।
कामन्दक १।२७-३५, ४०-४७; ३।९-१३
इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण वर्णाश्रम धर्म को तथा धर्मशास्त्रों में दिये गये राज्य संबंधी सिद्धान्तों को अर्थशास्त्र के ग्रन्थों ने मान्य किया है जिसका बाद में उल्लेख किया गया है।

३२. देखिये मनुस्मृति ७।११५; २।१।४ कौटिल्य।

३३. राजा—शान्ति पर्व—११८।२२; मनु ७।२६: कामन्दक १।२१, गौतम ११।२.
पुरोहित—अग्नि—२३९।१६; कौटिल्य १।९।१५; शुक्र १।७७; आपस्तम्ब २।५।१० १४—१७: कामन्दक ४।३२.
मंत्री—कामन्दक—४।२५; कौटिल्य १।१५।६६; अग्नि पुराण २३९।११; मनु ७।५४; शांति पर्व ११८।७.

पूर्व संदर्भ से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। तीनों पुरुषार्थों की तुलना करते हुए कौटिल्य कहता है "धर्म, अर्थ के अविरोध से काम का सेवन करे परन्तु सुख विहीन न रहे अथवा त्रिवर्ग को एक दूसरे के साथ बांधकर सम रीति से सेवन करे। धर्म, अर्थ, काम में से एक भी, अतिसेवन करने से, स्वयं को तथा अन्य को पीडा देता है। अर्थ ही प्रधान है ऐसा कौटिल्य का मत है तथा धर्म और काम का मूल अर्थ है।"[३४] इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यह सब कथन राजा के व्यवहार के लिये है परन्तु अन्तिम सूत्र से राजा के व्यवहार में अर्थ का महत्व भी स्पष्ट हो जाता है कि राजा द्वारा 'अर्थ' का ध्यान रखने से ही 'धर्म' और 'काम' का भी सेवन हो सकता है परन्तु यदि राजा को अर्थ का ध्यान न रहा तो न तो 'धर्म' का ही पालन संभव होगा और न 'काम' का उपभोग। अतः यही सर्व सम्मत से मान्य है कि 'अर्थ' के नियम 'धर्म' के नियमों के अनुकूल होने चाहियें। यह केवल सिद्धान्त में ही नहीं कहा गया अपितु व्यवहार में भी यही बात दिखाई देती है। अर्थशास्त्र के ग्रन्थ धर्मशास्त्र के सभी नियमों को मानकर चलते हैं[३५] और उन्हीं नियमों को राज्य-व्यवस्था का आधार मानकर तत्पश्चात् फिर राज्य-सम्बन्धी अन्य नियमों का विस्तार से वर्णन करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में, शुक्र नीति में तथा कामन्दकीय नीतिसार में स्मृतियों द्वारा वर्णित वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्ण विवरण दिया हुआ है। कौटिल्य ने तथा कामन्दक ने सभी वर्णों और आश्रमों के धर्मों का तथा साधारण धर्म का संक्षेप में वर्णन कर फिर वर्ण संकरता की निन्दा करते हुए कहा है कि इसी वर्णाश्रम की स्थापना होनी चाहिये तथा राज्य इसमें सहायक होना चाहिये। शुक्रनीति ने तो इससे भी आगे बढ़कर स्त्री धर्म का तथा वर्ण संकरों का भी संक्षेप में वर्णन किया है। परन्तु केवल इतना ही नहीं राजधर्म के भी जो नियम स्मृतियों में दिये हैं वे वैसे के वैसे ही अर्थशास्त्रों ने मान्य किए हैं। उदाहरण के लिये मनुस्मृति में वर्णित क्रमशः राज्य की आवश्यकता, राजा के अन्दर देवताओं के गुण, राज्य की आज्ञा के पालन की आवश्यकता, दण्ड का महत्व, दण्ड का समुचित प्रयोग, राजा के गुण, मंत्रियों की आवश्यकता, संख्या तथा गुण, राजा का दैनिक कार्यक्रम, मंत्रणा के नियम, दूत के कार्य और गुण, अच्छे राष्ट्र का वर्णन, दुर्ग-वर्णन, ब्राह्मणों का महत्व और उनको दान, युद्ध करने का राजा का कर्त्तव्य, युद्ध के नियम, राजा के चार कार्य, शत्रु के साथ व्यवहार का ढंग, साम आदि चार उपायों का प्रयोग, स्थानीय शासन व्यवस्था (नगरों तथा ग्रामों की), सेवकों से प्रजा की रक्षा, राजकर्मचारियों सम्बन्धी नियम, कर के नियम, प्रजा पालन का कर्त्तव्य, बारह राजाओं के मण्डल का वर्णन, षड्गुणों का प्रयोग (सन्धि विग्रह आदि), आक्रमण की पद्धति, विजय पाने का ढंग, विजित राजा और देश के साथ

३४. मनु ७।४३; यज्ञ १।३११; अग्नि २३८।८; शान्ति ५८।३३; कामन्दक २।२; शुक्र १।१५२; कौ० १।२।१,८.

३५. १।३।१२.

व्यवहार, राजा द्वारा आत्मरक्षा, आदि सभी बातें लगभग उसी प्रकार से अर्थ ग्रन्थों में वरिणत हैं, जिसकी यहाँ पूर्ण रीति से तुलना करना सम्भव नहीं है (आगे के वर्णन में यह यथास्थान सिद्ध हो जायगा)। यदि कहीं कुछ भेद भी होंगे तो वह विस्तार के और बहुत ऊपरी हैं।[३६] उदाहरण के लिये मनुस्मृति में स्थानीय व्यवस्था में तो एक गाँव, दस गांव, बीस गाँव, सौ गांव और सहस्त्र गाँवों के अधिपति नियुक्त करने का उल्लेख किया है, परन्तु कौटिल्य का कहना है कि दस गाँवों के बीच में एक संग्रहण (बाजार), दो सौ गाँवों के बीच में एक खार्वटिक (कस्बा), चार सौ गाँवों के बीच में एक द्रोणमुख (नगर) तथा आठ सौ गाँवों के बीच में एक स्थानीय की स्थापना होनी चाहिये जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः कौटिल्य स्थानीय प्रशासन को इस आधार पर बांटना चाहता होगा. परन्तु स्पष्ट है कि यह भेद सैद्धान्तिक नहीं है अपितु विस्तार का भेद है। राज्य-व्यवस्था में भी धर्मशास्त्रों के अनुसार चलने की आवश्यकता को भारतीय समाज-निर्माताओं ने कितना महत्वपूर्ण समझा। यह इससे भी समझा जा सकता है कि उन्होंने इस बात का आग्रह किया है कि ऐसी राज्य-व्यवस्था को चलाने वाले व्यक्ति अर्थात् राजा, पुरोहित तथा मन्त्री ये सब धर्म के ज्ञाता अथवा श्रुतिवान होने चाहियें।[३७] इसके अतिरिक्त राजा को जहाँ चार विद्याओं के अभ्यास का वर्णन किया गया है[३८] उनमें से दो विद्या तो भौतिक हैं—दण्डनीति और वार्ता परन्तु शेष दो विद्याओं में से विद्या 'त्रयी' एक धर्म से तथा दूसरी विद्या 'आन्वीक्षिकी' मोक्ष से सम्बन्धित है जिसमें आन्वीक्षिकी की व्याख्या करते हुए कौटिल्य कहता है[३९] कि "यह सनातन आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं को दीपक (प्रकाशक), सभी कर्मों में मार्गदर्शक तथा सभी धर्मों का आश्रय है। इसके अतिरिक्त त्रयी की स्थापना का आग्रह करने के पश्चात् उसके विषय में कौटिल्य कहता है कि त्रयी के द्वारा रक्षित संसार सुखी होता है, दुखी नहीं होता।" राजा के दैनिक कार्य में भी[४०] धर्मशास्त्रों और पुराणों का अध्ययन बताया गया है। यह सब भी यही सिद्ध करता है कि अर्थशास्त्र द्वारा संचालित राज्य के नियम धर्मशास्त्रों से प्रभावित होना आवश्यक माना गया।

राजनीतिशास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों का सम्बन्ध—धर्मशास्त्र (समाजशास्त्र और कानून) से तो नीतिशास्त्र का सम्बन्ध ऊपर बताया ही गया है परन्तु जीवन के अन्य अंगों को वरिणत करने वाले सभी शास्त्रों से भी नीतिशास्त्र का बहुत सम्बन्ध था। इसमें यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय विचार में

---

३६. कौटिल्य १।१९।१३,२४, शुक्र १।२७८, अग्नि पुराण २३५।१६.
३७. देखिये पदपाठ ४३, शुक्र १।५७; कामन्दक २।७,११.
३८. कौटिल्य १।१।४।१-३; काम २।१४; शुक्र १।५५.
३९. देखिये कौटिल्य अधिकरण २, ३, तथा पीछे अध्याय ६.
४०. काम १।५४, ५६-५८; ७।५१-५४, १४।४६-५२, ६२-६३; शुक्र १।१०९-१९, १४४-४६; कौटिल्य—१।६.

विभिन्न शास्त्रों का संबन्ध केवल वाह्य और ऊपरी नहीं है परन्तु यह शास्त्र एक दूसरे से अत्यन्त गुंथे हुए है। भारतीय दार्शनिक विचारक जीवन की मूलभूत समस्या, (जीवन के लक्ष्य) से प्रारम्भ करते हैं और फिर रेखागणित के समान क्रमशः एक-एक पग बढ़ते हुए अपने मूल सिद्धान्तों के आधार पर जीवन के सभी अंगों का गुंथा हुआ वर्णन करते हैं। भारतीय विचार में विभिन्न शास्त्रों के सम्बन्ध में और पश्चिमी विचार के विभिन्न शास्त्रों के सम्बन्ध में यह बहुत बड़ा अन्तर है। पश्चिमी विचार में विभिन्न शास्त्रों के अपने पृथक्-पृथक् सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर वह उन पृथक्-पृथक् शास्त्रों का प्रतिपादन करते हैं। इन शास्त्रों का पारस्परिक सम्बन्ध वहां सिद्ध करना पड़ता है परन्तु भारतीय विचार में ऐसा सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है। इसीलिये हमें कई ग्रन्थों में विभिन्न विषयों का एक साथ समावेश मिलता है। यथा—अग्नि पुराण, नारद पुराण, महाभारत, वेद, (आदि)। फिर भी यदि इस प्रकार के सम्बन्धों का विश्लेषण करना ही हो तो हम देखेंगे कि चार विद्याओं में दण्डनीति के अतिरिक्त आन्वीक्षिकी (**दर्शनशास्त्र**) का भी दण्ड नीति से सम्बन्ध बताया गया है।[४१] वार्ता (**अर्थशास्त्र**) से भी दण्डनीति का बहुत सम्बन्ध था क्योंकि यह कहा गया है कि वार्ता के ही आधार पर राज्य का योगक्षेम निर्भर करता है।[४२] राजनीति के ग्रन्थों में अर्थ-व्यवस्था सम्बन्धी बहुत से नियम भी दिये हुए हैं।[४३] **इतिहास** और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध यदि हम देखें तो दिखाई देगा कि इतिहास की घटनाओं का भी नीतिग्रन्थों ने कई स्थानों पर उल्लेख किया है।[४४] तथा इतिहास पुराण ग्रन्थ अपनी कथाओं के माध्यम से राजनीति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं।[४५] उदाहरण के लिए राजा द्वारा धर्मपूर्ण शासन करने का तथा अत्याचार न करने का आग्रह राजा वेन की कथा द्वारा विविध पुराणों में वर्णित है। राजा वेन अत्याचारी था तथा उसने सब धर्म कार्य बन्द करने का आग्रह किया

---

४१. रामायण—अयोध्याकाण्ड १५, ६७, १००; युद्धकाण्ड १७-१८, ६३; अग्निपुराण २१८-२४२; गरुड़पुराण १०८-११५; मत्स्यपुराण २१५-२४३; मार्कण्डेयपुराण २४; महाभारत वनपर्व १५०; सभापर्व ५; उद्योग पर्व ३३-३४; शान्तिपर्व १ १७३; आश्रमवाटिकापर्व ५-७१ इसके अतिरिक्त विविध कथाओं के माध्यम से राजनीति के सिद्धान्त वर्णित है जैसे राज्य का स्वामी नियुक्त होने की स्थिति में प्रजा का मत जानना। शान्तनु के पुत्र प्रतीप और देवापि की कथा। मत्स्यपुराण ५० अध्याय। इसी प्रकार अयोध्याकाण्ड (३६) सगर के पुत्र असमञ्ज की कथा; वायुपुराण (९३) ययाति और पुरु की कथा; वामनपुराण (अध्याय १७) राजा वेन की कथा; राजा धर्मपूर्ण शासन करे और अत्याचार न करे, नारदपुराण (१५), राजा वगु की कथा, मत्स्य पुराण (४४) राजा सहस्त्रार्जुन की कथा।

४२. देखिये आगे पदपाठ (६६-६९, १७८-१८४.

४३. ७।३.

४४. १।६४-६६; देखियें कामन्दक १।९-१०.

४५. ६८।६-३७.

अकाल मरण हो, कोई ठीक से विद्याध्ययन
हो जायं, समाज नियमों का उल्लंघन करने
का विरोध करने वाले की प्रशंसा न हो, है
अन्याय के कारण हा हाकार मच जाय।"
रहता उस देश में खेतों में बीज नहीं बोये
पति के वश में नहीं रह सकती। राजहीन
न सत्य ही रह सकता है। अराजक देश में
राष्ट्र को उन्नतिशील बनाने वाले उत्सव
(व्यापार आदि) से जीविका चलाने वाले
घर का द्वार खुला छोड़कर सो नहीं सकते
वाले बेचने की वस्तुयें लेकर कुशलतापूर्वक
देते हुए कहा है कि जैसे पानी के बिना नद
बिना गौओं की ठीक अवस्था नहीं रहती
अवस्था में नहीं रहता। अराजक देश में मह
लगते हैं। शान्तिपर्व[49] में भी कुछ-कुछ ऐसी
न हो तो लोग वृद्ध माता-पिता, आचार्य आ
प्रकार का योनिदोष हीन रहे (अर्थात् स्त्री-
सीमा को पहुँच जाय), लोग विद्याध्ययन न
जायं, समाज नियमों का उल्लंघन करने

४९. शान्तिपर्व—६६।२७.

जा करनी चाहिए तथा यदि कोई बलवान
वश में कर ले तो उसकी भी पूजा करनी
पाप नहीं है।" अराजकता के कारण
में भी कथाओं के द्वारा बताया गया है।
गा अध्यारण ने अपने पुत्र सत्यव्रत को
ल दिया। जब राजा (वानप्रस्थी हो) वन
और उपाध्यायों सहित राज्य की रक्षा की
था कि "इधर इन्द्र ने बारह वर्षों तक
वृष्टि नहीं की है तथा लोगों की जीविका
त्यव्रत को बुलाकर राजा बनाया। राजा
हुई उसको दूर करने के लिये पृथु को राजा
इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अराजकता
ज्य का महत्व और उसकी आवश्यकता

स्थिति का विश्लेषण मात्र, मनुष्य को
क अवस्था के उपरोक्त तथा ऐसे ही
अनेक वर्णन दिये गये हैं) यह अनुमान

मनु ७।२०-२५: मत्स्य २२५।४-१७: कौटिल्य
। २२६।१४-१६.

लगाना गलत है कि भारतीय समाज-शास्त्रियों ने अथवा राजनीति-शास्त्रियों ने मनुष्य के स्वभाव को निम्न समझा था। यह तो उन्होंने वास्तविक स्थिति का आंकलन मात्र किया कि यदि सब स्थिति को ऊपर से ठीक रखने वाला, बुराइयों को दूर करने वाला शासक न रहा तो समाज की स्थिति सब प्रकार से बिगड़ेगी ही, अर्थात् जैसा कि ऊपर बताया गया है, ऐसी अवस्था में दूषित प्रवृत्तियों के लोग दमन न हो सकने के कारण धीरे-धीरे अधिकाधिक अमर्यादित होते जायेंगे तथा अपनी दुष्प्रवृत्तियों की तथा स्वार्थपूर्ण और निम्न इच्छाओं की पूर्ति के लिये सब प्रकार के साधनों का प्रयोग कर, यहाँ तक कि अन्य लोगों को आतंकित कर तथा उनको वश में कर, वह सम्पूर्ण समाज पर हावी हो जायेंगे तथा वे सद्प्रवृत्ति के लोगों को, जो स्वयं सन्मार्ग में लगे हैं तथा जो ऐसे लोगों के कृत्यों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते अथवा जिन सद्प्रवृत्ति के लोगों के कारण इन लोगों के मार्ग में बाधा पड़ती है क्योंकि वे उनके कुचक्रों को रोकने का अथवा समाज को सुधारने का प्रयत्न करते हैं अथवा उनके स्वार्थ साधन में बलि नहीं होना चाहते, नष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।[५३] अतः समाज में, दुर्गुणों को रोकने वाली शक्तिमान संस्था न रही तो फिर समाज में अत्याचार का अतः अन्याय का बोलबाला हो जायगा और समाज की जो सुव्यवस्था है अर्थात् धर्म है उसका भी पालन नहीं होगा। ऐसी स्थिति में क्योंकि सद्प्रवृत्तियों के लोगों का धीरे-धीरे नाश होगा तथा उनका समाज में कोई महत्व, सम्मान, स्थान और स्तर भी नहीं रहेगा, इस कारण और क्योंकि यह दुष्प्रवृत्ति वाले लोग समाज को आतंकित कर उसमें शक्तिशाली रहेंगे तथा सब प्रकार के सुखों का उपभोग करेंगे इस कारण सर्वसाधारण समाज भी उन्हीं का अनुकरण करता हुआ पतन के मार्ग पर जायगा।[५४] इसी वास्तविक स्थिति का वर्णन राज्य-समस्या पर विचार करने वाले भारतीय विचारकों ने अराजक अवस्था के रूप में किया था, परन्तु इस वर्णन के पीछे उनका यह भाव नहीं था कि वह मनुष्य को हीन प्रवृत्ति का समझते थे। इसी कारण जहाँ-जहाँ दण्ड का वर्णन आया है वहाँ भी दण्ड की प्रशंसा करते हुए जब यह कहा है कि "यह जगत स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत है तथा एक-दूसरे को स्त्री, धन का लोभी है और सज्जनों द्वारा सेवित सनातन मार्ग में दण्ड के भय से ही स्थिर रहता है क्योंकि इस परवश (इन्द्रियासक्त) जगत में संयमित रूप से विषयों का सेवन करने वाला गर्भ दुर्लभ है अतः दण्ड योग से ही यह स्थिति निर्माण होती है।"[५५] तब इस उक्ति के पीछे यह भावना नहीं है कि बिना शक्ति से वश में किये लोग धर्म का पालन करते ही नहीं। इसके विपरीत भारतीय समाज-निर्माताओं का तो यही प्रयत्न दिखाई देता

---

५३. १।१२.

५४. ४।३४३.

५५. शान्तिपर्व ५६।१२-२२,

है कि लोग स्वेच्छा से ही धर्म का पालन करें। इसी कारण उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति और गुण के आधार पर ही उसके कर्त्तव्य निर्धारित किये थे जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करने में समर्थ हो सके तथा उन्होंने व्यक्ति के लिये दण्ड की व्यवस्था तभी की थी जबकि वह पाप करके भी स्वेच्छा से उसके लिये प्रायश्चित करने को तैयार न हो।[५६] अतः दण्ड का यह उपयोग बताने के पीछे कि मनुष्य दण्ड के भय से ही धर्म पर आरूढ़ रहते हैं, यही भावना थी कि राज्य का नियंत्रण न रहने पर समाज के अन्दर जो भी थोड़े बहुत दुष्ट अथवा अधर्मी हैं उन पर कोई नियंत्रण नहीं लग पायेगा और फलस्वरूप उनकी वृद्धि और आतंक के कारण सम्पूर्ण समाज भी धीरे-धीरे उन्हीं के मार्ग पर पतन की ओर बढ़ता जावेगा तथा ऐसी अवस्था में आन्तरिक भावना के ही आधार पर सन्मार्ग पर टिकने वाला व्यक्ति दुर्लभता से ही मिलता है। इस बात को उक्त ग्रन्थ में ही (कामन्दकीय नीतिसार में) स्पष्ट किया है कि राजा का रक्षण प्राप्त न हो तो सज्जन भी असज्जन हो जाते हैं।[५७] शुक्र नीति में भी इसी की अधिक व्याख्या कर कहा है कि यदि लोगों को दण्ड और शिक्षा न मिले तो कुल भी अकुलीन हो जाते हैं (समाज के अच्छे लोग भी दूषित हो जाते हैं) तथा बुरे कुल वालों को कुलीनता प्राप्त हो जाती है (अर्थात् बुरे व्यक्ति श्रेष्ठ गिने जाने लगते हैं)।[५८] अतः भारतीय विचारकों ने केवल वास्तविक स्थिति का विश्लेषण कर, कि बिना किसी बाह्य अनुशासन के समाज का अपनी उचित और धर्मपूर्ण अवस्था का रखना बहुत कठिन है, लगभग असंभव सा ही है, मनुष्य को उन्नत होने में सहायक समझकर, तथा मनुष्य को उन्नत करने वाली समाज-व्यवस्था की स्थापना में तथा उसके रक्षण में लाभप्रद समझकर राज्य-व्यवस्था का महत्व बताया और उसकी आवश्यकता वर्णित की।

अराजकता की श्रेष्ठ स्थिति—इतना ही नहीं राज्य-उत्पत्ति की जो वर्णित घटना है उसमें ऐसी भी अवस्था का वर्णन किया गया है कि जब न राज्य था, न राजा था, न दण्ड था, न दण्ड देने वाला था तथा सम्पूर्ण प्रजा केवल धर्म से ही परस्पर एक दूसरे की रक्षा करती थी। यह अवस्था सतयुग की बताई गई है। तत्पश्चात् किसी मोह का (स्वार्थ का) उदय होने से ज्ञान का नाश हुआ और मोह उत्पन्न होने से तथा ज्ञान का नाश होने से व्यक्तियों को लोभ सताने लगा जिसके कारण मनुष्यो में काम (वस्तुओं की इच्छा) की तथा तत्पश्चात् राग (वस्तुओं के प्रति प्रेम, अनुरक्ति) की उत्पत्ति हुई और इस प्रकार क्रमशः धर्म का

---

५६. ४।४३.

५६. शान्तिपर्व अध्याय ५९, ६७.

५७. १।१३।१-१२.

५८. ऐतरेय ब्राह्मण ४०।१, गौतम ८।१.

नाश हो गया।[५९] शुक्र नीति में भी कहा है कि सतयुग में दण्ड न था।[६०] अतः इतना निश्चित है कि भारतीय विचारकों ने यह माना है कि ऐसी भी अवस्था हो सकती है जब धर्म के ही अर्थात् केवल समाज की योग्य व्यवस्था के तथा मनुष्य के चरित्र और सद्भावना के आधार पर ही समाज की सुस्थिति रखी जा सकती है। इसे ही सर्व श्रेष्ठ स्थिति भी माना है। इसीलिये उन्होंने इसे सतयुग कहा परन्तु साथ-साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि धीरे-धीरे जब एक बार समाज में पतन प्रारम्भ हो जाता है तो वह बढ़ता ही जाता है। उस समय व्यवस्था बनाये रखने के लिए किसी शक्तिपूर्ण ऊपरी साधन की अर्थात् राज्य की आवश्यकता होती है। अतः जब तक समाज की वैसी श्रेष्ठ स्थिति न निर्माण हो कि सब लोग स्वतः ही धर्म का पालन करने लगें तथा चारित्रिक दृष्टि से सम्पूर्ण समाज का स्तर बहुत उन्नत हो जाय तब तक राज्य का रहना अनिवार्य है।

राजा के निर्माण की कथायें वास्तव में राज्य उत्पत्ति की कथायें हैं—राज्य की उत्पत्ति की दो कथायें विस्तार से महाभारत में दी हुई हैं,[६१] तथा अन्य भी कई ग्रन्थों में इसके वर्णन मिलते हैं। यद्यपि इन कथाओं में यह वर्णन है कि राजा की नियुक्ति की गई और इसलिए राजा की उत्पत्ति की कथायें हैं, परन्तु यह कथायें राजा की उत्पत्ति के अतिरिक्त राज्य-उत्पत्ति का ही मूल वर्णन करती हैं। भारतीय राजनैतिक विचारों में 'राजा' के ही नाम से सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया गया है क्योंकि भारतीय राजनैतिक पद्धति प्रमुख रीति से राजतंत्र की पद्धति है। इसलिए राजा की सर्वप्रथम नियुक्ति का वर्णन राज्य की उत्पत्ति का ही वर्णन है। भारतीय विचार में राजतंत्र को प्रमुखता देने के कारण यद्यपि सर्वत्र राजा शब्द का ही प्रयोग हुआ है तथापि राजा केवल एक व्यक्ति ही नहीं है, वह एक संस्था भी है और इसलिए अधिकांश स्थानों पर 'राजा' शब्द का प्रयोग 'राजा' के व्यक्तिगत रूप के लिए नहीं हुआ है अपितु राज्य अर्थात् 'राज संस्था' के लिए वह प्रयुक्त हुआ है। राजा की नियुक्ति के पूर्व की अराजक स्थिति के वर्णन में तथा राजा के होने पर समाज की स्थिति के चित्रण में यद्यपि 'राजा' शब्द का ही प्रयोग किया गया है परन्तु वास्तव में यह राज्य विहीन अथवा राज्य-पूर्ण स्थितियों के ही वर्णन हैं। इसलिए राजा की नियुक्ति की उन दोनों कथाओं को राज्य-उत्पत्ति की ही कथा मानना उचित है।

राजा की नियुक्ति तथा राज्य की उत्पत्ति के भारतीय वर्णनों में दैवी उत्पत्ति तथा सामाजिक समझौते के सिद्धान्तों का मेल है। श्रुति ग्रन्थों के वर्णन में यह दोनों प्रकार के वर्णन अलग-अलग मिलते हैं, यद्यपि स्पष्ट रूप से दोनों का उल्लेख है, बाद के ग्रन्थों में यह दोनों उल्लेख मिल गये हैं।

---

५९. गौतम ११।२८.

६०. मत्स्य २२५।१७; अग्नि २२६।१६; शान्ति पर्व १५।८; देखिये शुक्र ४।४०.

६१. प्रेत खण्ड ७।१९.

तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो कथायें हैं जिनमें प्रजापति द्वारा इन्द्र को राजा बनाने का तथा उसे अपना तेज प्रदान करने का अथवा उसे प्रविष्ट होने का वर्णन है जिससे इन्द्र सामर्थ्यवान हो गया। देवताओं ने उसे अपना अधिपति स्वीकार किया और वह राक्षसों को जीतने में समर्थ हो गया। जैमिनीय ब्राह्मण की एक कथा में इसी प्रकार वरुण के द्वारा प्रजापति की श्रेष्ठता प्राप्त होने पर वह देवताओं द्वारा राजा स्वीकार किया गया। इन तीनों कथाओं से यह भी स्पष्ट होता है कि देवताओं ने इन्द्र अथवा वरुण को राजा-स्वीकार किया। अर्थात् अस्पष्ट रूप में एक समझौता भी निहित है। इसके अतिरिक्त भी दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त के संकेत अन्यत्र भी मिलते हैं। श्रुति ग्रन्थों (संहिता तथा ब्राह्मणों) में राजसूय के अभिषेक के समय कुछ देवताओं को जिन्हें देवसू कहा गया है आहूति दी जाती है और ऐसा माना गया है कि उन्हीं से राजा को सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होता है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कवि देवताओं से प्रार्थना करता है कि वह राजा के प्रभुत्व को स्थायित्व प्रदान करें और विश (प्रजा अथवा वैश्य) को वाध्य करें कि वह राजा को बलि (कर) दें। एक अन्य सूक्त में राजा के श्रेष्ठत्व प्राप्त करने की तथा उसके प्रतियोगियों के समाप्त होने की सूचना है। इन दोनों सूक्तों में देवताओं से यह प्रार्थना है कि वे राजा का शासन ठीक से चलते रहने में सहायता करें। और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रीति से राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। ऐसे कई स्थान हैं जहाँ राजा में देवत्व का आरोपण किया है और यहाँ भी कुछ न कुछ मात्रा में राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त निहित है।

दूसरी ओर ऐसी भी कथायें हैं जिनमें देवताओं और असुरों के संघर्ष का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि असुरों मे एकता था (अथवा उनका एक राजा था) परन्तु देवता कई दलों में विभाजित थे अथवा उनका कोई राजा न था और इस कारण देवता पराजित होते थे अतः देवताओं ने अपने प्रियतनु (शरीर) को (अर्थात् अपने-अपने स्वार्थ अथवा अहं को) एक स्थान पर प्रतिस्थापित किया और उससे एक समझौता किया जिसे 'तानूनपात' कहा गया है। इस शक्तिशाली 'तानूनपात' को वरुण अथवा इन्द्र के पास प्रतिस्थापित किया गया। इसी सामाजिक समझौते के साथ-साथ अन्य कथाओं में एक समझौते द्वारा सोम अथवा इन्द्र को राजा बनाने की भी कथायें हैं। परन्तु राजा की दैवी उत्पत्ति के वर्णन को तथा समझौते के द्वारा राजा की नियुक्ति के वर्णन को पृथक नहीं किया जा सकता। एक ओर राज्य की दैवी उत्पत्ति की कथाओं में एक प्रकार से सामाजिक समझौता निहित है कि राजाओं ने इन्द्र अथवा वरुण की राजा की नियुक्ति करवायी अथवा उसे स्वीकार किया। दूसरी ओर समझौते द्वारा राजा की नियुक्ति की कथाओं में उन राजकीय यज्ञों का भी वर्णन है जिनमें राजा की नियुक्ति में देवताओं का हाथ बताया गया है।

राज्य की निर्मित अथवा राजा की नियुक्ति की यह आवश्यकता मात्स्यन्याय

के कारण होती है अर्थात् राज्य-विहीन अवस्था में व्यक्ति परस्पर संघर्ष करते हैं (और इस संघर्ष में लोगों का विभिन्न दलों में संगठित होना तथा गुटों के रूप में झगड़ना भी स्वाभाविक है) तथा छोटों को बड़े खा जाते हैं जैसे छोटी मछली को बड़ी मछली। किसी समाज में इसी मात्स्यन्याय के होने के कारण यह स्वाभाविक है कि उस समाज के ऊपर उसके शत्रु विजयी हो जायें। देवताओं द्वारा समझौते कराने की बहुत सी कथाओं में यही बताया गया है कि देवता परस्पर झगड़ते थे और उनके उन्हीं झगड़ों के कारण असुर उनके ऊपर विजय प्राप्त करते थे।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मात्स्यन्याय ही राज्य निर्मिति का कारण बताया गया है। मनुस्मृति ने तो इतना ही कहा है कि मात्स्यन्याय से प्रजा के पीड़ित होने पर आठ देवताओं के अंश से परमात्मा ने राजा की निर्मिति की। इसमें केवल दैवी उत्पत्ति का वर्णन है। यद्यपि मनुस्मृति में यह भी कई स्थानों पर बताया गया है कि राज्य प्रजा की स्वेच्छा पर ही टिका रह सकता है। कौटिल्य ने कुछ मात्रा में राज्य की उत्पत्ति का वर्णन किया हैं।

कौटिल्य ने राज्य उत्पत्ति का यह वर्णन दो गुप्तचरों के विवाद के रूप में किया है और उस विवाद का उद्देश्य प्रजा के मन में यह धारणा उत्पन्न करना है कि उन्हें राजा के आदेशों का मानना तथा कर देना उनका कर्त्तव्य है और यदि ऐसा न हुआ तो राजा को अपना कार्य संभव नहीं तथा ऐसा न करने वाले को राज्य के द्वारा दिया गया दंड भी भोगना पड़ेगा। यह अवश्य है कि इस वर्णन में राजा के उत्तरदायित्व का भी वर्णन है। कौटिल्य राज्य की उत्पत्ति का कारण मात्स्यन्याय बताता है और कहता है कि इसके कारण प्रजा ने मनु को राजा बनाया और उसे अपनी रक्षा के लिए खेती का छटा और व्यापार में लाभ तथा अर्जित सम्पत्ति का दसवाँ अंश देना स्वीकार किया। यहाँ तक कि तपस्वी भी इस प्रकार से रक्षित होकर अपने बीने हुए अन्न के दानों का छटा भाग राजा को देते हैं। दूसरी ओर राजा यह कर पाकर प्रजा का 'योगक्षेम' वहन करते हैं। जो व्यक्ति राजा को कर नहीं देते उन्हें राजा के पाप प्राप्त होते हैं अर्थात् यदि कर न देने के कारण राज्य के शासन में कोई त्रुटि रह जाती है तो उसका उत्तरदायित्व कर न देने वाले व्यक्ति पर है। इसके विपरीत यदि राजा प्रजा के योगक्षेम का साधन नहीं करते तो प्रजा के पाप उसे मिल जाते हैं अर्थात् यदि अपनी दुखावस्था के कारण प्रजा कोई पाप करती है तो उसका उत्तरदायित्व शासन कर्त्ताओं पर है। सबसे अन्त में कौटिल्य ने राजा को इन्द्र और यम के अंशों से युक्त बताकर कहा है कि जो उसकी अवमानना करता है उसको दैवी दंड भी प्राप्त होता है। यहाँ संक्षेप में कौटिल्य ने मनुस्मृति का राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख किया है।

राज्य-उत्पत्ति की कथाएँ—राज्य-उत्पत्ति की महाभारत की दोनों कथाओं में

यही कहा गया है कि राज्य के न होने पर दुरावस्था होती है तथा दोनों कथाओं में यह भी बताया गया है कि प्रजा ने 'धर्म' के अर्थात समाज-व्यवस्था के नियमों के आधार पर अपना जीवन चलाया, परन्तु तत्पश्चात समाज की स्थिति का ह्रास होने पर राज्य की आवश्यकता हुई और समाज तथा धर्म के रक्षण के लिये परमात्मा ने राजा की नियुक्ति की तथा राजा और प्रजा दोनों के पारस्परिक कर्त्तव्य और कार्य निश्चित हुए। प्रथम कथा में यह बताया गया है कि पहले धर्म से ही प्रजा शासित होती थी परन्तु धीरे-धीरे दुर्गणों का उदय होने के कारण धर्म का ह्रास हुआ। उस समय सब लोग ब्रह्मा जी की शरण में गये तथा ब्रह्मा जी ने नीतिशास्त्र के एक वृहत् ग्रन्थ की रचना की। फिर विष्णु ने विरजको उत्पन्न किया जिसका प्रपौत्र अनंग 'प्रजा की रक्षा करने वाला, सज्जन और दण्डनीति कुशल' था। इस अनंग का पौत्र वेन "राग और द्वेष के वशीभूत हो प्रजा को धर्म से च्युत करने लगा जिसके कारण ब्रह्मवादी ऋषियों ने उसे मंत्रपूत कुशाओं से मार डाला तथा उसके दाहिने हाथ को मथकर उसमें से इन्द्र के समान एक रूपवान पुरुष पृथु को उत्पन्न किया जो वेद, वेदाङ्गों में (धर्म में तथा अन्य विद्याओं में), धनुर्वेद में तथा दण्ड नीति में कुशल' था। उस पृथु ने ऋषियों से यह पूछा कि वह क्या काम करे? ऋषियों ने कहा कि वह स्वयं दुर्गुणों से रहित हो धर्म का रक्षण करे तथा अधर्मियों को दण्ड दे और यह प्रतिज्ञा करे कि वह दण्डनीति के अनुसार कार्य करेगा, इन्द्रियोंके वश में न होगा, जगत की संकरता से रक्षा करेगा तथा ब्राह्मणों को अदण्ड्य समझेगा। पृथु ने इसको स्वीकार किया और फिर उसे राजा बनाया गया। पृथु ने फिर ऊँची नीची पृथ्वी को समतल किया, सब ओर से धन उत्पन्न किया, पृथ्वी से अन्न उगा, प्रत्येक को उसकी इच्छित वस्तु दी तथा धर्म की वृद्धि की। वह प्रजा का रञ्जन करने के कारण राजा कहलाया और ब्राह्मणों (समाज-व्यवस्था के सज्जनों) की क्षतों से (पीड़ा से) रक्षा के कारण 'क्षत्रिय' कहलाया। उसने भूमि का पालन किया, इसलिये भूमि को पृथ्वी कहा गया। पृथु की चिन्ता करने के कारण उसके राज्य में न बुढ़ापा था, न दुर्भिक्ष था, न आधि-व्याधि थीं। सर्प का, चोरों का तथा परस्पर एक दूसरे का भय न था। उस समय विष्णु के ललाट में से उत्पन्न कमल में श्री (लक्ष्मी) उत्पन्न हुई तथा श्री में से 'अर्थ' उत्पन्न हुआ तथा उसी समय से राज्य में धर्म, अर्थ तथा श्री उपस्थित रहती हैं। दूसरी कथा जिसमें स्वायंभुव मनु के प्रथम राजा होने का वर्णन है इस कथा से भिन्न है परन्तु समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली है। इस कथा में यह बताया है कि एक समय अराजक अवस्था में जब प्रजा नष्ट होने लगी तो उन्होंने परस्पर मिलकर व्यवस्था रखने के लिये कुछ नियम बनाए। वह नियम जब भंग होने लगे तब प्रजा दुखातुर होकर ब्रह्मा जी के पास गई तथा ब्रह्मा जी से प्रार्थना की कि वह उन्हें राजा दें जिस राजा की प्रजा पूजा करेगी तथा जो राजा प्रजा का प्रतिपालन करेगा। ब्रह्मा जी ने मनु से राजा होने को कहा।

मनु ने जब ब्रह्मा जी के कहने से राजत्व स्वीकार नहीं किया तो प्रजा ने मनु से आग्रह करते हुए आश्वासन दिया कि प्रजा मनु को (राजा को) पशु और स्वर्ण का (व्यापार का) पचासवां तथा धान्य का दसवाँ भाग कोष वर्धन के लिये देगी। मनु प्रजा की रक्षा करेंगे तो प्रजा धर्माचरण करेगी और धर्म-आचरण का चतुर्थांश मनुको मिलेगा, परन्तु ऐसी स्थिति में (प्रजा की रक्षा करने पर) प्रजा का किया हुआ अधर्म का कोई अंश मनु को नहीं भोगना पड़ेगा। प्रजा मनु के पीछे इस प्रकार रहेगी जैसे इन्द्र के पीछे देवता। मनु ने तत्पश्चात 'राजा' पद स्वीकार कर पापियों का नाश किया तथा लोगों को धर्म में लगाया। उस समय दुष्ट लोग भी त्रस्त हो धर्म में मन लगाने लगे। इस दूसरी कथा का उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी है, जिसका पीछे वर्णन दे दिया गया है।

इन कथाओं द्वारा राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन— इन दोनों कथाओं का संदर्भ मात्र मनुस्मृति में मिलता है जिसका भी ऊपर उल्लेख किया गया है। महाभारत की उपरोक्त दोनों कथायें यद्यपि बिल्कुल भिन्न हैं परन्तु इनमें कुछ समान तथ्यों का प्रदर्शन किया गया है (जो इन कथाओं का वर्णन करते समय प्रारम्भ में दे दिये गए हैं)। भारतीय इतिहास की अनिश्चियात्मक स्थिति के कारण यह तो कहना कठिन है कि इन कथाओं में कोई ऐतिहासिक सत्यता है भी अथवा नहीं और यदि है भी तो किस मात्रा तक है, परन्तु प्रस्तावना में भारतीय इतिहास के स्वरूप का जो दिग्दर्शन किया गया है उसके अनुसार भारतीय इतिहास में प्रत्येक घटना का उल्लेख किसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर अर्थात कुछ सिद्धान्त (चाहे दर्शन के, चाहें धर्म अर्थात समाज व्यवस्था के, चाहे अन्य किसी विषय के) निष्पन्न करने के लिये किया गया है। तदनुसार यह कथायें भी राज्य-व्यवस्था के कुछ सिद्धान्तों को बताने के लिये हैं जिसमें राजा और प्रजा के कर्तव्य बताये गये हैं। यह सिद्धान्त यह है कि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा की तथा धर्म की रक्षा करे, दुष्ट व्यक्तियों को दण्ड दे, ब्राह्मणो (जिन्हे समाज-जीवन में आदर्श उपस्थित करने का तथा समाज-व्यवस्था के प्रतिपालन का काम सौंपा गया है) का आदर कर उनकी रक्षा करे, उनके कहने के अनुसार चले तथा प्रजा की भौतिक उन्नति की चिन्ता करे। यह भी राजा के लिये आवश्यक बताया गया है कि वह दण्डनीति के अनुसार चले तथा स्वयं दुर्गुणों से दूर रहे और निष्पक्ष व्यवहार करे इसके दूसरी ओर प्रजा का यह कर्त्तव्य बताया है कि वह राजा को कर दे जो राजा को रक्षा के बदले में दिया जायेगा तथा वह राजा की आज्ञा का पालन करे और उसका अपमान न करे। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि राजा, प्रजा की परस्पर अनुकूलता रहनी चाहिये और दोनों को एक दूसरे का ध्यान रखना चाहिये। इन कथाओं के द्वारा, जैसा पीछे बताया गया, राज्य

---

६२. मनु ७।१४,१८
गीता १०।३८;

की आवश्यकता और महत्व भी बताया गया है। इस प्रकार राज्य-उत्पत्ति की इन कथाओं के द्वारा राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी कुछ भारतीय सिद्धान्तों को स्पष्ट किया गया है—जो सिद्धान्त आगे राज्य-व्यवस्था के वर्णन में विस्तार के साथ बताये जायेंगे। यद्यपि इन कथाओं के अन्दर पश्चिमी विचारकों द्वारा कथित सामाजिक समझौते का सिद्धान्त अथवा राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अथवा राजा के दैवी अधिकारों का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न किया जा सकता है परन्तु क्योंकि दोनों विचारों (पाश्चात्य और भारतीय) की भावनाओं में अन्तर है अतः इस प्रकार की समता खोजने का प्रयत्न उचित नहीं होगा। यह तो अवश्य है कि इन कथाओं में यह वर्णन है कि ब्रह्मा ने अथवा विष्णु ने राजा की नियुक्ति की, परन्तु यह राज्य का अथवा राजा का महत्व बताने के लिये एक अलंकारिक वर्णन मात्र है। इसके कारण राजा को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गए हैं जिससे यह सिद्ध हो कि राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। यह भी अवश्य है कि इन कथाओं में राजा तथा प्रजा ने एक दूसरे को कुछ आश्वासन दिये परन्तु इसके द्वारा भी राज्यकर्त्ताओं और प्रजा की पारस्परिक अन्योन्याश्रयता तथा अनुकूलता ही सिद्ध की गई है। इसमें सामाजिक समझौते का सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाले पश्चिमी विचारकों के समान राजा अथवा प्रजा की श्रेष्ठता सिद्ध करने की भावना तथा प्रयत्न नहीं हैं। इन विभिन्न कथाओं में कहीं राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त तथा अन्य कहीं सामाजिक समझौते का सिद्धान्त ढूंढ़ कर इन कथाओं को परस्पर विरोधी समझना भी भूल होगी। अतः यह भारतीय विचार के द्वारा राज्य-जीवन के दो पक्षों का वर्णन मात्र है जिसमें एक पक्ष में प्रजा के राज्य के प्रति तथा दूसरे पक्ष में राज्य के प्रजा के प्रति कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। सबसे प्रमुख अन्तर यह है कि पश्चिमी विचारकों के समान यह कथायें कुछ राजनैतिक उद्देश्य सामने रखकर नहीं लिखीं गईं परन्तु राज्य-व्यवस्था के वर्णन में इनका प्रसंगानुसार तथा राज्य-व्यवस्था के सिद्धान्त दिग्दर्शित करने के लिये आवश्यकतानुसार वर्णन किया गया है। इस प्रकार पश्चिमी विचारकों से समता खोजने का अर्थ होगा भारतीय विचारकों की भावना को ही एक परिवर्तित तथा भ्रमपूर्ण रीति से देखना।

दण्ड का स्वरूप और प्रयोग

राज्य को शक्ति अर्थात 'दण्ड' की आवश्यकता—जब राज्य की आवश्यकता सिद्ध हो गई तो राज्य को अपना कार्य करने के लिये शक्ति की भी आवश्यकता है। समाज-व्यवस्था अर्थात धर्म के दो संरक्षक बताये गये हैं—एक वेदपाठी ब्राह्मण तथा दूसरा राजा। प्रथम[६३] तो अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा, अपना आदर्श समाज के मान उपस्थित कर, बाल्यकाल से ही लोगों को शिक्षा देकर उसके द्वारा तथा धर्म-नियमों के उपदेश आदि के द्वारा उनके (धर्म-नियमों के) पालन का योग्य वातावरण

६३. मनु-७।२६-२७; कामन्दक २।३६-४० कौटिल्य १।४।१०-१७; शुक्र ४।३९; शा:

बनाकर धर्म की स्थापना में तथा उसके रक्षरण में सहायक होते हैं। वह समाज में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं जिससे धर्म के प्रति धर्म पालन करने वालों, धर्म स्थापना के लिये प्रयत्न करने वालों तथा उसके लिये संघर्ष करने वालों के प्रति आदर और श्रद्धा की भावना उत्पन्न होती है और धर्म-नियमों का अर्थात समाज-व्यवस्था को भंग करने वालों अथवा समाज-जीवन के विरुद्ध कार्य करने वालों के विरुद्ध समाज में तीव्र निन्दा और भर्त्सना की भावना उत्पन्न होती है। परन्तु बहुत से ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने स्वार्थ के लिये समाज की भावना की चिन्ता न कर येन केन प्रकारेण अपना हित सिद्ध करने में तत्पर रहते हैं और इस प्रकार समाज-जीवन में तथा समाज-व्यवस्था के कार्यान्वित होने में गड़बड़ी उत्पन्न करते हैं। ऐसी ही लोगों से समाज-रक्षरण और धर्म रक्षरण के लिये राज्य की आवश्यकता हैं क्योंकि ऐसे व्यक्ति समझाने से या उपदेश देने से नहीं मानते। अतः उन्हें नियंत्रण में रखने के लिये प्रबल शक्ति की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त समाज का वाह्य आक्रमणों से भी संरक्षण आवश्यक है। वह काम भी केवल सद्भावना से अथवा सदुद्देश्यों से नहीं हो सकता। इसलिये इस प्रकार का वर्णन किया गया है कि 'राजा' की सहायता के लिये परमात्मा ने 'दण्ड' की सृष्टि की अथवा राजा इसकी ही सहायता से संसार को योग्य मार्ग पर टिकाए रखता है। इसलिये राजा को दण्डधर कहा गया है। दण्ड का उपयोग बताने के किये उसके अर्थ को भी स्पष्ट किया गया है कि यह 'दम' धातु से बना है जिसका अर्थ है नियन्त्रण करना अथवा नियन्त्रण में रखना। इसलिये। जो दुर्दमनीय हैं उनका दण्ड के द्वारा दमन किया जाय[६४]। इसकी परिभाषा भी की गई है कि "क्योंकि वह अदमनीयों का दमन करता है तथा दुष्टों को दण्ड देता है अतः दमन करने के कारण और दण्ड देने के कारण उसे 'दण्ड' कहते हैं।"[६५] यह भी कहा गया है कि यदि दण्ड न हो तो सम्पूर्ण संसार अपने अपने धर्म पर स्थिर न रहे तथा समाज नष्ट हो जाय। अतः राजा से यह आग्रह किया गया है कि वह दण्ड का सदैव प्रयोग करे तथा उसके बिना न रहे तथा दण्ड योग्य व्यक्तियों को दण्ड दे। गरुड़ पुराण में बभ्रुवाहन नामक एक राजा का प्रशंसा युक्त वर्णन किया गया है[६६] कि वह दण्डित होने योग्यों को दण्ड दिया करता था। दण्ड का महत्व बताने के लिये दण्ड को ब्रह्म तेज से परिपूर्ण तथा स्वयं भगवान का स्वरूप बताया है और क्योंकि उससे धर्म की धारण होती है तथा अधर्म का नाश होता है इसलिये दण्ड को धर्म का रूप भी बताया गया है[६७]। का स्वरूप भी महाभारत में तथा मनुस्मृनि आदि में ऐसा बताया गया है जिससे भी दण्ड का दमन करने वाला कार्य स्पष्ट होता है। मनु स्मृति में तो दण्ड

१२१।१४; अग्नि २४१।२३; शा: ६६।३०; याज्ञ वाल्वय-१।३५६-५७.

६४. शुक्र २।१६६-७०; कामन्दक २।३६; शुक्र १।४८; याज्ञ १।३५६; मनु ७।१६.

६५. अग्नि पुराण २२६।१४ मनु ७।२७; शुक्र ४।४६-५०; कामन्दक २।३६.

६६. शान्ति १४२।२८-२६:

६७. अग्नि २४१।३६-३८; कामन्दक ६।१५ कौटिल्य.

को लाल आँखों वाला तथा काले शरीर वाला कहा है अर्थात वह अपने भयानक स्वरूप से लोगों को वश में रखता है तथा शान्ति पर्व में बताया गया है कि "तलवार, धनुष, ढ़ापा, शक्ति, त्रिशूल, मुगदर, वाण, मूसल, फरसा, चक्र, पाश, ऋष्टि, तोमर आदि जो कुछ शस्त्र हैं उनके स्वरूप को धारण करता हुआ दण्ड जगत में मूर्तिमान घूमता है तथा भेदता, छेदता, पीड़ित करता, कम्पायमान करता, चीरता, चोट करता तथा सामने की ओर दौड़ता हुआ दण्ड पृथ्वी पर विचरण करता है। दण्ड की उत्पति की जो कथा दी गई है वह भी दण्ड के दमन करने वाले स्वरूप को स्पष्ट करने वाली तथा राज्योत्पति की कथाओं के समान है। जब चारों ओर अधर्म फैलने लगा तब वर्ण-संकरता की रक्षा लिये भगवान विष्णु स्वयं दण्ड रूप हो गए तथा यह दण्ड क्रमशः मनु और उसके पुत्रों (राजाओं) के पास पहुँच गया। दण्ड की उत्पत्ति के अतिरिक्त खड्ग (तलवार) को भी दण्ड का रूप बताकर तथा उसका तत्समान स्वरूप वर्णन कर उसकी उत्पत्ति की भी ऐसी ही कथा दी है कि ब्रह्मा के सृष्टि करने पर जब दानव लोग अधर्मपूर्वक रहकर प्रजा पर दण्ड से अत्याचार करने लगे उस समय ब्रह्मा के यज्ञ से खड्ग की उत्पत्ति हुई जिसे लेकर रुद्र ने दानवों का संहार कर धर्म की स्थापना की और फिर रुद्र ने अपना रूप रौद्र छोड़कर शिव (कल्याणकारी) रूप धारण किया।

'दण्ड' का उचित प्रयोग–दण्ड की उत्पत्ति की कथाओं से यह स्पष्ट होता है कि दण्ड की स्थापना धर्म-स्थापन के ही लिये हुई है। इसलिये दण्ड का ऐसा ही प्रयोग होना चाहिये जिससे वह धर्म और परिणाम स्वरूप सुख की स्थापना में सहायक हो। इसीलिये मनुस्मृति में कहा है कि "देश, काल, शक्ति और विद्या (त्रयी, दण्डनीति आदि) को भली भांति देखकर जितना आवश्यक हो उतना, अन्याय करने वालों के ऊपर, इसका प्रयोग किया जाय। इसका अर्थ यह है कि दण्ड का न तो इतना अधिक प्रयोग होना चाहिए कि जनता उस दमन के कारण कुपित हो जाय और न दण्ड का बिल्कुल परित्याग होना चाहिए कि जनता इतनी स्वच्छन्द हो जाय जिससे बलवानों द्वारा दुर्बलों का भक्षण होने लगे, अपितु दण्ड का योग्य प्रयोग होना चाहिये। उसी से राजा धर्म, अर्थ, काम तीनों प्राप्त करता है अर्थात उसी से राज्य की सब प्रकार की भौतिक और आध्यात्यिक उन्नति होती है। इस बात को धर्म और अर्थ के सभी विचारकों ने कहा है [६८]। दण्ड का यह सम्यक् प्रयोग नीतिशास्त्र के अनुसार होना चाहिए [६९]। इसी कारण नीतिशास्त्र का दण्डनीति नाम दिया गया है। यदि दण्ड का राजा ने उचित प्रयोग नहीं किया तो यह दण्ड देने वाले राजा को ही नष्ट कर

---

६८. शा: १२१।११; ६०: १२२।५४; शुक्र ४।४७; शा: १२१।६०; याज्ञ १।३५५,३५८; मनु ७।२८; कामन्दक २।४४.

६९. याज्ञ।१३५९; शान्ति १३५।२०; गरुड़ प्रेत खण्ड ७।१६; कौटिल्य १।१३।१९; देखिये

देता है [७०] क्योंकि दण्ड न देने से तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न होती है, अधर्मपूर्ण जीवन होता है, राज्य पर राजा का नियन्त्रण नही रहता, राज्य दुर्बल हो जाता है और फल-स्वरूप बाह्य आघातों को सहने में असमर्थ रहता है [७१] और यदि अधिक दण्ड दिया तो प्रजा ही कुपित हो जाती है (कौटिल्य के शब्दों में यदि दण्ड का काम, क्रोध अथवा अज्ञान से प्रयोग किया गया तो वान प्रस्थी और सन्यासियों को भी कुपित कर देता है फिर गृहस्थों का तो कहना ही क्या) जिसके कारण वह प्रजा स्वयं राजा को नष्ट कर देती है। [७२] इसलिये दण्ड का प्रयोग पक्षपात हीन होकर होना चाहिये और इसीलिये राजा को धर्मपूर्ण होकर दण्ड का प्रयोग करना चाहिये[७] यहाँ तक कि अपनी, माता, पिता, गुरु, भाई, बेटा, श्वसुर, माया आदि भी अपराध करें तो उन्हें भी नहीं छोड़ना चाहिये। शुक्र नीति में यद्यपि दण्ड के प्रयोग का लाभ बताया गया है परन्तु यह सावधानी भी बताई गई है कि प्रजा के साथ यथासंभव साम और दाम से व्यवहार करना चाहिये। जहाँ तक हो प्रजा को क्षमा करना चाहिये। यह भी कहा हैं कि दण्ड योग्य व्यक्तियों को ही देना चाहिये अर्थात जो बिना दण्ड के ठीक न हो सकें।[७४] मंत्रियों का भी यह कर्त्तव्य है कि वह राजा को गलत दण्ड अथवा अधिक दण्ड देने से रोके [७५]।

राजा युग-निर्माता—ऊपर यह सिद्ध हुआ कि राजा अर्थात राज्य कर्त्ता ही दण्ड का प्रयोग कर समाज को ठीक मार्ग पर रखता है। इस कारण समाज में न्याय और व्यवस्था अर्थात धर्म रहता है अथवा नहीं यह राज्यकर्त्ताओं पर निर्भर है। यदि राज्य कर्त्तागण नीतिज्ञ हैं, चरित्रवान हैं, न्यायी हैं, धर्मवान हैं तो प्रजा भी धर्मशील होगी, परन्तु यदि राज्य कर्त्ता ही अधर्मी अथवा अन्यायी हो जाये और दुष्टाचरण करने लगे तो प्रजा का भी धर्मपूर्ण होना कठिन हो जाये। यह इस ढंग से कहा गया है कि राजा काल का कारण है अर्थात समाज के अन्दर अच्छा काल है अथवा बुरा यह राजा अर्थात् राज्यकर्त्ताओं पर निर्भर है।[७६] शुक्रनीति में कहा है कि "आचरण का प्रेरक राजा होने से राजा ही काल का कारण है[७७] तथा आगे इसी बात को स्पष्ट किया है। राजा युग प्रवर्त्तक है क्योंकि जब राजा योग्य रीति से शासन करता है अर्थात ठीक से दण्ड धारण करता है और प्रजा सुख में तथा धर्म में रत रहती है; उस समय सतयुग

---

७०. शुक्र २।२६२-६३.

७१. शा: ६५।२४ देखिये ७५।४; ६०।७; ९३।२-३; शुक्र ४।२४८; कामन्द ४।४२.

७२. १।२२; ४।५७-५६. देखिये शुक्र ४।५३-५६; शान्ति ७०।४; ६१।६-११; २७-२८ ६३।१-५ १४।१६-१०; वामन पु ७५।१-२; १०-१४.

७३. ६।३०२

७४. शा ६६।६६-१०१.

७५. १।३०-३४.

७६. ७।३१-३२.

७७. २३४।१

रहता है, परन्तु जब राजा दण्ड का ठीक प्रयोग नहीं करता चाहे वह अज्ञानता के कारण हो अथवा दुर्गुणों के कारण उस समय प्रजा कष्ट में रहती है तथा चारों ओर अधर्म और अन्याय का बोल वाला रहता है अर्थात कलियुग रहता है। शान्ति पर्व के (६९) अध्याय में यह बात विस्तार से कही है परन्तु शुक्र नीति में दण्ड का, युगों का और राजा के व्यवहार का सम्बन्ध जोड़ते हुए कहा गया है कि "राजा के पूर्ण धर्मवान होने से कृतयुग में दण्ड नहीं रहता (आवश्यकता नहीं पड़ती), त्रेता युग में चौथाई अधर्म होने से (राजा के कारण) पूर्ण दण्ड रहता है, द्वापर में आधा धर्म रहने से तीन चौथाई दण्ड रहता है परन्तु राजा की दुष्टता से कलियुग में प्रजा के अधर्मी होने के कारण आधा दण्ड रहता है। धर्म-अधर्म की शिक्षा देने से राजा युग प्रवर्तक है और दोष युग का अथवा प्रजा का नहीं होता राजा का ही दोष होता है।" किस प्रकार के राज्यकर्त्ता गण सतयुग के निर्माता होते हैं तथा किस प्रकार के राज्यकर्त्ता त्रेता, द्वापर और कलि का निर्माण करते है यह मनुस्मृति में वर्णित है" जो प्रसुप्त (चिन्ता तक नहीं करता) है वह कलि है, जो जागृत हैं (अर्थात जानकार है परन्तु कर्मशील नहीं है) वह द्वापर युग है, जो कर्म में उद्धित है वह त्रेता है तथा जो विचरण करता है (अपने राज्य के कार्य की देखभाल में चारों ओर घूमता है, चारों ओर का ज्ञान रखता है तथा निरीक्षण करता है) वह सतयुग है।[७८] वामन पुराण में यह बात बलि का उदाहरण देकर बताई गई है। उसके राज्य में संसार को धर्मयुक्त देखकर कलि भाग गया था। उसके राज्य में सदैव सतयुग रहता था और धर्म चारों पादों पर स्थित था क्योंकि राजा लोग प्रजापालन करते थे, यज्ञ आदि होते थे, वर्णाश्रम के लोग स्वधर्म पालन करते थे तथा चारों ओर तप, अहिंसा, सत्य, शौच, इन्द्रियनिग्रह, क्षमा, दान, अक्रूरता आदि गुण व्याप्त थे। राजा को केवल युग-निर्माता कहा है इतना ही नहीं परन्तु यह भी कहा है कि यदि राजा कृतयुग का कारण होता है तो वह अधिक काल तक स्वर्ग भोगता है, यदि राजा त्रेता का कारण होता है तो वह थोड़े काल तक स्वर्ग भोगता है, द्वापर निर्माण करने से वह यथा भाग स्वर्ग अथवा नरक भोगता है तथा कलियुग में रहता है।[७९] ऐसा ही परिणाम शुक्र नीति में [८०] बताया गया है। राजा को काल का कारण अथवा युगप्रवर्तक बताकर तथा उसका परिणाम प्रदर्शित कर भारतीय सामाजिक और राजनैतिक विचारकों ने राजा को अथवा राज्यकर्त्ता वर्ग को ठीक मार्ग पर रखने का प्रयत्न किया है।

राज्य-शक्ति अर्थात दण्ड का बाह्य सुरक्षा के लिये प्रयोग—दण्ड का ऊपर जो वर्णन किया गया है वह दण्ड के आन्तरिक प्रयोग का वर्णन है। अर्थात जिसके द्वारा राजा अथवा राज्यकर्त्तागण समाज के सभी व्यक्तियों को ठीक मार्ग पर

---

७८. ३।१।५४ कौटिल्य;

७९. शुक्र ४।३२.

८०. कामन्दक १३।१७; ३६-३७.

रखकर समाज के अन्दर सुव्यवस्था बनाये रखते हैं। इस अर्थ में इसे 'व्यवहार' भी कहा गया है अर्थात वह पद्धति जिसके द्वारा समाज के अन्दर पारस्परिक संघर्षों को न्याय द्वारा दूर किया जाता हो तथा ऐसे लोगों को दण्ड दिया जाता हो जो अपने अनुचित कार्यों के द्वारा समाज-जीवन को दूषित करते हैं। परन्तु राज्य-शक्ति के द्वारा समाज के इस आन्तरिक संरक्षण के अतिरिक्त बाह्य संरक्षण की भी आवश्यकता है अर्थात राज्य के बाह्य शत्रुओं का भी दमन होना चाहिये। यह कार्य भी केवल समझाने (साम) से नहीं हो सकता क्योंकि समझाने से ही आक्रमणकारी शत्रु नहीं माना करते और न उनके सामने समपर्ण करने से काम चलेगा। आक्रमणकारी शत्रुओं को रोकने के लिये भी दण्ड का प्रयोग आवश्यक है। 'दण्ड' का इन दोनों अर्थों में प्रयोग मनुस्मृति में स्पष्ट रीति से वर्णित है जहाँ यह कहा गया है कि योग्य मन्त्रियों की सहायता से राजा दण्ड का प्रयोग करने में समर्थ होता है तथा अपने राष्ट्र में वह दण्ड का प्रयोग न्याय पूर्ण होना चाहिये तथा शत्रुओं में कड़ाई के साथ दण्ड प्रयोग किया जाय।[८१] अग्नि पुराण में भी कहा है कि[८२] "स्वदेश के अन्दर दण्ड प्रयोग कहा अब परदेश में दण्ड प्रयोग का वर्णन करता हूँ।" शत्रु के सम्बन्ध में दण्ड-प्रयोग का उल्लेख कौटिल्य ने किया है तथा शुक्र नीति में भी दण्ड के विविध प्रकारों में शत्रु के साथ युद्ध करना भी उसका (दण्ड का) एक प्रकार बताया है। शत्रु के विरुद्ध चार उपायों का जहाँ प्रयोग कहा गया है वहाँ साम, दाम और भेद के अतिरिक्ति 'दण्ड' का भी उल्लेख आता है। सप्ताङ्गों के वर्णन में शत्रु से युद्ध करने के लिये तो जो 'सेना' है उसे भी दण्ड कहा गया है क्योंकि जैसा बताया गया है शत्रु को युद्ध के मार्ग द्वारा वश में करना ही उसके लिये दण्ड है। यद्यपि शत्रु के लिये तथा शत्रु को मित्र बनाने के लिये दण्ड का प्रयोग आवश्यक बताया है[८०] परन्तु फिर भी कहा गया है कि शत्रु के लिये भी दण्ड का प्रयोग अन्तिम अवस्था में ही किया जाय अर्थात जब साम, दाम आदि के द्वारा काम न चले। इस प्रकार हम देखेंगे कि आन्तरिक सुव्यवस्था और बाह्य संरक्षण के लिये यद्यपि राज्य के हाथ में शक्ति (दण्ड) दी गई है और आवश्यकतानुसार उसका प्रयोग भी बताया गया है है परन्तु दोनों ही स्थितियों में (चाहे आन्तरिक व्यवस्था हो चाहे बाह्य आक्रमण से संरक्षण हो) यह सावधाना भी बताई गई है कि इस शक्ति का अर्थात दण्ड का प्रयोग अन्तिम अवस्था में ही होना चाहिये।

---

८१. मनु ७।१९८; २००; याज्ञ १।३४६; शुक्र ४।३४; शान्ति १०२।१६.

८२. ११३।१६; ११४।१९ देखिये ३।१।५०; ५।६।४५.

अध्याय ४.

राज्य का स्वरूप और कार्य

१. राज्य और समाज का सम्बन्ध

पिछले अध्याय के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचारकों ने समाज की रक्षा के लिए तथा समाज-व्यवस्था के योग्य संचालन के लिए राज्य की आवश्यकता समझी। उन्होंने साथ-साथ यह भी आवश्यक समझा कि राज्य के हाथ में शक्ति दी जाय।

राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं—उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि राज्य का निर्माण समाज के ही लिए है अर्थात् उसका महत्व तथा उपयोग यही है कि वह समाज जीवन की व्यवस्था में सहायक सिद्ध हो। अतः उन्होंने राज्य को लक्ष्य नहीं बनाया उसे केवल एक साधन मात्र माना। इसलिए भारतीय विचारों में राज्य को समाज के ऊपर नहीं रखा गया है अपितु समाज को ही राज्य से श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। इसको दूसरे शब्दों में (वर्तमान परिभाषा में) इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों ने राज्य को प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं बनाया अपितु उसे समाज के और उसकी व्यवस्था के आधीन किया। समाज को राज्य से श्रेष्ठ समझकर उसे सर्वोपरि स्थान देने का अर्थात् राज्य को प्रभुसत्ता सम्पन्न न बनाने का ऊपर बताये गये कारण (राज्य समाज-जीवन में एक साधन-मात्र है) के अतिरिक्त एक कारण यह भी था कि यदि राज्यकर्त्ता वर्ग को सर्वश्रेष्ठ स्थान दे दिया जाता तो, यह शक्ति होने के कारण बहुत संभव था कि उस शक्ति से मदान्ध होकर समाज के ऊपर अपनी स्वार्थपूर्ण और अत्याचारपूर्ण सत्ता प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते। परन्तु यदि राज्यकर्त्ताओं को भी समाज-व्यवस्था के नियमों के अन्तर्गत बांधकर रखा गया और समाज के अन्य श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथ में राज्य-कर्त्ताओं को भी सुमार्ग पर लाने का अधिकार दिया गया तो वह इसलिए कि राज्य-कर्त्ताओं को कुछ न कुछ मात्रा में मर्यादा के अन्दर रखा जाय।

राज्य के ऊपर समाज और उसकी व्यवस्था—भारतीय समाज-नियन्ताओं ने समाज को राज्य के ऊपर स्थान दिया। यह इस बात से सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का वर्णन करते हुए उस समाज-व्यवस्था के ढांचे के ही अन्दर उन्होंने राज्य को भी रखा है। अर्थात् जिस प्रकार समाज व्यवस्था में उन्होंने समाज की व्यवस्था के लिए विभिन्न वर्णों और आश्रमों की स्थापना की है उसी प्रकार उन्होंने राज्य की भी एक संस्था समाज व्यवस्था के ही अन्तर्गत समाज के लाभ के

लिए अर्थात् समाज के और समाज-व्यवस्था के संरक्षण के लिए निर्माण की है। इसी दृष्टि से विभिन्न धर्मशास्त्रों में राज्य-व्यवस्था का वर्णन दिया गया है। इसी बात को कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा कामन्दकीय नीतिशास्त्र ने भी स्वीकार किया है। कौटिल्य ने प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय में समाज-व्यवस्था (वर्णाश्रम व्यवस्था) का संक्षेप में वर्णन कर अन्त में कहा है कि "इसलिये मनुष्यों के स्वधर्म पालन (वर्णाश्रम-धर्मपालन) में राजा किसी प्रकार की अव्यवस्था न उत्पन्न करे।" इसी प्रकार से अगले अध्याय में भी जहाँ राज्य की शक्ति अर्थात् दण्ड का और उस दण्ड की व्यवस्था करने वाली नीति दण्डनीति का वर्णन किया है वहां, इस अध्याय के अन्त में भी कौटिल्य कहता है कि "राजा के दण्ड के द्वारा पालन किए हुए चारों वर्ण और आश्रमों से युक्त समाज अपने-अपने कर्म में रहकर अपने-अपने मार्ग पर चलता है।" इतना ही नहीं आगे यह भी कहा है कि "केवल इसी प्रकार से व्यवहार करता हुआ (अर्थात् इस प्रकार से प्रजा की व्यवस्था करता हुआ) राजा स्वर्ग पाता है, अन्यथा नरक पाता है।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि समाज-व्यवस्था का पालन करना तो राज्य का कर्त्तव्य है ही, परन्तु राज्य का अस्तित्व ही मूलतया इसलिए है कि वह अपनी शक्ति द्वारा उस समाज-व्यवस्था को बनाये रखे। कामन्दकीय नीतिसार में भी द्वितीय अध्याय में समाज-व्यवस्था का वर्णन है जिसके पश्चात् कहा गया है कि "यह सभी वर्णाश्रमों का धर्म अनन्त स्वर्ग के लिये है। उसके अभाव में यह संसार संकरता के कारण नष्ट हो जाता है। राजा ही इस सब धर्म का न्यायानुसार प्रवर्तक है (व्यवस्था ठीक अवस्था में रखता है) तथा उसके अभाव में धर्म नाश होता है तथा धर्म नाश होने से जगत भ्रष्ट हो जाता है। वर्णाश्रम आचार से युक्त (समाज-व्यवस्था के अनुसार उसके अन्तर्गत चलने वाला), वर्णाश्रम विभाग को जानने वाला (धर्म ज्ञाता) तथा वर्णाश्रमों का पालक राजा सभी संसार का अधीश्वर होता है"।[१] कामन्दक की इस उक्ति से भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उसने राज्य को समाज-व्यवस्था के अन्दर माना तथा उसे उस समाजव्यवस्था का संरक्षक ही कहा। साथ ही साथ जब उसने राजा को वर्णाश्रम आचार से युक्त कहा तो उसका अर्थ था कि राज्य कर्त्ता गण भी उसी समाज-व्यवस्था के नियमों के अन्तर्गत काम करें। इसी अध्याय में इसके पश्चात् दण्ड का वर्णन कर कामन्दक ने यह भी स्पष्ट कहा है कि दण्ड का प्रयोग और उपयोग इसी समाज-व्यवस्था के लिए है।[२]

भारतीय समाज-विचारकों ने केवल इतना ही नहीं कहा उन्होंने यह भी आग्रह किया कि समाज-व्यवस्था के वर्णन में उसके अन्तर्गत जो धर्म राजा के लिए बताया गया है अर्थात् राजा के लिए जो नियम निर्धारित कर दिये गये हैं, उन नियमों का ही पालन राज्य कर्त्ता करें क्योंकि यही उनका स्वधर्म है। इस प्रकार राज्य कर्त्ताओं को पूरी प्रकार से समाज-व्यवस्था के अन्दर बांध दिया गया है और

१. कामन्दक २।३३-३५.
२. २।४२.

उसके बाहर जाने का उन्हें कोई अधिकार भारतीय समाज-नियन्ताओं ने नहीं दिया। अतः राज्य पूरी प्रकार से समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत और उसके आधीन उन्होंने माना है। अर्थशास्त्र के नियम धर्मशास्त्रों के आधीन हैं। जब यह कहा गया है तो इसका भी यही अर्थ है कि समाज राज्य के ऊपर है तथा समाज व्यवस्था के जो नियम बना दिये गये हैं उनके विपरीत राज्य-व्यवस्था के कोई सिद्धान्त और नियम नहीं हो सकते। राज्य-व्यवस्था का वर्णन करने वाले शास्त्र अर्थात् अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के ग्रन्थों को धर्मशास्त्रों द्वारा वर्णित समाज-व्यवस्था के नियमों को तथा उसी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णित राज्य-व्यवस्था के नियमों को मानकर चलना ही होगा अथवा वह अर्थशास्त्र के नियम अमान्य होंगे।

राज्य कर्त्ताओं के ऊपर समाज-जीवन के आदर्श ब्राह्मणों का नियंत्रण— राज्य को समाज-व्यवस्था के अधीन रखने के लिये अथवा राज्य कर्त्तागण समाज-व्यवस्था और समाज-नियमों के प्रतिकूल न जायं तथा समाज का अहित न करें, इसके लिए एक अन्य काम यह किया गया है कि राज्यकर्त्ताओं से आग्रह किया गया है कि समाज की व्यवस्था के संरक्षण की चिन्ता करने वाले, समाज-व्यवस्था की दृष्टि से आदर्श जीवन व्यतीत करने वाले तथा लोग समाज-नियमों का पालन करें इसके लिये आवश्यक वातावरण उत्पन्न करने वाले ब्राह्मणों के कहने के अनुसार राज्यकर्त्तागण काम करें। यह बात धर्मशास्त्रों[3] ने और अर्थशास्त्रियों ने दोनों ने ही मानी है। कौटिल्य ने कहा है[4] "ब्राह्मणों के आदेश के अनुसार चलने वाला (अथवा ब्राह्मणों द्वारा वर्धित), मंत्रियों के परामर्श से युक्त, शास्त्ररूपी शास्त्र से सञ्चित क्षत्रिय जीतता है और वह अत्यंत अजेय है।" शुक्र नीति में भी[5] स्वधर्माचरण करने वाले ब्राह्मण का तेज क्षत्रिय के तेज से श्रेष्ठ बताया गया है। शान्तिपर्व में तो बार-बार ब्राह्मणों के कथनानुसार राज्य को चलाने का आग्रह किया गया है।[6] ७२ वें अध्याय में पुरुखा के प्रश्न करने पर वायु कहता है कि इस पृथ्वी पर जो कुछ है उस सबका स्वामी ब्राह्मण है। अतः जो राजा ब्राह्मण के निर्दिष्ट धर्म के अनुसार चलता है उसका कल्याण होता है। आगे कहा है कि जब ब्राह्मण और क्षत्रिय में विरोध हो जाता है तो क्षत्रिय के राज्य का नाश हो जाता है, डाकू प्रजा को सताते हैं, क्षत्रिय के घर लक्ष्मी की वृद्धि नहीं होती, प्रजा धर्म त्याग कर देती है। परन्तु जिन राजाओं के यहाँ ब्राह्मणों की प्रधानता होती है तथा जिनके साथ ब्राह्मण बल होता है वे राजा स्वर्गाजित होते है तथा उन्हें कोई आपत्ति नहीं सता सकती। गरुड़ पुराण में धर्मराज की सभा का जो वर्णन दिया है उसमें भी कहा है

३. गौतम धर्मसूत्र ११।२७; अत्रि २४-२५; पराशर ८।३७; मनु ७।३७; वामन पुराण ७४-४४.

४. १।९।१७.

५. ३।२६१-६२.

६. ७२।६-१६; ७३।८-१०; ७७।३०-३२; १२४।३४-३८; १३०।५०; १३८।२१७; १२०।८, ५०; १२१।३६; याज्ञ १।३१.

कि धर्मशास्त्र के ज्ञाता ऋषि धर्मराज के पास निर्णयों के लिए (अर्थात् राजा को धर्म सम्बन्धी परामर्श के देने के लिए) रहते थे।[७] ब्राह्मणोंके अनुसार चलने का इतना महत्व रखा है कि यदि क्षत्रिय अनियंत्रित हों, स्वेच्छानुसार काम करें अर्थात् अपनी राज्य-शक्ति के आधार पर समाज को अपनी इच्छानुसार चलाने का प्रयत्न करें और समाज-कल्याण का ध्यान रखने वाले तथा समाज-व्यवस्था के मार्ग-दर्शक ब्राह्मणों का अवलंघन करें तो ब्राह्मण उन्हें दण्ड देकर अपने वश में करने का प्रयत्न करें। शुक्रनीति में कहा है कि यदि ब्राह्मण संघर्ष कर एक अत्याचारी क्षत्रिय राजा को नष्ट कर दें तो उन्हें कोई पाप नहीं लगेगा।[८] मनुस्मृति में भी, राजा को यह आदेश देकर, कि वह ब्राह्मणों को कुपित न करे, क्योंकि उनके आधार पर ही संसार (समाज) और देवता (धर्म) आश्रित है, आगे कहा है कि यदि क्षत्रिय ब्राह्मणों के प्रति विपरीत व्यवहार करें तो वह ब्राह्मणों द्वारा नियंत्रित होने योग्य है।[९] शान्तिपर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर कि यदि सब लोग स्वधर्म छोड़कर शस्त्र लेकर खड़े हो जायँ अर्थात् किसी का कहना न मानें उस समय राजा क्या करे? भीष्म ने कहा है कि उस समय सब वर्ण यहाँ तक कि राजा भी विप्रों का आश्रय लेकर इस प्रकार कार्य करे कि सब वर्ण अपने स्वधर्म का पालन करने लगें तथा आगे यह भी बताया है कि यदि क्षत्रिय ही विप्रों (समाज-व्यवस्था के संरक्षकों) पर अत्याचार करने लगें तो विप्र तप से, ब्रह्म से, धर्म से, शास्त्र से, बल से, माया से, अमाया से उनका नियंत्रण करें।[१०] अमर्यादित राजाओं के ब्राह्मणों द्वारा नियंत्रण की कथा भारतीय इतिहास पुराण ग्रन्थों में दी हुई है। सर्वप्रथम, तो राजा वेन की कथा है[११] जिसने यह घोषणा की थी कि "तुम्हारे द्वारा एकमात्र मैं ही वन्दनीय और पूज्य हूँ। अतः जिसने स्वयं को अर्थात् राजा को समाज से श्रेष्ठ समझा था और फलस्वरूप समाज के धर्म को नष्ट कर समाज पर अत्याचार करने का प्रयत्न किया था उसे ऋषियों ने मार डाला। इसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन (सहस्रार्जुन) की कथा है[१२] जिसने सारी पृथ्वी को जला दिया अर्थात् सम्पूर्ण समाज को ध्वस्त कर दिया। इसी में मुनि आपव का भी आश्रम जला और उन्होंने कार्तवीर्य अर्जुन को श्राप दिया कि कोई उसके गर्व को नष्ट करेगा जिसके कारण परशुराम (ब्राह्मण) ने उसका वध किया। इसी प्रकार सागर पुत्रों की कथा है[१३]

---

७. १४।३९–४१.

८. ४।११५६-५८.

९. ९।३१३-२१.

१०. शान्ति ७८।१२-१८; देखिये शुक्र ४।११५६-५८.

११. महाभारत १२।५९; वामन पुराण अध्याय ४७; मत्स्य पुराण अध्याय १०; अग्नि पुराण अध्याय १८.

१२. मत्स्य ४४.

१३. नारद पुराण अध्याय ८.

जो अपने अभिमान के मद में समाज के ऊपर भाँति-भाँति के अत्याचार करने लगे। वे साधु-वृत्ति के लोगों को मारते थे, सदाचार का नाश करते थे, मित्रों से युद्ध करते थे, लोगों के धन को छीन लाते थे, दूसरों की स्त्रियों को बलपूर्वक लाकर उन पर बलात्कार करते थे। उनका नाश कपिल मुनि के क्रोध के द्वारा हुआ।

२. धर्मपूर्ण राज्य

राज्य को समाज के अन्तर्गत रहना चाहिये अर्थात् समाज के अनुसार चलना चाहिए, इस बात को इस ढंग से भी कहा गया है कि राजा को धर्ममय होना चाहिए अथवा राजा को धर्म का पालन करना चाहिए।[१४] दूसरे शब्दों में समाज जीवन के हित में समाज को प्रमुख मानकर राजा का कार्य चलना चाहिए। अतः हम ऐसा कह सकते हैं कि भारतीय विचारकों को ऐसी धारणा थी कि धर्म-राज्य होना चाहिए। कौटिल्य ने कहा है कि उपेक्षित होने के कारण यदि धर्म अधर्म द्वारा नष्ट किया जाता है तो वह शासन कर्त्ता को मार देता है।[१५] धर्म पालन का इतना आशय है कि धर्म के लिए यदि कोप क्षीण हो गया हो तो उसका क्षीणत्व ही शोभा देता है। शुक्र ने भी इसी अर्थ में कहा है कि जो धर्मविहीन राजा हैं उन्हें धर्मवान और बलवान राज्य चोर के समान दण्ड दें तथा प्रजा से भी कहा है कि अधर्मी राजा को प्रजा धर्मशील और बलवान शत्रु का आश्रय लेकर कष्ट दे।[१६] जीते हुए राज्य में धर्मानुसार व्यवहार करने का भी राजा को आदेश है।[१७] धर्म पालन का इतना आग्रह है कि कामन्दक का कहना है कि धर्म के लिए यदि कोप क्षीण हो गया हो तो उसका क्षीणत्व ही शोभा देता है। शान्तिपर्व में विस्तार के साथ कहा है और[१८] बताया है कि "राजा धर्म-पालन के लिए जन्म लेता है कामोपभोग के लिए नहीं। मान्धाता! यह जानलो कि राजा संसार का रक्षण करने वाला है। राजा यदि धर्माचरण करता है तो देवत्व प्राप्त करता है और यदि वह धर्मानुसार नहीं रहता तो नरक में जाता है। धर्म पर ही सारा संसार टिका है और धर्म राजा पर आश्रित है। जो राजा उस धर्म की अच्छी प्रकार रक्षा करता है वही राजा पृथ्वी पति होता है। यदि राजा परम धर्मात्मा तथा लक्ष्मीमान है तो उसी को 'धर्म' कहा जाता है। हे महाराज, जब मनुष्यों के पाप नहीं रोके जा जाते हैं तब दोनों लोकों का (अभ्युदय, निश्रेयस्) विचार कर स्वयं ऋषिगण उस महान राजा का निर्माण करते है और वही 'धर्म' हो जाता है। जिसमें धर्म रहता है उसी को राजा कहते हैं परन्तु जिसमें धर्म नष्ट हो जाता है उसको राजा वृषल कहते हैं

---

१४. कामन्दक १३।४७; हारीत २।५, शा० ५६।१३८, काम० १।११, शुक्र ४।१२३८-४०, २४६, ११०, १।७३; पराशर १।६७.

१५. ३।१६।४७.

१६. ४।१२३८-३६.

१७. १।३७७.

१८. काम० ५।८८; देखिये अग्नि २३८।३० भी

क्योंकि 'वृष' (बैल) भगवान 'धर्म' का नाम है। उसको यह नष्ट करता है। अतः राजा को धर्म की वृद्धि करना चाहिये। धर्म की वृद्धि होने से सभी जातियों की वृद्धि सदैव ही होती है और उसका ह्रास होने से उनका भी ह्रास होता है। अतः धर्म नष्ट नहीं करना चाहिये। प्राणियों के कल्याण के लिसे ब्रह्मा ने 'धर्म' का निर्माण किया है अतः प्रजा के हित के लिये धर्म की राजा वृद्धि करे। इसलिये हे राजाशार्दूल ! धर्म श्रेस्ठतर कहा गया है। जो पुरुष श्रेष्ठ सज्जन होकर प्रजा पर शासन करता है वह राजा कौन है। हे भरत श्रेष्ठ ! काम, क्रोध को छोड़कर धर्म का पालन करो, राजा के लिये धर्म ही परम श्रेयस्कर है।[१९] इसी अर्थ में राजा को काल कारण अथवा युगप्रवर्त्तक भी इसीलिये कहा गया है क्योंकि वह धर्माधर्म का प्रेरक है। 'दण्ड' का भी यही उपभोग बताया है कि वह सब लोगों को धर्म में प्रदत्त रखता है। इसके अतिरिक्त भारतीय सामाजिक तथा राजनैतिक विचारकों ने जब राज्य की उत्पत्ति का वर्णन किया तब भी उन्होंने यही कहा है कि राजा की उत्पत्ति तथा दण्ड और खड्ग की भी उत्पत्ति धर्म-स्थापना के लिये हुई है। पृथु को ऋषियों ने राज्य-प्राप्ति के पूर्व जो आज्ञा दी है उसमें भी कहा है कि "जिसमें तू धर्म का वास जान उसी को निःशंक होकर कर"। राम के राज्य का अग्निपुराण में वर्णन है कि "उनके समय में सारा संसार धर्म पालन करने वाला था।[२०]

धर्मपूर्ण राज्य के विभिन्न अर्थ—भारतीय विचारकों ने राजा को धर्ममय होने पर जो इतना बल दिया है तो उसके पीछे की उनकी भावनाएें और धारणायें स्पष्ट थीं। उनके अनुसार धर्म राज्य के निम्न अर्थ थे—

(१) नियम समाज नियन्ताओं ने घोषित किये हैं अथवा जिन नियमों (प्रथाओं) का विभिन्न समाजों में अथवा समाज के विभिन्न वर्गों में पालन होता है उन्हें ही अथवा उनकी ही भावना के अनुकूल नियमों को राजा को मान्यता देनी चाहिये तथा उन्हीं को ध्यान में रख शासन करना चाहिये।[२१] सभी धर्मशास्त्रकारों ने यह घोषित किया है कि देशों, जातियों अथवा कुलों की जो प्रथाऐं हैं उन्हें अधिकृत माना जाय।[२२] इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि राजा शास्त्र नियमों का पालन करें और करवाए।[२३] इस बात को याज्ञवल्क्य स्मृति में व्यवहार (मुकदमा अथवा न्याय) की परिभाषा में स्पष्ट किया गया हैं "स्मृति (धर्मशास्त्र)

---

१९. ९०।३-६, १३-१६, १८-२०.

२०. १०।३४.

२१. शुक्र ४।३७६.

२२. गौतम ११।२०-२२; वशिष्ठ १।१७; आप० २।६।१५।१; मनु १।११८।४१; याज्ञ १।३६१२।१९२; कौ० २।७।२, ३,७।४५; शान्ति ६६।२९; ७७।१९; कामन्दक २।४०, ४२-४३; शुक्र ४।५६८-७४; २५०-५१, ३७९ देखिये मनु ७।२०३; ८।३; याज्ञ १।३४३ भी।

२३, कामन्दक २।४४; ६।७; शुक्र १।१४८-४९; ४।२४६; २५०-५१, ७८४-८५, ३७६;

और आचार (प्रथाओं) का उल्लंघन किये जाने के कारण जो दूसरों द्वारा पीड़ित हो और वह यदि (उस उल्लंघन के कारण) राज्य के पास आवेदन करे तो वह 'व्यवहार' है (१०५ क)। इसका अर्थ यह है कि जो नियम समाज में प्रचलित हों चाहे वह शास्त्र में कहे गए नियम हों अथवा प्रथाएं हों अर्थात जो भी धर्म माना जाता हो उनके द्वारा अथवा तदनुसार नियमों के द्वारा राज्य का शासन होना चाहिये तथा इनके विपरीत समाज-जीवन के नियंत्रण के लिये राजा अपने स्वतंत्र नियम न बनाए। इन कारण शान्तिपर्व में भीष्म युद्धिष्ठर से आग्रह करते हैं कि वह वेद वचनों को अप्रमाण न माने अथवा शास्त्र की आज्ञा का उल्लघन न करे।[२४] नीति ग्रन्थों ने भी यह बात स्पष्ट रीति से कही है। मनु स्मृति के धर्म को मानने का आदेश शुक्र नीति में भी हैं।[२५] यह भी कहा गया है कि न्याय भी धर्मशास्त्रों के अनुसार होना चाहिये।[२६] तथा इसीलिये राजा से भी न्याय करने के पूर्व स्मृतियों को देखना बताया गया है।[२७] शुक्र नीति में ही राज्य द्वारा लागू किये जाने योग्य नियमों के जो कुछ भी उदाहरण दिये हुए हैं वे सब नियम ऐसे ही हैं जो धर्मशास्त्रों के अनुसार हैं[२८] जैसे 'मेरे देश में रहने वाले व्यक्तियों को दास, भृत्य, भार्या, पुत्र, शिष्य आदि को कठोर वचन से दण्ड नहीं देना चाहिये''। धर्मशास्त्रों के नियमों के अनुसार राज्य का कार्य चले इसके लिए कौटिल्य, कामन्दक तथा शुक्र का आग्रह है कि राजा तथा राज्य के अन्य अधिकारी धर्मशास्त्र के ज्ञाता होने चाहिएं। कौटिल्य का व्यवहार अंग भी धर्मशास्त्रों के अनुकुल है।

(२) धर्ममय राज्य होने का एक दूसरा अर्थ भारतीय विचारकों के अनुसार यह है कि जो समाज-रचना (वर्णाश्रम व्यवस्था) समाज की दृष्टि से विचार करने वाले ऋषियों ने निश्चित की है और जिसका धर्मशास्त्रों में वर्णन किया गया है उस व्यवस्था को राज्य द्वारा लागू किया जाय और उसका पालन होता है अथवा नहीं इसका पूर्ण ध्यान रखा जाय। पीछे बताया ही गया है कि अर्थशास्त्र के ग्रन्थों ने भी पहिले उस समाज-व्यवस्था का वर्णन कर फिर उसके पालन का आग्रह किया है। सभी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी जहाँ-जहाँ किसी अच्छे राज्य का वर्णन दिया गया है वहाँ वहाँ यही बताया गया है कि उस राज्य में सब लोग अपने अपने वर्ण और आश्रमों के धर्म में तत्पर रहते थे।[२९] महाभारत में केकय राज अपने राज्य के वर्णन में कहते हैं "मेरे राज्य के ब्राह्मण अध्यापन, भजन, याजन, दान देना तथा लेना-इन हर कर्मों को करते हैं। उनकी पूजा होती है, उनको योग्य भोजन मिलता है, वे

---

२४. (१०५क)२।५ ७९।९०, १९.

२५ १।१४८;४९; ३।३४.

२६. शुक्र ४।५२८, ७८४·८५, ५५९, ५७४, मनु ८।१२-१९; वाज्ञ २।१ शाँति ७१।११

२७. ४।५७४,

२८. १।२३-९३११.

२९. नामन पुराण ७४।४२-४८: नाररदपुराण ७।३-६:

मृदु हैं, सत्य भाषी हैं तथा स्वकर्म करने वाले हैं। मेरे राज्य के क्षत्रिय भी स्वकर्मस्थ हैं, वे दान माँगते नहीं, देते हैं, अध्यापन नहीं करते, अध्ययन करते हैं, यज्ञ करते हैं, कराते नहीं। ये सत्य धर्म के ज्ञाता हैं, ब्राह्मणों की रक्षा करते हैं तथा संग्राम से विमुख नहीं होते हैं। मेरे राज्य के वैश्य बिना छल छद्म किये कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य के द्वारा जीविकोपार्जन करते हैं, वे अभिमानी नहीं हैं, कर्मशील हैं, अच्छे कर्म करने वाले हैं, सत्यवादी हैं, सबों के जीवन-यापन की योग्य व्यवस्था करते हैं, इन्द्रिय दमन, शौच और सौहार्द्र से युक्त हैं। मेरे राज्य के शूद्र स्वकर्म में रत हैं, तीनों वर्णों की ईर्ष्यारहित होकर सेवा करते हैं"।[३०] अतः धर्ममय राज्य होने का यह अर्थ है और यह एक प्रमुख अर्थ है कि समाज नियमों के अन्तर्गत जो समाज व्यवस्था निर्दिष्ट है उसे लागू करे, केवल उन स्थानों और जातियों के अतिरिक्त जहाँ उनकी कुछ विशेष प्रथाएं हों।

(३) राज्य धर्मपूर्ण हो इसका तीसरा अर्थ यह है कि राज्य का जीवन व्यवस्थित चले, राज्य में शान्ति रहे सब लोग सुखपूर्वक रहें और इसलिये समाज में किसी विशेष वर्ग अथवा व्यक्ति का अन्य लोगों पर अत्याचार न चले।[३१] इसका अर्थ यह है कि राज्य का यह कर्तव्य है कि वह समाज-जीवन का ठीक से संचालन करने के लिये प्रजा को धर्म-पालन में तत्पर कर पाप बढ़ने से रोके।[३२] वामन पुराण में राजा कुरु के विषय में कहा है कि उसने सोने के हल (भौतिक उन्नति) से धर्मराज रूपी वृक्ष को जोतकर राज्य के अन्दर सद्गुणों की वृद्धि की।[३४] कामन्दक ने कहा है[३४] "धर्म संरक्ष में तत्पर तथा धर्म से अर्थ का वर्धन करता हुआ जो जो प्रजा उसमें बाधा दे उन्हें शिक्षित करे"। कौटिल्य ने जनपद के गुण बताते हुए कहा है कि जनपद (प्रजावर्ग) राजा से परिचालित भक्ति और पवित्रता पूर्ण मनुष्यों से युक्त होना चाहिये।[३५] दुष्टों के दमन और सज्जनों के संरक्षण, अधार्मिकों का दमन, धार्मिकों का रक्षण अथवा दुर्बलों की रक्षा[३६] का जो आग्रह है वह भी इसी दृष्टि से है। इसी से राज्य का प्रमुख कार्य प्रजा-पालन और प्रजा-रक्षण बताया है तथा इसी दृष्टि से राज्य के न्याय करने की व्यवस्था दी गई है जिसके माध्यम से वह समाज के अन्दर के पारस्परिक संघर्षों को दूर कर शांति तथा संरक्षण स्थापित करे। इसी दृष्टि से

३०. शा. ७७।११-१७.

३१. शुक्र १।८०. कामन्दक २।३९ शान्ति ५६।५; ५७।३५-३७-६८।८६,१३३।१३

३२. शा. ७३।१६-१७; ९१।२७-२८; १३९।१०६; २२।२ २४-१५.

३३. ६।६

६।१।८; देखिये शान्ति पर्व ९७।१-१० ३।२:

३४. अग्नि २७८।३, देखिये पीछे पद पाठ १;

मनु ८।३०८; शा, ६६।३१-३४; ७३।१६-१७; ८६।१७-१८, ६५।४५, ८२।४३ ९७।७२-२८; कौ. १।४।१७-१८. कामन्दक ३।२-८ देखिये आगे पदपाठ २८३.

३५. शा. ७१।२१-२३, कौ. ३।१।५५१; मनु ८।१७२–७५; याज्ञ १।३५५; शा. ९२।१५-१९.

३६. कामन्दक १।१३-१५; शुक्र १।६७ ६८.

शान्ति पर्व में जब युद्धिष्ठर कहते हैं कि क्षत्रिय का धर्म बहुत अधर्मपूर्ण है क्योंकि उससे बहुत से मनुष्यों का संहार होता है, उस समय भीष्म उत्तर देते हैं "जो धन की चोरी, लूट से, वध से, कष्ट से व्यक्तियों की रक्षा करता है तथा दस्युओं से प्राणदान देता है वह राजा धन देने वाला और सुख देने वाला है। जो राजा अभयरूपी दक्षिणा देता है उसने मानो सब यज्ञ कर लिये और वह इस लोक में सुख पाकर फिर इन्द्र लोक को जाता है" अर्थात भीष्म ने समाज के अन्दर व्यवस्था की स्थापना को ही सबसे बड़ा धर्म बताया है।

(४) धर्म-पूर्ण राज्य होना चाहिये। इसका एक अर्थ यह भी है कि शासन न्यायपूर्वक होना चाहिये।[३७] अर्थात शासन के क्षेत्र में अथवा न्याय के क्षेत्र में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं होना चाहिये तथा राज्य द्वारा धन-संग्रह भी अन्याय पूर्वक न होना चाहिये (देखिये अध्याय ११ और १२)। इस न्याय पूर्ण राज्य का सोउदाहरण प्रतिपादन कामन्दकीय तथा शुक्र नीतिसार में किया गया है। "यदि राजा न्याय प्रवृत्त होता है तो वह स्वयं अपने लिये अथवा प्रजा के लिये त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) प्राप्त करता है अन्यथा निश्चित ही वह इनका (त्रिवर्ग का) नाश करता है। धर्म (न्याय) के कारण पवन राजा ने चिरकाल तक पृथ्वी का भोग किया। (बलि ने) तथा अधर्म (अन्याय) से नहुष रसातल में पहुँच गया।[३८]

(५) धर्मपूर्ण राज्य का एक अन्य अर्थ यह है कि राज्य कर्त्ता वर्ग चरित्रवान हो तथा अपनी मर्यादा में रहे। राजा चरित्रवान हो इसका तो सभी ग्रन्थों में बहुत विशद वर्णन है।[३९] साथ ही साथ इस बात का भी बहुत आग्रह किया है कि राजा अर्थात राज्यकर्त्तागण अपनी मर्यादा में रहें[४०] और उनके जो कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं उनका पालन करें और जो अधिकार निर्धारित किये गये गये हैं उनका उल्लंघन कर प्रजा को दबावें नहीं। इसलिये शुक्र नीति में कहा है "जो (राजा) नीति को छोड़कर स्वतंत्र (स्वच्छन्दतापूर्वक, मर्यादा रहित) व्यवहार करता है वह दुख पाता है[४१] तथा इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि राजा अपने धर्म में तत्पर हो अन्यथा उसके तेज का नाश होता है। मर्यादा के अन्दर राजा रहना चाहिये। इस को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा गया है कि वह शास्त्रानुसार आचरण करे। राजा ही नही मंत्री भी धर्मशील होने चाहिए तथा राजा से इस बात का बहुत आग्रह किया गया गया है कि वह अधर्मशील मंत्रियों की देखभाल करे तथा उनसे प्रजा को बचाये।

---

३७. अग्निपुराण २२३।३०-३३;देखिये गरुड़ पुराण प्रेतखण्ड ५।४०; शा.७३।१४,७५।११.१२

३८. २।३५-३६;

३९. ४।११५०-५१.

४०, ८६।१३-१४; ७७।.

४१. को ११६ ७; कामन्दक १।४, २४; शुक्र ११५९-६०-१२२, २२५-१५०;
अग्नि २२५।४।१६! वामन पुराण ७२।५१-५२; मनु ७।४९-५३; शान्ति ७०।१२४.

(६) राज्य धर्मपूर्ण होना चाहिये इसका अन्तिम अर्थ यह है कि समाज जीवन और समाज-व्यवस्था के संरक्षण ब्राह्मणों का योग्य सम्मान[४२] तथा पोषण होना चाहिये। ब्राह्मण के पोषण के लिये उन्हें भूमि प्रदान करते[४३], उन्हें दान देने तथा उनसे कर आदि न लेने का आग्रह है।[४४] यह भी कहा गया है कि यदि ब्राह्मणों धन परकीय राज्य से लूट कर लाये हैं तो वह उन्हें लौटा देना चाहिये।[४५] उनके का समस्त दुखों का प्रतिकार करना चाहिये यह भी कौटिल्य का कहना है[४६] अग्नि पुराण में कहा है कि जिसके राज्य में श्रोत्रिय क्षुधा से व्याकुल होता है वह देश रोग, दुर्भिक्ष और चोरों के द्वारा कष्ट पाता है अतः ब्राह्मणों की वृत्ति निश्चित करना चाहिये। यह भी कहा है कि ब्राह्मणों का संरक्षण करना चाहिये।[४७] शान्तिपर्व में युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर कि ऐसी कोई मर्यादा है जिसका उल्लंघन न किया जा सके भीष्म उत्तर देते हैं कि विद्यावृद्ध, तपस्वी, वेदाध्ययन सम्पन्न, सदाचारी, पवित्र, उत्तम ब्राह्मण की सेवा करना ही मर्यादा है तथा उस ग्रन्थ में यह भी आग्रह किया है कि यदि आजीविका न होने के कारण ब्राह्मण दूसरे राज्य में जाना चाहे[४८] तो उसकी आजीविका की व्यवस्था कर उसे जाने नहीं देना चाहिये।

३. साम्प्रदायिक राज्य

पुजारियों का शासन नहीं—अतः धर्म-राज्य कहने के पीछे भारतीय विचारकों की स्पष्ट धारणाएं थीं और संक्षेप में अर्थात् सार रूप में कहा जाय तो वह धारणा यह थी कि समाज को प्रमुख मानकर अर्थात् समाज-नियमों के अनुसार तथा सम्पूर्ण समाज का हित ध्यान में रखकर राज्य का कार्य चलाना चाहिये। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि किसी सम्प्रदाय विशेष का राज्य पर प्रभुत्व हो। ब्राह्मणों का समाज में विशेष स्थान देने के अथवा उनको राज्य द्वारा मान्यता देने के और उनकी सहायता करने के पीछे यह धारणा नहीं थी कि देश में पुजारियों का शासन स्थापित किया जाय। यद्यपि ब्राह्मणों को यज्ञ कराने का कार्य था, परन्तु ब्राह्मणों को समाज में महत्व इसलिये नहीं था उनके गुण के कारण था। वह जो आदर्श समाज के सामने उपस्थित करते थे तथा जिस निस्पृह वृत्ति से रहने के उनके नियम थे वही समाज के आदर और श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त थे। इसलिये इस बात को सर्वत्र कहा गया है कि योग्य ब्राह्मण का ही सम्मान हो तथा यदि ब्राह्मण अयोग्य

---

४२. कामन्दक २।४४; मनु ८।३०९; शान्ति ९२।६-१४.

४३. १।१५; १।२६.

४४. अग्नि २४.

४५. कौ. २।१।८; २।४।२.

४६. हारीत २।३; मनु ११।४; याज्ञ १।३१५-१६, ३२३; शा. १६५।१-२०,७६।६-१०, ७१।२१-२३, कौ. ३।२०।३०; नारद पुराण १।१५।९०-९२.

४७. कौ. ३।१६।२९.

४८. ३।२०।२९.

कुछ अनुचित कर्म करे तो उसे दण्ड दिया जाय अथवा यदि ब्राह्मण अयोग्य हो तो उसका कोई सम्मान न किया जाय और राजा उसे शूद्र समझे। शुक्र नीति में कहा है कि "आततायीपन करने वाला ब्राह्मण शूद्रवत है, ऐसा धर्म शास्त्रों का कहना है। अतः आततायी के वध में कोई दोष नहीं है। शान्ति पर्व में भी जिसमें बार-बार ब्राह्मणों के कथनानुसार चलने का आग्रह किया गया है कहा गया है कि "यदि वेदविद स्नातक जीविका न होने से चोरी करे तो ऐसा वेद जानने वालों का कहना है कि राजा उसका पालन करे, परन्तु यदि जीविका की व्यवस्था होने पर भी वह कृत-कृत्य न हो (अर्थात् फिर भी चोरी करे) तो वह कुटुम्ब सहित राज्य से निकाल देने योग्य है।" आगे कहा है "अपने कर्म को छोड़ने वाले विप्र की राजा बिल्कुल उपेक्षा न करे (अर्थात् उन्हें दण्ड दे)। यह राजाओं का पूर्व काल से ही चला आया व्यवहार है, ऐसा सज्जन कहते हैं।" दूसरे स्थान पर कहा है हे नरव्याघ्र! ऐसा न होने पर भी (ब्राह्मणों से द्वेष न कर उनका सम्मान करने पर भी) यदि वे संसार के लिए विघातक हों तो उन्हें दस्युओं के समान बाहुओं से नियन्त्रण में रखना चाहिए। इसके आगे आततायी ब्राह्मण के वध के सम्बन्ध में शुक्राचार्य के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि अपराधी ब्राह्मण को देश से निकाल दें। इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का सम्मान उनके यज्ञ करने के अधिकार के ऊपर अथवा उनके चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति के ऊपर आधारित नहीं था जिसके द्वारा वे राजा का हित करें और राजा उनके वश में रहकर उनका सम्मान करें। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार से कहा जा सकता है कि उनका सम्मान इसलिये नहीं था कि वह एक वर्ग विशेष के थे अथवा उनके पास एक विशेष कार्य था, परन्तु उनका सम्मान इसलिये था कि वे सद्गुणी थे। यह सम्मान राज्य की प्रतिष्ठा के ऊपर भी निर्भर न होकर समाज की श्रद्धा पर आधारित था। समाज की श्रद्धा होने के कारण ही ब्राह्मणों को यह अधिकार दिया जाना भी सम्भव था कि यदि राज्य समाज-विरोधी कृत्य करे अर्थात् यदि वह अत्याचारी हो जाय तो वह (ब्राह्मण) उस पर नियन्त्रण प्रस्थापित करें। इस प्रकार ब्राह्मण का प्रभुत्व अथवा उसको प्रतिष्ठा देने का और उसको पोषण करने का आदेश साम्प्रदायिक वृत्ति का परिचायक न होकर समाज के गुणी व्यक्तियों को योग्य स्थान, महत्व, सम्मान और अधिकार देने का प्रबल आग्रह मात्र था।

किसी सम्प्रदाय को प्रधानता नहीं—वैसे भी राज्य के अन्दर किसी धार्मिक पन्थ अथवा सम्प्रदाय को अर्थात् ईश्वर उपासना की किसी विशेष पद्धति के अनुयाइयों को राज्य में प्रमुख स्थान देने का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत शुक्र नीति में यही कहा है कि "जिन उत्सवों को प्रजा मानती हो उनका पालन राज्य करे। वह प्रजा के ही आनन्द में सन्तुष्ट हो तथा प्रजा के ही दुख में दुखी हो। इसका अर्थ स्पष्ट है कि राज्य के अन्दर के प्रत्येक सम्प्रदाय के जो भी समारोह उस सम्प्रदाय के अनुयायी मनाते हों उन सब उत्सवों को राज्य द्वारा मान्यता तथा सहायता

प्राप्त होना आवश्यक है। फिर जब इतना भी आग्रह भारतीय सामाजिक विचारकों ने नहीं किया कि राज्य किसी विशेष सम्प्रदाय को सहायता दे तो प्रश्न ही नहीं उठता कि राज्य के द्वारा किसी सम्प्रदाय को प्रमुखता मिले अथवा किसी सम्प्रदाय का राज्य के ऊपर विशेष अधिकार हो। इसके विपरीत सभी पाखण्डी समुदायों को मान्यता देने का (वेद-विरोधी सम्प्रदायों को) राज्य से आग्रह है। ऋषियों द्वारा प्रणीत समाज-व्यवस्था के पालन कराने का आदेश राज्य को अवश्य था, परन्तु वह भी किसी साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित होकर नहीं, परन्तु इसलिये क्योंकि वह व्यवस्था मनुष्य के सर्वोत्तम माने गये लक्ष्य— मोक्ष तक पहुँचाने के लिये सर्वश्रेष्ठ मानी गई थी और क्योंकि उसे मूलतः भारतीय समाज ने स्वीकार किया था और उसे व्यवहार में प्रयोग किया था। इसमें भी साम्प्रदायिक आग्रह इतना कम था कि राजा को देश, कुल, जाति के धर्मों को मानने का (अर्थात् इस समाज व्यवस्था से भिन्न स्थानीय प्रथाओं को मानने का) और उन्हें लागू करने का भी आदेश था। इसके अतिरिक्त राजा से यह भी कहा गया था कि वह किसी विजित देश में वहीं की प्रथा को, चाहे वह कुछ भी हों, अवश्य मान्य करे। अर्थात् वह इस समाज व्यवस्था को वहाँ बलपूर्वक लागू न करे। इस प्रकार यद्यपि इस समाज-व्यवस्था के पालन कराने का आग्रह था और वह आग्रह बहुत प्रबल था तथा राज्य की व्यवस्था ही उसी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत और उसी के संरक्षण के लिये थी, परन्तु इस समाज व्यवस्था को पालन कराने का यह आग्रह साम्प्रदायिक भावना से तो प्रेरित नहीं था परन्तु इतना ही नहीं उस आग्रह में भी साम्प्रदायिकता का लेश भी शेष नहीं रखा और इसी कारण इस व्यवस्था के समक्ष स्थानीय प्रथाओं को दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि भारतीय विचारकों का मनुष्य को मोक्ष तक जाने का आग्रह था तथा उसके लिये उन्होंने पूरी व्यवस्था भी निर्माण की थी अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति की पूर्व व्यवस्था तथा आग्रह था फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों की जो धर्म-राज्य की कल्पना थी वह साम्प्रदायिक-राज्य की कल्पना नहीं थी। इतना अवश्य है कि भारतीय व्यवस्था में पश्चिमी व्यवस्था के समान Secular तथा theocratic इस प्रकार के कोई भेद नहीं किये गये थे। मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति रखकर सम्पूर्ण समाज और राज्य व्यवस्था उसी आधार पर निर्माण की गई थी जिससे समाज में योग्य व्यवस्था रख कर तथा मनुष्यों की उन्नति के स्तर के अनुरूप काम सौंपकर उनको धीरेधीरे उस लक्ष्य तक ले जाय। इस कारण भारतीय राज्य व्यवस्था इस दृष्टि से तो अवश्य theocratic कही जा सकती है कि वह समाज में योग्य व्यवस्था निर्माण कर मनुष्य को धीरे-धीरे उन्नत होने में और मोक्ष तक पहुँचने में सहायक होती थी अर्थात् वह भारतीय जीवन प्रणाली में आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप थी परन्तु वह इस दृष्टि से temporal नहीं थी कि उसमें किसी सम्प्रदाय का प्रभुत्व हो अथवा पुजारियों के वर्ग का शासन हो।

राज्य और नैतिकता

अनैतिक साधनों का प्रयोग—धर्म-राज्य होने के पश्चात् भी भारतीय राजनैतिक व्यवस्था और जीवन में कई ऐसे साधनों का अवलम्ब बताया है जो अनैतिक मालूम होते हैं तथा जिनके प्रयुक्त किये जाने के उल्लेख से मन में उन साधनों के प्रति स्वाभाविक रूप से एक प्रकार का विद्रोह का भाव उत्पन्न होता है। वैसे तो सभी ग्रन्थों में इस प्रकार के उपायों का अवलम्ब बताया है—उदाहरण के लिये साम, दान, दण्ड भेद इन चार उपायों में, दान, अर्थात् धन देकर लोगों को अपने पक्ष में करने का तथा भेद, अर्थात फूट डालकर लोगों को नष्ट करने का प्रयत्न, कुटनीतिक उपायों के ही उदाहरण हैं तथा छः गुणों में भी संश्रय अर्थात् किसी वलवान शत्रु का आश्रय लेना तथा द्वैधीभाव अर्थात् एक ओर युद्ध छेड़ने का तथा दूसरी ओर शान्ति वनाये रखने का प्रयत्न भी कूटनीतिक ढंग से काम करने के ही प्रकार हैं। राज्य व्यवस्था का वर्णन करने वाले लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में इनका उल्लेख है। इनके अतिरिक्त भी विभिन्न ग्रन्थों में अनैतिक प्रतीत होने वाले उपायों का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में ऐसे साधनों का संदर्भ मात्र देकर छोड़ दिया है "जब राजा दूसरे वलवान से निश्चित हार जायगा ऐसी सम्भावना हो उस समय शीघ्र ही धार्मिक, वलवान राजा का आश्रय ले। जो प्रकृतियों (सप्त प्रकृतियों) का तथा शत्रु सेना का नियन्त्रण करने में समर्थ हो उस राजा की गुरू के समान सब यत्न पूर्वक सेवा करें। नीतिज्ञ राजा वैसे सब उपाय करे जिससे मित्र, शत्रु और उदासीन अधिक वलवान न हो सकें।" अन्त में मनु ने कहा है कि यह राजनीति का वर्णन संक्षेप में किया गया है। शुक्र नीति में राजकुमारों के सम्बन्ध में ऐसी ही कूटनीति का प्रयोग वताते हुए कहा है कि "दुष्वृत्ति जो दायाद (राजकुमार) हैं उन्हें यत्न पूर्वक राज्य की वृद्धि के लिये व्याघ्र आदि से, शत्रुओं से अथवा छल से मरवा दे।" तथा दूसरे संदर्भ में शुक ने कहा है कि 'सब मित्र राजागण काल की प्रतीक्षा करने वाले छिपे वैरी हैं। इसमें आश्चर्य भी क्या है क्योंकि उनको क्या राज्य का लोभ नहीं ? अतः न राजा का कोई मित्र है और न राजा किसी का मित्र है। प्रायः वे लोग कृत्रिम मित्र होते हैं। कोष के सम्बन्ध में कहा है, "(राजा को) अधर्मशील राजा का सब धन हर लेना चाहिये तथा वह पर-राष्ट्र से भी छल, बल, और दस्युवृत्ति से धन हर ले।" शत्रु की सेना को फोड़ने के विषय में कहा है कि "शत्रु की सेना को भूँठा सोना देकर उसमें (राजा) भेद डाले तथा नित्य विश्वास से सोती हुई, जागने के श्रम से थकी हुई तथा मूत्र परकीय सेना को (वह) नष्ट कर दे"। इस प्रकार ऐसे उपायों का वर्णन शुक्र नीति में है परन्तु सबसे अधिक वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में है तथा शान्तिपर्व में भी थोड़ा उल्लेख है। कौटिलीय में राजकुमारों को केकड़े के समान अपने पिता का भक्षक बताकर फिर उनके विरोध को शान्त करने के विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ढंग वर्णित हैं जिसमें राजकुमार

को मारने, बन्धन में डालने तथा उसको विभिन्न दुर्व्यवसनों में फँसाने अथवा विविध लोगों की निगरानी में रखने का उल्लेख है। इसके अगले अध्याय में राजपुत्र अपने अप्रसन्न पिता के साथ कैसे व्यवहार करे यह बताया गया है। इसमें कहा है कि यदि राजपुत्र को प्राणों का अथवा बन्धन का भय हो तो वह किसी सामन्त का आश्रय ले और वहाँ रहकर कोश और सेना से सम्पन्न हो। विवाह, सन्धि आदि के द्वारा अपने पक्ष को बलवान बनाने का प्रयत्न करे। वह दुष्चरित्रों का धन भी हरकर इकट्ठा करने का प्रयत्न करे तथा अन्त में कोई भिन्न रूप बनाकर राजा का छिद्र देखकर शस्त्र अथवा विष से उसे मार डाले। फिर आगे यह कहा है कि यदि कोई दुष्ट राजकुमार हो और यदि राजा उसे निकाल दे तो उसे गुप्तचरों द्वारा शस्त्र अथवा विष से मरवा दिया जाय, परन्तु यदि उसे राजा ने न निकाला हो (अर्थात् वह स्वयं छोड़कर चला गया हो) तो उसे उसके साथियों द्वारा अथवा स्त्री, पान, मृगया में फँसाकर रात्रि में उसे पकड़कर ले आवे। राजा की रक्षा के लिये पाँचवें अधिकरण में बताया गया है कि यदि राजा के विरुद्ध षड़यन्त्र की सम्भावना हो तो किसी दूसरे पुरुष को राजा के समान बनाकर लोगों के सम्मुख उपस्थित करे, यदि कोई षड़यन्त्रकारी राजकुमार हो तो उसे बाधा वाले देश में चढ़ाई करने भेज दे, यदि कोई सामन्त वश में न आवे तो उसका वन्य जातियों के किसी सरदार से विरोध करा दे अथवा किसी को भूमि देकर उसे पकड़वा दे। द्वेषी सामन्तों को धोखे से बुलाकर मारना भी बताया गया है। दूषित अधिकारियों को मारने के ढंग अथवा दुष्ट, नगर, ग्राम, कुलों को नष्ट करने के ढंग विस्तार से इसी अधिकरण में बताये गये हैं, जिसमें परस्पर कलह के द्वारा, दोष आरोपित कर धोखे से शस्त्र द्वारा, विष द्वारा अथवा कोई बहाना बनाकर मारने और नष्ट करने की विधियाँ बतायी गयी हैं। कौटिल्य ने गणिकाओं का भी प्रयोग राज्य-कार्य के लिये अर्थात् शत्रु राजा के चरों अथवा दुष्ट पुरुषों को मारने अथवा उन्हें प्रभावित करने के निमित्त बताया है तथा सुरागृहों के उपयोग का भी उल्लेख हैं। अपराधियों को खोजने और पकड़ने के लिये तथा कोष को संग्रह करने के लिये भी छलपूर्ण ढंग बताये गये हैं। शत्रु पक्ष में निराशा उत्पन्न कर शत्रु प्रजा में अपनी विजय का विश्वास उत्पन्न करा कर तथा शत्रु पक्ष में लोगों में भेद डालकर उनको अपने पक्ष में करने के शत्रु राजा को धोखे से मारने के, शत्रु पक्ष में गुप्तचर भेजकर उनके द्वारा वहाँ भेद डलवाने तथा शत्रु राजा को विजित करने के बहुत से छद्मपूर्ण उपाय दिये हुए हैं जिनका भी यहाँ विस्तार से वर्णन करना सम्भव नहीं। सम्पूर्ण तेरहवाँ अधिकरण ही शत्रु के साथ व्यवहार करने में जिन छल-छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग करना चाहिये उनसे भरा हुआ है जिसमें शत्रु पक्ष में निराशा उत्पन्न कर, शत्रु प्रजा में अपनी विजय का विश्वास उत्पन्न कराकर तथा शत्रु पक्ष में लोगों में भेद डालकर उनको अपने पक्ष में करने के, शत्रु राजा को धोखे से मारने के, शत्रु पक्ष में गुप्तचर भेजकर उनके द्वारा वहाँ भेद डालने तथा शत्रु राजा को विजयी करने के बहुत से छद्मपूर्ण उपाय दिये

हुए हैं जिनका की यहाँ विस्तार से वर्णन करना संभव नहीं। शान्ति पर्व में भी आपत्तिकाल में धन-संग्रह के सम्बन्ध में कहा है कि उसके लिये प्रजा को दुःख देना तथा उसमें बाधा डालने वाले प्रतिपक्षियों को मार डालना कोई अनुचित बात नहीं है इसलिये दूसरों से धन लूटकर, धन-धान्य छीनकर और अधिक कर लेकर भी कोष संग्रह करना चाहिये अर्थात् इस प्रकार से भी धन निकालना चाहिये जैसे निर्जल स्थान में से भी व्यक्ति जल निकाल लेता है। शान्तिपर्व के अध्याय १३८ तथा १३९ में दो कथाओं द्वारा बताया गया है कि किसी का भी विश्वास नहीं करना चाहिये, जो एक समय मित्र है वही उपयुक्त समय पाकर शत्रु बन जाता है। शान्ति-पर्व के अध्याय १४० में अन्य राजाओं के साथ व्यवहार करने में जिस कूट नीति का वर्णन किया गया है वह अत्यन्त धूर्ततापूर्ण है और धर्म के ग्रन्थ में वैसी नीति पाने की अपेक्षा करना ही कठिन है और उस नीति के प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति अथवा समाज के सम्बन्ध में बुरा विचार ही उत्पन्न होता है।

इन साधनों के प्रयोग के कारण, आवश्यकता और सीमा—संक्षेप में कहा जाय तो इन कूटनीतिक उपायों का वर्णन वहाँ पर पांच विषयों में किया गया है—आपत्तिकाल में कोष संग्रह करने में, राज्य के अपराधियों की खोज करने तथा उन्हें पकड़ने में, राज्यद्रोहियों को नष्ट करने में चाहे वह राजकुमार हों, सामन्त हों, अन्य कर्मचारी हों अथवा प्रजा हो, अधर्मी राजा के साथ व्यवहार करने में तथा शत्रु के साथ व्यवहार में आने वाली राजनीति में। ऐसी स्थितियों में भी इन उपायों का प्रयोग अन्तिम अवस्था में ही बताया गया है और वह भी जब कि यह बहुत आवश्यक हो जाय। यदि हम इनमें से एक-एक विषय को लें तो यह बात देखेंगे परन्तु जैसा शान्ति पर्व में कहा है आपत्तिकाल का यही धर्म मानना चाहिये। कोष के छल छद्म पूर्ण उपायों से संग्रह करने के सम्बन्ध में यह बहुत स्पष्ट किया गया है कि आपत्ति की अवस्था में ही ऐसा किया जाय। शान्ति पर्व में भीष्म ने कहा है कि "आपत्तिकाल के लिये मैं तुझे धर्मपूर्ण उपाय बताता हूँ—वह सुन। परन्तु धर्म के कारण से (उचित न होने से) इसे (स्थायी व्यवस्था) धर्म नहीं कहता।" कौटिल्य ने भी कोश-वृद्धि के उपाय बताते समय प्रारम्भ में इस बात को स्पष्ट किया है कोश रिक्त होने पर आपत्ति आने पर यह सब किया जाय। परन्तु जैसा शान्तिपर्व में कहा है आपत्तिकाल का यहीं धर्म मानना चाहिये। इन उपायों का प्रयोग भी इसलिये बताना आवश्यक समझा गया है क्योंकि नीतिग्रन्थों का यह आग्रह है कि कोई कर दुबारा न लिया जाय तथा इतना अधिक कर न लिया जाय जिससे प्रजा को कष्ट हो। अतः यदि आपत्ति आये और अधिक धन की आवश्यकता हो तो ऐसे साधनों का अवलम्बन आवश्यक है जिनसे यथा सम्भव प्रजा बोझ का भी न अनुभव करे परन्तु कोष-संग्रह भी हो जाय। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि इन उपायों का प्रयोग केवल दूषित और अधार्मिक व्यक्तियों के ही लिये होना चाहिये अन्य लोगों के लिये नहीं, तथा साथ ही साथ यह भी नियम है कि यदि आपत्ति के समय राजा

धनिकों से अधिक धन हरण करे तो वह उस आपत्ति समाप्त होने के पश्चात् व्याज सहित लौटा देना चाहिये। राज्य के अपराधियों की खोज करने में और पकड़ने में छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग बिल्कुल ही अनुचित नहीं कहा जा सकता। और राजद्रोहियों के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि पहिले उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करना चाहिये और यदि वह ठीक न हों तभी सम्भव उपाय से वश में करने का प्रयत्न करना चाहिये। राजपुत्र के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि राजा उसे पहिले योग्य शिक्षा दे, फिर उसे दुर्गुणों से (स्त्री-व्यभिचार से, मद्यपान से, द्यूत से, मृगया से, विद्रोह से) दूर करने का पूरा प्रयत्न करे और यदि इस पर भी वह ठीक न हो तो फिर उसे दण्ड दे। केवल राजपुत्र ही नहीं राज्य के अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी कहा गया है कि उन्हें यथासम्भव धन, मान आदि से संतुष्ट करना चाहिये तत्पश्चात् फिर भेद और दण्ड के द्वारा उन्हें ठीक करना चाहिये। जहाँ तक राजा के विरुद्ध राजपुत्र के विद्रोह का प्रश्न है उसमें राजपुत्र से इसी बात का आग्रह किया गया है कि वह राजा के ही कहने के अनुसार चले परन्तु यदि राजा अर्थात् उसका पिता दूषित हो जाय, अथवा उससे प्रजा असन्तुष्ट हो जाय तो ऐसी स्थिति में उस राजकुमार द्वारा पहिले अपने पिता को समझाने का तथा फिर शासन में लाने का प्रयत्न होना चाहिये। इन सब बातों का विचार करते हुए ऐसा निश्चित कहा जा सकता है कि भारतीय विचारकों ने यदि कहीं ऐसे उपायों का प्रयोग बताया भी है जो ऊपरी दृष्टि से अनैतिक दिखते हैं तो भी वह अत्यन्त बाध्य होकर बताया है—जब उसके बिना और कोई गति न रहे—तथा अन्त में इन अनैतिक उपायों का प्रयोग भी इसी दृष्टि से बताया है कि वह समाज में समुचित व्यवस्था अथवा धर्म निर्माण करने में सहायक होंगे।

शत्रु के साथ तथा धन-संग्रह में कूटनीतिक साधनों का प्रयोग और उसका कारण - छल पूर्ण उपायों का प्रयोग सबसे अधिक परकीय शत्रु के साथ व्यवहार करने में बताया है। वहाँ भी यह तभी बताया है कि जब आवश्यक हो जाय। शुक्र नीति में कहा है कि मित्र के लिये भेद और दण्ड का प्रयोग नहीं होना चाहिये। अतः इन उपायों का प्रयोग सब राजाओं के लिये नहीं है, केवल शत्रुओं के लिये है। शत्रु राजाओं से व्यवहार के विषय में भारतीय विचारकों की यह धारणा थी कि राजाओं के पारस्परिक संघर्ष में वह—चाहे वह संघर्ष खुला हो चाहे प्रच्छन्न— उनके द्वारा सर्वसाधारण रीति से इस प्रकार के उपाय का प्रयोग होगा ही। उन्हें किसी प्रकार के सिद्धान्तों का उपदेश देकर उनसे वर्जित करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। अतः राजाओं से यह आग्रह करने का, कि वह शत्रु से भी सदाचारपूर्ण व्यवहार करें, यह अर्थ होगा कि इन नियमों के द्वारा केवल उन्हीं राजाओं को बांधा जाय जो आग्रहपूर्वक धर्म के अनुसार चलते हैं परन्तु क्योंकि अधर्मशील राजा तो मर्यादा मानते ही नहीं इसलिये उनको तो इससे नियन्त्रित करना सम्भव ही नहीं। अतः जब यह निश्चित ही है कि अधार्मिक राजा उन नियमों का पालन नहीं करेंगे तो उसका परिणाम यह होगा कि धर्मशील राजागण ही एक हानिकारक स्थिति में आ जायेंगे

ग्रौर उन्हीं पर इस नियम का नियन्त्रण होगा जो वैसे ही सद्प्रवृत्तिशील हैं तथा नियन्त्रण में रहते हैं तथा ग्रधार्मिक राजाग्रों को किसी प्रकार से नियन्त्रण में लाना सम्भव नहीं होगा जबकि सबसे ग्रधिक नियन्त्रित करने की ग्रावश्यकता उन्हीं के सम्बन्ध में है । ऐसी दशा में उचित यही है कि धार्मिक राजाग्रों पर भी ग्रधर्मशील राजांग्रों के साथ संघर्ष में, किसी प्रकार का नियन्त्रण न लगाया जाय—इतना ही नहीं वह भी इन उपायों का इस प्रकार प्रयोग करें जिससे वह ग्रधर्मी राजाग्रों को नियन्त्रण में ला सकें। इस प्रकार व्यवहारिक दृष्टि से भारतीय विचारकों ने समझा कि राज्य कर्त्ताओं पर पारस्परिक राजनीति में मर्यादायें लगाने का कोई लाभ नहीं तथा वह हानिकारक भी हो सकता है। ग्राज भी यह बात स्पष्ट दिखाई देती है जबकि भाँति-भाँति के ग्रन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा ग्रन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ होने के पश्चात् भी राज्यकर्त्तागण पारस्परिक व्यवहार में कूटनीति का प्रयोग करने से नहीं चूकते। इसके ग्रतिरिक्त भारतीय विचारकों ने राजाग्रों के समक्ष चक्रवर्तित्व का ग्रादर्श उपस्थित किया था तथा शत्रु विजय का बार-बार ग्राग्रह किया था, (जिसका कारण आगे विस्तार से बताया जायगा)। उसके लिये उन्होंने राजाग्रों को यह भी निर्दिष्ट किया था कि ग्रन्य विजय किस प्रकार की जाय और इसके लिये उन्होंने राजनीति के सभी उपायों का उल्लेख किया था। ग्रन्त में भारतीय विचारकों ने ग्रधिकार-भेद की जो धारणा रखी थी उसके ग्रनुसार उन्होंने राजाग्रों के लिये, उनकी स्थिति ग्रौर ग्रावश्यकता देखकर, उनके अपने कर्त्तव्य तथा प्रतिबन्ध निर्धारित किये थे ग्रौर इसी दृष्टि से उन्होंने राजाग्रों के लिये भी पारस्परिक राजनीति में इन सब साधनों का प्रयोग करने की छूट दी थी। परन्तु इसी ग्रधिकार-भेद के सिद्धान्त के ग्रनुसार उन्होंने शेष समाज को इस कूटनीति के प्रयोग से दूर रखा था तथा समाज में इसका दूषण न फैले इसका पूरा ध्यान रखा था, यद्यपि राजाग्रों के लिये उन्होंने इसे ग्रावश्यक समझा था। इसके ग्रतिरिक्त उन्होंने इस बात का भी ग्राग्रह किया था कि राजागण इस कूटनीति का प्रयोग प्रजा के साथ न करें, प्रजा के साथ तो धर्मपूर्ण व्यवहार ही करें तथा इसका प्रयोग शत्रु के ही लिये सीमित रखें। इन ग्रनैतिक प्रतीत होने वाले साधनों के विषय में शान्तिपर्व में स्पष्टीकरण किया गया है। एक तो उस स्थान पर जहाँ भीष्म ने आपत्तिकाल में धन संग्रह का वर्णन किया है, वहाँ कहा है—"हे भरत-वंशी ! समर्थों का ग्रन्य धर्म है ग्रौर ग्रापत्तिकाल का दूसरा। पहिले कोष होने पर धर्म प्राप्त होता है—अतः वृत्ति (ग्रर्थोपार्जन) इस कारण धर्म से श्रेष्ठ है। इसलिये जो ग्रापत्तिकाल में स्वधर्म है वह भी धर्म लक्षण पूर्ण है, ऐसा सुना जाता है, उसमें अधर्म होता है, ऐसा विद्वान नहीं कहते।" इसके पश्चात् जब भीष्म ने शत्रुग्रों के साथ राजा के कूटनीतिक व्यवहार का वर्णन किया है, युधिष्ठर उससे घबराकर कहते हैं कि "जो ग्रापने घोर कर्म बताया है वह अश्रद्धा के योग्य तथा ग्रसत्य है। ग्रौर इसके पश्चात् वह पूछते हैं कि दस्युग्रों की ऐसी कौन सी मर्यादा ग्रब शेष रह जाती है जिसका मैं त्याग करूँ (अर्थात् यह तो पूर्ण रीति से डाकुओं के योग्य कर्म

हैं)। मुझे संशय हो गया है, मैं विचार में पड़ गया हूँ तथा मेरा धर्म शिथिल पड़ गया है।" वहाँ उसके पश्चात् युधिष्ठिर की शंका के उत्तर में भीष्म कहते हैं कि केवल श्रुति से ही सब धर्म नहीं जाना जाता है परन्तु सज्जन लोग बुद्धि से भी विचार कर धर्माचरण करते हैं। यही विजयाकांक्षी राजा को भी करना चाहिये। धर्म की एक ही शाखा नहीं है, इसलिये मन में कभी संशय नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये। धर्म बताने वाले शास्त्रों का अर्थ यदि क्रोध, मोह आदि के वश होकर (स्वार्थ भावनाऐ) न किया, यदि इन्हें सद् बुद्धि पूर्वक और ज्ञान के आधार पर समझा तो कोई भी आचरण ठीक है। राजा की सृष्टि ही दूसरों के हित के लिये हुई है। अतः उसे भीषण कार्य करने ही पड़ते हैं क्योंकि यद्यपि अवध्य का वध करने में दोष है परन्तु वध्य का वध न करने में भी दोष होता है। इसलिये राजा को तीक्ष्ण होकर ही प्रजा को स्वधर्म में स्थापित करना चाहिये और जो ऐसा नहीं करता वह राज दुर्बल ही है।

५. राज्य के उद्देश्य और कार्य

राज्य के दो उद्देश्य – इस सब विवेचन के पश्चात् अब यहाँ पर राज्य का उद्देश्य और उस उद्देश्य के अनुरूप राज्य के कार्यों पर विचार करना है। राज्य की आवश्यकता का विचार करते समय तथा इस अध्याय के प्रारम्भ में राज्य के उद्देश्यों का संदर्भ आया है। भारतीय विचार में मनुष्य जीवन का लक्ष्य मोक्ष रखा गया है परन्तु मोक्ष की ओर तभी बढ़ना सम्भव है जबकि व्यक्ति जीवन की सांसारिक चिन्ताओं से अपना मन मोक्ष प्राप्ति के लिये लगा सकता है। अतः सांसारिक चिन्ताओं से अधिकाधिक मुक्त हो अर्थात् यदि समाज के जीवन में कोई दुर्व्यवस्था नहीं हो, सब लोग अर्थ और काम का धर्मानुसार अर्थात् मर्यादानुसार उपभोग करने के लिये स्वतन्त्र हों और उनके इस उपभोग में किसी प्रकार की बाधा न हो तथा यदि उन्हें जीविकोपार्जन की चिन्ता न सताती हो। संक्षेप में यदि व्यक्ति को जीवन और उपभोग की दृष्टि से सुरक्षा का अनुभव होता है तभी व्यक्ति सांसारिक चिन्ताओं से (चाहे जीवन की हों, चाहे क्षुधा की हों, चाहे अपना व्यवसाय ठीक से चलाने की हों, चाहे दूसरों द्वारा उसका धन छीन लेने की हों) व्यक्ति को मुक्त करना अर्थात् व्यक्ति और समाज का सभी आपत्तियों से संरक्षण करना और कष्टों को दूर करना अर्थात् प्रजा (समाज) का सरक्षण और पालन राज्य का एक उद्देश्य है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस उद्देश्य के अन्तर्गत दो बातें आती हैं एक तो समाज और व्यक्ति-जीवन का विभिन्न आपत्तियों से तथा कष्ट देने वालों से संरक्षण तथा दूसरे समाज जीवन का पोषण जिससे समाज सुखपूर्ण और समृद्ध जीवन व्यतीत कर सके। परन्तु इसके अतिरिक्त एक दूसरा भी उद्देश्य है। भारतीय शास्त्रकारों ने जो समाज व्यवस्था वर्णित की है वह व्यवस्था भी मोक्ष प्राप्ति मे सहायक है। अतः उस समाज-व्यवस्था का सरक्षण और इस बात का ध्यान कि कोई उसे भंग न करे अर्थात् सब लोग स्वधर्म का पालन करे यह भी भारतीय विचार के अनुसार राज्य का एक उद्देश्य है। इन दोनों उद्देश्यों को इस ढंग से कहा जा सकता है कि

समाज और व्यक्तियों के लिये धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्ग के उपभोग में तथा इसकी व्यवस्था में किसी प्रकार की कठिनाई न पड़े तथा किसी प्रकार की बाधा न आए इसके लिये राज्य था।

राज्य के इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार राज्य के कार्य भी निश्चित किये गये थे। ये कार्य निम्नलिखित प्रकार के हैं—

(१) **समाज-व्यवस्था सम्बन्धी कार्य**—(अ) एक कार्य तो है वर्णाश्रम धर्म के पालन की ओर ध्यान देना तथा देखना कि सब लोग स्वधर्म का पालन करें क्योंकि यह स्वधर्म स्वर्ग और मोक्ष का देने वाला है। इसी उद्देश्य के अन्तर्गत (तथा साथ ही साथ प्रथम उद्देश्य के भी अन्तर्गत) एक (आ) अन्य कार्य है, जिसका पीछे बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है, अधर्मियों को दण्ड देना तथा धार्मिकों का संरक्षण करना। इसके अन्तर्गत यह कार्य है कि (इ) समाज-व्यवस्था के पृथक्-पृथक् नियमों का राज्य पालन करवाने तथा जो उनका पालन न करें उन्हें राज्य दण्ड दे। इस उद्देश्य के अन्तर्गत एक अन्य कार्य है कि समाज-नियमों (ई) का उचित अर्थ करवाकर उनके अनुसार धर्म-निर्णय करना तथा प्रायश्चित का विधान बताना तथा यदि व्यक्ति प्रायश्चित न करे तो उसको दण्ड देना। (उ) पाँचवा काम इस व्यवस्था के अन्तर्गत है व्यवहार के नियमों के अनुसार न्याय करना। इस उद्देश्य के अन्तर्गत सबसे अन्तिम काम है समाज के आध्यात्मिक जीवन में सहायक होना जिसमें मन्दिरों का निर्माण, उत्सवों का पालन, देव पूजा तथा धार्मिक दृष्टि से काम में आने वाली वस्तुओं से कर न लेना सम्मिलित हैं।

(२) **रक्षा-सम्बन्धी कार्य**—राज्य के अन्य सब कार्य प्रथम उद्देश्य के अन्तर्गत सम्मिलित किये जा सकते हैं। इसमें सबसे प्रथम कार्य है नगर और देश की रक्षा की व्यवस्था। इसका सबसे विस्तृत वर्णन कौटिल्य ने किया है। देश की व्ययस्था में बताया है कि समाहर्त्ता नाम का अधिकारी गावों की आय, धान्य, पशु,सुवर्ण तथा अन्या वस्तुओं को निबन्धित करले। इसके अतिरिक्त ग्राम और खेतों की सीमाएँ, ग्राम के अन्दर के विभिन्न स्थान (वन, देवालय, श्मशान, उद्यान, प्याऊ, चरागाह आदि भी) निबन्धित होने चाहिए। विभिन्न व्यक्ति और उनका व्यवसाय, पशु, पक्षी आदि की गणना भी उसमें होनी चाहिए। समाहर्त्ता को कुल के प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र, आय, व्यय ज्ञात रहना चाहिए। गुप्तचरों के द्वारा परदेशियों,दुष्टों तथा शत्रुओं का भी ज्ञान रहना उचित है। गुप्तचरों में व्यापारी बताये गये हैं जो खान, वन, कारखाने, खेतों की उपज का, आयात-निर्यात का जल स्थल मार्गों का व्यापारियों द्वारा दिये जाने वाला करों का ज्ञान रखेंगे। तपस्वी, गुप्तचर, किसान, ग्वाले, सरकारी कर्मचारियों का ज्ञान रखेंगे तथा चोरों के वेश में रहने वाले गुप्तचर चोर और शत्रुओं का। नगर की व्यवस्था में जाति, नाम, कार्य, आय, व्यय, पशु आदि की जानकारी तो रखनी आवश्यक ही है। साथ ही साथ नगर की व्यवस्था में अग्नि-रक्षा, स्वच्छता, चोरी और व्यभिचार की रोकथाम का भी वर्णन है। बाहर से आने वाले सभी व्यक्तियों की सूचना भी नगर

अधिकारियों को होनी चाहिये। यदि कोई अत्यंत व्यय करे, अनुचित कर्म करे अथवा यदि चिकित्सक किसी का गुप्त उपचार करे तो इसकी सूचना भी नगर अधिकारी को होनी चाहिये। अपराधों की सूचना न देने वाले व्यक्तियों अथवा रक्षा न करने वाले रक्षकों को दण्ड देने का उल्लेख है। कौटिल्य ने इसके आगे अग्नि, बाढ़, व्याधि (संक्रामक रोग), दुर्भिक्ष, चूहें और हिंसक जन्तुओं से रक्षा के विविध उपाय बताये हैं तथा विष देने वालों, चोर, व्यभिचारी, लुटेरे, हत्यारे, बलात्कार करने वाले तथा अन्य अपराधियों से रक्षा कर उन्हें दण्ड देने का विधान बताया है। मनुस्मृति में तथा शान्तिपर्व में यह रक्षा की व्यवस्था अति संक्षेप में बताई गई है तथा शुक्र नीति और आपस्तम्ब में भी इस प्रकार की रक्षा का वर्णन है। रक्षा की उपरोक्त व्यवस्था में एक प्रमुख कार्य है कि राज्य द्वारा प्रजा की धन-सम्पत्ति की सुरक्षा हो। ऐसा किसी को अनुभव न होना चाहिये कि उसके पास जो कुछ है वह अरक्षित है और वह उसका उपयोग न कर सकेगा। यदि ऐसी धारणा बनी तो फिर धनोत्पादन का सब भाव ही नष्ट हो जायेगा और समाज की भौतिक व आर्थिक उन्नति न हो सकेगी। चोरों से समाज की रक्षा का उल्लेख बहुत विस्तार के साथ मनुस्मृति में कौटिलीय अर्थशास्त्र में तथा शुक्र नीति में उल्लेख किया गया है तथा राज्य की उत्पत्ति के वर्णन में बताया गया है कि अराजक अवस्था में कोई यह नहीं कह सकता कि यह वस्तु मेरी है और राज्य के होने से व्यक्ति इस प्रकार की सुरक्षा अनुभव करता है। इसीलिये यह कडा नियम है कि यदि राज्य द्वारा चोरों का पता न लगाया जा सके तो चोरी गया हुआ (तथा लुटा हुआ) सब धन राज्य द्वारा वापिस होना चाहिये। परन्तु राज्य-अधिकारी भी प्रजा की वस्तुओं की रक्षा में सतर्क रहें इसलिये यह भी कहा गया है कि राज्य वह धन संबंधित अधिकारियों से ले ले। नाविक विभाग के अध्यक्ष को भी आज्ञा है कि यदि जीर्ण नौका तथा अरक्षित नौका के कारण किसी की हानि हो जाय तो नौकाध्यक्ष उसे अपने पास से दे। समाज की चोरों और लुटेरों से सुरक्षा की इससे अधिक अच्छी पद्धति नहीं रखी जा सकती। चोरों से समाज की रक्षा का उल्लेख बहुत विस्तार के साथ मनुस्मृति में किया गया है तथा कौटिल्य में और शुक्र में भी किया गया है। इस आर्थिक रक्षा में चोरी के उपरोक्त विधान के अतिरिक्त धनिकों की तथा व्यापारियों की अर्थात् वैश्यों की रक्षा भी बताई गई है क्योंकि उन्हीं के ऊपर सम्पूर्ण समाज की समृद्धि निर्भर करती है। शुक्र ने कारीगरों की तथा वस्तु निर्माण करने वाले, धातु यंत्रों की भी सुरक्षा का आग्रह किया है। व्यापारियों की रक्षा के लिये यह नियम है कि राजा वस्तु का मूल्य, व्यय, मार्ग का कष्ट आदि सब देखकर व्यापारियों पर कर लगाये और ऐसा न करे कि उससे व्यापारी नष्ट हो जाय। व्यापारियों की ही रक्षा से संलग्न है मार्ग की रक्षा जिसमें जल मार्ग की भी रक्षा का वर्णन है। मार्गों को रोक लेने तथा उन्हें खेती आदि के लिये नष्ट करने पर भी दण्ड का विधान है। मार्गों पर सेतु बनाने का भी आग्रह है। आर्थिक सुरक्षा के अतिरिक्त

दूसरी महत्वपूर्ण रक्षा है कण्टकों से रक्षा। कण्टकों के रूप में प्रमुख रीति से व्यापारी, कारीगर, प्रशासकीय कर्मचारी, चोर, लुटेरे, व्यभिचारी, हत्यारे आदि गिने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कौटिल्य ने इसमें अग्नि, बाढ़, व्याधि, दुर्भिक्ष आदि को भी सम्मिलित किया है। चोर, लुटेरों तथा व्याधि, दुर्भिक्ष आदि से रक्षा के विषय में तो पहले ही बता दिया गया है। व्यापारियों से प्रजा की रक्षा के लिये यह नियम बनाए गए हैं कि राज्य द्वारा तौल और नाप के साधनों पर मुहर लगनी चाहिये तथा ऐसे ही मुहर लगे बाट, गज आदि ही प्रयोग किये जाने चाहिये तथा इन साधनों की बीच-बीच में जांच होती रहनी चाहिये; वस्तुओं में किसी प्रकार का मिश्रण न होना चाहिये; तथा वस्तुओं के मूल्य सारी बातें देखकर राज्य को निश्चित कर देने चाहिये जिससे व्यापारी गण मनमाना मूल्य न ले सकें। इस पर भी यदि व्यापारी निश्चित मूल्य से अधिक लें अर्थात् मनमाना लाभ लें, तोल में घट-बढ़ करें, घटिया माल को बढ़िया बताकर अथवा नकली को असली बताकर बेचें अथवा माल को बिकने से रोककर बाद में बढ़े हुए मूल्य से बेचें अथवा यदि तोल में गड़बड़ करें अथवा अधिक लाभ लें अथवा मिलावट करें तो उन्हें दण्ड होना चाहिये। कारीगरों के द्वारा भी जो बेईमानी होती है उसे भी रोकने का आग्रह है और कारीगरों की श्रेणी में कौटिल्य ने जुलाहे, धोबी, दर्जी, सुनार, लुहार, वैद्य को सम्मिलित किया है। चरक तथा सुश्रुत का भी कहना है कि राज्य को चाहिये कि वह अयोग्य वैद्यों को काम न करने दे। सुरा पीने वाले तथा गणिकाओं के ऊपर नियंत्रण के भी नियम हैं जिससे वह दूसरों को कष्ट न दे सकें। सरकारी कर्मचारियों के विषय में याज्ञवल्क तथा अग्नि पुराण का कहना है कि प्रजा की रक्षा विशेष रूप से कायस्तों (सरकारी कर्मचारियों) से होनी चाहिये। मनु ने ऐसा ही आग्रह किया है। शान्तिपर्व में दूषित कर्मचारियों से उत्पन्न होने वाली हानि को बताने के लिये दो कथाएँ कहीं गई हैं जिनमें बताया है कि यदि इन कर्मचारियों के कोई दोष बताये, इनकी बेईमानी को रोकने का तथा इन पर नियंत्रण रखने का प्रयत्न करे तो ये उसे नष्ट करना चाहते हैं। कर्मचारियों का सबसे प्रमुख दोष है है रिश्वत जिससे वह प्रजा को पीड़ित करते हैं। इसलिये कौटिल्य ने इन सरकारी कर्मचारियों की गुप्तचरों द्वारा जाँच करने का ढंग बताया है कि ये कर्मचारी रिश्वत लेते हैं अथवा नहीं। बाद में कण्टक के रूप में अधिकारियों का वर्णन करते हुए इनके विभिन्न अपराधों का जैसे—गबन, जनता की वस्तु हड़प लेना, बलपूर्वक छीनना, स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार का वर्णन किया है। इसी अध्याय में न्यायाधीश के रूप में कार्य करने वाले लोगों की गड़बड़ियाँ भी बताई गई हैं। सैनिकों से प्रजा की रक्षा करने का भी शुक्र नीति में उल्लेख है तथा कौटिल्य ने इस प्रकार का आग्रह किया है कि यदि लोग राजा को नहीं देख पाते तो उसके निकटस्थ लोग राज्य-अधिकारी प्रजा को कष्ट देते हैं। रक्षा की ही दृष्टि से दीनों और दुर्बलों की रक्षा का आग्रह है जिसमें शान्तिपर्व में कहा है कि "निर्धन

मनुष्य यदि मारा जाता हो और उसकी कोई रक्षा न करे तो भीषण और बड़ी दैवी आपत्ति आती है। यदि प्रजा ब्राह्मणों के समान भिक्षा मांगने लगती है तो वे भिक्षु के रूप में रहने वाले लोग राजा का नाश करते हैं।" इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि राजा को न तो दुर्बलों का अपमान करना चाहिये, न उन्हें कष्ट देना चाहिये, न उनका धन छीनना चाहिये, न उन पर झूठा दोषारोपण करना चाहिये। राज्य का यह भी एक कार्य बतलाया गया है कि वह बालकों, स्त्रियों तथा अन्य अनाथों के धन की रक्षा करे और जो इनके धन को छीने तो उन्हें दण्ड दे। कौटिल्य ने धन के अतिरिक्त इन लोगों की स्वयं की रक्षा का भी आग्रह किया है। रक्षा का एक अन्य कार्य है न्याय जिसके द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक संघर्ष दूर होते हैं और उनकी अन्याय से तथा अन्य लोगों के आक्रमण से रक्षा होती है। सार्वजनिक जीवन की भी रक्षा का आग्रह है और इस दृष्टि से कहा गया है कि राज्य को यह देखना चाहिये कि सब लोग समाज हित की दृष्टि से कार्य करें और जो समाज-विरोधी कार्य करें उन्हें दण्ड दिया जाय। कौटिल्य में, यह नियम है कि पड़ौसी की आपत्ति आने पर सहायता न करने वाले, बांध अथवा पुल तोड़ने वाले, समाज-हित की कोई बात कहे तो उसे न मानने वाले, आग लगने पर न दौड़ने वाले, मार्गों को सार्वजनिक स्थानों के मलोत्सर्ग आदि के द्वारा गन्दा करने वाले लोगों को दण्ड दिया जाय तथा जो धन का अपव्यय करते हैं अथवा कंजूस है उनका धन राजा छीन ले। मनुस्मृति में भी यह सब नियम है तथा इसके अतिरिक्त सार्वजनिक स्थान तथा देवालयों को नष्ट करने पर भी दण्ड बताया गया है और ऐसे चिकित्सकों पर भी दण्ड है जो गलत चिकित्सा करें। अग्नि पुराण में भी यही नियम हैं। व्यभिचारी और चोर को न पकड़वाने वाले को दण्ड याज्ञवल्क्य स्मृति में भी बताया है।

बाह्य-सुरक्षा—यह सब कार्य आन्तरिक सुरक्षा के हैं परन्तु आन्तरिक सुरक्षा के अतिरिक्त बाह्य आक्रमण से सुरक्षा का भी राज्य का कार्य है। भारतीय राज्य-व्यवस्था में इसे नकारात्मक रूप में बाह्य आक्रमण से सुरक्षा न कहकर शत्रु पर विजय पाने का कार्य कहा गया है और वह इसलिये कि उन्होंने राजा के सामने वीरता का, युद्ध में विजयी होने का तथा सार्वभौम साम्राज्य का आदर्श उपस्थित किया है और यद्यपि राजा को क्रोध करना मना किया गया है परन्तु शत्रु के साथ तो क्रोध ही उचित बताया है।

रक्षा के इस कार्य को भारतीय राजनीति ग्रन्थों ने इतना महत्वपूर्ण समझा है कि यह कहा गया है कि राज्य जो कर प्राप्त करता है यह प्रजा को रक्षा के बदले में है तथा यदि वह कर लेकर भी राजा रक्षा न करे तो वह चोर है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि रक्षा करने पर राजा को प्रजा का पुण्य के अंश प्राप्त होता है तथा रक्षा न करने पर राजा प्रजा के पाप का भागी होता है। यहां जब 'रक्षा' शब्द का प्रयोग किया गया है तो उपरोक्त सभी अर्थों में रक्षा करने का आग्रह है। राज्य के रक्षा के कार्य को यज्ञ भी

बताया गया है जिसे जीवन पर्यन्त करना चाहिये तथा यह भी कहा गया है कि रक्षा न करने वाले राजा का नाश हो जाता है।

(३) **प्रजा-पालन के कार्य**—जैसा बताया गया है रक्षण के कार्य के ही साथ राज्य का उद्देश्य प्रजा-पालन का भी है। प्रजा-पालन करने के कारण राजा को प्रजा का पिता बताया गया है अर्थात उसे चिन्तापूर्वक और कष्ट सहकर भी प्रजा का संवर्धन और पोषण कर प्रजा के दुखों को इस प्रकार दूर करना चाहिये जिस प्रकार पिता पुत्रों के लिये करता है। प्रजा पालन के कार्यों में सबसे प्रथम है नगर-निर्माण का कार्य। कई स्थानों पर तो इसका संक्षेप में उल्लेख किया गया है परन्तु विस्तार से भी नगर-निर्माण का वर्णन कई स्थानों पर बताया गया है जिसमें बाजार, विभिन्न जातियों के घर, राज्य-कार्यालय, सुरक्षा के साधन आदि का उल्लेख है। नगर निर्माण ही नहीं, बाजार, जलाशय, मार्ग, पुल निर्माण का और वृक्षारोपण का अथवा इनको निर्माण में सहायता देने का भी राज्य का काम है। नारद पुराण में राज्य द्वारा जलाशय निर्माण करने की एक बहुत ही रूचिकर कथा दी गई है जिसमें बताया है कि जब एक राजा अपने मंत्री के साथ मृगया के निमित्त गया तो उसे एक स्थान पर बहुत प्यास लगी और मंत्री ने बहुत खोजकर पानी का एक गढ़ा ढूंढकर उसमें से राजा को पानी पिलाया। फिर मंत्री ने जब राजा की अनुमति ले उस स्थान पर बड़ा पक्का तालाब बनवाया तो उस पुण्य के कारण राजा तथा मंत्री दोनों स्वर्ग गये। जब राज्य को इन विभिन्न आवश्यक वस्तुओं के निर्माण का कार्य दिया गया है तो उसमें यह तो सन्निहित है ही कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा निर्माण कार्य कराये तो राज्य उसमें आवश्यक सहायता दे। "राजा नदियों अथवा झरनों के बांध बनवाए। यदि अन्य कार्य करवाये तो भूमि, वृक्ष, मार्ग आदि अन्य सामग्री देकर उनकी सहायता करे। इसी प्रकार पुण्य स्थान (धर्मशाला, पौशाला आदि) तथा उद्यानों के सम्बन्ध में भी" समाज की विभिन्न आपत्तियों से रक्षा के लिये (जैसे दुर्भिक्ष, वाह्य आक्रमण आदि के लिये अन्न तथा अन्य वस्तुओं के संग्रह का भी राज्य का कार्य है। संग्रह के योग्य वस्तुओं में कौटिल्य ने धान्य, स्नेह (तेल-घी आदि), क्षार (गुड़, राब आदि), लवण, शुष्क (शहद, रस आदि), शाक, कोयले, लकड़ी, पशु आदि बताये हैं तथा शान्तिपर्व में कास, लोहा, भूसी, कोयला, सींग, हड्डी, बांस, मज्जा, स्नेह, शुक्र, औषधि, सन, राल, रस, धान्य, आयुध, बाण, चमड़ा, तांत, मूंज, रस्सी और जल का उल्लेख है। ऐसा ही सूचियाँ, मनुस्मृति तथा शुक्र नीति की हैं। अन्न के विषय में बताया है कि इतना अन्न हो जिससे तीन वर्ष को पूरा पड़ जाय और उसमें से यदि कुछ व्यय हो तो वह तुरन्त पूर्ण किया जाय तथा नवीन वस्तुओं के आने पर प्राचीन वस्तुओं को हटा दिया जाय, इस निर्माण कार्य के अतिरिक्त समाज के पोषण का भी कार्य है। कामन्दक का कहना है कि राजा को सबकी जीविका का विचार करना चाहिये; कौटिल्य ने कहा है कि राजा दुर्भिक्ष और व्याधि देश में न होने दे; शुक्र का कहना है कि धनहीन प्रजा की राजा रक्षा करे

तथा शान्तिपर्व में कहा है कि जिनका भोग्य माँगने का कार्य नहीं है (ब्रह्मचारी, सन्यासी आदि) वे यदि आपत्ति के समय याचना करें तो भय अथवा दया से नहीं परन्तु धर्म समझकर उन्हें अन्न देना चाहिये और यदि देश की प्रजा भिक्षा मांगने लगती है तो राजा का नाश हो जाता है। इस कारण यह आग्रह है कि राजा दूसरों के भोजन की चिन्ता किये विना भोजन न करे अर्थात विभाग कर स्वयं भोजन करे तथा सत्पुरूषों की आजीविका की राजा व्यवस्था करे राजा को विभिन्न देवताओं का जो अंश बताया गया है (देखिये आगे) उसमें भी इस बात का उल्लेख हैं तथा इसी दृष्टि से राजा की वरूण से तुलना की गई है। समाज में लोग धन का ठीक ढंग से ही प्रयोग करें यह देखना भी राज्य का कार्य है। इसलिए असज्जनों से धन छीन लेना चाहिए तथा धन सज्जनों को देना चाहिए और जो कंजूस हैं अथवा अपव्यय करते हैं उनसे धन छीन लेना चाहिए। राज्य को निर्बलों की सहायता करनी चाहिये इसलिये बालक, वृद्ध, रोगी, निर्धन, अनाथ तथा स्त्रियों की सहायता करने का राजा से आग्रह है; सभापर्व में अन्धे, बहरे, लंगड़े आदि का भी राजा के द्वारा पिता के समान पालन करने का आग्रह है। कौटिल्य ने धर्माधिकारियों से कहा है कि वे ऊपर बताये गये लोगों के पास जाकर उनके कार्यों की देखभाल करें।। इनमें से स्त्रियों के पोषण के लिये कौटिल्य ने व्यवस्था भी की है कि विधवा, अंगहीन, कन्या, दासियों आदि को राज्य की ओर से कार्य दिया जाय और जो घर से बाहर नहीं निकल सकतीं उन्हें घर पर काम भिजवाया जाय तथा अधिकारियों के व्यभिचार से उनकी रक्षा की जाय तथा उन्हें ठीक समय पर वेतन दिया जाय। शिक्षा में सहायता करना भी राज्य का कर्त्तव्य है। गौतम ने कहा है कि वेदपाठी ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी की व्यवस्था राज्य करे। शुक्र नीति में कहा है कि राजा इस प्रकार कार्य करे जिससे विद्या और कला की उन्नति हो तथा राजा से विद्वानों का सत्कार करने का भी आग्रह है। ब्राह्मणों को जिसके अन्तर्गत शुक्र, तपस्वियों, श्रुतिस्मृति विशारद, पौराणिक शास्त्रों के ज्ञाता, ज्योतिषी, ऋत्विज, आयुर्वेद ज्ञाता, कर्मकाण्ड के ज्ञाता, तंत्रों के ज्ञाता तथा अन्य गुणवान श्रेष्ठ, बुद्धिमान, जितेन्द्रिय ब्राह्मणों को सम्मिलित किया है। दान देने का जो आग्रह है वह भी एक प्रकार से शिक्षा की ही सहायता है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त तपस्वियों के भी पोषण का राज्य का कार्य है जिसका उल्लेख शुक्रनीति अग्नि-पुराण तथा शान्तिपर्व में है तथा शान्तिपर्व में इस बात को विशेष आग्रह के साथ कहा गया है।

(४) **आर्थिक कार्य**—समाज जीवन की सहायता का यह कार्य तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि आर्थिक जीवन की पूर्ण सुव्यवस्था न हो। इसलिये राज्य को समाज के आर्थिक जीवन में पूर्ण सहयोग करना आवश्यक है। राज्य के चार कार्यों में इसका उल्लेख है कि रक्षित किये हुये राज्य की वार्ता (व्यापार आदि के) द्वारा राजा उन्नति करे। वार्ता का महत्व नीतिशास्त्र के सभी ग्रन्थों में

वर्णित है। कौटिल्य ने इसे उपकारी विद्या बताया है कि इसके आधार पर कोश और दण्ड (सेना) होने के कारण इससे अपने राज्य को तथा पर राज्यों को वश में रखा जा सकता है। शुक्र तथा कामन्दक का कहना है कि जो राजा वार्ता के आधार पर सम्पन्न है उसे वृत्ति का (साधन का) भय नहीं होता। कौटिल्य ने कोश प्राप्ति करने के साधनों में अधिक अन्न उत्पन्न होने का (कृषि) तथा अच्छे व्यापार का भी उल्लेख किया है। शान्ति पर्व में भी राजा को वार्ता की उन्नति का आदेश देते हुए कहा है कि यदि इनके ऊपर संकट पड़ता है तो राजा की निन्दा होती है। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य तथा पशु पालन आता है। पशुओं के लिये राज्य द्वारा चरागाह की व्यवस्था होनी चाहिये। पशु-रक्षा के विविध नियम भी 'व्यवहार' के स्वामिपाल अंश में बताए गए हैं। कृषि के विषय में सिंचाई की दृष्टि से जलाशय बनवाने का उल्लेख तो ऊपर ही किया गया है परन्तु सभापर्व में कृषि के लिये सिंचाई के साधन बनवाने का स्पष्ट उल्लेख है जहाँ कहा गया है कि "राजा को देश के विभिन्न भागों में जल से भरे तालाब बनवाने चाहिये और यह देखना चाहिये कि कृषि केवल देव पर ही निर्भर न रहे" कौटिल्य ने भी दस हल की खेती में एक कुएँ का आग्रह किया है; सिंचाई के साधन निर्माण करने वालों तथा ठीक करने वालों के कर में पाँच वर्ष तथा तीन वर्ष छूट का नियम बताया है तथा सिंचाई के नियम भी विस्तार से कौटिल्य ने बनाये हैं। सिंचाई के अतिरिक्त भी कृषि की उन्नति कराने का आग्रह किया गया है। शुक्र नीति में तथा मनुस्मृति में खेती की रक्षा का आग्रह है। पशुओं से खेती की रक्षा के नियम बताये गये हैं। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि राज्य द्वारा बीज का संग्रह होना चाहिए। कृषि विभाग का अध्यक्ष कृषि-शास्त्र और वृक्ष-आयुर्वेद में निपुण होना चाहिए। यह भी नियम है कि यदि कोई खेती न करे तो राज्य को उसकी भूमि छीनकर अन्य को दे देनी चाहिए अथवा हर्जाना ले लेना चाहिए, कृषकों की धान्य, पशु, वन से सहायता होनी चाहिए, ग्रामों में विहार शालाओं के द्वारा गायकी, नर्तक आदि के द्वारा विघ्न नहीं होना चाहिए क्योंकि ये न होने से कृषक अपने कार्य में रहेंगे अन्यथा खेती की हानि होगी; राजा किसानों पर कर आदि का अधिक बोझा न डाले तथा खेती की चोर, हिंसक जंतु, व्याघ्र, पशुओं से रक्षा करे, जो समय पर बीज न बोये उसे दण्ड दिया जाय तथा यदि कोई खाली पड़े दूसरे के खेत को ठीक करले तो पाँच वर्ष तक उसे उसके उपयोग की अनुमति दी जाय। तथा मनुस्मृति में खेती की रक्षा का आग्रह हो। यह भी कहा गया है कि राज्य द्वारा बीज का संग्रह होना चाहिये, तथा कृषि का अध्यक्ष कृषि शास्त्र और वृक्ष-आयुर्वेद में निपुण होना चाहिये। यह भी नियम है कि यदि कोई खेती न करे तो राज्य उसकी भूमि अन्य को छीनकर दे दे अथवा हर्जाना ले ले, कृषकों की धान्य, पशु, धन से सहायना करे राजा किसानों पर कर आदि का अधिक बोझा न डाले तथा खेती की चोर, हिंसक जन्तु, व्याधि, पशुओं से रक्षा करे यदि कोई खेती न करे

तो राज्य उसकी भूमि छीनकर अन्य को दे दे अथवा हर्जाना ले ले जो समय पर बीज न बोवे उसे दण्ड दे तथा यदि कोई खाली पड़े दूसरे के खेत को ठीक करले तो पांच वर्ष तक उसके उपभोग की अनुमति दी जाय। व्यापार के सम्बन्ध में पहिले ही बता दिया गया है कि व्यापारियों की रक्षा करने का राज्य से आग्रह है। इसलिये यह नियम बताया है कि लाभ-व्यय आदि देखकर व्यापारियों से कर लिया जाय जिससे कि उन्हें घाटा न पड़े। व्यापारियों से प्रजा की रक्षा के नियमों का तोल, बाट तथा वस्तुओं के मूल्य निश्चित करने के अथवा मिलावट आदि अन्य बेईमानी रोकने के पहिले उल्लेख किया गया है। व्यापारियों की रक्षा के अतिरिक्त व्यापार की वृद्धि के लिये व्यापारियों की सहायता का भी राज्य से आग्रह है। वस्तुओं के आयात-निर्यात पर राज्य द्वारा आवश्यकतानुसार नियंत्रण लगाने का नियम है और कौटिल्य ने शस्त्र, वर्म, कवच, लोह, रथ, रत्न, धान्य, पशु आदि को ऐसी वस्तुओं की सूची में रखा है। कौटिल्य और मनु ने यह भी कहा है कि यदि कोई व्यक्ति मना की हुई वस्तु का निर्यात करे तो उसका सब माल छीन लिया जाय। शुक्र का भी कहना है कि कुछ विशेष वस्तुओं का विक्रय राज्य की आज्ञा के बिना नहीं होना चाहिए। यथा पशु, मनुष्य, धन, विष और मादक द्रव्य। यह भी नियम कौटिल्य ने बताया है कि उपभोग की वस्तुओं को बिना शुल्क के राज्य के अन्दर आने दिया जाय तथा राष्ट्र के लिये हानिकारक वस्तुओं को (जैसे विषपूर्ण फल) नष्ट करा दिया जाय। व्यापार पर नियन्त्रण रखने के लिये व्यापारियों के पास राजकीय मुद्रायुक्त आज्ञा पत्र आवश्यक बताया है क्योंकि इसी से राजा का नियंत्रण रहता है। कौटिल्य ने यह भी कहा है व्यापारियों के तथा उनके माल के संबंध में पूरी जानकारी लिखने का भी नियम है क्योंकि इसी से राजा का व्यापार पर नियंत्रण रह सकता है। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि यदि किसी वस्तु का मूल्य आवश्यकता से अधिक घट, बढ़ गया है तो उसको मोल ले कर अथवा बेचकर उसका मूल्य घटवा, बढ़वा दे, परन्तु इसमें प्रजा के लाभ का ध्यान रखा जाय तथा किसी वस्तु का मूल्य आवश्यकता से अधिक न होना चाहिये। खान की व्यवस्था करना भी राज्य का कार्य है क्योंकि उस पर राज्य का ही अधिकार है। परन्तु राज्य द्वारा खानों के स्वयं संचालन का उल्लेख नहीं हैं अपितु यही बताया गया है कि राज्य उनके संचालन का कार्य दूसरों को देकर उसमें से कुछ भाग ले ले। इसलिये यह भी कहा है कि यदि बिना आज्ञा कोई खान में से द्रव्य ले ले तो राज्य द्वारा उसे दण्ड दिया जाय। खानों के अतिरिक्त वनों की भी राज्य द्वारा व्यवस्था का कौटिल्य ने उल्लेख किया है। तथा यह कहा है कि खेती के अयोग्य भूमि में वन छोड़ दिया जाय जिसमें वृक्ष और पशु रहें, जिसमें मृगया की व्यवस्था हो, हाथी रह सकें तथा यज्ञ करने वाले तथा तपस्वियों के लिये तपोवन हो। आर्थिक व्यवस्था के नियमन के लिए ऋण लेवे देवे, गिरवी अथवा धरोहर रखने, साझेदारी में व्यापार करने तथा वेतन लेने देने पर भी राज्य का इस प्रकार नियंत्रण बताया है

जिसमें कोई गड़बड़ न करे। समाज की आर्थिक व्यवस्था का जो सबसे अन्तिम कार्य राज्य के पास है वह है सिक्के बनाने का। कौटिल्य ने नियम बताया है कि लक्षणाध्यक्ष (सिक्के बनवाने वाला अधिकारी) चार माशा ताँबा, एक माशा तीक्ष्ण त्रयु, सीसा अथवा अंजन और शेष चाँदी मिलाकर पण बनवाये, तथा अर्धपण, चौथाई पण तथा १/८ पण भी बनवाये। छोटे व्यवहार के लिये ताँबे के भापक, अर्ध भापक से कांकणी और अर्ध कांकणी बनवाये। वह इन पणों को व्यवहार में डलवा दे अथवा कोश में भेज दे। सौ पण पर आठ पण रूपिक, सौ पर पांच व्याजी तथा सौ पर आठ पारीक्षिक–राज्य को मिलने वाले भाग हैं। आगे यह कहा है कि जो चलने योग्य पणों को न चलने दे तथा न चलने वालों (जाली) को चलाये उन पर १२ पण दण्ड हो अथवा यदि कोई जाली सिक्के बनावे, चलावे अथवा सरकारी कोश में दे उसे वध दण्ड दिया जाय। मुद्रा को बनाने का यह नियम शुक्र नीति में भी है कि "व्यवहार के लिये चांदी, सोने, तांबा आदि को मुद्रित किया जाय। व्यवहार के लिये अधिकृत होने पर स्वर्ण मूल्य बन जाता है और कारण से वही पदार्थ होना है"। शुक्र ने इसी के आगे मुद्रा अवमूल्यन का भी उल्लेख किया है, 'पदार्थ के मिलने की सुलभता और कठिनाई से तथा उसके गुण दोषों से पदार्थों का मूल्य अपने आप कम होता तथा बढ़ता है, परन्तु मणि और धातुओं (विनिमय के साधनों) का मूल्य कम नहीं होने देना चाहिये और इनके मूल्य की हीनता राजा की दुष्टता से होती है।"

राज्य के कार्यों का संक्षिप्त वर्णन—राज्य के इन सभी कार्यों को संक्षेप में राज्य व्यवस्था का वर्णन करने वाले ग्रन्थों ने इस ढंग से कहा है कि जो प्राप्त नहीं है उसकी राजा इच्छा करे (विजय), जो है उसकी वृद्धि करे (आर्थिक जीवन उन्नति के कार्य) और जो बढ़ा हुआ है उसे योग्य पात्रों में वितरण करे (प्रजा पालन के कार्य)।" इस व्याख्या के अन्दर राज्य के समस्त कार्य आ जाते हैं। सक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहायता देना तथा यह उन्नति ठीक प्रकार से हो इसकी चिन्ता करना तथा इसके लिये प्रयत्न करना राज्य का कार्य बताया गया था। पृथु की कथा जो विभिन्न स्थानों पर दी हुई है उससे भी यही बात निष्पन्न होती है। उसमें यही बताया है कि आध्यात्मिक उन्नति की और आध्यात्मिक उन्नति करने वाली समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिये ही वेन को मारकर पृथु को ऋषियों ने उत्पन्न किया। इसके साथ ही साथ यह भी बताया है कि पृथु ने पृथ्वी को गो बनाकर उसके अन्दर से अन्न आदि सब योग्य पदार्थ भी प्राप्त किये और भौतिक दृष्टि से भी प्रजा को सुखी किया। इस प्रकार पृथु के श्रेष्ठ राज्य में समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति होने का वर्णन है। राज्य के इस आध्यात्मिक और भौतिक स्वरूप को शान्ति पर्व में भी स्पष्ट किया है "कृषि, गो रक्षा (पशु पालन) और वाणिज्य यह इस लोक के जीवन के लिये है तथा त्रयी विद्या जो मनुष्यों को सुख देती है, परलोक के लिये है। इनके ठीक

व्यवहार में जो दुष्ट बाधा डाले वे दस्यु हैं और उनके नाश के लिये ब्रह्मा ने क्षत्रिय (राज्य) को उत्पन्न किया है।" अग्नि पुराण में श्रेष्ठ राज्य (राम-राज्य) के वर्णन में बताया है कि ऐसे राज्य में सभी संसार धर्मपूर्ण रहता है तथा पृथ्वी अन्न से भरी रहती है और राजा दुष्ट निग्रहण कर धर्म और काम की उन्नति करता है। कौटिल्य ने भी जहाँ राजा के कार्य का वर्णन किया है वहाँ बताया है कि अनुशासन से लोगों का स्वधर्म में स्थापित करने का तथा अर्थ उत्पादन से लोगों की वृत्ति की व्यवस्था करने का राजा का कार्य है। ऊपर के राज्य के कार्य के वर्णन से भी यह स्पष्ट है कि समाज की आध्यात्मिक तथा भौतिक उन्नति में सहायता देने वाले सब कार्य राज्य के पास थे।

राज्य के कार्य क्षेत्र का विवेचन—राज्य के जो कार्य ऊपर बताये गये हैं उनमें ऐसे सब कार्य तो सम्मिलित हैं ही जिन्हें वर्तमान काल में राज्य के लिये अनिवार्य बताया जाता है (बाह्य सुरक्षा, आन्तरिक व्यवस्था, न्याय आदि) परन्तु वर्तमान काल में बहुत से वैकल्पिक कहे जाने वाले कार्य भी सम्मिलित हैं। इतने कार्य होने के पश्चात भी समाजवादी अथवा साम्यवादी दृष्टिकोण से राज्य के पास जितने कार्य होने चाहिये उतना विस्तृत कार्य क्षेत्र भारतीय नियामकों ने राज्य का नहीं रखा था। फिर भी भारतीय विचारकों ने राज्य के कार्यों में 'अनिवार्य' और 'वैकल्पिक' ऐसा कोई भेद नहीं माना क्योंकि उनके अनुसार तो उनके द्वारा बताये गये सभी कार्य उनकी निर्मित समाज व्यवस्था के अन्दर राज्य के लिये *अनिवार्य* ही थे तथा उनके अनुसार राज्य के पास इससे अधिक कोई काम होना भी उचित नहीं था।

यद्यपि राज्य के पास बहुत व्यापक कार्य क्षेत्र था परन्तु, जैसा बताया गया है, फिर भी ऐसे बहुत से महत्वपूर्ण कार्य थे जो राज्य के पास नहीं थे। समाज-व्यवस्था के नियम (कानून) बनाने का अधिकार राज्य को नहीं था जैसा वर्तमान काल के राज्यों के पास दिखाई देता है क्योंकि पूर्व-निर्मित समाज-व्यवस्था थी ही और राजा स्वयं उसका एक अंगमात्र तथा उसके आधीन था। शिक्षा की व्यवस्था करने का भी कार्य अथवा उस पर नियंत्रण करने का अधिकार राज्य के पास नहीं था क्योंकि उसका पूरा अधिकार ब्राह्मणों के हाथ में था जिनको राजा के ऊपर श्रेष्ठ स्थान दिया गया था। इसके अतिरिक्त राज्य को धन के उत्पादन और वितरण का भी कार्य नहीं था अपितु इतना ही कार्य था कि राज्य इस बात का ध्यान रखे कि समाज का उत्पादन और वितरण ठीक प्रकार से हो। वितरण की दृष्टि से इतना अवश्य कहा गया है कि राज्य असज्जनों से धन लेकर सज्जनों को दे तथा कौटिल्य ने कहा है कि "राज्य का अधिकारी मूलहर, तादात्विक और कदर्य को नियन्त्रण में रखे। जो पिता, पितामह के धन का अपव्यय करता है वह मूलहर है, जो व्यक्ति जो कुछ पैदा करता है वह स्वयं ही खा लेता है वह तादात्विक है और जो भृत्यों को तथा स्वयं को पीड़ा देकर धन संग्रह करता है

वह कदर्म (कंजूस) है। इसलिये इनसे इनका धन ले लेना चाहिये।" परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य, उत्पादन और वितरण का कार्य अपने हाथ में ले ले क्योंकि यह तो उस एक विशेष स्थिति के लिये ही व्यवस्था है जबकि लोग धन के ठीक उपभोग में बाधा डालते हैं। यद्यपि खानों पर राज्य का अधिकार है फ़िर भी उनके उत्पादन का कार्य व्यक्तियों को ही सौपने का वर्णन आया है। यही नियम वनों के सम्बन्ध में है। फिर कृषि अथवा अन्य वस्तुओं का उत्पादन अथवा व्यापार का कार्य राज्य के पास होने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त समाज के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करने का राज्य को कोई अधिकार नहीं दिया गया जब तक कि उसके कारण समाज-जीवन में कोई कष्ट अथवा बाधा अथवा अव्यवस्था न उत्पन्न होती हो अथवा जब तक उसके द्वारा समाज के नियमों का, जो जहाँ प्रचलित हैं—चाहे वह स्थानीय प्रथाएँ हों, चाहे वह धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित व्यवस्था हो, भंग न होता हो।

राज्य समाजवादी अथवा व्यक्तिवादी—उपरोक्त राज्य के कार्यों का विश्लेषण करने पर न तो उन्हें व्यक्तिवादी ही कहा जा सकता है और न समाजवादी ही। यद्यपि व्यक्ति को अपना जीवन और व्यवसाय अपनी इच्छानुसार चलाने की पूरी स्वतत्रता दी गई थी और साधारणतया राज्य को इस स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था जैसा कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त के अन्तर्गत मान्य है परन्तु समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिगत कर्मों पर इतना नियन्त्रण अवश्य रखा गया जिस नियन्त्रण के द्वारा समाज को होने वाली तनिक सी हानि भी रोकी जा सके। (देखिये खेती न करने पर दण्ड; व्यापार में अनुचित कार्य करने पर दण्ड)। व्यक्तिवादी सिद्धान्तों के अनुकूल राज्य के पास बाह्य आक्रमण से रक्षा का, अन्दर के चोर, लुटेरों आदि से रक्षा का तथा न्याय का कार्य तो दिया ही गया था, परन्तु समाजवादी सिद्धान्त के अनुकूल समाज-व्यवस्था के नियमों को पालन कराने का, नगरों, बाजारों के निर्माण का, समाज-हित के लिये आवश्यक वस्तुओं के संग्रह का, सार्वजनिक सामाजिक जीवन की सुरक्षा का, सब लोगों की ठीक से आजीविका की व्यवस्था करने का, दुर्बलों के पोषण का तथा शिक्षा में सहायता करने का, कार्य भी राज्य के पास था। आर्थिक जीवन की दृष्टि से भी कृषि की उन्नति के लिये सिंचाई के साधन, बीज, धन, पशु आदि के द्वारा कृषि की सहायता करने का, व्यापार के ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखने का जिसमें आयात निर्यात, वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण तथा तोल बाट के माप निश्चित करना आदि भी सम्मिलित हैं। खानों, वनों की व्यवस्था करने का तथा पशु-पालन और रक्षण का कार्य भी राज्य को दिया गया था। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि भारतीय व्यवस्था में राज्य को समाजवादी स्वरूप दिया गया था। इसके विपरीत अर्थ के उत्पादन और वितरण का, समाज की व्यवस्था करने का तथा

सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और व्यक्तिगत जीवन पर नियन्त्रण करने का कार्य राज्य के पास नहीं था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि समाज जीवन और समाज-व्यवस्था के (जिसमें आध्यात्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन भी सम्मिलित है) संरक्षण का और उस समाज जीवन में सहायता देने का कार्य तो राज्य के पास अवश्य था, परन्तु उस व्यवस्था को स्वयं निर्माण करने का अथवा उस सम्पूर्ण व्यवस्था को अपने हाथ में लेकर चलाने का कार्य राज्य के पास नहीं था। व्यवस्था बनी हुई थी, उसमें राज्य को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। उस व्यवस्था में कहीं त्रुटि, बाधा अथवा कठिनाई न आए इतना मात्र देखना राज्य का कार्य था। अतः भारतीय व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के कार्य व्यक्तिवादी कार्यों की सीमा से बहुत आगे बढ़े हुए (जितना जन-कल्याण के लिये आवश्यक था) थे परन्तु समाजवादी कार्यों की तुलना में बहुत कम थे। अतः यही कहना उपयुक्त है कि भारतीय विचारकों ने समाज-हित का ध्यान रखकर राज्य के लिये जितने कार्य उचित और आवश्यक समझे वे उसे सौंपे।

६. राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध

व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य—राज्य के इन कार्यों के आधार पर व्यक्ति और राज्य का भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत क्या सम्बन्ध था यह भी समझा जा सकता है। व्यक्ति को अपना आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की अर्थात् पूजा करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। उसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं था। इसी प्रकार व्यक्ति को अपना निर्धारित व्यवसाय करने की पूरी स्वतन्त्रता थी जब तक वह समाज-विरोधी कृत्य न कर दे। व्यक्ति को अपनी जाति की अथवा प्रदेश की प्रथायें मानने का तथा उनके अनुसार चलने का पूरा अधिकार था अर्थात् उसे यह अधिकार था कि वह यह निर्धारित कर ले कि वह किन समाज-नियमों के आधार पर जीवन व्यतीत करना चाहता है यद्यपि यह आवश्यक था कि वह जिन समाज-नियमों का पालन करेगा अथवा स्वीकार करेगा फिर उनके बन्धन के अन्दर उसे रहना ही पड़ेगा, उससे वह मुक्त नहीं हो सकता। व्यक्ति को संगठन निर्माण करने की भी भारतीय विचार में पूरी स्वतन्त्रता थी। श्रेणी, पूग, गण, संघ, व्रात, तथा पाखण्डी समुदायों का उल्लेख स्थान-स्थान पर आता है और पाणिनि ने इनका अर्थ भी बताया है जिसके अनुसार एक धर्म अर्थात् समान कार्य और उद्देश्य का प्रतिपादन करने वालों का संगठन संघ है; विभिन्न जाति के लोग जिनकी जीविका अनिश्चित है वह यदि अर्थ अथवा काम की पूर्ति करने के लिए संगठन बनायें तो वह पूग है; विभिन्न जातियों के तथा अनिश्चित जीविका के लोग जो शारीरिक शक्ति के आधार पर जीवित रहते हैं उनका संगठन व्रात है तथा एक समान कारीगरी का काम तथा एक निश्चित प्रकार का व्यापार करने वाले लोगों का संगठन श्रेणी है। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि सदुद्देश्य रखने वाले समुदायों को छोड़कर अन्य समुदायों को राज्य में नहीं रहने देना चाहिये जिसका अर्थ स्पष्ट है कि यदि कोई समुदाय

दूषित कार्य के लिये नहीं है तो ऐसे समुदाय के बनने की तथा कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता है। संगठन निर्माण करने के अतिरिक्त शिक्षा के ऊपर भी राज्य का नियन्त्रण नहीं था। इसका अर्थ है कि व्यक्ति को अपना निजी विचार अथवा मत निर्माण करने की तथा उसे व्यक्त करने की भी पूर्ण स्वतन्त्रता थी। व्यक्ति को व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का तथा उसके उपभोग का पूर्ण अधिकार था। राजा को यह आदेश था कि वह अन्यायपूर्ण धन का अर्जन न करे और ऐसा न करे जिससे प्रजा को पीड़ा का अनुभव हो। मनुस्मृति में कहा है कि "क्षीण होने पर भी लेने योग्य नहीं है (जो अनीतिपूर्ण है) उसे राजा न ले" और यह भी कहा है कि राजा कर ठीक प्रकार से ले, यह बात सभी ग्रन्थों में कही गई है। इसके अतिरिक्त करों की संख्या और मात्रा निश्चित कर दी गई है और यह कहा गया है कि आपत्ति-काल छोड़कर अन्य समय में इसके अतिरिक्त प्रजा से धन न लेना चाहिये। इस प्रकार सब प्रकार से ध्यान रखा गया है कि व्यक्ति की सम्पत्ति राज्य के अत्याचार से सुरक्षित रहे जब तक की व्यक्ति स्वयं ही असामाजिक व्यवहार न करने लगे। अतः राज्य के साथ व्यवहार में व्यक्ति को बहुत प्रकार की स्वतन्त्राएँ थीं। व्यक्ति के ऊपर मूलतः तो समाज का और समाज-व्यवस्था का नियन्त्रण था और राज्य का व्यक्ति के जीवन के विविध अंगों पर उतना ही नियन्त्रण था जिससे कि व्यक्ति समाज-जीवन में कोई गड़बड़ी न कर सके तथा वह नियन्त्रण भी समाज-व्यवस्था पर आधारित था। परन्तु, यद्यपि यह ठीक है कि राज्य-व्यवस्था समाज-व्यवस्था पर आधारित और उसके अन्तर्गत थी और व्यक्ति की मूल श्रद्धा समाज के ही लिये निर्माण की गई थी, फिर भी क्योंकि राज्य समाज की सुस्थिति में सहायक था इस लिये राज्य की दृष्टि से भी यह आवश्यक माना गया था कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन करे। मनुस्मृति में कहा हैं कि "राजा बालक हो तो भी उसकी अवमानता मनुष्य को नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह नर रूप में एक महान देवता ही है। अग्नि तो, अपने समीप अनुचित रीति से आने वाले एक अकेले व्यक्ति को ही जलाती है परन्तु राजा की कोषाग्नि कुल को धन और पशु सहित नष्ट कर देती है। कार्य को देखकर तथा शक्ति, देश और काल का विचार कर धर्म की सिद्धि के लिये राजा संसार के विभिन्न रूप धारण करता है (कभी उग्र, कभी मृदु)। जिसकी प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में मृत्यु है। वह सर्वतेज पूर्ण है। उससे जो अज्ञानवश द्वेष करता है वह निश्चित नष्ट हो जाता है क्योंकि उसके शीघ्र विनाश के लिये राजा अपना मन लगाता है, इसलिये सज्जनों के संरक्षण तथा दुष्टों के विनाश के लिये राजा जो नियम लागू करे उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।" मनुस्मृति के इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों को राज्य की अवज्ञा नहीं करनी चाहिए तथा राज्य के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए क्योंकि राज्य धर्म की सिद्धि के लिये तथा शिष्टों के संरक्षण और दुष्टों के विनाश के लिये है और क्योंकि इसीलिये राज्य के पास शक्ति भी है जिसके आधार पर विरोधियों को सम्पूर्ण रीति

से नष्ट करने का उसके पास सामर्थ्य है। इसी आधार पर राजा को देवता भी माना गया है। कौटिल्य ने भी बिल्कुल यही कहा है कि राजा प्रजा का योगक्षेम वहन करने के कारण तथा रक्षा करने के कारण देव तुल्य है, अतः उसकी अवमानता नहीं करनी चाहिये। शान्तिपर्व में अराजक अवस्था तथा राज्य-पूर्ण अवस्था की तुलना करने के बाद यह कहा है कि "संरक्षण करने वाले राजा की कौन पूजा नहीं करेगा।" फिर आग्रह किया है कि व्यक्ति को राजा का प्रिय तथा हित करना चाहिये, उसे राज्य का भार वहन करने का प्रयत्न करना चाहिए राजा का अशुभ अथवा राजा का अपमान नहीं करना चाहिये, राजा की निन्दा नही करनी चाहिये। राज्य की सम्पत्ति की चोरी नहीं करनी चाहिये तथा राजा का पक्ष लेना चाहिये, राज्य का आज्ञापालन क्यों करना चाहिये इस का कारण यह बताया है कि राजा नृप (मनुष्यों का पालन करने वाला) है, क्षत्रिय (कष्टों को दूर करने वाला) है, राजा (प्रजा का रंजन करने वाला) है, भोज (प्रजा को भोज्य पदार्थ देने वाला) है, भूपति (पृथ्वी का स्वामी) है तथा सम्राट (सबों के ऊपर श्रेष्ठ स्थान ग्रहण करने वाला) है, और "राजा ही प्रजा का हृदय है, उसकी श्रेष्ठ गति (सर्वोत्तम आश्रय स्थान) है, उसकी प्रतिष्ठा है तथा उसका उत्तम सुख है" तथा वह एकदम सत्य और प्रेमभाव से पृथ्वी को मर्यादा में रखता है। उपरोक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचार के अनुसार व्यक्ति को राजा के प्रति कर्त्तव्य का आधार क्या है। संक्षेप में, व्यक्ति को (१) राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन इसलिये करना चाहिये कि राज्य व्यक्ति के जीवन, धन सुखोपभोग, मर्यादा का संरक्षण करता है, (२) राज्य व्यक्ति को कष्ट देने वाले सभी लोगों को (कण्टकों अथवा दुष्टों को) मर्यादा में रखता है, (३) राज्य प्रजा की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहायक होता है (४) राज्य को सभी व्यक्तियों के ऊपर एक विशेष अधिकार दिया गया है तथा (५) राज्य के पास शक्ति है जिसके आधार पर वह अपनी आज्ञा पालन करवा सकता है।

ऊपर के सभी उद्धरणों से इतना ठीक प्रकार से समझ लेना आवश्यक है कि उपरोक्त संदर्भों में राजा का अर्थ 'राज्य' अथवा 'राज्य कर्त्तागण' है जिसका प्रतिनिधि भारतीय विचार में 'राजा' है तथा जिस राजा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने का तथा उसकी आज्ञापालन का अर्थ वास्तव में केवल एक व्यक्ति की ही आज्ञा-पालन नहीं है अपितु उसका अर्थ है व्यक्ति द्वारा उस संस्था का आज्ञापालन जिस संस्था का प्रतिनिधि राजा है और जो संस्था समाज और समाज-व्यवस्था के संरक्षण के लिये निर्माण हुई है। इसके अतिरिक्त यह भी समझ लेना आवश्यक है कि राजा के प्रति यह आज्ञापालन का अथवा उसके प्रति विद्वेष न रखने का अथवा उसका सम्मान करने का भाव एकांगी नहीं है। अर्थात् यदि व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राजा के प्रति श्रद्धा का भाव तथा आज्ञापालन का भाव रखे तथा

यथाशक्य राज्य की सहायता करे तो राज्य के भी व्यक्ति के प्रति कर्त्तव्य निर्धारित थे। दूसरे शब्दों में व्यक्ति के भी राज्य के प्रति कुछ अधिकार थे। उनमें से कुछ अधिकारों का अर्थात् विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं का तो ऊपर उल्लेख किया ही गया है जिनमें राज्य को कोई हस्तक्षेप नहीं करना था, परन्तु इसके अतिरिक्त यह आवश्यक था कि राज्य व्यक्ति की अर्थात् उसके जीवन की रक्षा करे क्योंकि बिना जीवन के धन, धर्म व सब सुखोपभोग व्यर्थ हैं। यह भी आवश्यक था कि राज्य चोर, लुटेरों तथा अन्य आक्रमणकारियों से व्यक्ति की सम्पत्ति की सुरक्षा करे क्योंकि धन के ही आधार पर समाज का काम चलता है। यह भी आवश्यक था कि राज्य धन के समवितरण की ओर भी इस प्रकार से ध्यान दे कि यदि व्यक्ति केवल निजी स्वार्थ के लिये अथवा अनुचित बातों में धन व्यय करता है तो वह उससे ले ले। यह भी व्यक्ति का राज्य के प्रति अधिकार था कि राज्य व्यक्ति की जीविका की व्यवस्था करे और उसे भूखा न मर ने दे तथा राज्य करतागण तब तक चैन न लें जब तक समाज का प्रत्येक व्यक्ति जीवन-यापन की चिन्ता से मुक्त न हो। यह भी व्यक्ति का अधिकार था कि राज्य व्यक्ति की बाह्य आक्रमणों से तथा समाज के अन्दर लूटने वाले व्यापारी और सरकारी कर्मचारी आदि जो कोई हों उनसे और दुर्भिक्ष, व्याधि आदि से रक्षा करे। व्यक्ति का यह भी अधिकार था कि राज्य उसके व्यवसाय में आवश्यक सहायता दे और ऐसा कुछ न करे जिससे उसके व्यवसाय को धक्का न लगे। यह भी व्यक्तियों का अधिकार था कि यदि राजा ठीक न हो तो उसे उसके स्थान से वह च्युत करने का अथवा नष्ट करने का प्रयत्न करें। शुक्र नीति में यह भी कहा है कि प्रजा शत्रु की सहायता कर दुष्ट राजा को तंग करे।

६. राज्य और समूहों का सम्बन्ध

(१) समूहों की स्वतन्त्रता—व्यक्ति के अतिरिक्त यदि समूहों और राज्यों के सम्बन्ध का विचार करें तो जैसा बताया गया है समूहों के निर्माण होने की तथा उनके कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। आगे के समूहों-सम्बन्धी वर्णन से भी यही सिद्ध होगा। यह समूह अपनी व्यवस्था के तथा पारस्परिक कार्य करने के नियम बना सकते थे जिन्हें 'समय' कहा गया है तथा अमरकोश के अनुसार जिसका पर्यायवाची शब्द 'संविद' भी है। मनु ने भी दोनों शब्दों को पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किया है क्योंकि वह प्रारम्भ में विवाद के विषयों का उल्लेख करते समय इस विषय को संविद व्यक्तिक्रम कहते हैं तथा बाद में इस विषय का वर्णन करते समय कहते हैं "अब मैं 'समय' भंग करने वालों का धर्म कहता हूँ" राज्य का इन समूहों के सम्बन्ध में यह कर्त्तव्य था कि वह इन समूहों के संविधान का समूहों के सदस्यों से पालन कराये और जो इन समूहों के नियमों को भंग करे उन्हें दण्ड दे। मनु ने कहा है कि "जो व्यक्ति प्रतिज्ञापूर्वक ग्राम और देश के समूहों के समय के अन्दर सम्मिलित होता है वह यदि लोभ से उसे छोड़ दे तो

उसे राज्य से निकाल दिया जाय अथवा इस समय के भंग करने वाले व्यक्ति को उसके इस कार्य से रोककर उसे चार सुवर्ण घनिष्क अथवा सौ रजब का दण्ड दिया जाय।" याज्ञवल्क्य ने इस विषय में अधिक विस्तार के साथ नियम दिये हैं यदि कोई समय (किसी समूह के नियम), स्वधर्म (अर्थात् धर्मशास्त्र के अनुसार स्वधर्म अथवा निजी आचार) के विरोध में नहीं हैं तो वह प्रयत्नपूर्वक संरक्षणीय है तथा इसी प्रकार राजा के बनाये हुए नियम भी। जो समूह के द्रव्य को चुराता है अथवा संविद (समय अर्थात् उस समूह के संविधान) को तोड़ता है उसका सब कुछ हरण कर उसे राज्य से निकाल देना चाहिए। जो समूह के हित वाले वचन हों वह सभी करने चाहिए परन्तु जो इसके विपरीत करे उसे प्रथम साहस (२५० पण) का दण्ड दिया जाये। जो समूह के कार्य से आये हों उनका काम समाप्त होने पर राजा उन्हें दानमान, सत्कार के साथ उनका सम्मान कर उन्हें विदा करे। समूह के कार्य के लिए भेजा गया धन जो राजा को मिले वह धन उस समूह को दे दे और यदि स्वयं न दे तो फिर ग्यारह गुना दण्ड दे। समूह के कार्यचिन्तक, धर्मज्ञ, पवित्र और अलोभी हों तथा उन समूह का हित बोलने वालों के वचनों को माना जाय। श्रेणी, निगम आखण्डी और गणों की विधि हैं, राजा इनकी पारस्परिक विभेद से रक्षा करे तथा इनके जो पूर्व ठहरे नियम हैं उनका पालन करायें। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में समूह अथवा संस्थाऐं निर्माण होने की स्वतन्त्रता थी। इन संस्थाओं के अपने संविधान तथा नियम होते थे जिनका पालन करना उस समूह के अन्दर भाग लेने वाले अर्थात् संस्था के प्रत्येक सदस्य के लिये यह आवश्यक होता था और उनके वैसा न करने पर राज्य का यह कर्त्तव्य था कि वह उन्हें बाध्य कर वैसा कराये तथा उन्हें दण्ड दे। इन 'समयों' अर्थात् संविधानों के लिये यह आवश्यक था कि वह उस संस्था में भाग लेने वाले सदस्यों के धर्म (सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के नियमों) के विरोध में न हो चाहे वह धर्म धर्म-शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित धर्म हो अथवा वह प्रथाओं पर आधारित धर्म हो। इन संस्थाओं की कार्यसमिति भी निर्माण करने का उल्लेख है जिसके सदस्य धर्म के ज्ञाता, सच्चरित्र तथा लोभविहीन होने चाहियें जिसके कारण उस संस्था के कार्य तो धर्म के विपरीत तो हो ही न सकें परन्तु जिनके द्वारा संस्था सद्मार्गों पर संचालित हो और संस्था को कोई हानि न पहुँचे। किसी भी प्रकार का संगठन क्यों न हो परन्तु राज्य के लिये यह आवश्यक था कि वह उनके सदस्यों साथ सम्मान पूर्वक व्यवहार करे, जो धन उनके निमित्त प्राप्त हो वह धन उन्हें दे तथा उन (समूहों) के धन की रक्षा करे। इन नियमों में सबसे महत्व की बात यह है कि पाखण्डियों के (वेद विरोधी लोगों के) समूहों तथा उनके नियमों को भी मान्यता देना राज्य के लिये आवश्यक बताया है तथा उन पाखण्डी समूहों की रक्षा का आग्रह है। इससे स्पष्ट है कि सभी प्रकार के (धार्मिक, सैनिकगण), आर्थिक (श्रेणी, पूग तथा सांस्कृतिक) समूहों (निगम) को राज्य को मान्यता देना आवश्यक था। समूहों को मान्यता देना यह नियम समाज-व्यवस्था अर्थात धर्म का एक नियम

था और इस कारण राज्य के अधिकार से यह बाहर था कि वह इस नियम का उल्लंघन कर किसी भी संगठन को दबाये। इस प्रकार प्रत्येक समूह राज्य में स्वतंत्र रीति से अपने निजी संगठन और उसके नियम बनाने को स्वतन्त्र था (यदि वह नियम धर्म विरोधी न हो) और राज्य को उस समूह के संगठन, कार्य तथा नियमों में तब तक हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था जब तक वह संगठन समस्त-व्यवस्था विरोधी न हो। परन्तु यदि वह संगठन समाज विरोधी हों अथवा समाज-विरोधी कार्य करे तो राज्य को भी यह अधिकार था कि वह उन्हें समाप्त कर दे। यह तो इन संस्थाओं के आंतरिक संगठन की व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत इन समूहों के नियमों को मानने का उल्लेख है, परन्तु इन समूहों के नियमों को राज्य मानकर इनका पालन कराये। इसका उल्लेख मनुस्मृति तथा शुक्र नीति में तथा गौतम धर्मसूत्र में भी है। केवल इतना ही नियम नहीं था कि राज्य इन समूहों को मान्यता को दे परन्तु इन समूहों को, यदि राज्य चाहे तो इतना भी अधिकार राज्य द्वारा दिया जा सकता था कि ये अपने पारस्परिक संघर्षों को स्वयं निबटादें। शुक्र ने तो कहा है कि किसान, कारीगर, व्याज लेने वाले, नर्तक, व्यापारी ये अपने नियमों के अनुसार ही निर्णय करें और क्योंकि अन्य इनका निर्णय नहीं कर सकते। अतः इनका निर्णय स्वयं इन्हीं से कराया जाय परन्तु यदि राजा को निर्णय करना पड़े तो वह इन लोगों को साथ लेकर निर्णय करे।

८. राज्य का स्वरूप

(१) राज्य साध्य नहीं साधन—अब तक के सम्पूर्ण विवेचन से यह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचारों के अनुसार राज्य का स्वरूप क्या था? प्रथमतः भारतीय विचार के अनुसार राज्य स्वयंमेव एक लक्ष्य नहीं था। वह समाज की उन्नति के लक्ष्य का एक साधन मात्र था और उसे यह कार्य था कि समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति में सहायक हो। इसीलिये भारतीय विचार में राज्य को समाज के ऊपर श्रेष्ठ स्थान न देकर उसे समाज के आधीन और समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत रखा गया है तथा उसे समाज-व्यवस्था के नियमों को बनाने का अधिकार न देकर समाज-व्यवस्था के नियमों के अनुसार चलने का आग्रह किया गया है।

(२) लोक कल्याणकारी राज्य—दूसरे, भारतीय विचार के अनुसार राज्य को समाजवादी अथवा व्यक्तिवादी तो नहीं कहा जा सकता परन्तु राज्य 'लोक कल्याणकारी' था, परन्तु वह भी वर्तमान काल की इस शब्द की परिभाषा में नहीं। राज्य को समाज जीवन में हस्तक्षेप करने का अधिकार था, परन्तु उतना ही अधिकार था जिससे वह समाज की व्यवस्था को सुचारू बना दे तथा समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति की सभी बाधाओं और कठिनाइयों को दूर कर दे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये जितना ही आवश्यक हो उतना ही राज्य व्यक्तियों के अथवा समूहों के जीवन

में हस्तक्षेप कर सकता था, इससे अधिक नहीं। अर्थात् राज्य समाज की बाधाओं और कठिनाइयों को दूर करने का पूरा अधिकारी था परन्तु समाज की सम्पूर्ण सत्ता हाथ में लेकर समाज को अपनी इच्छानुसार चलाने का नहीं। इसलिये जितनी आवश्यक थी उतनी स्वतन्त्रताऐं व्यक्ति और समूहों को दी गई थी। इसी अनुसार राज्य को कार्य भी सौंपे गये।

(३) **राज्य पितृवत और मातृवत**—तीसरे, राज्य पितृवत और मातृवत था इसलिये प्रजा के सुख सुविधा की चिन्ता (जिसके अन्तर्गत प्रजा के जीवन यापन की चिन्ता तथा प्रजा के लिये आवश्यक स्थानों का निर्माण सम्मिलित है।) तथा प्रजा के संरक्षण की पूरी व्यवस्था राज्य के पास थी।

(४) **न्यायपूर्ण राज्य**—चौथे, राज्य न्याय पूर्ण था। राज्य के अन्दर सबसे यथायोग्य व्यवहार करने का आग्रह था अर्थात् जो दुष्ट हैं उनके दमन पर, और जो सज्जन हैं उनके संरक्षण पर बल दिया गया था तथा जो प्रजा पर किसी भी प्रकार का अत्याचार करें उन्हें रोकने का आदेश था। स्वयं राज्य से यह कहा गया था कि वह अपनी मर्यादा में रहे और किसी पर अत्याचार न करे तथा यदि वह ऐसा करेगा तो उसका इस लोक में तथा परलोक में दोनों में दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा। इसीलिये राजा को निष्पक्ष रहने का भी आग्रह है तथा यह भी कहा गया है कि न्याय भी निष्पक्ष हो तथा कर भी जो उचित हो और धर्मानुसार (नियमानुसार) हो वही लिये जायें अर्थात् कर वसूली भी अन्यायपूर्वक अथवा अनुचित ढंग से न की जाय।

(५) **राज्य शक्तिपूर्ण अर्थात् दण्ड धारी**—पाचवें, राज्य के पास प्रबल शक्ति भी थी जिसे दण्ड कहा गया था, परन्तु इस बात को बार-बार दुहराया गया था। सो उस शक्ति का प्रयोग न तो बहुत कठोरता के साथ किया जाय जिससे लोग उद्वेलित हो जायें और न बहुत कोमलता के साथ किया जाय जिससे लोग वश में न रहें तथा अमर्यादित हो जायें। साथ ही साथ यह भी कहा है कि इस दण्ड का प्रयोग चाहे बाहरी राज्यों के विरुद्ध हो अथवा आन्तरिक राज्य-व्यवस्था में हो, अन्तिम अवस्था में ही किया जाय।

(६) **राज्य धर्मपूर्ण**—राज्य धर्मपूर्ण था, अर्थात् लोगों का धर्म में अर्थात् सन्मार्ग में प्रवृत्त करने वाला था तथा कुमार्ग से दूर हटाने वाला था और लोगों को श्रेष्ठ आदर्श पर प्रस्थापित करने वाला था। इसीलिये मोक्ष की ओर ले जाने वाली तथा समाज में सबसे उत्तम व्यवस्था स्थापित करने वाली समाज-व्यवस्था के जिसमें प्रत्येक को उसके अनुरूप कार्य दिया गया था, स्थापन और संरक्षण का कार्य राज्य के पास था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य साम्प्रदायिक था। पिछले अध्यायों में वर्णित समाज-व्यवस्था के प्रतिपादकों से भिन्न विचार रखने वाले लोगों (पाखण्डियों) के संगठनों को तथा इस समाज-व्यवस्था के द्वारा स्थापित आचार से

भिन्न आचारों (प्रथाओं) को भी मान्यता थी और उनका राज्य द्वारा आग्रहपूर्वक पालन कराया जाता था तथा ब्राह्मणों का जो सम्मान था वह उनकी जाति पर आधारित न होकर उनके गुण और आदर्श पर आधारित था और अयोग्य ब्राह्मणों को, चाहे वह उस श्रेष्ठ वर्ग के अन्दर के ही क्यों न हों, शुद्र के समान मानने का राज्य से आग्रह था।

(७) **राज्य प्रभुसत्ता सम्पन्न नहीं–बहुलवाद का विवेचन**—राज्य का स्वरूप प्रभुसत्ता पूर्ण नहीं था। परन्तु राज्य को समाज-व्यवस्था के अन्दर रहते हुए उसके नियमों के अनुसार चलना आवश्यक था। इतना ही नहीं समाज-नियामको द्वारा समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज-हित और समाज की उन्नति के लिये जो विभिन्न संस्थाएं निर्माण की गई थीं, उन संस्थाओं में से राज्य केवल एक संस्थामात्र था तथा इस समाज-व्यवस्था की अन्य संस्थाओं के समान राज्य के अधिकार और कर्त्तव्य स्पष्ट रूप से समाज-व्यवस्था में निर्दिष्ट कर दिये गये थे और न तो राज्य को अपना अधिकार क्षेत्र बढ़ाने ही अधिकार था और न राज्य उस समय-व्यवस्था के अन्तर्गत निर्माण की जाने वाली अन्य संस्थाओं के अधिकार और कर्त्तव्य में ही कोई परिवर्तन कर सकता था ऐसा कह सकते हैं कि समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत निर्माण होने वाली संस्थाएँ समाज-शरीर के अंग थे जिनमें राज्य को बाहुओं का स्थान था, जिसके पास समाज के संरक्षण और पोषण का काम हो। इस दृष्टि से राज्य को बहुलवादी भी कहा जा सकता है। परन्तु जहाँ तक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न उद्देश्य की पूर्ति के लिये निर्मित विभिन्न संगठनों का प्रश्न है उन्हें राज्य के समान स्थान नहीं था, अपितु राज्य के पास ही यह निर्णय करने का काम दिया गया था कि उन संगठनों का संविधान, उनके नियम और उनके कार्य धर्मानुकूल अर्थात समाज-व्यवस्था के नियमों के अनुसार रहें और उनके रहने देने अथवा न रहने देने का अधिकार भी राज्य के पास ही था। अतः जहाँ कि, एक ओर, समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत निर्माण होने वाली संस्थाओं के अस्तित्व अथवा उनके कार्य पर हस्तक्षेप करने का राज्य को तनिक भी अधिकार नहीं था और राज्य का यह कार्य था कि उनके सम्बन्ध में और उनके औचित्य और अनौचित्य के सम्बन्ध में तनिक भी विचार न करे, वहाँ, दूसरी ओर, अन्य व्यक्तिगत संगठनों का अस्तित्व रहने देना अथवा न रहने देना राज्य के विचार और निर्णय पर आधारित रहता था। इस दृष्टि से, वर्तमान परिभाषा के अनुसार, राज्य बहुलवादी नहीं कहा जा सकता और उसकी इन व्यक्तिगत संगठनों से बहुत अधिक सत्ता थी। फिर भी इन संगठनों के सम्बन्ध में भी बहुलवाद का सिद्धान्त इस सीमा तक अवश्य मान्य था कि यह व्यक्तिगत संगठन स्वयं निर्माण हो सकते थे, अपने स्वयं नियम बना सकते थे और इन संगठनों द्वारा निर्मित नियमों को मानना तथा इन नियमों को इन संगठनों के सदस्यों पर लागू करना और इन संगठनों की आवश्यक सहायता करना राज्य का कर्त्तव्य था तथा इन संगठनों के विषय में राज्य को तभी

हस्तक्षेप करना अथवा तभी नष्ट करने का अधिकार था जबकि संगठन समाज विरोधी अथवा समाज-व्यवस्था विरोधी नियम बनाए अथवा कार्य करें। बहुलवाद का सिद्धान्त भारतीय विचार में इस सीमा तक भी मान्य था कि राज्य के बहुत से अधिकारों का स्थानीय संस्थाओं में विकेन्द्रीकरण था (जिसका विचार आगे किया जायेगा)। परन्तु बहुलवादियों द्वारा राज्य पर जिस सीमा में आज आक्रमण होता है वह भारतीय विचारकों को मान्य नही था और उन्होंने समाज-जीवन को नियंत्रित और ठीक करने के लिये राज्य का महत्व समझ कर उसे पर्याप्त शक्ति दी थी। वर्तमान बहुलवाद में और प्राचीन भारतीय विचार में एक बहुत बड़ा भेद यह भी था कि जब वर्तमान विचारों में, समाज की सर्वश्रेष्ठ सत्ता के रूप में, बहुलवादियों द्वारा भी, हेर फेर कर राज्य को ही प्रस्थापित किया जाता है, वहाँ भारतीय विचार में सर्वोत्तम स्थान राज्य को नहीं, समाज को और समाज-व्यवस्था को दिया गया था।

(८) **राज्य में विजिगीषु वृत्ति**—अन्य बहुत से राज्यों से चारों ओर से घिरा होने के कारण और इन राज्यों की महत्वाकाँक्षाओं के परिणाम स्वरूप आक्रमण की संभावना होने के कारण राज्य के लिये यह आवश्यक था कि वह सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक सामर्थ्य सम्पन्न हो। इतना ही नहीं, विभिन्न राज्यों के अस्तित्व के परिणामस्वरूप देश में अथवा संसार में सार्वभौम-सत्ता प्रस्थापित होना लाभप्रद समझकर भारतीय विचारकों ने यह भी आग्रह किया था कि राज्य की विजिगीषु वृत्ति हो यद्यपि उन्होंने युद्ध को एक अन्तिम साधन के रूप में स्वीकार किया था।

(९) **कानून का राज्य**—भारतीय विचार के अनुसार यह आवश्यक था कि राज्य के अन्दर पूर्णतया कानून का राज्य (Rule of Law) हो। यह सिद्धान्त भारतीय विचार में इस चरम सीमा तक ले जाया गया था कि जब वर्तमान काल में जनतंत्रों में भी (यद्यपि वहाँ भी जो कानून राज्य द्वारा निर्मित हैं इन कानूनों के अनुसार राज्य को चलना आवश्यक होता है) राज्य का इतना अधिकार रहता है कि वह कानूनों में कोई भी परिवर्तन कर दे, परन्तु भारतीय व्यवस्था में केवल राज्यकर्त्ता ही नहीं राज्य भी समाज-व्यवस्था के नियमों (कानूनों) से (जिसमें राज्य-व्यवस्था के नियम भी सम्मिलित हैं) इतना बंधा था कि उसे उन नियमों में परिवर्तन करने का भी कोई भी अधिकार नहीं था। इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय-व्यवस्था में वास्तविक रीति से कानून का राज्य था जबकि अन्य स्थानों पर राज्य कर्त्ताओं की इच्छानुसार उन्हें कानून बदलने का अधिकार देकर कानून के राज्य का एक बाह्य आवरण मात्र है।

(१०) **नैतिक राज्य**—राज्य को पूर्ण नैतिक व्यवहार करना आवश्यक था,

केवल उन स्थानों को छोड़कर जहाँ अन्य लोगों की 'अनैतिकता' को दबाने के लिये राज्य को भी वैसे ही साधनों का अवलम्ब अनिवार्य हो जाता है।

(११) **राज्य मानव सम्बन्धों का नियामक**—राज्य मानव सम्बन्धों का नियामक था क्योंकि उसके पास न्याय का कार्य तथा दुष्टों को दमन और सज्जनों के संरक्षण का कार्य अर्थात् यह कार्य था कि व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार चले जिससे संघर्ष न हो और किसी एक भी व्यक्ति का दूसरों के ऊपर अन्याय अथवा अत्याचार न हो जिससे समाज की सुख और शान्ति में बाधा न हो।

(१२) **जनता की इच्छा के अनुसार राज्य**—अन्त में क्योंकि राजा पितृवत और मातृवत था इसलिये इस बात का आग्रह था कि जनता के विचारों के अनुसार राज्य चलाया जाय और प्रजा असन्तुष्ट न हो यद्यपि इसके लिये निर्वाचन द्वारा जनता का मत लागू करने की पद्धति नहीं थी।

राज्य के अन्दर विभिन्न देवताओं के अंश—राज्य के कार्यों और राज्य के उपरोक्त स्वरूप का वर्णन भारतीय ग्रन्थों ने समग्र रूप में इस प्रकार किया है कि उन्होंने राजा को विभिन्न देवताओं के अंश से पूर्ण तथा पिता, माता, गुरु, भ्राता और बन्धु के समान बताया है। शुक्र नीति का ही यदि यहाँ उद्धरण दें तो उसके अनुसार "राजा (राज्य) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र अंशों को सनातन रूप से धारण करता है। राजा इन्द्र के समान अपने भाग (षष्टांग) का ग्रहण करने वाला, रक्षण करने में दक्ष तथा अपने तप से जगत और स्थावर—सभी का स्वामी होता है। जिस प्रकार वायु गन्ध का प्रेरक होता है इसी प्रकार राजा भी सत् और असत् कर्म का प्रेरक (अर्थात् सत् कर्मों को प्रोत्साहन देने वाला तथा असत् कर्मों को रोकने वाला) होता है। जैसे रवि अन्धकार का नाश करता है इसी प्रकार राजा भी धर्म का प्रवर्त्तक और अधर्म का नाशक होता है। दण्ड देने वाले यम के समान राजा दुष्कर्मियों को दण्ड देता है। जिस प्रकार अग्नि पवित्र है और वह सब देवताओं का भाग यथायोग्य वितरण करता है उसी प्रकार राजा भी पवित्र है और सब प्रजा में योग्य वितरण की व्यवस्था करता है। जैसे जल से वरुण सबों का पोषण करता है इसी प्रकार राजा भी अपने धन से समाज का पालन करता है। जिस प्रकार किरणों से चन्द्रमा सबों को प्रसन्न करता है उसी प्रकार राजा भी अपने गुण कर्म से लोगों को प्रसन्न रखता है। कुबेर के समान राजा कोक्ष-रक्षण में दक्ष हैं। जिस प्रकार चन्द्रमा सभी अंशों के बिना (पूरा हुए बिना) शोभा नहीं पाता (अर्थात् राजा इन सब गुणों से परिपूर्ण होना चाहिये)। "इसके आगे कहा है कि राजा, पिता, माता, गुरु, भ्राता, बन्धु, कुबेर और यम इन सात गुणों से नित्य युक्त रहे इनके अतिरिक्त नहीं। जिस प्रकार पिता अपनी सन्तान (प्रजा) के गुण-वर्धन का प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा के गुण-वर्धन के लिये दक्ष रहे। जिस प्रकार माता क्षमाशील और सन्तान का पोषण करती हैं उसी प्रकार

राजा भी करे। जिस प्रकार गुरु शिष्यों को सुविधा देने वाला तथा हित कारक उपदेश देने वाला होता है। ऐसा ही राजा भी प्रजा के प्रति हो। जिस प्रकार पिता के धन में से भ्राता शास्त्रानुसार अपना भाग प्राप्त करता है इसी प्रकार राजा भी अपने अधिकार का (अन्य राज्यों की तुलना में) दावा करे। जिस प्रकार बन्धु अपनी स्त्री, धन और अन्य गोप वस्तुओं की रक्षा करता है, ऐसी ही राजा भी करे। राजा कुबेर के समान धन देने वाला हो तथा यम के समान सुदण्ड (उचित दण्ड) देने वाला हो"। इस वितरण में राज्य के ऊपर दिये गये स्वरूप का पूरा उल्लेख आ जाता है। इसी प्रकार से वर्णन अन्य ग्रन्थों में भी है। राज्य के उपरोक्त स्वरूप का वर्णन ऐसी भी स्थानों पर स्पष्ट रीति से किया गया है जहाँ श्रेष्ठ राज्यों का वर्णन दिया गया है और जहाँ विस्तार के साथ यह बताया गया है कि उन श्रेष्ठ राज्यों से लगभग सभी उपरोक्त बातें मिलती थीं।

अध्याय ५

शासन-पद्धतियाँ

१. राजतन्त्र की मान्यता का कारण और भारतीय राजतन्त्र का स्वरूप :

१. समाज में गुणानुसार कार्य विभाजन—राज्य के स्वरूप का पिछले अध्याय में विवेचन करने के पश्चात् इस अध्याय में राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया जायेगा, जिसे भारतीय सामाजिक और राजनीतिक विचारकों ने श्रेष्ठ समझा। उसमें सबसे पहले विचारणीय बात यह है कि उन्होंने कौनसी राज्य-पद्धति श्रेष्ठ समझी। सभी भारतीय ग्रन्थों में जिस राज्य- पद्धति का वर्णन मिलता है वह राजतन्त्र है। अन्य राजनीतिक पद्धतियों का धर्म-ग्रन्थों और अर्थशास्त्रों में एक दो स्थानों के अतिरिक्त लगभग कोई उल्लेख नहीं मिलता। यह स्वाभाविक भी है। अन्तिम रूप में एक व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित और संचालित शासन सबसे अधिक सुयोजित, दक्ष (efficient) और एकात्मता पूर्ण होने के कारण भारतीय विचारकों ने केवल वैसी ही शासन-पद्धति का प्रतिपादन और वर्णन किया है। यद्यपि यह कारण प्रच्छन्द रूप से भारतीय राज्य-व्यवस्था का वर्णन करने वाले प्रत्येक ग्रन्थ के वर्णन में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र उपस्थित दिखाई देता है, फिर भी राजतन्त्र को महत्त्व और प्रधानता देने का केवल यही एक कारण नहीं है। भारतीय दार्शनिक विचारों पर आधारित समाज-शास्त्र के जो भारतीय सिद्धान्त हैं उनके अनुसार भी जनतन्त्र एक श्रेष्ठ राज्य पद्धति नहीं है। भारतीय शास्त्रों में अधिकार भेद का सिद्धान्त प्रमुख रीति से मान्य है और भारतीय समाज व्यवस्था उसी अधिकार भेद के सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऐसा माना गया है कि समाज के सभी व्यक्ति एक ही स्तर के नहीं होते अपितु गुणों की दृष्टि से (सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी) उनमें भेद होते हैं और इसलिए प्रत्येक का स्थान उसके गुणों पर अर्थात् उसकी आध्यात्मिक और चारित्रिक उन्नति के स्तर पर निर्भर करता है। इसी सिद्धान्त को मानकर राज्य का काम रजोगुणी क्षत्रिय को सौंपा गया है—उन लोगों को जो वीर हैं, क्रोधी हैं तथा धर्म-रक्षण की भावना से परिपूर्ण हैं (देखिये पीछे अध्याय ४)। रज और तम के मिश्रण वैश्य को अथवा तमोगुणी शूद्र को, यहाँ तक कि सतोगुणी ब्राह्मण को भी राज्य के कार्य के अयोग्य समझा गया है और इन तीनों वर्गों (वर्णों) को इनके गुण और योग्यता के आधार पर समाज में उपयुक्त स्थान दिये गये हैं।

अतः समाज के सभी व्यक्तियों को चाहे उनमें कैसे ही गुण हों राज्य-व्यवस्था के नियंत्रण का (मतदान का) तथा उसको संचालित करने का (राज्य के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर निर्वाचित होने का) अधिकार देने का विचार भारतीय जीवन-सिद्धान्त के विपरीत था। अर्थात यद्यपि आध्यात्मिक दृष्टि से सब प्राणी मात्र की समानता ही नहीं उन सबकी एकात्मता भी भारतीय विचारकों ने स्वीकार की थी, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से (जीवन में) उन्होंने मनुष्य की समानता का यह सिद्धान्त न मानकर यह विचार किया था कि विभिन्न मनुष्यों में विभिन्न गुण होते है और उन्हें उनके उन गुणों के अनुसार पृथक-पृथक कार्य देने चाहिये, और इसी विचार को उन्होंने राज्य-व्यवस्था और राज्य-जीवन में लागू किया था। वर्तमान काल के जनतन्त्रों में भी किसी भी प्रकार का व्यक्ति, जनता को (क्योंकि जनता शासन के गूढ़ रहस्यों को समझने में अक्षम रहती है) येन-केन प्रकारेण प्रसन्न कर, राज्य के उच्चतम पदों पर पहुँच सकता है और पहुँच जाता है। इसलिये इस प्रकार की जनतान्त्रिक कही जाने वाली राज्य-रचना भारतीय समाज शास्त्रियों को मान्य नहीं थी। केवल इतना ही नहीं था कि भारतीय राज्य-व्यवस्था का कार्य केवल क्षत्रियों को सौंपा गया हो परन्तु भारतीय समाज-शास्त्रियों ने इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित किया था कि शासन की सर्वोच्च सीढ़ी पर केवल एक व्यक्ति ही रहना चाहिये, यद्यपि, उन्होंने सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था तथा राज्य-व्यवस्था के ढांचे में उस एक व्यक्ति को इस प्रकार जकड़ दिया था जिससे जहाँ तक सम्भव हो वह व्यक्ति पथ-भ्रष्ठ न हो। इस व्यक्ति (राजा) के सम्बन्ध में उनकी ऐसी भी धारणा थी कि पूर्व जन्म के तप के कारण (गुणार्जन के प्रयत्न के परिणामस्वरूप) ही साधारणतया कोई व्यक्ति राजा हो सकता है। अर्थात गुण और कर्म के अनुसार साधारणतया वही व्यक्ति राजा हो सकता है जिसने पिछले जन्म में ऐसे कर्म किये हों और ऐसे गुण-सम्पादन किये हों जिससे वह राजा होने की पात्रता रखे (जहाँ उपयुक्त समाज-व्यवस्था नहीं है वहाँ की बात ही भिन्न है)। इसी बात को विस्तार के साथ शान्ति पर्व में कहा गया है। जब युधिष्ठिर राजधर्म के वर्णन के प्रारम्भ में ही राजतन्त्र के विषय में अपनी शंका प्रकट करते हैं कि दूसरों के समान ही बुद्धि और इन्द्रिय, सुख और दुख, हड्डी और मज्जा, मांस और रुधिर, श्वास और उच्छ्वास, जन्म और मरण अर्थात दूसरों के ही समान सब गुण होने पर भी एक मनुष्य क्यों दूसरों के ऊपर प्रभुता चलाता है तथा एक शूरवीर, आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषों से भरी हुई पृथ्वी पर क्यों शासन करता है? भीष्म सबसे प्रारम्भ में तो राज्य की आवश्यकता, उसका लाभ तथा उसकी उत्पत्ति की कथा, राज्य का महत्व प्रकट करने के लिये बताते हैं और तत्पश्चात राज्य के अन्दर एक व्यक्ति का ही शासन क्यों होता है इसका कारण बताते हुये कहते हैं कि श्रेष्ठ व्यक्ति जब गुण सम्पादन कर (तप कर) मृत्यु के पश्चात स्वर्ग मे जाता है तो वही व्यक्ति पुण्य क्षीण होने पर पृथ्वी पर दंड नीति-विशारद राजा के रूप में अवतरित होता है। इसी कारण उसमें सब-कुछ अन्य मनुष्यों के समान होने पर भी

जगत उसकी आज्ञा मानता है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ भारतीय विचारकों ने जनतन्त्र को भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों के विपरीत समझा वहाँ एकतन्त्र को भी उन्होंने कर्मफल के भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त के आधार पर ही उचित ठहराया। दूसरे शब्दों में उन्होंने यह विचार किया कि पूर्व जन्म के गुण और कर्म के आधार पर साधारणतया उपयुक्त व्यक्ति ही राजा के रूप में जन्म लेगा। फिर भी, क्योंकि भारतीय विचारकों ने यह भी स्पष्ट रीति से समझ लिया था कि "यौवन, धन, सम्पति, अविवेकता और प्रभुत्व में से एक ही अनर्थ करने के लिये प्रर्याप्त हैं फिर जहाँ चारों हों वहाँ तो कहना ही क्या।" इसलिये उन्होंने एकतन्त्र को उचित समझते हुये भी इस एक व्यक्ति (राजा) की शिक्षा, नियंत्रण आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था निर्माण करना आवश्यक समझा जिससे वह एक व्यक्ति मन के संयम के द्वारा तथा वाह्य नियंत्रण के द्वारा योग्य मार्ग पर वना रहे। इसलिये जब भारतीय विचारकों ने राजतन्त्र को एक श्रेष्ठ पद्धति माना तो उसे समाज और राज्य की अपनी समग्र व्यवस्था के अन्दर रख कर तब उसे स्वीकार किया, केवल एक पृथक सिद्धान्त के रूप में नहीं। इस कारण भारतीय विचारकों द्वारा राजतंत्र की इस मान्यता को सम्पूर्ण समाज और राज्य-व्यवस्था से पृथक कर एक पृथक सिद्धान्त के रूप में देखना ठीक नहीं है परन्तु सम्पूर्ण व्यवस्था के अनुकूल और उसके अन्तर्गत विचार करते हुये ही उसकी (राजतन्त्र की) मान्यतया तथा उसका औचित्य और उसकी श्रेष्ठता समझी जा सकती है।

२. जनतन्त्र में अनैतिकता की वृद्धि तथा अयोग्य व्यक्तियों का प्रभुत्व—राजतन्त्र को मान्यता देने का एक और भी कारण था। भारतीय राजनीतिक अथवा सामाजिक विचारकों ने यह तो निश्चित समझ लिया था कि राज्य एक ऐसी वस्तु है जिस पर सत्ता प्राप्त करने का लालच वहुत वड़ा होता है। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्वन्धों का उन्होंने जहाँ विश्लेषण किया है वहाँ उनका यह विचार वहुत स्पष्ट दिखाई देता है कि सत्ता की प्राप्ति के लिये, उसको वनाये रखने के लिये तथा उसकी अभिवृद्धि के लिये राज्य की लालसा रखने वाले व्यक्ति के द्वारा सब प्रकार के उचित-अनुचित प्रयत्न किये जा सकते हैं। इसलिये इस विषय में उन्होंने कोरा आदर्शवाद न मानकर और व्यावहारिक तथ्य को वास्तविकता के रूप में स्वीकार करते हुये तदनुसार अपना सम्पूर्ण विचार किया। यह तथ्य उन्होंने इतने स्पष्ट रूप में समझा और प्रकट किया कि उनका विचार था कि यदि राज्य के आन्तरिक प्रशासन में भी वैसी ही सत्ता-प्राप्ति की प्रतियोगिता स्वीकार की जाय (चाहे वह प्रतियोगिता किसी एक वर्ग के व्यक्तियों में हो जैसे अभिजात्य-तन्त्र में अथवा चाहे सम्पूर्ण जनता में हो जैसे जनतन्त्र में) तो वह प्रतियोगिता राज्य जीवन तथा समाज-जीवन के लिये हानिकारक होगी। इतना ही नहीं, वह राज्य और समाज को नष्ट करने वाली होगी। जब विभिन्न राज्य कर्त्ताओं के वीच में अपनी सत्ता को वनाये रखने के लिये तथा पारस्परिक संघर्ष के द्वारा एक दूसरे को नीचा

दिखाकर उस सत्ता के अभिवृद्धि करने के लिये विभिन्न प्रकार के छलछद्म-पूर्ण (नीति पूर्ण) उपाय प्रयोग किये जाते हैं तो यह बात उन्हें स्पष्ट दिखाई दी कि आन्तरिक राज्यशासन में भी सत्ता-ग्रहण के लिये प्रतियोगिता होने पर सत्ता-ग्रहण करने वाले विभिन्न व्यक्तियों और दलों द्वारा अनैतिक और पतित साधनों का प्रयोग अवश्य होगा। इसलिये इसका यह परिणाम समझकर, कि सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार की प्रतियोगिता में डालने पर सर्वसाधारण समाज का धीरे-धीरे चरित्र की दृष्टि से पतन होगा, सभी लोगों में विभिन्न प्रकार के छोटे अथवा बड़े अधिकार के प्राप्ति की लालसा और प्रतियोगिता जागृत होगी, सभी लोग भौतिक सुखोपभोग और भौतिक सत्ता प्राप्ति के प्रयत्न और संघर्ष में व्यस्त हो जायेंगे, और फलस्वरूप सर्वसाधारण मनुष्य अपने लक्ष्य अर्थात आध्यात्मिक उन्नति की ओर से हट जायेगा, उन्होंने सम्पूर्ण समाज को राज्य-प्राप्ति का अधिकार देना अर्थात जनतंत्र को मान्यता देना लाभप्रद नहीं समझा। इसलिये भौतिक महत्वाकांक्षा का और भौतिक सत्ता प्राप्ति की प्रतियोगिता का क्षेत्र थोड़े से थोड़े लोगों तक (विभिन्न राज्यों के राजाओं तक) ही सीमित कर भारतीय समाज निर्माताओं ने सर्वसाधारण समाज को उस प्रतियोगिता में पड़ने से रोक दिया। इसके अतिरिक्त यह भी उन्हें स्वाभाविक लगा कि इस प्रकार की सत्ता-प्राप्ति की प्रतियोगिता में यदि छलदद्म पूर्ण उपायों का प्रयोग हुआ— जो अवश्य होगा ही— तो ऐसी अवस्था में यह निश्चित है कि समाज के अनैतिक, धार्मिक लोग ऐसी प्रतियोगिता से दूर रहेंगे और समाज के अन्दर जो अनैतिक व्यक्ति हैं अर्थात दुष्ट, स्वार्थी और बलशाली हैं उनका ही साधारणतया समाज में प्रभुत्व स्थापित होगा और इस कारण समाज में धीरे-धीरे धर्म का, सुशासन का और न्याय का लोप होकर समाज का पतन और उसकी अव्यवस्था और कुव्यवस्था बढ़ती जायगी। विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में तो स्थिति भिन्न थी क्योंकि एक तो उन राज्यों की प्रतियोगिता समाप्त करने का कोई मार्ग नहीं था (सारे संसार में एक राज्य का स्थापित होना लगभग असंभव है) और क्योंकि दूसरे, उसमें यह छलछद्म पूर्ण साधनों का प्रयोग राज्यों के ऊपरी राजनीतिक वर्ग तक ही सीमित रखकर सर्वसाधारण समाज को उनसे दूर रखा था। परन्तु इसके विपरीत, राज्य के आन्तरिक प्रशासन में सभी व्यक्तियों की सत्ता को प्रतियोगिता में लगा देने का अर्थ होता (जैसा जनतन्त्र में होता है) कि एक तो सम्पूर्ण समाज की वृत्ति वैसे ही दूषित हो जाती, और दूसरे, दुष्ट और अनैतिक लोगों के हाथ में सत्ता आ जाने पर सम्पूर्ण समाज और उसके व्यक्तियों पर राज्य का अन्याय और अत्याचार तथा समाज का पतन बढ़ता जाता।

(३) **पारस्परिक विद्वेष की वृद्धि**—भारतीय विचारकों ने जनतन्त्र में तथा आभिजात्यतन्त्र में इसके अतिरिक्त एक अन्य दोष भी स्वीकार किया था, वह यह

था कि इन राज्य पद्धतियों में राज्य के अन्दर पारस्परिक, संघर्ष और वैमनस्य उत्पन्न होता है और फूट पड़ जाती है जिससे विरोधी राज्यों को, सत्ता प्राप्ति के लोभी और महत्वकांक्षी लोगों को, जो किसी कारण सत्ता प्राप्ति में असफल रहे हैं, अपनी ओर फोड़ने में सुविधा हो जाती है आदि इसके कारण एक राज्य के जीवन में अस्थायित्व उत्पन्न होता है। "गणों के विनाश का मूल भेद (पारस्परिक वैमनस्य) है और वहुतों के जानने के कारण मन्त्र को भी गुप्त रखना कठिन होता है।" भीष्म ने इसी वात को गणों का (जनतन्त्र) तथा कुलों का (आभिजात्यतंत्र) उल्लेख करते हुये बताया है कि "गण भिन्न मन हो कर शत्रु के वंश में हो जाते हैं और गणों में फूट पड़ जाने के कारण उनका विनाश हो जाता है तथा उसके कारण उन्हें दूसरे सरलता से जीत लेते हैं।" इसके विपरीत राजतन्त्र में जहाँ एक व्यक्ति के हाथ में सम्पूर्ण सत्ता रहती है वहाँ तुलनात्मक अधिक एकता रहती है तथा विभेद के होने की संम्भावना अन्य राज्य पद्धतियों की तुलना में कम रहती है और जैसा पीछे बताया गया है, इस एकता के कारण राज्य का प्रशासन भी अधिक दक्ष और सुगठित रहता है। इन्हीं सव कारणों से भारतीय विचारकों ने राजतन्त्र को अन्य पद्धतियों की तुलना में श्रेष्ठ पद्धति समझकर उसी का अपने ग्रन्थों में विवेचन किया है।

राजतन्त्र मानने पर भी प्रजा के हित के अनुसार शासन—परन्तु ऊपर के इस विवेचन से ऐसा यहीं समझना चाहिये कि भारतीय राजतन्त्र का अर्थ था कि प्रजा के हित की अथवा उसकी इच्छा की तनिक भी चिन्ता न की जाय तथा केवल एक व्यक्ति की मन की मौज और मन की उड़ान के ही अनुसार राज्य का सव काम चलाया जाय। ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है कि राजतन्त्र की पाश्चात्य कल्पना में और राजतन्त्र की भारतीय धारणा में मूलतः यही अन्तर है। भारतीय विचारकों ने राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन पद्धति अवश्यक माना था और इसलिये जनता द्वारा शासन चलाया जाय यह उन्हें मान्य नहीं था, परन्तु राज्य की व्यवस्था अथवा राज्य का नीति-निर्धारण केवल एक व्यक्ति की ही इच्छा मात्र के अनुसार चले यह बात भारतीय विचारकों को अपनी राजतन्त्र की कल्पना में स्वीकार नहीं थी। इसलिये उन्होंने एक वात का आग्रह किया था कि प्रजा के हित का ध्यान रखकर ही राज्य का काम चलना चाहिये न कि राजा की व्यक्तिगत सुविधा का ध्यान रखकर, अर्थात प्रजा को केन्द्रित कर राज्य की समस्त व्यवस्था और राज्य के सम्पूर्ण कार्य होने चाहिये। इसलिये भारतीय जनतन्त्र में राजा पर विविध प्रकार से (उसका दैनिक कार्यक्रम निर्धारण कर, उसके कर्त्तव्य निश्चित कर, उसके गुणों के वर्धन और दुर्गुणों के दमन का आग्रह कर, उसे मर्यादा के अन्तर्गत रहने का आदेश देकर, उसे धर्मपालन का अर्थात धर्मानुसार चलने का आग्रह कर, उसे समाज की व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का अधिकार न देकर तथा उसको पुरोहित,

मंत्रियों के परामर्श का ध्यान देने का आग्रह कर) नियन्त्रण स्थापित किया था जिससे राजा की व्यक्तिगत सुख-सुविधा अथवा राजा की व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार राज्य का काम न चले और प्रजा के हित, लाभ तथा इच्छा के आधार पर राज्य का शासन चलाया जाय। तदनुसार कौटिल्य ने बहुत स्पष्ट कहा कि "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है तथा प्रजा का हित ही राजा का हित है। अपना प्रिय (जो स्वयं को अच्छा लगे वह) राजा का हित नहीं है परन्तु प्रजा को प्रिय लगे वही राजा का हित है।" शुक्र ने भी यही कहा है और उसके अतिरिक्त राज्य की तुलना एक वृक्ष से देते हुये कहा है कि राज्य रूपी वृक्ष का मूल राजा है और प्रजा उस वृक्ष के फल के रूप में है अर्थात राज्य का सम्पूर्ण ढांचा प्रजा को विकसित करने के लिये है अर्थात उसके ही हित के लिये है। कामन्दक ने प्रजा और राजा का इस प्रकार का सम्बन्ध बताया है जैसे शरीर और आत्मा का अर्थात विना प्रजा के उत्थान के राजा का अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा। राजा-प्रजा का उपरोक्त सम्बन्ध बताने के अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि राजा प्रजा को कष्ट न दे चाहें वह क्षुधा से सूखे हुये पेड़ के समान स्थिर हो जाय। मनु स्मृति ने इसी बात को बहुत बल देते हुए कहा है कि "यदि राजा मोहवश प्रजा की चिन्ता न करके अपने राज्य को दुख पहुँचाता है, वह राजा जीवित अवस्था में ही बन्धनों सहित शीघ्र राज्य से भ्रष्ट हो जाता है। जिस प्रकार शरीर को क्षीण करने से प्राणियों के प्राण नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार राष्ट्र (प्रजा) को क्षीण करने से राजा के प्राण नष्ट हो जाते हैं। शान्ति पर्व, याज्ञवल्क स्मृति, कामन्दकीय नीतिसार तथा अग्नि-पुराण का भी यही कहना है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं कि प्रजा को राजा कष्ट न दे, यह भी आवश्यक है कि राजा प्रजा के हित में ही कार्य करे तथा इस ढंग से ही वह शासन करे जिससे प्रजा सन्तुष्ट और प्रसन्न हो तथा उद्वेजित न हो। इस कारण राजा का काम प्रजा का रंजन करना बतलाया गया है अर्थात प्रजा रजन करने के ही कारण शासक को राजा कहा जाता है। यह तो पीछे बताया ही गया है कि राज्य उद्देश्य ही प्रजा-रक्षण और प्रजा-पालन है और इन्हीं उद्देश्यों के अनुसार राज्य के सब कार्य निश्चित किये गये हैं; इन कार्यों की व्यवस्था करते समय भी यही ध्यान रखा गया हैं कि राज्य का कार्य प्रजा के हित के अनुकूल हो अर्थात राज्य के पास इतनी अधिक शक्ति (कार्य) भी न हो जाय जिससे राज्य करने वाला शासक प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार कर सके और राज्य को इतने कम कार्य भी न दिये जांय जिससे प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो। राज्य की आवश्यकता बताते हुये राज्य-उत्पत्ति कथाओं में भी यही कहा गया है कि प्रजा को कष्ट होने के कारण ही और उनके अन्दर पारस्परिक संघर्ष होने के कारण ही प्रजा के रक्षण के लिये राज्य की स्थापना हुई। राज्य के कर्मचारियों के विषय में भी कहा गया है कि उनसे ऊपर राजा का इस प्रकार नियन्त्रण होना चाहिये जिससे वह प्रजा को कष्ट न दे सकें और राज्य द्वारा

कर भी इसी प्रकार लिया जाना चाहिये जिससे प्रजा का उत्पीड़न न हो (देखिये आगे अध्याय १२)। संक्षेप में ऐसा कह सकते हैं कि भारतीय राजतन्त्र में राजा की व्यक्तिगत इच्छा और सुविधा का कोई महत्त्व नहीं है अपितु प्रजा के ही हित का, प्रजा की आवश्यकता का ही ध्यान प्रमुख है। अतः यद्यपि भारतीय राजतन्त्र में प्रजा द्वारा शासन पर सीधा नियंत्रण नहीं है फिर भी वह एक दृष्टि से प्रजा-तन्त्र ही है।

प्रजा की इच्छा के अनुसार शासन—यहाँ तक तो इतना ही बतलाया गया है कि राजा को प्रजा के सुख-दुख का और हित-अहित का विचार कर ही सम्पूर्ण कार्य करना चाहिये, परन्तु भारतीय राज्य-व्यवस्था में प्रजा का केवल इतना ही स्थान नहीं है। यह भी आवश्यक माना गया है कि राजा प्रजा का मत जानने का प्रयत्न कर प्रजा की इच्छा का ध्यान रख तदनुसार राज्य का शासन करे। शुक्रनीति में इसे विस्तार से और सउदाहरण बताया गया है कि "जनता में राजा के (शासन के) कौन-कौन से दुर्गुण कहे जाते हैं। यह वह (राजा) गुप्तचरों द्वारा जाने और अपनी कीर्ति के लिये उन (दुर्गुणों) को छोड़ दे तथा प्रजा की अवमानना (प्रजा के विचार की उपेक्षा) न करे। यदि गुप्तचरों द्वारा, अपने दुर्गुणो पर ध्यान न देने वाला राजा, अपने दुर्गुणों को सुनता है और उस पर वह अपने अहंकार के कारण क्रोध करता है तो उसकी जनता में निंदा होती है। लोकापवाद के कारण साध्वी होने पर भी राम ने सीता को छोड़ दिया और समर्थ होने पर भी धोबी को तनिक-सा दण्ड न दिया अपितु ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न राजा ने उसे अभय दिया। शुक्र के इस संदर्भ का अर्थ स्पष्ट है कि यदि प्रजा किसी कार्य पर राजा की निन्दा करे तो राजा को प्रजा की इच्छानुसार अपने में योग्य परिवर्तन कर लेना चाहिये और अहंकार में भर कर प्रजा पर क्रोध न करना चाहिए। कौटिल्य ने भी कहा है कि गुप्तचरों द्वारा जनता के मत को जानने का और उसे पक्ष में करने का राजा को प्रयत्न करना चाहिये और उसने तो जनता के इस मत का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है तथा उस मत को प्रभावित कर राजा किस प्रकार अपने पक्ष में करे इसकी भी सविस्तार पद्धति बतलाई है। तेरहवें प्रकरण के पाँचवें अध्याय विजित देश के विषय में कौटिल्य ने यह बताया है, कि "नये जीते हुये प्रदेश में विजेता राजा पूर्व राजा के दोषों की तुलना में अपने गुणों को प्रकाशित करे और उसके गुणों की तुलना में अपने दुगुने गुण दिखाये। स्वधर्म का योग्य पालन कर अनुग्रह, परिहार, दान, मान आदि कर्मो से प्रजा का प्रिय और हित करे" जिसका अर्थ यह है कि विजित देश की जनता का मन अपने पक्ष में करने के लिये विजेता राजा को हर सम्भव उपाय से यत्न करना चाहिये। कामन्दक का भी कहना है कि जनता को प्रसन्न न करने वाले कर्मों को राजा त्याग दें। बहिस्पत्य सूत्रों में तो यहाँ तक कहा है कि जिस धर्म से जनता क्रुद्ध हो जाय वह धर्म भी नहीं करना चाहिये और जनता की इच्छा के विपरीत छोटा-सा भी कार्य करना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त

ऊपर जहाँ यह कहा है कि राजा प्रजा को दुखी न करे, उसे कष्ट न दे तथा उसे सन्तुष्ट और प्रसन्न रखे वहाँ उसके पीछे यह भावना तो है ही कि राजा ऐसा काम करे जिससे प्रजा का लाभ हो परन्तु उसके साथ ही साथ उसके पीछे यह भी भाव है कि राजा को ऐसे ही सब कार्य करना चाहिये जो प्रजा की इच्छा के अनुकूल हों तथा जिनसे प्रजा राजा के कार्यों की प्रशंसा करे, निन्दा न करे। शान्ति पर्व में प्रजा के मत के अनुसार कार्य करने का कई स्थानों पर संदर्भ है। मंत्री की योग्यता का वर्णन करते हुये कहा गया है कि उसके ऊपर जनता का विश्वास होना चाहिये। यद्यपि इसका अर्थ लगाना गलत होगा कि यह संदर्भ वर्तमान काल के पाश्चात्य जनतन्त्रों के समान राज्य पद्धति का वर्णन करता है। शान्तिपर्व का शुक्र और कौटिल्य के समान यह भी कहना है कि राजा गुप्तचरों द्वारा सम्पूर्ण राज्य के विचार ज़ानने का यत्न करे और यह देखे कि उसके पूर्व कर्म की जनता प्रशंसा करती है या नहीं। जनता की इच्छा इसी सीमा तक मानने का उल्लेख नहीं हैं, इससे भी अधिक है। यदि प्रजा राजा से असन्तुष्ट हैं तो ऐसी स्थिति में कौटिल्य ने राजकुमार को अनुमति दी है कि वह पिता के प्रति विद्रोह कर सकता है तथा शुक्र ने भी पुत्र को तथा पुरोहित को यह अनुमति दी है कि वह प्रजा की सहमति से (इच्छानुसार) राजा को हटा दे। जनता की इच्छा शासन में माने जाने के कुछ उदाहरण भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों में मिलते हैं। राम द्वारा जनता के आग्रह पर सीता को वनवास देने का उल्लेख शुक्र के उद्धरण में दिया गया है जिस कथा के रामायण के वर्णन में श्री रामचन्द्रजी का कथन है कि "मैं सब बातें सुनकर जिन्हें वे (पुरवासी) अच्छी समझते हैं उन्हें ग्रहण करूँगा और जिन्हें बुरी बताते हैं उन्हें त्याग दूँगा।" परन्तु रामायण में ही एक दूसरा उदाहरण सगर का है जिसका पुत्र असमंज लोगों के पुत्रों को नदी के अन्दर डुबा देता था। इस कारण प्रजा के लोगों ने जब सागर से इसका उल्लेख किया तब प्रजा की बात सुनकर राजा सगर ने उनका प्रिय करने की इच्छा से अपने दुष्ट पुत्र को उसकी पत्नी सहित रथ पर बिठाया और अपने सेवकों को आज्ञा दी कि उसे जीवन भर के लिये राज्य से बाहर निकाल दे और फिर प्रजा की इच्छा से अपने प्रपौत्र-अंशुमान को राज्य दिया। मत्स्य पुराण में महाभारत की एक कथा दी हुई है कि राजा प्रतीप के पुत्र देवापि कुष्ट के रोगी थे। अतः प्रजा-वर्ग ने उन्हें दोषी ठहराया और शान्तनु राजा हुये।" वायु-पुराण में बताया है कि राजा ययाति जब राज्य छोड़कर वन जाने लगे और उन्होंने प्रजा के समक्ष अपने छोटे पुत्र पुरु को राज्य देने की इच्छा प्रकट की और प्रजा के आपत्ति करने पर कि वह बड़ों के होते हुए छोटे को राज्य क्यों दे रहे हैं, प्रजा को जब उन्होंने समझा दिया कि अन्य बड़े पुत्रों ने ययाति की आज्ञा का पालन नहीं किया था और पुरू ने ही किया था और उसके कारण प्रजा सन्तुष्ट हो, यह कहने पर कि "इस राज्य के योग्य पुरू ही है" तभी पुरु का राज्यभिषेक किया गया इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राज्य के सर्वसाधारण व्यवहार में

ता यह राजा को देखना ही चाहिये था कि प्रजा की इच्छा क्या है और इसका गुप्तचरों द्वारा पता लगाना चाहिये परन्तु ऐसे विषयों में भी जिसमें नियम निश्चित हैं (जैसे उत्तराधिकार अथवा नये राजा का अभिषेक) प्रजा की सम्मति आवश्यक है। परन्तु जैसा इस सब वर्णन से स्पष्ट है इसके अन्दर मतदान की पद्धति से प्रजा का अथवा उसके निर्वाचित प्रतिनिधियों का मत जानने की बात नहीं है अपितु केवल इतना ही है कि राजा को इस बात का ध्यान और ज्ञान रखना चाहिये कि प्रजा की इच्छा क्या है और उस इच्छा के अनुसार राज्य का कार्य चलाना चाहिये क्योंकि राज्य है ही प्रजा के सुख के लिये। रामायण का ऊपर उदाहरण दिया ही गया है कि प्रजा की इच्छा के कारण सगर ने असमंज को निकाल कर अपने प्रपौत्र अंशुमान को राज्य दिया था परन्तु इसके अतिरिक्त राम के राज्याभिषेक के प्रसंग में भी यह बताया गया है कि दशरथ ने ब्राह्मणों को, सेना के प्रमुखों को तथा जनता के लोगों को बुलाकर राम को युवराज बनाने के अपने विचार का उल्लेख किया और कहा "यदि मेरा मत आप लोगों को अनुकूल जान पड़े तथा यदि मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आप इसके लिये मुझे सहर्ष अनुमति दें।" जनता के सभी लोगों के विचार करके कहने पर कि "हम आपके ज्येष्ठ पुत्र राम को युवराज-पद पर विराजमान देखना चाहते हैं, अतः आप पराक्रमी, सम्पूर्ण लोकों के हित में संलग्न रहने वाले और महापुरुषों द्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीराम का जितनी शीघ्र हो सके प्रसन्नता पूर्वक राज्याभिषेक कीजिये", दशरथ ने राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ की। महाभारत में भी कथा है कि परीक्षित की मृत्यु के पश्चात पुरवासियों ने एक स्वर से जनमेजय को राजा नियुक्त किया उसी ग्रन्थ में यह भी बताया है कि विचित्रवीर्य के मरने के पश्चात अराजकता की अवस्था उत्पन्न होने से प्रजा के सभी लोगों ने भीष्म के पास जाकर उनसे कहा कि राजा के अभाव में प्रजा पीड़ित है और भाँति-भाँति की व्याधियों से ग्रसित होने के कारण क्षीण हो रही है तथा जो प्रजा शेष है उसे बचाने में भीष्म ही समर्थ है अतः वे उस प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करें अर्थात प्रजा ने उस समय भीष्म से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना की। इसके पश्चात जब पांडु के मरने पर धृतराष्ट्र राजा हुये उस समय भी प्रजा ने ही उन्हें राजा स्वीकृत किया। युधिष्ठर के युवराज बनने के पश्चात प्रजा जब युधिष्ठिर से प्रसन्न रहने लगी उस समय धृतराष्ट्र को भी यही चिन्ता हुई कि कहीं प्रजा युधिष्ठिर का पक्ष ले धृतराष्ट्र और उसके बान्धवों को न मार डाले। महाभारत युद्ध समाप्त होने पर जब धृतराष्ट्र कुन्ती सहित वन में जाने का निश्चित करते हैं उस समय भी वह अपना निश्चय पुर और जनपद के सभी लोगों को सुनाते हैं और उनकी अनुमति से युधिष्ठिर को राज्य सौंप कर फिर वन की ओर प्रस्थान करते हैं (आश्रमवासिक पर्व)। श्रुतियों के अन्दर भी ऐसा उल्लेख है जिससे ज्ञात होता है कि राजा की नियुक्ति में प्रजा की इच्छा का बहुत महत्त्व है। ऋग्वेद में राज स्तुति करते हुये कहा है कि "सारी प्रजा तुम्हारी कामना करे और तुम राज्य के

स्वामित्व से च्युत न होंगे" तथा फिर आगे कहा है कि "इन्द्र ने तुम्हारी प्रजा को संगठित कर प्रदानोन्मुख किया है।" अथर्व वेद में भी कहा है कि "तुमको प्रजा इस राज्य के लिये चुनती है तथा यह दिशायें और पंचदेवियाँ भी।" नये राजा की नियुक्ति के अतिरिक्त राजा को हटाने के सम्बध में भी प्रजा का मत जानना आवश्यक समझा गया है (देखिये ऊपर)। कौटिल्य का कहना है आम प्रजा राजा से असन्तुष्ट है तो ऐसी स्थिति में राजकुमार राजा के विरुद्ध विद्रोह कर सकता है। शुक्र ने कहा है कि राजपुत्र अथवा पुरोहित दोषपूर्ण राजा को हटा दें परन्तु यदि प्रजा की सहमति हो तो राजा को हटाने के विषय में प्रजा की सहमति का होना इसलिये आवश्यक माना गया था क्योंकि यदि अन्य लोग केवल स्वेच्छाचारिता के आधार पर विद्रोह कर बैठेंगे तो बहुत गड़बड़ होगी और इसलिये यदि प्रजा की इच्छा से राजा को हटाया जायगा तो इसका अर्थ होगा कि वास्तव में राजा दोष-पूर्ण था और इसलिये उसका हटाना आवश्यक ही था। इन सब कथाओं और गुणों से यही सिद्ध होता है कि नये राजा को राज्य दिये जाने में अथवा राजा को राज्य से हटाने में प्रजा की इच्छा का भी महत्त्व माना गया था अर्थात इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि किसी नव नियुक्त राजा के विषय में प्रजा की भावना का ध्यान रख कर नियुक्ति की जाय तथा पुराने राजा को भी प्रजा की इच्छा जानकर ही हटाया जाय क्योंकि उसी पर अर्थात राजा की नियुक्ति पर ही प्रजा का सुख-दुख निर्भर करता है। राजा की नियुक्ति में प्रजा की इच्छा का ध्यान रखना इस कारण भी आवश्यक था कि राजा से प्रजा असन्तुष्ट हुई तो राजा के लिये शासन करने में कठिनाई होगी और प्रजा राजा के पारस्परिक मनोमालिन्य के कारण दोनों को एक दूसरे के प्रति असन्तोष होकर यदा-कदा संघर्ष की सी भी स्थिति निर्माण हो सकती है। इसलिये राजा के लिये यह तो आवश्यक था ही कि वह दिन-प्रतिदिन के राज्य कर्म में प्रजा की इच्छा का ध्यान रखे और तदनुसार शासन करे, परन्तु, इसके अतिरिक्त नये राजा को राज्य देने के समय भी ऊपर बताये गये कारणों से प्रजा की इच्छा के अनुसार चलना बहुत महत्त्वपूर्ण और आवश्यक माना गया था।

राजा का निर्वाचन नहीं—यद्यपि यह सत्य है कि राजा की नियुक्ति में प्रजा के मत का ध्यान रखना आवश्यक था परन्तु इसका यह अर्थ लगाना गलत होगा कि प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचित होने की पद्धति मान्य थी। यह तो प्राचीन भारतीय शासन पद्धति में वर्तमान काल की पाश्चात्य जनतन्त्रात्मक भावना खोजने का एक अनुचित प्रयत्न ही होगा। इतिहास पुराण के ग्रन्थों में सूर्यवंश और चन्द्र वंश के राजाओं की पूरी सूचियाँ दी गई हैं परन्तु उनमें अधिकांश स्थल ऐसे हैं कि जहाँ उत्तराधिकार के निश्चित नियमों के अनुसार नया राजा स्वयंमेव राज्य पर आसीन हो गया है। ऊपर के भी जो उदाहरण दिये गये हैं उनसे भी यह बात स्पष्ट होती है। यद्यपि प्रजा की इच्छा जानकर ही राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ की गई थीं परन्तु जब राम वनवास को गये उस समय प्रजा की इच्छा जानने का कहीं

कोई उल्लेख नहीं है। इतना ही नहीं ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण प्रजा की यह इच्छा होने पर भी कि राम वन को न जायँ, राम वन को चले गये। फिर जब भरत सम्पूर्ण प्रजा को साथ लेकर भगवान राम से लौटने का आग्रह करने के लिये उनके पास वन में जाते हैं उस समय राम अपना न लौटने का निश्चय स्वयं बिना प्रजा से पूछे ही करते हैं और बाद में भरत के आपत्ति करने पर ही वह प्रजा से उसका मत जानने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी यद्यपि प्रजा ने भीष्म से राजा होने की प्रार्थना की थी परन्तु भीष्म नें उसे स्वीकार नहीं किया और फिर विचित्रवीर्य के नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र पाण्डु को ही राजा बनाया गया। दुर्योधन और युधिष्ठिर के मध्य राज्य के पारस्परिक संघर्ष में किसी भी स्थल पर प्रजा की सम्मति नहीं माँगी गई और युद्ध स्थल पर ही राज्य के उत्तराधिकारी के प्रश्न का निर्णय हुआ। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राज्य-पद्धति में नये राजा के निर्वाचित होने की कोई पद्धति नहीं थी और इसे सिद्ध करने का प्रयत्न गलत है। इतना अवश्य ऊपर के वर्णन से प्रकट होता है कि इस विषय में जनता की भावना का आदर करना आवश्यक था। ऊपर के वर्णन से यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि जनता का मत जानकर तदनुसार राज्य-कार्य चलाने का अर्थ है वर्तमान काल की जनतंत्रात्मक की स्वीकृति। यह स्पष्ट कहा गया है कि गुप्तचरों द्वारा प्रजा की भावना जानकर तदनुसार कार्य किया जाये और रामायण में भी श्रीराम चन्द्र जी को सीता के विषय में जन भावना का ज्ञान गुप्तचरों द्वारा ही होता है।

ऊपर के वर्णन से भारतीय राजतन्त्र अथवा भारतीय प्रजान्त्र का (उसे चाहे जो नाम दिया जाय) स्वरूप स्पष्ट है। उसे इस प्रकार रखना उचित होगा कि भारतीय राज्य-व्यवस्था में जनता के हित के अनुसार काम करने का तथा जनता के मत के अनुसार शासन करने का आग्रह अवश्य है परन्तु जनता के द्वारा शासन चलाने की पद्धति नहीं स्वीकार की गई—शासन की बागडोर तो राजा के हाथों में रहनी उचित और लाभप्रद है जो अपने मंत्रियों के परामर्श, पुरोहित के उपदेश, प्रजा हित और उनके विचार देखकर तदनुसार राज्य का कार्य चलायेगा।

२. राजा पर नियंत्रण

आन्तरिक वृत्ति निर्माण कर–(१) शिक्षा द्वारा–भारतीय राजतंत्र में प्रजा के हित का, प्रजा की भावना का और प्रजा की इच्छा का यद्यपि बहुत महत्व था परन्तु इसके अतिरिक्त राजा की स्वेच्छाचारिता को मर्यादित करने के लिये अन्य भी बहुत से मार्गों का अवलम्बन किया गया था। सबसे प्रथम यही आवश्यक समझा गया था कि राजा की आन्तरिक वृत्ति ही ठीक बनाई जाय जिससे वह ठीक मार्ग पर चले, स्वार्थी तथा कामी (अपने सुखों पर ध्यान देने वाला) न हो, मर्यादा के अन्दर रहने वाला हो और परिणाम स्वरूप वह ऐसा व्यवहार न करे जिससे प्रजा को तनिक भी कष्ट अथवा असुविधा हो अर्थात् उसके द्वारा प्रजा के साथ अन्याय और अत्याचार न

हो। राजा को नियंत्रित करने में सहायक जो सबसे पहली आवश्यक बात है, वह है शिक्षा अर्थात् बाल्यकाल से ही राजकुमारों को अर्थात् उनको, जिनके राजा होने की सम्भावना है, ठीक मार्ग पर लगाना चाहिये मनु ने राजधर्म के वर्णन में प्रारम्भ में कहा है कि 'जिस क्षत्रिय (राजा) ने संस्कार (विद्या) प्राप्त किया है उसके द्वारा यथाविधि (नीति शास्त्र अथवा राजधर्म के नियमों के अनुसार) न्यायपूर्वक इस सम्पूर्ण संसार का रक्षण होना चाहिये" अर्थात् शिक्षा के द्वारा राजा को ठीक पद्धति से शासन करने का, मर्यादा में रहने का तथा न्यायपूर्ण शासन करने का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। राजा की शिक्षा में सर्वत्र चार विद्याओं को पढ़ना आवश्यक बताया गया है—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड नीति। यह बताया गया है कि आन्वीक्षकी से आत्मज्ञान (परमार्थ ज्ञान) प्राप्त होता है, त्रयी से धर्म और अधर्म का (समाज-व्यवस्था के नियमों का, उचित-अनुचित व्यवहार का) ज्ञान प्राप्त होता है अर्थ और अर्थ-हानि (सम्पत्ति के उत्पादन और व्यय तथा आय-व्यय की गड़बड़ी) का ज्ञान वार्ता से मिलता है तथा नीति और अनीति का ज्ञान (योग्य रीति से शासन करने का, राजा को अपने कर्त्तव्यों का और मर्यादा का तथा शत्रु से व्यवहार का ज्ञान) दण्ड नीति से प्राप्त होता है। आन्वीक्षकी के अन्तर्गत सांख्य, योग, न्याय, वेदान्त, लोकमत अर्थात विभिन्न दर्शनों को सम्मिलित किया गया है जिसके अध्ययन से मनुष्य क्षुद्र स्वार्थ छोड़कर सबके कल्याण के लिये कार्य करने की तथा निःस्वार्थ भाव से अपना कर्त्तव्य करने की (आसक्ति छोड़कर कर्म करने की अपने अन्दर वृत्ति प्राप्त करता है। त्रयी के अन्तर्गत चार वेद उनके छः अंग और इतिहास-पुराण सम्मिलित हैं जिनके द्वारा समाज-व्यवस्था का अर्थात् कृषि (वनस्पति), वाणिज्य (उत्पादन वितरण तथा विनिमय) और पशुपालन का ज्ञान आता है और इसका ज्ञान होने पर समाज को सब सुख-साधनों से यथा अन्न, धन, पशु आदि से सम्पन्न कर उसे सुखी रखने का प्रयत्न किया जा सकता है तथा उसी के आधार पर राजा आन्तरिक शासन की तथा सेना की व्यवस्था कर राज्य की योग्य व्यवस्था चला सकता है, अपने राज्य को तथा पर-राज्यों को नियंत्रण में रख सकता है और इस प्रकार राज्य के सम्पूर्ण कष्टों को दूर कर सकता है। दण्डनीति की विस्तार से परिभाषा, जिसके अन्तर्गत चार कार्यों (अलब्ध की प्राप्ति, विजय-प्राप्त का संरक्षण, राज्य-व्यवस्था संरक्षित की वृद्धि, आर्थिक रचना और वृद्धिगत सम्पत्ति के योग्य वितरण) का वर्णन और उसकी उपयोगिता का वर्णन पहले ही किया गया है और उसको यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में भारतीय विचार में राजा की शिक्षा राज्य को योग्य मार्ग पर लगाने के लिये आवश्यक समझी गई थी और इस शिक्षा के अन्तर्गत इन चार विद्याओं को रखा गया था जिससे राजा न्यायपूर्वक, नीति अनुसार, धर्मपूर्ण रीति से, मर्यादा के अन्दर रह, योग्य शासन करता हुआ समाज को अभ्युदय और निःश्रेयस के मार्ग पर लगा सके।

राजकुमार की शिक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में किया हुआ है। उसका कहना है कि चौल (गुगुन) संस्कार अर्थात् तीन वर्ष की आयु के पश्चात् राजकुमार का अक्षराभ्यास और गिनती की शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिये। और फिर उपनयन के पश्चात् त्रयी और आन्वीक्षिकी की शिक्षा शिष्टों से, वार्ता की शिक्षा विभिन्न अध्यक्षों से तथा दण्डनीति की शिक्षा उसके विषय में ज्ञान देने वालों तथा प्रयोग करने वालों से दिलानी चाहिए। शिक्षा के दैनिक कार्यक्रम की दृष्टि से दिन के प्रथम भाग में हाथी, अश्व, रथ और शस्त्र चलाने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए (शारीरिक विद्याओं का) तथा दिन के दूसरे भाग में इतिहास का श्रवण करना चाहिए जिसके अन्तर्गत पुराण, पुराना इतिहास कथाएँ उदाहरण, धमशास्त्र और अर्थशास्त्र को सम्मिलित किया है। दिन के शेष भाग में जो पहले सीखा हुआ है उसका अभ्यास और जिसको ठीक से ग्रहण न किया हो उसको ग्रहण करने का बार-बार प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार सोलह वर्ष की अवस्था तक राजकुमार को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और तत्पश्चात् उसका समावर्तन कर विवाह किया जाय। शुक्र ने राजकुमार की परीक्षा के सबंध में यह कहा है कि उसे नीतिशास्त्र धनुर्वेद सभी विद्याओं और कलाओं का ज्ञान कर लेना चाहिए और उसमें शौर्य क्लेशसहिष्णुता, वाक्यपारुष्य और दंडपारुष्य का ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए।

(२) **विनय का आग्रह**—शिक्षा का उपयोग इस ढंग से कहा गया है कि शिक्षा से राजा में विनय उत्पन्न होता है जो राज्य के संचालन के लिए बहुत आवश्यक है। शुक्र, कामन्दक और अग्निपुराण का कहना है कि "नीति का मूल विनय है और विनय की उत्पत्ति शास्त्राध्ययन से होती है" शुक्र का यह कहना है कि राजा पहले अपने में विनय उत्पन्त करे और तत्पश्चात ही क्रमशः पुत्रों, अमात्यों, भृत्यों और प्रजा में अर्थात्, यदि राजा अन्य लोगों को ठीक मार्ग पर लगाना चाहता है (और वही उसका कार्य है) तो सबसे पहले स्वयं में विनय उत्पन्न करना चाहिए। कौटिल्य और कामन्दक ने यह भी कहा है कि विद्या के कारण जो विनीत होता और फिर प्राणियों के हित में शासन करता है वह एक छत्र-रूप से पृथ्वी का शासन कर सकता है। मनु ने कहा कि विनीत राजा कभी भी नष्ट नहीं हो सकता तथा यह भी कहा है कि अविनय के कारण बहुत-से राजा नष्ट हो गये जिनमें वेन, नहुप, सुदास, निमि आदि के उदाहरण हैं और विनय के कारण राज्य प्राप्त करने वालों में पृथु और मनु के नाम दिये हुये हैं। वायु पुराण में चन्द्रमा का उदाहरण दिया है जो राजा होने के पश्चात् अविनयी हो गया और जिनके कारण उसने गुरू-पत्नी तारा का हरण किया और जिसका परिणाम यह हुआ कि वह राजयक्ष्मा से पीड़ित हुआ। इस प्रकार शिक्षा आवश्यक बताई गई है क्योंकि उसके द्वारा राजा को योग्य रीति से शासन चलाने का ज्ञान प्राप्त होता है तथा मर्यादा में रहने की और सद्वृत्तिशील होने की प्रवृत्ति निर्माण

होती है परन्तु इसके अतिरिक्त पृथक रीति से राजा के व्यवहार में विनयी होने पर भी बल दिया गया है जिससे वह प्रजा के साथ सहानुभूतिपूर्ण और आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करने वाला हो जिससे उसमें अपनी सत्ता के मद में अभिमानी होकर प्रजा पर अत्याचार करने की वृत्ति न उत्पन्न हो।

(३) **वृद्ध-संसर्ग, शास्त्राध्ययन, परमात्मा-चिन्तन**—राजा में विनय के निर्माण की दृष्टि से एक और बात सहायक है–वह है वृद्ध अर्थात् अनुभवी और आदरणीय व्यक्तियों का संसर्ग। अतः राजा से ऐसे लोगों के साथ रहने का आग्रह किया गया है। साथ ही साथ धर्मशास्त्रों का अध्ययन भी मनुष्य के मन में सद-प्रवृत्ति निर्माण करता है। अतः उसका पृथक रीति से आग्रह करने के अतिरिक्त सभी ग्रन्थकारों ने भी राजा के दैनिक कार्यक्रम में एक निश्चित समय राजा के शास्त्राध्ययन के लिये रखा है। राजा अपने मन को और चितवृत्ति को नियंत्रण में रखे इसलिये दैनिक कार्य-क्रम में सन्ध्योपासन को भी स्थान दिया गया है। इस प्रकार भारतीय राज्य व्यवस्था राजा को संयमित रखने का पूरा प्रयत्न है।

(४) **गुणों का वर्णन**—राजा अपने अन्दर के सब दोषों को दूर कर आवश्यक सद्गुणों का निर्माण करे इसके लिये राजा के गुण और दोष ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिये गये हैं। यद्यपि इन गुणों को अव्यस्थित रूप में कई स्थानों पर दिया हुआ है परन्तु इन गुणों की सबसे व्यवस्थित और विस्तृत कौटिल्य सूची के अर्थ-शास्त्र में और कामन्दकीय नीतिसंसार में हैं और क्योंकि कौटिल्य ने सब गुण बहुत ही सुबद्ध रूप में दिये हैं अतः वही सूची देना पर्याप्त होगा।

"बहुत, कुलीन, परमात्मा में विश्वास रखने वाला सत्वगुणी वृद्धों के अनुसार चलनेवाला, धार्मिक, सत्यवादी, दृढ़प्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उच्च लक्ष्य रखने वाला, उत्साही, आलस्य रहित, सामन्तों को वश में रखने में समर्थ, दृढ़बुद्धि, महान लोगों की परिषद रखने वाला, विनयपूर्ण, ये राजा के अभिगामिक गुण हैं।" (अर्थात् वे गुण जिनके कारण लोग राजा के पास जाने की इच्छा रखते हैं।) सुनने की, सुने हुए को ग्रहण करने की, ग्रहण किये हुए को धारण रखने की, विचार करने की, उसके ऊपर विवाद करने और विवाद के पश्चात् निश्चित किये हुए सिद्धान्तों के प्रतिभक्त रखने की इच्छा—ये बुद्धि के गुण हैं।" इसके पश्चात् फिर कौटिल्य ने अन्य भी बहुत से गुण बताते हुए कहा है, (ठीक वचन बोलने वाला; वाचाल; स्मृति, बुद्धि बल से सम्पन्न; संयमी; विभिन्न कलाओं के व्यसन रखने वाला; उपयुक्त समय पर दण्ड का उपयोग करने वाला; उपकार और अपकार का बदला देने में समर्थ; लज्जावान; (सप्त) प्रकृतियों की आपत्ति को दूर करने की व्यवस्था करने वाला; दीर्घदर्शी, दूरदर्शी; देशकाल, शक्ति देखकर कार्य करने वाला; सन्धि और युद्ध को ठीक से चलाने वाला; व्यय में संयमित; शत्रु के छिद्र को जानने वाला; अपने आकार से भाव व्यक्त न करने वाला; काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, आह, चुगली आदि से विहीन; प्रियभाषी, हास्य के

साथ योग्य वचन बोलने वाला; वृद्धों के उपदेश के अनुसार चलने वाला—ये सब आत्म संपद (राजा के गुण) हैं।" जैसा पीछे बताया गया—कामन्दक नीतिसार, अग्नि पुराण आदि ग्रन्थों में यही गुण बताये गये हैं। इन गुणों को इतना महत्व इसलिये दिया गया कि राजा के सम्मुख श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित कर, राजाओं में यह भावना उत्पन्न की जाय कि वह तभी सफल हो सकेंगे जब वह इन गुणों का अपने अन्दर सम्पादन करेंगे और इस प्रकार राजाओं को प्रेरित किया गया है कि वे अपने अन्दर ये गुण उत्पन्न करें। शुक्रनीति में भी कहा है राजा गुणों से पूज्य होता है, कुल से नहीं। वह सागर की जो एक मन को संयमित करने में प्रयत्न पृथ्वी को कैसे जीत सकता है अर्थात वही राजा ठीक से शासन कर सकता है और राज्य को अपने वश में रख सकता है जो स्वयं को संयमित रखे। शुक्र ने भी इसी भावना को व्यक्त करते हुये कहा है कि देवता को आगे कर (देव पूजा के बहाने) राजा नृत्य आदि देखकर अपने उपभोग के लिये मस्त न हो"। राजा के संयमित होने के लिये जो सबसे आवश्यक बात बतलाई गई है वह यह है कि वह इन्द्रियजय करे। क्योंकि उससे राजा की लक्ष्मी में वृद्धि होती है और उसकी कीर्ति मर्मस्पर्शी होती है और क्योंकि उसके कारण राजा में विनय उत्पन्न होता है। जिससे राजा प्रजा को बुरा में करने में समर्थ होता है। यदि उसके विपरीत राजा की इंद्रियां वश में न हों तो वह विक्षिप्त मन होकर हाथी के समान इन इन्द्रियों के बन्धन में हो जाता है और फिर उसके कारण उसके ऊपर विपत्ति आती है और उसका विनाश हो जाता है। इसके पश्चात् उदाहरण भी दिये गये हैं कि जब शुक्र इन्द्रियों के वश में होने के कारण व्याघ्र मृग के गति से मोहित हो पकड़ा जाता है—स्पर्श-इन्द्रिय (लिंग)।

राजा में व्यक्तिगत गुणों का आग्रह—व्यक्तिगत जीवन की दृष्टि से भी राजा में बहुत-से गुण आवश्यक बताये गये हैं। राजा को शूर होना आवश्यक है और इसकी दृष्टि से यह कहा गया है कि प्रजा-रक्षण में अथवा धर्म-रक्षण में युद्ध करते हुये राजा को अथवा क्षत्रिय को अपना प्राण त्याग देना चाहिये। युद्ध में मरने वाले क्षत्रिय के लिये स्वर्ग मिलने का भी उल्लेख है तथा घर में रोग से मरना क्षत्रिय के लिये निन्दाजनक कहा गया है। इन सब बातों का विस्तार से उल्लेख शान्ति पर्व में जहाँ धर्म के लिये युद्ध करने की प्रशंसा, युद्ध में मरने का फल, युद्ध से भागने का दुष्परिणाम तथा घर में रोगी के रूप में मरने की हानि बताई हैं। राजा को शूर होने के साथ-साथ पुरुषार्थी भी होना आवश्यक बतलाया गया है अर्थात इन्हें उत्थानशील होना चाहिये। भारतीय राजनीतिक ग्रन्थों में पुरुषार्थ और दैव की तुलना इस संदर्भ में की गई है और बताया गया है कि यद्यपि दैव अर्थात पूर्व जन्म के कर्मों के फल का महत्त्व है परन्तु राजा के लिये पुरुषार्थ ही लाभप्रद होता है क्योंकि दैव भी पूर्व के कर्म के ही

आधार पर निर्भर करता है; क्योंकि दैव तो अज्ञात है। अतः पुरुषार्थ ही उन्नति का एकमात्र साधन है और क्योंकि दैव भी तभी लाभदायक होता है जब व्यक्ति पुरुषार्थ करता है। इसके अतिरिक्त राजा को सद्व्यवहारशील होना बताया गया है और यह कहा गया है कि उसे मीठी वाणी से बोलना चाहिये। तथा क्रोध और अभिमान न करना चाहिये। राजा को दुर्जनों की संगति का त्याग तथा सज्जनों की संगति करना भी आवश्यक बताया है क्योंकि सज्जनों की संगति लाभदायक है तथा दुर्जनों की संगति व्यक्ति को नष्ट कर देती है और सर्पों की संगति से भी अधिक कष्टदायी होता है। यह भी राजा के लिए आवश्यक बताया है कि वह दीनजनों का रक्षण करे, उनका अश्रुमार्जन करें, उनका पालन करें और उन्हें पीड़ा न दें। राजा के गुणों में यह भी उल्लेखनीय है कि राजा को न तो सदैव कठोर रहना चाहिए और न सदैव कोमल रहना चाहिये अपितु उसे आवश्यकतानुसार और समय देखकर कोमल और कठोर होना चाहिए क्योंकि जो कोमल स्वभाव का होता है उसकी लोग अवज्ञा करते हैं और जो केवल कठोर होता है उससे लोग उद्विग्न हो जाते है। इसलिये राजा को बंसत के सूर्य के समान रहना बताया है, जो न तो इतना शीतल होता है कि गर्मी ही न दे और न इतना कड़ा होता कि उसकी धूप सहन ही न की जा सके। राजा का एक गुण यह भी बताया गया है कि वह अन्य लोगों को उपभोग कराकर तब स्वयं भोग करे। राजा के अन्दर यह भी एक गुण आवश्यक कहा गया है कि वह विलास-प्रिय न हो अर्थात राग-रंग में मस्त न हो अथवा कामुक न हो। उपरोक्त सब गुणों के अतिरिक्त राज्य-सम्बन्धी तथा व्यक्तिगत अन्य भी बहुत से गुण राजा में होने बताये गये हैं। मनुस्मृति में दण्ड प्रयोग के विषय में वर्णन करते हुए कहा गया है कि "यदि सत्यवादी, विचार कर उचित काम करने वाला, बुद्धिमान, धर्म, अर्थ काम का ज्ञाता उसका (दण्ड का) ठीक प्रयोग करता है तो त्रिवर्ग की वृद्धि होती है परन्तु कामी, क्षुद्र और अन्यायी (पक्षपाती) उसी दण्ड से मारा जाता है।......असहाय (जिसके योग्य सहायक नहीं है) मूर्ख, लोभी, विषयासक्त, बुद्धिभ्रष्ट राजा उसका (दण्ड का) न्याय-पूर्वक प्रयोग नहीं कर सकता, परन्तु अच्छे सहायकों से युक्त बुद्धिमान, पवित्र, सत्य प्रतिज्ञ शास्त्रानुसार आचरण करने वाला राजदण्ड का प्रयोग करने में समर्थ होता है। अपने राज्य में राजा का न्याय-पूर्वक शत्रुओं पर तीक्ष्ण दण्ड धारण किये प्रीतियुक्त मित्रों में स्नेह पूर्ण तथा ब्राह्मणों पर क्षमायुक्त रहना चाहिये। इस प्रकार से रहने वाला राजा यदि शिल और उच्छ (खेत में पड़े बाल अथवा अन्न के दाने को बीन कर उन) के द्वारा भी यदि जिये तो भी उसका यश संसार में इस प्रकार फैलता है जैसे तेल की बूंद पानी में फैलती है। जो राजा इसके विपरीत होता है अर्थात जो आत्मजयी नहीं होता उसका संसार में यश इस प्रकार छोटा होता है जैसे पानी में घी की बूंद"। आगे कहा है मर्यादी के अन्दर न रहने वाले, नास्तिक, अधिक

लम्पट, रक्षा न करने वाले, पूजा का धन खाने वाले राजा को अधोगामी जानना चाहिए"। शान्तिपर्व में कहा है "गुणवान, शीलवान, सयंमी, भद्र, धार्मिक, जितेन्द्रिय, प्रसन्नवदन, तथा उच्च लक्ष्य वाला, राजा कभी लक्ष्मी से रूष्ट नहीं होता है" । "जो राजा सबों के ऊपर शंका करने वाला सबों का धन हरण करने वाला, लोभी और कुटिल होता है वह शीघ्र ही सज्जनों द्वारा मारा जाता है। जो राजा पवित्र होता है, प्रजा को प्रसन्न कर अपनी ओर आकृष्ट रखने में समर्थ होता है उसका शत्रुओं से ग्रस्त होने पर भी पतन नहीं होता है। और यह पतन होता है तो वह शीघ्र ही खड़ा हो जाता है। अद्रोही अव्यसनी, मृदु दण्ड देने वाला, जितेन्द्रिय राजा प्राणियों के लिये हिमालय के समान विश्वासयोग्य हो जाता है। जो राजा बुद्धिमान, त्यागशील शत्रु के छिद्र को देखने वाला, प्रसन्न वदन, सभी वर्णों के धर्म-अधर्मों को जानने वाला, शीघ्र कार्य करने वाला क्रोधजयी, उचित रीतियों पुरस्कृत करने वाला, उदारचित्त, कोमल, कार्य प्रवण, अपनी प्रशंसा न करने वाला होता है, वह ही श्रेष्ठ राजा है।" राजा झूठ बोलना त्याग दे और लोगों को बिना प्रिय करें, काम, क्रोध, द्वेप के भी धर्म का त्याग न करें, प्रश्न करने पर कठोर उत्तर न दे, कठोर वाणी से न बोले, कोई काम शीघ्रता से द्वेपयुक्त ही न करे। ऐसा रहने पर शत्रु भी वश में हो जाता है। राजा प्रजा के हित का ध्यान रखते हुए प्रिय होने पर अधिक हर्ष न करें, अप्रिय होने पर दुखी न हों, और धन की हानि में क्रुद्ध न हों"। शुक्र नीति में बताया है कि "संयमी, शूर, शस्त्रास्त्र-कुशल, शत्रु को मारने वाला मयादी के अन्दर रहने वाला, बुद्धिमान, ज्ञान-विज्ञान से मुक्त, नीचों को अपने पास न रखने वाला, दूर-दृष्टा, वृद्धों का सेवक नीतियुक्त, इन गुणों से युक्त जो राजा होता है वह देवताओं का अंश है"।—'राजा शूरता, पाण्डित्य, वक्तृत्व, दानशीलता, बल, पराक्रम और नित्य उत्थान (प्रयत्न) इनको कभी न छोड़े"। "हिंसा, चोरी, अनुचित कामना, चुगली कठोरता, असत्य, भेद, वृथावचन, द्रोह, चिन्ता, दृष्टि की विपमता, यह वाणी, मन, शरीर के दस पाप हैं उन्हें छोड़ दें और वृत्तिहीन, रोगी, शोकातुर, लोगों का सत्य के अनुसार पालन करें। कीड़ों और चींटी तक को अपने समान समझें और उपकार करने वाले शत्रु के प्रति भी उपकारी हों। संयम (ऐश्वर्य) और विपत्ती में मनको एक रस रखे, कार्य करने पर फल-प्राप्ति का प्रयत्न करें, समय पर हित पूर्वक कम और मधुर वचन बोले, कोई भी बात उचित समय पर करने वाला प्रसन्न वदन, सुशील, करुणावान और मृदु हो।

(५) **दुर्गुणों से दूर रहने का आग्रह**—राजा के लिये आवश्यक गुण बताने के अतिरिक्त ऐसे बहुत से दुर्गुण भी बताये गये हैं जिनसे राजा को दूर रहना चाहिये—जिन दुर्गुणों के कारण राजा में अंहकार, निजी सुख की अभिलाषा तथा राज्य को ठीक से संचालित करने के सम्बन्ध में उपेक्षा उत्पन्न होती है और फिर राजा प्रजा का ध्यान न कर अपने ही सुख और हित की ओर अधिक ध्यान करता

है। शान्तिपर्व में उतथ्य कहते हैं कि "हे मान्धाता! तू निश्चित रूप से जान ले कि राजा स्व-धर्मपालन के लिये है, कामोपभोग के लिये नहीं है।" शुक्र ने भी इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहा कि "देवता को आगे कर (देवपूजा के बहाने) राजा नृत्य आदि देखकर अपने उपभोग के लिये मस्त न हो।" राजा के संयमित होने के लिये जो सबसे आवश्यक बात बताई गई है वह यह है कि वह इन्द्रियजय करे क्योंकि उससे राजा की लक्ष्मी (वैभव) में वृद्धि होती है और उसकी कीर्ति नभ-स्पर्शी होती है और क्योंकि उसके कारण राजा में विनय उत्पन्न होता है जिससे राजा प्रजा को वश में करने में समर्थ होता है।[७७] कामन्दक का कहना है कि "जो एक मन को संयमित करने में समर्थ नहीं है वह सागर पर्यन्त पृथ्वी को कैसे जीत सकता है अर्थात् वही राजा ठीक से शासन चला सकता है और राज्य को अपने वश में कर सकता है जो स्वयं संयमित रहे। यदि इसके विपरीत राजा के ये इन्द्रियाँ वश में न हों तो वह विक्षिप्त मन होकर हाथी के समान इन इन्द्रियों के बन्धन में हो जाता है और फिर उसके कारण उसके ऊपर विपत्ति आती हैं और उसका विनाश हो जाता है। इसी के पश्चात उदाहरण दिये गये हैं कि विभिन्न इन्द्रियों के वश में रहने के कारण किस-किस को क्या हानि होती है जैसे शब्द इन्द्रिय के वश में होने कारण मृग गति से मोहित हो पकड़ा जाता है और इस प्रकार राजा को विरक्त किया गया है कि वह इन इन्द्रियों के वश में न होकर समय पर ही इनका सेवन करे। इन्द्रियों की आसक्ति रोकने के अतिरिक्त षड्रिपुओं (कौटिल्य के अनुसार अरिषड्वर्ग और शत्रु और कामन्दक के अनुसार शत्रुषड्वर्ग) अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का भी राजा को त्याग करना चाहिये क्योंकि इन सबके कारण धीरे-धीरे राजा के विकार बढ़ते जाते हैं और स्वाभाविकतया प्रजा-हित का ध्यान कम हो जाता है। कौटिल्य, शुक्र, कामन्दक, उद्योग पर्व तथा मार्कंण्डेय पुराण ने उन राजाओं के उदाहरण दिये हैं जो इन षड्रिपुओं के वश में होने के कारण नष्ट हो गये और फिर जिससे कि राजाओं को इन छःहों दुर्गुणों से दूर रहने का लाभ समझ में आये तथा वैसी भावना उत्पन्न हो इसलिये बताया है कि इस षड्वर्ग का त्याग करने से तथा जितेन्द्रिय होने से परशुराम तथा अम्बरीश ने चिरकाल तक पृथ्वी का भोग किया। शुक्र ने काम, क्रोध, लोभ का पृथक रीति से वर्णन करते हुए बताया है "जय की इच्छा रखने वाला राजा प्रजापालन में काम, शत्रु को नष्ट करने में क्रोध और सेना धारण करने में लोभ करे परन्तु परस्त्री के संगम में काम, अन्य के धन में लोभ और अपनी प्रजा को दण्ड देने में क्रोध कभी न करे। परस्त्री संगम से व्यक्ति को कुटुम्बी अथवा प्रजा को दण्ड देने से व्यक्ति को शूर अथवा अन्य के धन के आधार पर व्यक्ति को धनी कौन कहेगा? मनुस्मृति में केवल काम, क्रोध, आदि का ही उल्लेख नहीं है परन्तु काम, क्रोध, लोभ का उल्लेख करते हुए काम से उत्पन्न दस व्यसन तथा क्रोध से उत्पन्न आठ व्यसन भी बताये गये हैं और ऐसा कहा गया है कि काम से उत्पन्न व्यसनों से राजा अपने 'अर्थ' और 'धर्म' को नष्ट करता है

और क्रोध से उत्पन्न व्यसनों से वह स्वयं को ही नष्ट करता है। इस प्रकार राजा को इन व्यसनों से वर्जित किया गया है। कामोत्पन्न व्यसनों में हैं—मृगया, द्यूत, दिन में सोना, पराया दोष देखना, स्त्रियों से अधिक संसर्ग, मद्यपान, नाचना, गाना बजाना और वृथा घूमना तथा क्रोध से उत्पन्न व्यसनों में हैं—चुगली, हिंसा, द्रोह करना, ईर्ष्या, निन्दा, अर्थदूषण (धन को नष्ट करना), कठोर वचन कहना और मारना। इनमें भी मनु ने मद्यपान, द्यूत, स्त्री-संसर्ग, मृगया, दण्डपारुष्य (मारना), वाकपारुष्य (कठोर वचन कहना) तथा अर्थदूषण को ही प्रमुख व्यसन बताया है जिनमें पहले-पहले कहे गये व्यसन बाद में बताये गये व्यसनों से अधिक कष्टदायक हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र, सभापर्व, उद्योगपर्व, कामन्दकीय नीतिसार तथा अग्नि पुराण ने इन्हीं सात प्रमुख व्यसनों का उल्लेख किया है तथा शुक्र ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों पर इनका वर्णन दिया है। शुक्र और कामन्दक ने इन दोषों से नष्ट होने वाले राजाओं के उदाहरण भी दिये हैं। कामन्दक ने विस्तार के साथ राजा के लिये इनमें से प्रत्येक दुर्गुण की हानि बताई है। उसका कहना है, "वह पुरुष जो कठोर वाणी बोलता है संसार को कुपित करता है तथा अनर्थकारी होता है जो अकस्मात ही क्रोध से बहुत कुछ अनुचित कहने लगता है। उससे लोग इस प्रकार उद्वेजित हो जाते हैं, जैसे चिंगारी से अग्नि भड़क उठती है। वाणी रूपी कठोर तलवार बार-बार गिरकर हृदय के मर्म को छेदती है और उससे विंधा हुआ व्यक्ति राजा से सदा के लिये वैर प्रकाशित करता है। दण्ड का कठोरता से प्रयोग करने वाला राजा भी प्राणियों को उद्वेजित करता है तथा उद्विग्न होने पर वह व्यक्ति प्राणी शत्रु का आश्रय लेते हैं। प्रसर के शत्रु का आश्रय लेने पर शत्रु की वृद्धि होती है और जो वृद्धि राजा के लिये विनाशकारी होती है। इस कारण राजा प्रजा को उद्वेजित न करे। महान अर्थ का परित्याग (अपव्यय) और धन सम्पत्ति के कारण व्यक्ति का दूषित होना इसको नीतितत्वज्ञ अर्थदूषण कहते हैं। इसलिये अकस्मात उत्पन्न हुए बलवान क्रोध के कारण आत्महित का आकांक्षी व्यक्ति अर्थदूषण न करे। अर्थदूषण की विस्तृत व्याख्या कौटिल्य में दी हुई है जहाँ दान का न देना (कंजूसी से धन संग्रह), लोगों से धन हीनता, धन का नाश, और चिंता रहित हो धन को नष्ट होने देना तथा इन सबके कारण वृत्ति का नाश अर्थदूषण है। क्रोध से उत्पन्न इन तीनों व्यसनों की राज्य के लिये हानि बताने के पश्चात् कामन्दक ने काम से उत्पन्न चारों व्यवसनों की हानि बताई है। मृगया के दोष गिनाते हुए बताया है कि सवारी में जाने का कष्ट, भूख, प्यास, परिश्रम और थकान, ठण्ड, गर्मी और वायु का पीड़न, प्रतप्त बालु और कुश कंटकयुक्त भूमि का दुःख, पर्वत, तालाब, वन की खोहों में छिपकर रहना, सामंत, वनवासियों आदि के द्वारा पकड़ लिये जाने, मारे जाने का भय, रीछ, अजगर, सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि का भय, दिशाभ्रम, बहुत भ्रमण में सब मृगया की हानि बताई गई

है। बहुत प्रयत्न से रक्षण किये हुए धन का एक साथ व्यय, निःसत्यता, निष्ठुरता, क्रोधपूर्ण वाणी, शस्त्र का बजना, लोभ, धर्म क्रिया का लोप, कर्मों का न करना, सत्पुरुषों के साथ सहवास में भंग, असज्जनों के साथ सहवास, अर्थनाश, नित्य वैर का निर्माण, अर्थ होने पर भी निराशा, असत्य में प्रेम उत्पन्न होना, प्रतिक्षण क्रोध, हर्ष, सन्ताप, क्लेश, शरीर के स्नान आदि संस्कार के प्रति अनादर, व्यायाम न करना, अंग की दुर्बलता, शास्त्रों में अर्थवाद देखना, मूत्र पुरीष को रोकना, भूख-प्यास से पीड़न, अनर्थ का प्रारम्भ, स्नेह का नाश, अपने पक्ष वालों और हितकारियों से भेद, ये सब द्यूत के दोष हैं जिससे युधिष्ठिर, नल और रुक्मी इसके कारण नष्ट हो गये। कार्य में बिताने वाले समय का व्यर्थ व्यतीत हो जाना, धर्म और अर्थ की हानि, नित्य अन्दर समय व्यतीत करने के कारण सज्जन पुरुषों का कोप, गुप्त बात को प्रकट कर देना, अकार्य को कर देना, ईर्ष्या, क्रोध, हर्ष, हिंसा ये सब स्त्री-सहवास के दोष हैं जिससे इन्द्र, रावण, नहुष और दण्डक नृपति नष्ट हो गये। मद्यपान के दोष बताये गये हैं निरर्थक घूमना, विह्वल रहना, संज्ञाहीन हो जाना विवस्त्र होना, असम्बद्ध प्रलाप करना, अकस्मात मति का भ्रम, सज्जनों से वियोग, असज्जनों से संगति, अनर्थ का संगम, गिर पड़ना, शरीर में कम्पन, तन्द्रा, स्त्री का, अधिक सेवन। अन्धक-वृष्णि (यादव) परस्पर लड़कर मर गये तथा शंकराचार्य मत होकर अपने शिष्य को ही पी गये। कौटिल्य ने भी कामन्दक के ही समान उपरोक्त सभी व्यसनों के दोष बताये हैं तथा मनु के समान काम से क्रोध को अधिक हानिकारक मानते हुए मनु के ही लगभग समान इन दोषों की गुरुता का क्रम बताया है। इस प्रकार उपर्युक्त दुर्गुणों से होने वाली हानि स्पष्ट करके भारतीय राज-नीतिशास्त्र के ग्रन्थों ने राजाओं को उन दुर्गुणों की ओर से उन्मुख करने का प्रयत्न किया है जिन दुर्गुणों के कारण राजा उनमें फंस कर स्वार्थ में अवलिप्त हो तथा अभिमानी बन प्रजा का हित और अहित, सुख-दुःख भूल जाता है तथा जो दुर्गुण राजा को लिप्त करने वाले तथा राज्य-कार्य और समाज-जीवन के लिये हानिकारक, भ्रष्टकारक और अव्यवस्था निर्माण करने वाले हैं। इन सब दोषों में भी मृगया तथा सभी सहवास कुछ मात्रा में ठीक भी बताये गये हैं क्योंकि इनमें कुछ गुण हैं। अतः उनका परिमित मात्रा में उपभोग करना उचित कहा गया है।

(६) **दैनिक कार्यक्रम निर्धारित**—राजा को ठीक मार्ग पर बनाये रखने का तथा उसे विषयी न होने देने का एक और भी प्रयत्न है। राजा का दैनिक कार्य-क्रम भी राज्य-व्यवस्था के वर्णन में निश्चित किया गया है। इनमें सबसे संक्षिप्त कार्यक्रम याज्ञवल्क्यस्मृति में दिया हुआ है जिसका यहाँ उल्लेख किया जाता है। (प्रातःकाल) उठकर राजा रक्षा की व्यवस्था का निरीक्षण कर फिर स्वयं आय-व्यय की जांच करे। उसके पश्चात व्यवहार (मुकदमों) को देखकर स्नान कर रुचि के अनुसार भोजन करे। फिर राज्य की आय लेने में जो नियुक्त हैं उनसे प्राप्त सब वस्तुयें भण्डारगृह में रखवा दे। तत्पश्चात गुप्तचरों से बातचीत करे और

मंत्रणा करके दूतों को भेजे (अन्तर्राज्य की व्यवस्था)। फिर या तो स्वयं कुछ विहार करे अथवा मंत्रणा करे और सेना का निरीक्षण कर सेनापतियों के साथ विचार-विमर्श करे। उसके पश्चात सन्ध्या कर गुप्तचरों के साथ उनकी गुप्तवार्ता सुने। सूर्यघोष के साथ सोवे और सोकर शास्त्र-चिन्तन करे तथा अपने दिन भर के कर्त्तव्य का विचार करे और गुप्तचरों को अपने-अपने कार्य पर भेजे। फिर वह ऋत्विज, आचार्य, पुरोहित आदि से आशीर्वचन करे और ज्योतिषियों और वैद्यों को देखकर फिर गौ, सुवर्ण और भूमि का क्षत्रिय गृहस्थों को दान करें।" कौटिल्य ने बिल्कुल यही कार्य-क्रम दिन के आठ भाग तथा रात्रि के आठ भाग कर बताया है। इतनी ही कड़ाई राजा के दैनिक कार्य-क्रम में अन्य भी ग्रंथों में हैं और यद्यपि विभिन्न ग्रन्थों में दिये हुये कार्य-क्रमों में थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु सभी ग्रन्थों में राजा के दैनिक कार्य-क्रम में निम्न कार्यों का निश्चित उल्लेख है—आय व्यय का निरीक्षण, गुप्तचरों से व्यक्तिगत वार्ता, मन्त्रियों के साथ मंत्रणा, प्रजा के कामों की स्वयं देखभाल जिसके अन्दर न्याय भी सम्मिलित है, सेना तथा सेना की सभी सामग्रियों की देखभाल, सन्ध्यावन्दन तथा स्वाध्याय। इन दैनिक कार्य-क्रमों से यह स्पष्ट होता है कि राजा को अपने जीवन में कितना अनुशासित रहना आवश्यक माना गया था। यह भी इससे स्पष्ट होता है कि राजा के लिये यह अनिवार्य सा था कि राज्य की सम्पूर्ण व्यवस्था पर वह व्यक्तिगत रूप में ध्यान दे तथा इस बात का ध्यान रखे कि उसका व्यक्तिगत जीवन सुखोपयोग के लिये राज्य की अर्थात प्रजा (समाज) की चिन्ता के ही लिये है।

(७) **धर्म-पालन का आग्रह**—इन सब बातों के अतिरिक्त राजा के मन के ऊपर उसके कर्त्तव्य-पालन की भावना निर्माण करने के लिये यह कहा गया था कि राजा के भी ऊपर धर्म है। बृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि "चारों वर्णों का निर्माण करने के पश्चात भी उसे लगा कि यह अभी श्रेयकर स्वरूप नहीं है। अतः उसने धर्म का निर्माण किया। यह जो धर्म है वह क्षत्रिय का भी क्षत्रिय (नियंत्रण करने वाला) है, इसलिये उससे ऊपर कुछ नहीं है।" राज सूय के अभिषेक में राजा की पीठ पर धर्म का दण्ड छुवाया जाता है जिससे उसे यह स्पष्ट हो जाय कि राजा को धर्म द्वारा शासित होना चाहिये। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा की कर्त्तव्य-भावना प्रदर्षित करने के लिये राजा के लिये यह आवश्यक बतलाया है कि वह अभिषेक के समय पुरोहित के समक्ष शपथ ले कि "जिस रात्रि में मैं पैदा हुआ हूँ (राज्य ग्रहण किया है) और जिस रात्रि में मैं मरूंगा उन दोनों के बीच में यदि मैं द्रोह करुं तो मेरा इष्टापूर्त (पूण्य) स्वर्ग; सुकृत, आयु, प्रजा नष्ट हो जाय"। पिछले अध्याय में बताया ही गया है कि राजा के लिये धर्म पालन को कितना महत्व दिया गया था और यह आग्रह किया गया था कि राजा अपनी मर्यादा के अन्दर रहे तथा निष्पक्ष रहे। इस प्रकार धर्म-भावना को महत्व देकर और राजा के अन्दर यह भावना निर्माण कर कि उसे अपने धर्म अर्थात कर्त्तव्य

का पालन करना आवश्यक है और इसी में उसकी श्रेष्ठता है, भारतीय सामाजिक विचारकों ने राजा की ऐसी वृत्ति निर्माण करने का प्रयत्न किया जिसमें राजा की मनमानी स्वेच्छाचारिता को हीन और निकृष्ट समझा जाय और राजा लोग वैसे आचरण की ओर से विमुख हों। धर्म-भावना के ही साथ-साथ परलोक के परिणाम का भय दिखाकर भी राजा को अत्याचार और दुराचार से उन्मुख करने का प्रयत्न था। शुक्र नीति में कहा "जो राजा स्वधर्म में रहकर प्रजा का पालन करने वाला होता है, सभी यज्ञों का यजन करता है, शत्रुओं को जीतता है, दानशील, क्षमाशील है, शुर है, विषयों में निस्पृह है (विषयी नही है), विरक्त है, वह सत्विक राजा होता है। वह निर्दयी, अपने घमण्ड में मस्त, हिंसक और सात्यहीन होता है। वह नरक भोगता है। रजोगुणी राजा वह होता है जो अभिमानी, लोभी, विषयी, धोखा देने वाला शठ, मन, वाणी और कर्म में भिन्नता रखता है, कलह-प्रिय होता हैं, नीचों का संसर्ग करता है, स्वतन्त्र (मर्यादा रहित) होता है, नीति-हीन होता है और अन्तर में छल रखता है, वह अधर्म राजा दूसरे जन्म में पक्षी की अथवा स्थावर प्राणियों की (वृक्ष आदि) योनि प्राप्त करता है। इसी प्रकार से शान्तिपर्व में कहा है। राजा के सम्मुख परलोक का परिणाम दिखाने के अतिरिक्त यह भी बतलाया गया है कि राजा के दोष से प्राकृतिक दुष्परिणाम होते हैं। क्षत्रिय के प्रमत्त होने पर बहुत दोष उत्पन्न हो जाते है, अधर्म में वृद्धि होती है और प्रजा वर्णसंकर होती है ग्रीष्म में ठंड रहती है और शरद में ठंड नहीं रहती है। प्रजा में अतिवृष्टि, अनावृष्टि और व्याधियाँ होती हैं। नक्षत्र और घोर ग्रह उत्पन्न होतें हैं तथा राज्य के नाश करने वाले बहुत से उत्पात होतें है।" राजा की वृत्ति में आन्तरिक रूप में कर्त्तव्य पालन की भावना उत्पन्न करने के लिये ही यह कहा गया है कि राजा अपने शासन में प्रजा द्वारा किये हुये पाप और पुण्य के कुछ अंश को भोगता है अर्थात यदि राजा के प्रयत्नों से प्रजा के पुण्य में वृद्धि होती है तो वह उस पुण्य का कुछ अंश प्राप्त करता है परन्तु यदि राजा के निष्क्रिय अथवा दुर्व्यसनी अथवा अन्यायी अथवा अत्याचारी होने से प्रजा में पाप बढ़ता है तो उस पाप का अंश भी राजा को भोगना पड़ता है। इसी दृष्टि से यह बताया गया है कि राजा को जो कर मिलता है वह उसके द्वारा की गई प्रजा की रक्षा के बदले में मिलता है और यदि वह कर लेकर प्रजा की रक्षा नहीं करता है तो वह चोर के समान है। कर्त्तव्य पालन की ही भावना उत्पन्न करने के लिये राजा को प्रजा के पिता अथवा माता के समान बतलाया है जो अपनी सन्तति के समान प्रजा की चिन्ता करे। राजा को ठीक करने के लिये यह भी कहा गया है कि जैसा राजा का आचारण होता है वैसा ही प्रजा का होता है। अर्थात यदि राजा यह चाहता है कि प्रजा भी ठीक मार्ग पर चले, नियमों का पालन करे, विनयी हो और धर्म पालक हो और राज्य में सुव्यवस्था और अनुशासन रहे, तो राजा को भी वैसा ही होना चाहिये। मनु

का यह भी कहना है कि जिस अपराध पर अन्य साधारण मनुष्य को एक पण दण्ड होगा वैसे ही अपराध के भी लिये राजा को सहस्र पण दण्ड देना चाहिए।

वाह्य नियन्त्रण (मंत्री, पुरोहित, ब्राह्मण, जनता, समान-व्यवस्था का)— ऊपर बताये गये सब प्रयत्न ऐसे होते है जिनके द्वारा आन्तिरिक भावना अथवा व्यक्तिगत परिवर्तन निर्माण करके राजा को ठीक करने का प्रयत्न किया गया था। परन्तु फिर भी ऐसा संभव है कि ऐसा कोई राजा हो जिसमें इन सब बातों के पश्चात भी सदवृत्ति निर्माण होना संभव ही न हो और उसे नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता हो। ऐसी अवस्था में नियंत्रण के वाह्य साधन भी भारतीय राज्य व्यवस्था में बताये गये हैं। सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि राजा अपनी सहायता के लिये मंत्रियों को नियुक्त करे क्योंकि राज्य का कार्य वह अकेला नहीं चला सकता, मंत्री जो बात कहें उसे वह माने तथा मंत्रियों के लिये भी यह आवश्यक बताया है कि वह राजा को कुमार्ग पर जाने से रोकें। कामन्दक का कहना हे कि "राजा यदि अकार्य में प्रवृत्त हो तो मंत्रियों द्वारा उसे रोका जाना चाहिये और राजा का भी यह कर्त्तव्य है कि वह गुरुजनों (वेदों) तथा मंत्रियों के वचनों को माने।" आगे कामन्दक में विस्तार के साथ बताया है कि राजा के कुमार्ग पर जाने से कितनी हानि होती है और राजा को कुमार्ग में जाना कितना अधिक सम्भव है और इसलिये कहा है कि "राग, मान और मद से अन्धे हुए तथा शत्रू के संकेत में गिरे हुये राजा के लिये सुदृढ़ मन्त्रियों की चेष्टा ही हाथ का सहारा होती है।" शुक्र ने नियंत्रण करने वाले मंत्रियों की प्रशंसा करते हुये तथा राजा को न रोकने वाले मंत्रियों की निन्दा करते हुये कहा है कि "जिससे राजा पर नियंत्रण रहता है वे ही अच्छे मंत्री हैं परन्तु जिन मंत्रियों से राजा को भय नहीं होता है उनसे क्या राजा की वृद्धि हो सकती है? वे तो उन्हीं स्त्रियों के समान है जिन्हें वस्त्र, आभूषण आदि से केवल सज्जित कर दिया गया हो। उन मंत्रियों का क्या उपयोग जिनके द्वारा राज्य, प्रजा, बल, कोष तथा राजा के गुणों की वृद्धि न हुई अथवा शत्रु का नाश न हुआ"। मंत्रियों के अतिरिक्त दूसरा नियंत्रण है पुरोहित का। राजसूय यज्ञ के वर्णन में एक प्रथा बताई गई है जिसमें पुरोहित राजा को खडग देता है और राजा उसी खडग को क्रमशः अन्य अधिकारियों को देता है। इसके द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि राज्य का अधिकार राजा को पुरोहित से प्राप्त होता है और इस कारण पुरोहित राजा से श्रेष्ठ हैं और उसके पश्चात राजा है, जिससे अन्य अधिकारी अपना अधिकार प्राप्त करते हैं। राजा और पुरोहित का सम्बन्ध विस्तार के साथ शान्ति पर्व में बताया है जहाँ कहा है कि धर्म और अर्थ का गूढ़ तत्व समझने के लिए राजा को पुरोहित नियुक्त करना चाहिए तथा राजा और पुरोहित को चाहिए कि वे पारस्परिक सौहार्द्र रखें क्योंकि ऐसा न होने पर क्षत्रिय के राज्य का नाश हो जाता हैं, उसमें चारों ओर डाकू लोग घूमते हैं, यज्ञ नहीं होते, वेदाध्ययन नहीं होता, राजा के राज्य की वृद्धि नहीं होती तथा क्षत्रिय

मग्न होकर चोरों के समान हो जाते हैं अर्थात यदि राजा धर्म के ज्ञाता पुरोहित के कहने के अनुकूल नहीं चलता तो उसके राज्य में सुव्यवस्था रहना कठिन है। कौटिल्य ने कहा है की राजा मर्यादा की स्थापना करें तथा आचार्य (पुरोहित) और आमात्यों की नियुक्ति करें जो उसे (राजा को) अनुचित कार्य करने से रोकते है और समय की चाबुक से प्रमत्त अथवा पड़े हुए राजा को सचेत करते है।" इसके अतिरिक्त उसने यह भी कहा है कि "राजा मंत्र और अनुष्ठान में सम्पन्न, त्रयी का ज्ञाता, कर्म तत्पर, जितेन्द्रिय, क्रोध, लोभ और मोह से वर्जित श्रेष्ठ कुल शील वाले, छहों वेदाङ्ग, (शिक्षा कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण), वेद दैव, (भविष्य), दण्डनीति को जानने वाले, दैवी, मानुषी, आपत्तियों को अथर्व के उपायों से प्रतिकार करने वाले व्यक्ति को पुरोहित बनावे और उसका इस प्रकार अनुगामी हो जैसे शिष्य आचार्य का, पुत्र पिता का, तथा भृत्य स्वामी का अनुगामी होता है। जो क्षत्रिय, ब्राह्मण, (पुरोहित) द्वारा रक्षित और वर्धित, मंत्रियों की मंत्रणा से युक्त तथा शास्त्रानुसार कर्मो के शस्त्र के सुसज्जित होता है वह विजय प्राप्त करता है तथा अत्यन्त अजेय होता है।" शुक्र ने भी पुरोहित को राजा के पिता के समान और उसी के जैसे श्रेष्ठ आसन पर बैठने योग्य बताया है।[१०७] तथा पुरोहित को राजा के सभी व्यक्तियों में सबसे प्रथम और राज्य (राजा) तथा राष्ट्र, (प्रजा) को धारण करने वाला कहा हैं। फिर उसने पुरोहित के गुण बताकर कि मंत्र और अनुष्ठान मे कुशल, त्रयी का ज्ञाता, कर्म तत्पर, जितेन्द्रिय, क्रोधजयी, लोभ-मोह से शून्य, छहों अंग, धनुर्वेद, धर्म का ज्ञाता, जिसके कोप के भय से राजा भी धर्म और नीति में तत्पर तथा नीतिशास्त्र और व्यूह आदि में कुशल ऐसा पुरोहित होना चाहिए। यह कहा है कि वही (वास्तविक) आचार्य तथा पुरोहित है जो शाप और कृपा दोनों में समर्थ हो। सामविधान ब्राह्मण में कहा है कि राजा अभिषेक के पश्चात पुरोहित् के आधीन रहे। वशिष्ठ ने राजा और पुरोहित का सम्बन्ध व्यक्त करते हुए कहा है कि यदि राजा किसी दण्ड योग्य अपराधी को मुक्त कर दे तो राजा एक दिन का तथा पुरोहित तीन दिन का उपवास करे और यदि निर्दोष को दण्ड दे तो इस अपराध के लिये पुरोहित कृच्छ करें जिसका अर्थ यह है कि राजा को ठीक न्याय करना चाहिए और किसी भी कारण से गलत काम न करना चाहिए और यदि राजा वैसा रहे तो इसका मूल उत्तरदायित्व पुरोहित को है। शान्तिपर्व में कैकय देश का राजा अपने राज्य का वर्णन करते हुए कहता है कि उसका पुरोहित आत्मज्ञानी, तपस्वी, सभी धर्मो को जानने वाला, बुद्धिमान तथा सभी राष्ट्र का स्वामी है। शान्तिपर्व, याज्ञवल्क्य तथा शुक्र का कहना है कि मंत्रियों से परामर्श करने के पश्चात राजा पुरोहित से परामर्श करे और शुक्र तथा गौतम का कहना है कि पुरोहित राजा को जो कार्य बताये उसे वह करे क्योंकि ब्राह्मण द्वारा रक्षित क्षत्रिय बढ़ता है। मंत्रियों और पुरोहित के अतिरिक्त राजा के ऊपर बाह्य

नियन्त्रण रखने में जिन्हें सहायक माना गया है वे थे ब्राह्मण। ऊपर इस बात का विस्तार से वर्णन किया ही गया है कि राजा को ब्राह्मणों के कहने के अनुसार चलना चाहिये तथा यह भी बताया है कि यदि क्षत्रिय किसी प्रकार कोई दुष्टता करे तो ब्राह्मण का यह कर्तव्य है कि वे ऐसे क्षत्रियों को दण्ड दे। इस प्रकार के उदाहरण भी इतिहास-पुराण ग्रन्थों से ऊपर दिये गये हैं जहाँ ब्राह्मणों ने दुराचारी राजाओं को दण्ड दिया है। चौथा वाह्य नियत्रण राजा के ऊपर है जनमत का और यह बार-बार कहा गया है कि राजाओं को कोई ऐसा काम न करना चाहिये जिससे प्रजा उद्वेजित हो जाय क्योंकि प्रजा के उद्विग्न होने पर राजा नष्ट हो जाता है। अर्थात यह माना गया है कि यदि प्रजा राजा से असन्तुष्ट रहती है तो वह अन्ततः राजा के लिये हानिकारक ही रहता है क्योंकि धीरे-धीरे प्रजा का वह विरोध राज्य को नष्ट कर देता है। सबसे अन्तिम वाह्य नियन्त्रण राजा के ऊपर समाज व्यवस्था का था जिसके द्वारा समाज के विभिन्न कार्यों का विभाजन कर राज्य की और इस कारण राजा की शक्ति सीमित कर दी गई थी और राजा को यह अधिकार नहीं था कि वह अन्य लोगों के कार्य-क्षेत्र में अथवा समाज-व्यवस्था में हस्तक्षेप करे। समाज के सभी कार्यों और अधिकारों का विभाजन कर उसमें राजा अथवा राज्य के क्षेत्र में इतना ही कार्य दिया गया था, जैसा बताया गया है, कि वह समाज व्यवस्था ठीक से लागू करते हुये समाज की रक्षा करे तथा समाज के जीवन के लिये जितने सहायक कार्य हों वह करे। राजा को यह अधिकार न था कि वह आर्थिक और धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक व्यवस्था का संचालन करे और उसकी व्यवस्था करे। इसके विपरीत राजा का समाज रचना और व्यवस्था के नियन्त्रण के अन्दर रहना अनिवार्य था।

राजा को हटाने की व्यवस्था—नियंत्रण के इन सब आन्तरिक और वाह्य साधनों के पश्चात् भी जो राजा ठीक न हो उसके लिये अन्तिम मार्ग के रूप में कहा गया था कि जो राजा अधर्मशील है अर्थात मर्यादा के अन्दर नहीं रहता, अत्याचार करता है तो उसे उसके स्थान से च्युत कर देना चाहिये। शुक्र नीति में कहा है कि यदि राजा अधर्मशील हो तो प्रजा धर्मशील, अति बलवान शत्रु का आश्रय लेकर उसे कष्ट दे। अनुशासन पर्व में भी कहा है कि रक्षा न करने वाले, मारने वाले, धन हरने वाले, दुष्ट, कलयुग रूपधारी राजा को प्रजा सन्नद्ध होकर मार दे। 'मैं रक्षा करूंगा, ऐसा कहकर भी जो राजा रक्षा नहीं करता है वह प्रजा द्वारा संगठन निर्माण कर पागल कुत्ते के समान मार डालने योग्य हैं।' प्रजा के अतिरिक्त राजकुमार को भी अधर्मी राजा के विरूद्ध कर उसे हटाने की अनुमति है, यदि प्रजा राजा से अप्रसन्न हो। ब्राह्मणों द्वारा दुष्ट राजा को हटाने का उल्लेख ऊपर किया ही गया है तथा पुरोहित के सम्बन्ध में कहा है कि "जो कुलीन राजा भी गुण, नीति, बल को नष्ट करने वाला तथा अधार्मिक हो तो उस राष्ट्र-विनाशक (राजा) को त्याग देना चाहिये और उसके स्थान पर पुरोहित गुणयुक्त,

उसी कुल में से उत्पन्न व्यक्ति को राज्य की रक्षा के लिये प्रजा की सम्मति से बैठा दे।" इस प्रकार यद्यपि भारतीय समाज और राज्य व्यस्थापकों ने राजतन्त्र को ही विविध कारणों से श्रेष्ठ पद्धति माना था, परन्तु इसमें राजा से यह आग्रह था कि वह प्रजा के हित के लिये प्रजा की इच्छा का घ्यान रखकर अपना शासन चलाये। इसके पश्चात राजा को ठीक मार्ग पर रखने के लिये भी बहुत से प्रयत्न किये गये थे, और अन्त में यदि राजा किसी से ठीक न हो तो यह कहा गया था कि उसे पदच्युत कर दिया जाय। यह आवश्यक था कि अन्य इतने सब नियंत्रण होने के पश्चात राजा द्वारा अत्याचार होने थे। अतः राजा को बलपूर्वक हटाने की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना बहुत कम रह जाती है।

राज्यासीन राजा की रक्षा को भी भारतीय राजनैतिक ग्रन्थों में बहुत महत्व दिया गया है और उन ग्रंथों में प्रमुखतया राजतन्त्र का वर्णन होने के कारण यह स्वाभाविक भी है। कामन्दक ने कहा है कि राजा राज्य के वाह्य और आभ्यन्तर की चिन्ता करे। आभ्यन्तर उसका स्वयं का शरीर है तथा राष्ट्र को वाह्य कहा है और यह दोनों, एक दूसरे पर आधारित होने के कारण एक ही कहे जाते हैं। कौटिल्य आदि का भी यही कहना है, कि राजा स्वयं रक्षित होकर ही फिर राज्य की निकटवर्तियों से (राज्य के अन्दर के दोषों) तथ परकीयों से (वाह्य शत्रुओं से) रक्षा कर सकता है। सबसे प्रथम राजा को अपनी रक्षा राजकुमार से ही करना चाहिये क्योंकि उसे राज्य का मोह इतना अधिक है। राजकुकार से रक्षा के लिये सबसे पहले यही आवश्यक है कि उसे किस प्रकार रखा जाय और उसके लिये योग्य शिक्षा दी जाय जिससे उसमें विनय उत्पन्न हो। परन्तु यदि राजकुमार दुष्चरित्र अथवा स्त्रियों में मन लगाने, अथवा मद्यपान करने लगे, अथवा मृगया की ओर बढ़े तो उसे उस ओर से विरक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और यदि फिर भी वह न माने तो उसे बन्धन में डाल दिया जाय जहां सुखुपभोग के सब साधन हों अथवा और दिया जाय। कौटिल्य ने राजकुमारों के साथ व्यवहार करने के सब अनैतिक उपायों को अस्वीकार किया है जिनके अन्तर्गत राज-पुत्रों को गुप-चुप मरवा डालने का, उन्हे एक स्थान पर अवरूद्ध करने का, उन्हें दुर्गपाल के पास, राष्ट्र से दूर किसी सामन्त के पास अथवा माता के सम्बन्धियों में भेजने की अथवा राजकुमार को भोग-विलास में फंसा देने का उल्लेख है। परन्तु यह कहा गया है कि यदि अन्य किसी भी प्रकार से वह ठीक नहीं हो परन्तु उसी समय उसे विषयोपभोग में डालने का अथवा बन्धन में रखने का, निर्वासित करने का अथवा मारने का प्रयत्न करना चाहिये। राजपुत्रों के पश्चात राजा की जिनसे रक्षा करने की आवश्यकता है वे स्त्रियों हैं क्योकि यह स्वाभाविक बात है कि राजा के विरुद्ध जो षड़यन्त्र होते हैं उनमें बहुत बार स्त्रियों को सम्मिलित करने का प्रयत्न होता है। इसलिये कौटिल्य ने यह कहा है मुड़ी, जटाधारी तथा अन्य वञ्चकों के साथ अथवा बाहर की दासियों के साथ अथवा रोग और गर्भावस्था छोड़ कर कल के अन्य लोगों के साथ रानी को न मिलने देना चाहिये। अग्नि पुराण में कहा है कि स्त्रियों का विश्वास न करना चाहिये। विशेष

रूप से पुत्र की माता का क्योंकि वह पुत्र को राज्य दिलाने के लिये राजा के विरुद्ध षड़यंत्र कर सकती है, तथा शान्ति पर्व में कहा है कि अज्ञात स्वचारणी स्त्रियों के साथ राजा को सहवास न करना चाहिये। कौटिल्य ने तथा कामन्दक ने रनिवास की रक्षा के लिए ८० वर्ष से ऊपर के पुरुषों तथा पचास वर्ष से ऊपर की स्त्रियों की नियुक्ति करने का नियम बताया है जो लोग रानियों की पवित्रता की रक्षा पिता-माता के समान करेंगे तथा कौटिल्य ने यह भी कहा है कि अंत पुर के कर्मचारियों का बाहर वालों से सम्पर्क न आने देना चाहिए तथा बाहर भीतर आने जाने वाली वस्तुओं की जाँच होनी चाहिए और उन पर मुद्रा अंकित होनी चाहिए। कामन्दक ने राजा के लिए अंत पुर में भी रक्षकों की पूरी व्यवस्था वर्णित की है। कौटिल्य और कामन्दक दोनों ने कहा है कि राजा रानियों के महल में न जाये क्योंकि ऐसे बहुत से उदाहरण हुये जहाँ रानियों के महल में विभिन्न प्रकारों से राजागण मारे गये हैं। राजा द्वारा स्त्री संसंग के लिये यह भी कहा गया है कि इन दोनों बातों के अतिरिक्त उसे अपनी विष से रक्षा करनी चाहिये। इसके लिये भोजन की सब प्रकार से परीक्षा करके देखना चाहिये कि उसमें विष न हो तथा भोजन में विषनाशक औषधियाँ मिलानी चाहियें। कौटिल्य का यह भी कहना है कि राजा के साथ विष प्रयोग जानने वाले वैद्य रहने चाहियें तथा राजा को औषधियाँ भी देखकर ही दी जानी चाहिये। कौटिल्य ने विष की जाँच करने की विभिन्न पद्धतियाँ भी बताई हैं। विष का प्रयोग भोजन में ही नहीं अन्य वस्तुओं में भी हो सकता है। यथा सवारी, वस्त्र, अलंकार, शय्या, आसन तथा स्नान प्रसाधनों आदि में हो सकता है। अतः उनकी भी परीक्षा होनी चाहिये। कौटिल्य तथा कामन्दक ने विष देने वाले की स्थिति का (अवस्था का) भी वर्णन किया है जिससे उसकी पहिचान हो सके तथा राजगृह में विष-प्रवेश करने की पहिचान करने का ढंग बतलाया है। राजगृह में अग्नि का प्रकोप तथा सर्प का प्रवेश किस प्रकार रोका जा सके इसका ढंग भी कौटिल्य ने बताया है। राजा की व्यक्तिगत रक्षा के अन्य नियम भी कौटिल्य और कामंदक ने बताये हैं। कौटिल्य कहता है, "राजा मगर, मछली, ग्राह से विहीन जल में स्नान करे, वह भी केवल थोड़ी देर तक ही। सर्प इत्यादि से विहीन उद्यान में जावे परंतु गहन वन में नहीं और वहाँ जाकर भी विषय, भोग, राग में मस्त न हो। लक्ष्य लगाना सीखने के लिए राजा, चोर, सर्प आदि से विहीन मृगारण्य (मृगया के निमित्त) में कुत्ता और शिकारियों के साथ अवश्य जावे परन्तु शीघ्रगामी घोड़े पर चढ़कर और स्वयं को चारों ओर से रक्षित और रक्षित कर जावे। शस्त्रधारी प्राप्त पुरुषों के साथ, सिद्धों और तापसों से तथा मंत्री परिषद् में सामन्तों के दूतों से मिले। अश्व, हाथी, रथ पर चढ़कर सन्नद्ध होकर सेना में जावे और कहीं आने जाने के समय राजमार्ग की दोनों ओर से दण्डधारी, शस्त्र ग्रहण किये लोगों से घिरा रखा जावे तथा उसमें पुरुषों का आना-जाना मना हो। पुरुषों की भीड़ में भी राजा न घुसे। यदि कभी वह यात्रा, उत्सव, प्रवास में

जावे, दस रक्षकों से घिरा होकर ही जावे और वहाँ बहुत समय न लगावे। कामन्दक ने भी इसी प्रकार के नियम बताये हैं कि राजा परीक्षा करके सवारी पर बैठे तथा संकटपूर्ण मार्ग की ओर न जावे। जब बहुत आंधी हो, अपरीक्षित नाविक हों, दूसरे की नौका हो अथवा स्वयं भयभीत हो ऐसे समय नौका में न चढ़े। माता के पास जाने में भवन की परीक्षा कराकर रक्षकों के साथ जावे। आंधी में, वर्षा में, बहुत गर्मी में गहन अंधकार में कहीं न जावे, परीक्षा किये हुए लोगों को अपने समीप रखे तथा अधर्मी क्रूर जिनके दोष ज्ञात हों, अपमानित शत्रुओं के पास से आये हुए व्यक्तियों को दूर रखे। राजा के रक्षक कैसे हों इसका भी विस्तृत विवरण कौटिल्य ने दिया है तथा शुक्र ने संक्षेप में कहा है कि क्रूरवेष वाले, राजा को प्रणाम करने में तथा नीति में कुशल, अस्त्रों में सिद्ध, नग्नशस्त्र धारण किये योद्धाओं को राजा आगे-पीछे चलने वाले नियुक्त करे।

कौटिल्य का यह भी कहना है कि जिस प्रकार राजा शत्रु के ऊपर गुठ प्रयोग करता है उसी प्रकार का शत्रु भी राजा के ऊपर गुठ प्रयोग कर सकता है। अतः राजा को अपनी रक्षा शत्रु के गुठ प्रयोग से भी करनी चाहिए। और इसके लिए उसने बताया है कि यदि राजा को मारे जाने का भय अथवा बंधन का भय दिखायी दे तो अमात्य राजा के दर्शन मास-दो मास के अन्तर से कराए और उस राजा की लम्बी अनुपस्थिति का कोई कारण घोषित करे। जब दर्शन का समय आवे तो वह किसी राजा के अनुरूप पुरुष को राज चिन्ह धारण कराकर प्रजा के तथा मित्र शत्रुओं के दूतों के समक्ष उपस्थित करे जिससे राजा सुरक्षित रहे इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा की रक्षा के लिए राजकुमार, सामन्त तथा अन्य शत्रु आदि कंटकों को दूर करने की विधि भी बताई है।

भारतीय राजतंत्र का और इस राजतंत्र में राजा को धर्मशील बनाये रखने तथा मर्यादित रखने के उपरोक्त प्रयत्नों का उल्लेख करने के पश्चात् राजा के संबंध में भारतीय राज्य-व्यवस्था के कुछ और भी नियमों का उल्लेख शेष रह जाता है। सबसे पहले उल्लेखनीय बात यह है कि राजा अपने पद पर आसीन हो अर्थात् नियमानुसार राजा घोषित हो और सब लोगों को उसके राज्याधिकार का ज्ञान हो जाये इसके लिए उसका राज्याभिषेक होना आवश्यक है। इसके लिए भारतीय ग्रंथों में राज्याभिषेक की पद्धतियाँ भी वर्णित हैं। राज्याभिषेक की प्रथाओं के द्वारा राज्य जीवन के सिद्धांतों का प्रदर्शन किया गया है। उदाहरण के लिए अग्नि पुराण में दी हुई अभिषेक पद्धति में राजा अभय की घोषणा करता है (अर्थात् वह प्रजा की रक्षा करेगा और प्रजा पर कोई अत्याचार न करेगा)। राजा के शरीर के विभिन्न अंगों पर विविध स्थानों से लाई हुई मिट्टी लगायी जाती है जैसे उसके सिर पर पर्वत की चोटी से लाई हुई मिट्टी लगायी जाती है जिसका अर्थ है कि वह पर्वत के समान सदैव सिर ऊँचा रखेगा, कानों में चींटियों के रहने के स्थान की मिट्टी लगायी जाती है जिसका अर्थ है उसे दूर-दूर तक का ज्ञान इस पकार रहेगा जैसा चींटियों को।

उसके मुख पर केशव-मन्दिर की मिट्टी लगायी जाती हैं जिसका अर्थ है वह भगवान के समान कृपावान होगा। उसके दोनों बगल में नदी तटों की मिट्टी लगायी जाती है जिसका अर्थ है कि जिस प्रकार नदी अपने किनारों में मर्यादित रहती है उसी प्रकार वह भी मर्यादित रहेगा। राजा के ऊपर चारों वर्णों के अमात्यों द्वारा पानी डाला जाता है जिसका अर्थ है कि चारों वर्णों के लोग उसे राजा मान्य करते हैं; अन्न, फूल, बीज आदि उसके सिर पर छिड़के जाते हैं तथा सुगंध भी जिसका अर्थ है कि उसका राज्य धन-धान्य से भरपूर रहेगा तथा उसका सुयश गंध के समान चारों ओर फैलेगा। उसे सिंह की खाल पर बिठाया जाता है जिस खाल के नीचे बकरी, बैल, लोमड़ी तथा चीते की खाल होती है जिसका अर्थ है वह सिंह के समान शूरवीर होगा तथा उसके राज्य में सभी प्रकार के लोग मिलकर एक साथ रह सकेंगे। राजा वृद्धों को प्रणाम करता है, गौ की पूजा करता है तथा पुर (राजधानी) में जुलूस के रूप में जाता है। यह संक्षेप में राज्याभिषेक की उन्हीं प्रथाओं का वर्णन किया गया है जिनका अर्थ बहुत स्पष्ट है। अग्निपुराण के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी विविध अभिषेक पद्धतियाँ दी हुई हैं। वे भी ऐसी ही हैं जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र, महाभिषेक के वर्णन में राजा की प्रतिज्ञा का उल्लेख है और शतपथ ब्राह्मण में जो विस्तार से राजसूय का वर्णन है वह भी बहुत अर्थपूर्ण है जिसका श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने विस्तार से अर्थ बताया है।

राजा के व्यक्तिगत सम्मान के भी बहुत से नियम दिये हुए हैं। राजा के सम्मान के लिए राजा का प्रतिवर्ष मधुपर्क से पूजन करना चाहिए। मार्ग में राजा के आने पर उसे पहले मार्ग देना चाहिए। राजा के सम्मान के लिए उसके मरने पर राज्य के अंदर के प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन का अशौच लगने का नियम है तथा राजा के सूतक में तीन दिन का अनध्याय होता है। परन्तु राज्य के व्यक्ति की मृत्यु में राजा को अशौच नहीं लगता क्योंकि प्रजा की रक्षा के लिए राजा महत्वपूर्ण स्थान पर बैठा है। राजा जिसे चाहे उसे भी तत्काल शुद्धि हो सकती है। पराशर ने यह भी कहा है कि राजा देखने मात्र से पवित्र करता है। अतः उसे प्रतिदिन देखना चाहिए। शंख ने राजा की हत्या को महापातक से भी बड़ा बताकर इसके लिए दुगुना प्रायश्चित बताया है। राजा के ही सम्मान की दृष्टि से राजा की पत्नी से सहवास भी एक पातक माना गया है और कहीं-कहीं इसे गुरुपत्नी गमन के समान मानकर इसका प्रायश्चित बताया है। कौटिल्य ने तथा 'याज्ञवल्क्य' ने राजा की सवारी पर चढ़ना एक बड़ा भारी अपराध मानकर उसके लिए दण्ड निर्दिष्ट किया है तथा याज्ञवल्क्य ने राजा के सिंहासन पर चढ़ने आदि अथवा राजा की निन्दा करने पर भी दण्ड कहा है। मनु ने राजा की छाया का उल्लंघन करना निषिद्ध बताया है तथा कौटिल्य ने राजा से बढ़कर दान देने पर दंड कहा है। शांति पर्व में भी कहा है कि व्यक्ति को राजा का अपमान अथवा निंदा नहीं करनी चाहिए और न राजा का अशुभ चिंतन करना चाहिए तथा राजा का धन चुराना भी वर्जित है।

राज्य का उत्तराधिकार तथा उत्तराधिकारी

साधारणतया क्षत्रिय को ही उत्तराधिकार—भारतीय विचार के उत्तराधिकार सम्बन्धी जो नियम हैं उनका वर्णन भी बहुत आवश्यक है। भारतीय समाज-व्यवस्था में वर्ण-विभाजन के और अधिकार-भेद के सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रिय को ही राज्य का काम सौंपा गया है। अतः राजा क्षत्रिय ही हो सकता है। मनुस्मृति में जारधर्म का वर्णन करने के पूर्व कहा गयाहै कि "ब्राह्मण का चारों प्रकार (आश्रमों) का धर्म कहा जो पवित्र है और परलोक में अक्षय फलदायक है, अब राजधर्म (क्षत्रिय-धर्म) कहा जाता है" तथा नवें अध्याय में राजधर्म समाप्त कर कहा गया है "यह राज्य की सम्पूर्ण और सनातन कर्मविधि कही गई, अब क्रमशः वैश्य और शूद्र का यह कर्म जानो।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि राजधर्म का वर्णन क्षत्रियों के धर्म के रूप में है और उनके लिये ही मनु ने राजधर्म का वर्णन प्रारम्भ करते समय राजा के लिये क्षत्रिय शब्द का प्रयोग भी किया है। हारीत स्मृति में कहा है "राज्य पर आसीन क्षत्रिय प्रजा का धर्म से पालन करता हुआ योग्य अध्ययन तथा विधि अनुसार यज्ञ करे।" इसी प्रकार गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, विष्णु आदि में क्षत्रिय के धर्मों का पृथक् वर्णन न करते हुए राजधर्म के नाम से ही किया गया है। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी कलियुगनी राजाओं को छोड़कर जो पतन की अवस्था के राजा हैं—शेष सब राजा क्षत्रिय ही बनाये गये हैं। अतः भारतीय विचार के अनुसार क्षत्रिय ही राजा होना चाहिये। परन्तु शान्तिपर्व में युधिष्ठिर भीष्म से पूछते हैं कि क्षत्रिय जब वर्णसंकर हो जायें और प्रमोहित (भ्रमित तथा निष्क्रिय) हो जाये उस समय यदि अन्य वर्ण का व्यक्ति धर्म से दण्ड को धारण करता हुआ दस्युओं से प्रजा की रक्षा करे तो उसको यह कार्य करना चाहिये अथवा न करना चाहिये? उस समय भीष्म उत्तर में कहते हैं कि "पाररहित (समुद्र) में जो पार बन जाय और नौका होने पर जो नौका हो जाय वह शूद्र हो अथवा अन्य कोई हो सम्मान का पात्र है। हे राजन्! जिसका आश्रय लेकर अनाथ तथा दस्युओं द्वारा पीड़ित मनुष्य सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करें उसका ही प्रेमपूर्वक अपने बान्धव के समान पूजन करना चाहिये। जो पुरुष सज्जनों का रक्षण करे और असज्जनों को रोके उसी को राजा बनाना चाहिये और उसी के द्वारा यह सब (राज्य) धारण किया जा सकता है।" यहाँ पर भी यह धारणा स्पष्ठ है कि साधारणतया तो क्षत्रिय ही वर्ण-संकर हो जायें और वह कर्त्तव्य-विमूढ़ हो जायें उस स्थिति में किसी को भी राजा मानना श्रेयकर है। अर्थात् केवल अपवाद के रूप में और आपत्तिकाल के ही लिये क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य किसी को राजा बनाया जा सकता है।

अपवाद रूप में स्त्रियों को भी उत्तराधिकार—इसी प्रकार भारतीय समाज-व्यवस्था के अन्दर स्त्रियों के लिये जो कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं तदनुसार साधारणतया स्त्रियों को राज्यकर्त्रियों के रूप में लाना उस व्यवस्था के अनुकूल नहीं है।

परन्तु अपवाद के ही रूप में कहा गया है कि जो राज्य राजाओं से शून्य हो गये हैं वहाँ पर भाइयों, पुत्रों, पौत्रों को अभिषिक्त किया जाय और जिन राजाओं के पुत्र भी नहीं हैं वहाँ पर कन्याओं को ही राज्यासीन किया जाय। कौटिल्य ने यह भी कहा है कि यदि योग्य गुणों से युक्त राजकुमार न हो तो आमात्य व्यसनी कुमार अथवा राजकन्या अथवा गर्भिणी रानी को अधिकारियों के आगे कर और उनसे कहे कि यही पुराने राजा के चिन्ह के रूप में शेष हैं और यही चातुर्वर्ण्य की रक्षा करने में समर्थ हैं। उन अधिकारियों की सम्मिति से उन्हें राज्य-सिंहासन सौंप दें और उन्हें ही राज्य-कर्त्ता के रूप में सब लोगों के समक्ष उपस्थित किया जाये।

बड़े परन्तु विनीत पुत्र को राज्य—पुत्रों में साधारणतया सबसे बड़े पुत्र को ही राज्य देने की पद्धति है। राज्य का बंटवारा तो उपयुक्त नहीं क्योंकि उससे राज्य छोटे हो जायेंगे और उसके कारण शत्रु के अन्दर उस राज्य को हड़पने की इच्छा उत्पन्न होगी जिससे राज्य का नाश हो जायगा। अतः यह बताया है कि सभी भाइयों में राज्य का बंटवारा न कर राजा के अन्य बन्धुओं को सहायक के रूप में अन्य चारों दिशाओं के देशों का अधिपति कर देना चाहिये अथवा कोश, सेना आदि का अधिकार दे देना चाहिये। परन्तु यदि बड़ा पुत्र अविनीत हो तो उसे कदापि राज्य न दे। अन्य किसी विनीत पुत्र को राज्य देना चाहिये और यदि राजा के पुत्र न हो तथा अन्य पुत्र के उत्पन्न होने की सम्भावना भी न हो तो पुत्र के अथवा पुत्री के पुत्र को अथवा नियोग के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराकर उसे राज्य देना चाहिये। इतिहास-पुराण ग्रन्थों में वैसे तो सभी स्थानों पर बड़े भाइयों को राज्य मिलने के उदाहरण हैं—यथा रामचन्द्रजी तथा युधिष्ठिर—(देखिये अन्य वंशावलियाँ पुराणों में) परन्तु अविनीत होने के कारण अर्थात् पिता की आज्ञा न मानने के कारण ययाति ने प्रजा से पूछकर अपने बड़े पुत्रों को राज्य न देकर प्रजा की सम्मति से सबसे छोटे पुत्र पुरु को राज्य दिया था तथा अविनीत होने के ही कारण सगर ने अपने सबसे बड़े पुत्र असमंज को राज्य से निकाल दिया था। परन्तु अकारण ही बड़े पुत्र का अवलंघन नहीं किया जा सकता क्योंकि जब कैकेयी राम के होते हुए भरत को राज्य देने के पक्ष में असमंज का उदाहरण देती है तो सब लोग उसके इस कथन से हतप्रभ हो जाते हैं और सुमन्त नाम के एक मंत्री बताते हैं कि असमंज तो प्रजा के लोगों के पुत्रों को नदी में डुबा देता था। इस कारण प्रजा द्वारा शिकायत होने पर सगर ने उसे निकाला। परन्तु राम में ऐसा कोई दुर्गुण नहीं था जिससे उनका अवलंघन किया जा सके। बड़े पुत्र को अवलंघन करने का यह भी एक कारण है कि यदि उसमें विशेष शारीरिक दोष हो अर्थात् यदि वह बहरा, गूंगा, अन्धा, कोढी अथवा नपुंसक हो तो भी उसे राज्य नहीं मिलना चाहिये (मनु ९/२०१) और उस समय उसका भाई, भाई के पुत्र, चाचा अथवा चाचा के पुत्र को राज्य मिलना चाहिये। इसी नियम के अनुसार बड़े होने पर भी धृतराष्ट्र को राज्य नहीं मिला था।

युवराज का महत्व, शिक्षा, तथा राजा युवराज का पारस्परिक व्यवहार— राज्य के भावी सुशासन की दृष्टि से युवराज तथा अन्य राजकुमारों से सम्बन्धित व्यवस्था का भी विस्तार के साथ वर्णन है। राजा के पश्चात् राज्य-व्यवस्था में युवराज का महत्त्व है क्योंकि वही आगे चलकर राजा होने वाला है। शुक्र नें इसीलिये युवराज को राजा का हाथ, नेत्र और कर्ण कहा है और उसकी नियुक्ति करने का आग्रह किया है। विनीत पुत्र को युवराज बनाने का सर्वत्र आग्रह है और शुक्र ने विस्तार के साथ कहा है कि राजा अमात्यों की सहायता से ही राजपुत्रों को नीतिशास्त्र में कुशल, धनुर्वेद में विशारद, क्लेश सहने योग्य, वाक्पारुष्य, दण्ड पारुष्य को अनुभव करने वाले (अर्थात् वैसा व्यवहार करने में संयमित रहने वाले), वीरता और युद्ध में रत, विद्याओं और कलाओं के ज्ञाता और सुविनीत बनाने का यत्न करे और उनके लिये अच्छे वस्त्र, भोजन, क्रीड़ा तथा योग्य सम्मान देने का यत्न करे और इस प्रकार उन्हें यौवराज्य के योग्य बनाये। कौटिल्य ने राजपुत्रों को बुद्धि-मान (जो सिखाने पर धर्म, अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर तदनुसार आचरण करता है), आहार्यबुद्धि (जो ज्ञान प्राप्त कर लेता है पर तदनुसार आचरण नहीं करता है) तथा दुर्बुद्धि (जो धर्म-अर्थ का द्वेषी है)—इन तीन श्रेणियों में बाँटकर दुर्बुद्धि को अधिकार न देने का आग्रह किया है। राजपुत्रों की रक्षा का भी बहुत आग्रह है तथा यह कहा है कि औरस पुत्र को (यथासंभव बड़े को) युवराज बनाना चाहिये तथा उसके अभाव में अपने छोटे भाई, चाचा, भाई के पुत्र अथवा पुत्रि का पुत्र को युव-राज नियुक्त करना चाहिये। युवराज को धीरे-धीरे अधिकार देने का आग्रह है तथा शुक्र का कहना है कि राजा अपने जीवित रहते हुए पूरा अधिकार पुत्र को न दे क्योंकि सद्गुणी व्यक्ति के अन्दर भी स्वामित्व के भाव से मद उत्पन्न हो जाता है और स्वामित्व के लोभ, चपलता तथा गौरव की भावना के कारण वह ठीक से राज्य नहीं कर पाता। इसलिये जब मृत्यु अत्यन्त निकट हो उसी समय युवराज को पूरे अधिकार दिये जायँ। युवराज का पिता के प्रति कैसा व्यवहार हो इसका भी वर्णन किया गया है। यह बहुत आग्रह के साथ कहा गया है कि सभी राजपुत्रों को (युवराज को भी) पिता की आज्ञा के ही अनुसार चलना चाहिये तथा शुक्र ने इस सम्बन्ध में परशुराम तथा रामचन्द्रजी का उदाहरण इसलिये दिया है कि उन्होंने पिता की आज्ञा मानकर श्रेष्ठता प्राप्त की तथा ययाति के और विश्वामित्र के पुत्रों के उदाहरण पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने वालों में दिये हैं। इसके अतिरिक्त युवराज के गुण और व्यवहार के विषय में शुक्र ने यह कहा है कि "वह विद्या, कर्म, शक्ति के द्वारा प्रजा को प्रसन्न रखे और उसका रंजन करे, त्यागी, सत्वगुणी हो और स्वयं को नियंत्रण में रखें।" विशेष स्थिति में राजपुत्र का पिता के प्रति विद्रोह भी उचित माना गया है। यदि पिता गुप्तचरों और चुगली करने वालों के कारण भ्रमित मति हो जाय (अन्यायी अथवा दुराचारी) तो प्रजा की सहमति से उसे योग्य शिक्षा दे। राजकुमारों पर नियन्त्रण रखने के सम्बन्ध में यह

बताया गया है कि उन्हें सद्मार्ग पर रखा जाय और इसलिये उन्हें योग्य शिक्षा दी जानी चाहिये (अर्थात् उन्हें धर्म, अर्थ की शिक्षा दी जाय) जिससे उनमें विनय उत्पन्न हो; परन्तु यदि राजकुमार दुश्चरित्र हो अर्थात् यदि वह पर-स्त्रियों में मन लगावे, अथवा मद्यपान करने लगे अथवा मृगया की ओर बढ़े तो उसे उस ओर से विरक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये और इसके पश्चात् भी यदि विद्रोह करने की इच्छा हो तो उसे वध का, बन्धन में डाले जाने का, राजा के क्रोध का भय दिखाकर उससे विरक्त किया जाय और यदि फिर भी वह न माने तो उसे बन्धन में डाल दिया जाय जहाँ सुखोपभोग के सब साधन हों अथवा मार दिया जाय। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजकुमारों के साथ व्यवहार करने के सब अनैतिक उपायों को अस्वीकार किया है।

अन्य शासन पद्धतियाँ

वैराज्य—भारतीय विचार में प्रमुख रीति से राजतन्त्र का विचार है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें अन्य किसी राज्यपद्धति का विचार ही नहीं हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर राज्य, भोज्य, वैराज्य तथा स्वराज्य शब्दों का प्रयोग हुआ। इन शब्दों का अर्थ करना कठिन है तथा यह कहना कठिन है कि यह किस प्रकार के शासनतन्त्रों के बोधक हैं, यद्यपि श्री काशीप्रसाद जायसवाल इनको राजतन्त्रों से भिन्न प्रकार के संविधान सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। राज्यों के इन प्रकारों में से वैराज्य, के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में यह वर्णित है कि इसमें जनपद का अभिषेक होता है जबकि अन्य वर्णित शासनों में राजाओं के अभिषेक का उल्लेख है। इसलिए यह पर्याप्त संभावना लगती है कि वैराज्य ऐसा शासनतन्त्र हो जिसमें राजा न होते हों। 'वैराज्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ भी ऐसा ही लगता है। ऐतरेय ब्राह्मण के इस वर्णन में उत्तर-दिशा में हिमालय प्रदेश में वैराज्य शासन का होना है तथा इसके उदाहरण के रूप में उत्तरकुरु एवं उत्तरमद्र नामक राज्यों के नाम दिये गये हैं। कौटिल्य ने भी एक स्थान पर 'वैराज्य' का उल्लेख किया है। वह यहाँ 'द्वैराज्य' और 'वैराज्य' की तुलना करता है। कौटिल्य के अनुसार पूर्वकाल के आचार्य-गण द्वैराज्य से वैराज्य को अच्छा समझते हैं परन्तु कौटिल्य स्वयं उनका मत स्वीकार नहीं करता। आचार्यों का विचार है कि वैराज्य में प्रजा का हृदय विजित होने के कारण अन्य लोग (अर्थात् शासकों के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति) उसका उचित रूप में भोग करते हैं। परन्तु कौटिल्य कहता है कि वैराज्य (बिना राजा के शासन अर्थात् कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र) में उस राज्य का शासक उस राज्य को अपना न मान-कर लोगों की जीवित अवस्था में ही उनकी सम्पत्ति छोड़कर राज्य को पीड़ित करता है, राज्य को अन्य लोगों को भी दे देता है, राज्य का विक्रय भी करता है अथवा सब बातों से विरक्त होकर राज्य को छोड़कर भी चला जाता है। इसका निष्कर्ष यह

है कि ऐसे शासन में शासन का ममत्व राज्य के प्रति नहीं रहता तथा उसके हित-अहित के विचार से वह कार्य नहीं करता।

द्वैराज्य—द्वैराज्य का अर्थ है दो राजाओं का शासन तथा कौटिल्य इसमें एक-दूसरे से असम्बन्धित दो राजाओं के शासन के अतिरिक्त पिता-पुत्र के अथवा दो भाइयों के सम्मिलित शासन का उल्लेख करता है। अन्य आचार्यों का मत है कि द्वैराज्य परस्पर द्वेष अथवा अनुराग (केवल एक-दूसरे के प्रति अनुराग जिसमें दूसरों की चिन्ता नहीं की जाती अथवा दोनों राजाओं द्वारा अपने-अपने समर्थकों के प्रति अनुराग और उसके कारण पक्षपात) अथवा परस्पर संघर्ष के कारण द्वैराज्य नष्ट हो जाता है। कौटिल्य इस मत के विपरीत द्वैराज्य को वैराज्य से अधिक अच्छी शासनपद्धति समझता है (यदि द्वैराज्य उपरोक्त प्रकार का हो) क्योंकि ऐसे (पिता-पुत्र के अथवा दो भाइयों के) द्वैराज्य में दोनों का योगक्षेम समान होता है तथा मंत्रियों पर भी अच्छा नियंत्रण रहता है। अतः द्वैराज्य भी राजतंत्र का एक प्रकार है यद्यपि वह साधारण राजतंत्रों से भिन्न प्रकार की शासनपद्धति है।

संघ और गण—राजतंत्र के अतिरिक्त अन्य शासन-पद्धतियों का उल्लेख 'संघ' और 'गण' के नाम से भी हुआ है। यह तो ठीक है कि संस्कृत साहित्य में इन शब्दों का प्रयोग राज्य के अतिरिक्त अन्य सन्दर्भों में भी हुआ है—उदाहरण के लिए देवताओं के गण अथवा बौद्ध संघ, परन्तु यह तो लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि जहाँ इन शब्दों का प्रयोग राज्य के लिए हुआ है वहाँ उसका अभिप्रेत राजतंत्र के अतिरिक्त अन्य शासन-पद्धतियों से है। श्री काशीप्रशाद जायसवाल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू पॉलिटी' में इनका इस रूप में प्रथम बार वर्णन किया है। वहाँ उन्होंने महाभारत में तथा अमरकोष में 'गण' शब्द के प्रयोग का उल्लेख करते हुए कहा है कि इनका प्रयोग एक प्रकार के राज्य के लिए हुआ है। उन्होंने यह भी बताया है कि पाणिनि ने 'गण' और 'संघ' शब्दों को समानार्थक के रूप में प्रयोग किया है। यद्यपि उन्होंने महाभारत का इस सम्बन्ध में उल्लेख नहीं किया है परन्तु महाभारत में भी एक स्थान पर दोनों शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में प्रयोग हुआ, क्योंकि पहले श्लोक में जिस (राज्य-व्यवस्था) के लिए 'संघ' शब्द का प्रयोग हुआ है उसी के लिए अगले श्लोक में 'गण' शब्द का प्रयोग किया गया है। महाभारत में इस बात का बार-बार आग्रह होने के कारण कि गणों को संघात वृत्ति से रहना चाहिए, यहाँ भी 'गण' और संघ का एक प्रकार से लगभग समानार्थक ही प्रयोग हुआ है। श्री जायसवाल ने इस दृष्टि से कुछ बौद्ध और जैन ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है जिन में 'गण' शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार की शासनपद्धति के लिए हुआ है जो राजतंत्र से भिन्न है (जैसे अवदान शतक में मध्य देश के कुछ वैश्य अपने क्षेत्र के राज्यों के विषय में बताते हैं कि वहाँ कुछ राज्य गणाधीन हैं तथा कुछ राजाधीन) तथा 'गण' और 'संघ' को समानार्थक माना गया है।

अर्थशास्त्र में शासनों के प्रकार—महाभारत में इन शासनतंत्रों का वर्णन मुख्य रूप से गणों के नाम से किया गया है, यद्यपि, जैसा बताया गया है, एक स्थान पर पर्यायवाची के रूप में 'संघ' शब्द का भी प्रयोग किया गया है तथा जो दोष एक स्थान पर गणों का बताया गया है वही दोष दूसरे स्थान पर संघों का वर्णित है। महाभारत के वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह राजतंत्र के अतिरिक्त अन्य शासन-पद्धतियों का वर्णन है। कौटिल्य ने इन शासनतंत्रों के लिए संघ शब्द का प्रयोग किया है और यह स्पष्ट रूप से अभिप्रेत है कि यह प्रयोग राजतंत्रों के लिए नहीं है। संघों को किस प्रकार से समाप्त किया जाय यह वर्णन करने के पश्चात् वह कहता है कि "एक राजा को संघों से इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए" और फिर दूसरे सूत्र में ही कहता है कि "संघों की भी, एक राजा द्वारा उपरोक्त युक्तियों द्वारा विजित किये जाने से रक्षा की जानी चाहिए।" इससे यह अर्थ स्पष्ट रूप से निकाला जा सकता है कि वह संघों को राजतंत्रों से पृथक् मानता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर कात्यायन तथा पतञ्जलि ने भी 'संघ' में और एक राजा में भेद किया है। हो सकता है संघों के अन्तर्गत कौटिल्य द्वै-राज्य पद्धति को भी सम्मिलित करता हो परन्तु यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता कि इसके अन्तर्गत वह केवल द्वै-राज्य पद्धति का ही उल्लेख करता है। कौटिल्य ने यहाँ दो प्रकार के संघ बताये हैं, एक 'वार्त्ताशस्त्रोपजीवी' तथा दूसरा 'राजशब्दोपजीवी' तथा इन संघों के उसने उदाहरण भी दिये हैं। एक अन्य स्थान पर कौटिल्य 'कुलसंघ' का वर्णन करता है। 'कुलसंघ' की तो वह एक प्रकार से व्याख्या भी करता हुआ कहता है "अथवा कुल का राज्य हो (राजा द्वारा एक पुत्र को शासन न सौंपने की स्थिति में)। कुलसंघ दुर्जेय है। वह राजा न रहने के दोष से मुक्त होने के कारण पृथ्वी पर स्थायी रूप से रहता है।" इससे स्पष्ट होता है कि एक कुल का सम्मिलित शासन कुलसंघ है तथा उसमें राजा न रहे ऐसी स्थिति नहीं आती। वह एक कुल के व्यक्तियों का शासन होने के कारण उसमें एकता भी स्वाभाविक रूप से अधिक रहती है। इसी कारण उसे जीतना भी कठिन होता है और उसका भंग होना असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। शेष दो प्रकार के संघों में 'राजशब्दोपजीवी' संघ का अर्थ प्रतीत होता है कि जिस संघ के सब शासनकर्त्तागण अपने को 'राजा' कहते हों। इसके उदाहरण में कौटिल्य लिच्छिवि, वृजि, मल्ल, मद्र आदि राज्यों का उल्लेख करता है। राज्य का यह प्रकार 'कुलसंघ' से भिन्न है और इस कारण यहाँ पर कौटिल्य का संदर्भ कुलीनतंत्र राज्यों से प्रतीत होता है जैसे लिच्छिवि आदि के विषय में कहा जाता है जहाँ कुछ लोग जो अपने को 'राजा' कहते थे, शासन करते थे। 'वार्त्ताशस्त्रोपजीवी' संघ इनसे भी भिन्न होना चाहिए। इसका जो अर्थ स्वाभाविक रूप से निकलता है वह यह है कि जहाँ वार्त्ता (आर्थिक व्यवसाय-कृषि, व्यापार आदि) और शस्त्र दोनों पर निर्भर रहने वाले (अर्थात् साधारण स्थिति में वार्त्ता करने वाले तथा समय आने पर शस्त्र उठा लेने वाले) लोगों का शासन है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है जहाँ कोई स्थायी सेना नहीं

और साधारण नागरिक-वर्ग, जो साधारण स्थिति में अपने व्यवसाय में लगा रहता है, समय आने पर शस्त्र का प्रयोग कर सैनिक के रूप में भी काम करने लगता हैं अर्थात् वार्त्ता और शस्त्र दोनों से जीवित रहता है। इससे यह निष्कर्ष स्वाभाविक रूप से निकलता है कि यह एक प्रकार से जनतंत्रात्मक शासन का बोधक है। यह इस कारण भी ठीक प्रतीत होता है कि यह 'राजशब्दोपजीवी' अर्थात् कुलीनतंत्रात्मक शासन से भिन्न है। यह तो हो ही सकता है कि इन राज्यों में सभी व्यक्तियों को समान अधिकार न रहे हों, यद्यपि यह बात भी निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।

वरीयता का क्रम—इस प्रकार कौटिल्य पाँच प्रकार के शासन तंत्रों का उल्लेख करता है, साधारण राजतन्त्र, द्वैराज्य, कुलसंघ, द्वैराजशब्दोपजीवी संघ तथा वार्त्ता-शस्त्रोपजीवी संघ। सम्भवत: अन्तिम तीन प्रकार के शासनतन्त्र उसके अनुसार 'वैराज्य' के अन्तर्गत सम्मिलित हों। कौटिल्य की इन शासनतन्त्रों में वरीयता भी बहुत स्पष्ट प्रतीत होती है क्योंकि कौटिल्य सर्वत्र राजतन्त्र का ही वर्णन करता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि, जैसा इस अध्याय के प्रारम्भ में बताया गया, वह राजतन्त्र को ही सबसे उपयुक्त शासन-पद्धति मानता है। यद्यपि मुख्य रीति से राजतन्त्र का वर्णन करने का एक कारण यह भी हो सकता है कि राजतन्त्र ही सबसे अधिक प्रचलित शासन-पद्धति थी, परन्तु सर्वत्र ही राजतन्त्र के वर्णन का यही एकमात्र कारण नहीं हो सकता। कौटिल्य के मतानुसार राजतन्त्र के पश्चात् दूसरी अच्छी शासन-पद्धति है द्वैराज्य, क्योंकि वह द्वैराज्य और वैराज्य (जिनमें कुल संघ भी सम्मिलित करना चाहिए) की तुलना में द्वैराज्य को अधिक उत्तम मानता है। तत्पश्चात कुलसंघ तथा फिर शेष दो प्रकार के संघ। कौटिल्य यह अवश्य कहता है कि 'दण्ड (सेना) तथा मित्र के लाभ से संघ लाभ उत्तम है" और उसका कारण वह यह बताता है कि "संगठित रहने के कारण वह दूसरों के द्वारा पीड़ित नहीं किये जा सकते।" इसका अर्थ यह है कि जो संघ राज्य संगठित हैं वह अन्य राज्यों से अधिक अच्छे मित्र हो सकते हैं। इसलिए "जो ऐसे गुण वाले हैं (संगठित) उनका साम और दान से लाभ (सहयोग) प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए और यदि अच्छे गुण वाले (संगठित) नहीं हैं तो भेद और दण्ड के द्वारा।" अत: उसके मतानुसार संघ शासन अन्य शासनों की तुलना में अच्छा तो नहीं, परन्तु किसी स्थिति में अच्छा भी हो सकता है।

महाभारत में गणों का विवेचन—महाभारत में गणों के दोषों का वर्णन किया गया है और यह भी बताया गया है कि उन दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। महाभारत के अनुसार गणों की आन्तरिक आपत्ति से रक्षा करने की अधिक आवश्यकता है तथा उसकी तुलना में उनका बाह्य भय तुलनात्मक कम महत्त्वपूर्ण हैं। जैसा पहले बताया गया है आन्तरिक आपत्तियों में है कि बहुत व्यक्तियों में मन्त्र (मन्त्रणा) को गुप्त रखना कठिन होता है तथा जिस आपत्ति

का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है वह यह है कि उनके (गणों के) अन्दर भेद उत्पन्न हो जाता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में जिस अध्याय में संघों का वर्णन है उसमें इसी बात का प्रमुख रीति से विवेचन है कि इन संघों में किस प्रकार परस्पर भेद उत्पन्न किया जा सकता है। संक्षेप में महाभारत का और कौटिल्य का भी, यही मत प्रतीत होता है कि संघों का संघटित रहना कठिन होता है। महाभारत के अनुसार यह भेद उनमें परस्पर लोभ (व्यक्तिगत स्वार्थ का प्रयत्न) तथा अमर्ण (ईर्ष्या, असहिष्णुता, क्रोध) के कारण होता है। पहले एक (अथवा कुछ) व्यक्ति लोभ से व्यवहार करता है (अथवा करते हैं) जिससे दूसरों में क्रोध अथवा ईर्ष्या उत्पन्न होती है। ये अपने-अपने पक्ष में सहायक, सेना तथा गुप्तचर संग्रह करने लगते हैं और साम, दान और भेद के द्वारा एक दूसरे के लिये क्षय (जन अर्थात् समर्थकों का नाश), व्यय (अर्थात् धन-नाश) तथा भय उत्पन्न कर एक-दूसरे को कष्ट देते हैं। यद्यपि परस्पर संघर्ष करने वाले ये व्यक्ति जाति अथवा कुल में समान होते हैं (कुलीनतन्त्र में अथवा जनतन्त्र में) परन्तु उद्योग, बुद्धि अथवा द्रव्य में समान होने के कारण शत्रु, दाव और भेद के माध्यम से, उनमें फूट उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार उन पर विजय प्राप्त करना सरल हो जाता है और वे शत्रु के वश में हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में उनका अर्थ-नाश होने लगता है तथा अनर्थ उत्पन्न होता है।

महाभारत में इन गणों अथवा संघों की सुस्थिति बनाये रखने के उपाय भी बताये हैं। इनको संगठित होकर रहना चाहिए जिससे अर्थ-लाभ होगा और अन्य लोग मित्रता करने को इच्छुक रहेंगे। इनमें शास्त्रानुसार धर्मपूर्ण व्यवहार (नियमों) की स्थापना करनी चाहिए, पुत्रों, भाइयों आदि को नियन्त्रण में रखते हुए उन्हें विनयी बनाना चाहिए और जो विनीत हो उन्हीं को ग्रहण करना (अर्थात् महत्त्वपूर्ण स्थानों पर रखना) चाहिए, जो बुद्धिमान, शूर, उत्साही तथा विभिन्न कार्यों को करने में जो स्थिर रूप से पुरुषार्थ करते हैं उनका सम्मान होना चाहिए। गण-प्रमुखों का भी सम्माम होना चाहिये क्योंकि महान लोक-यात्रा (संसार में सफलता पूर्वक जीवन) उन्हीं पर निर्भर हैं; मन्त्र की गुप्तता तथा गुप्तचरों की नियुक्ति प्रधानों के हाथ में रहनी चाहिए तथा सम्पूर्ण गणों को मन्त्र जानने का अधिकार नहीं होना चाहिए। जो एक दूसरे से भेद रखते हुए अपनी शक्ति के आधार पर व्यवहार कर रहे हों उन पर नियन्त्रण करना चाहिए और मन्त्र तथा गुप्तचरों की व्यवस्था में तथा कोष के संग्रह में नित्य लगे रहना चाहिए।

एक अन्य स्थान पर जब श्रीकृष्ण, नारद को बताते हैं कि अन्धक वृष्टि संघ में परस्पर फूट है और प्रमुख लोग उनसे दुर्व्यवहार करते हैं तब नारद उनके उत्तर में कहते हैं कि यदि वह कोई दुष्कर कर्म (संघर्ष) करेंगे तो उससे क्षय और व्यय होगा क्योंकि भेद से संघों का विनाश होता है और श्रीकृष्ण संघ मुख्य हैं।

इस कारण उन्हें ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे संघ का नाश हो। अतः नारद श्रीकृष्ण को परामर्श देते हैं कि उन्हें मृदु शब्द का प्रयोग करना चाहिए अर्थात सहिष्णुता, प्रामाणिकता, सरलता का प्रयोग, सबका यथायोग्य सम्मान और शक्ति के अनुसार अन्नदान (सम्भवतः जीविका दान) करना चाहिए। फिर कहा है "बिना बुद्धि में धैर्य धारण किये, बिना इन्द्रियनिग्रह के तथा बिना धन की त्यागवृत्ति के गण बुद्धिमानों के आधीन नहीं होता है अर्थात गण के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिए गण प्रमुखों में यह गुण आवश्यक है। इसी प्रकार कौटिल्य ने भी यही कहा है कि संघ प्रमुखों को चाहिए कि वह संघ में न्यायवृत्तिपूर्वक, हितकारक, प्रिय, इन्द्रिय को वश में करने वाले, सबके चित्त के अनुसार चलने वाले रहें तथा अपने योग्य अनुयायी रखें।" इसके पूर्व के सूत्र में कौटिल्य ने कहा है कि "उपरोक्त बातों का निवारण कर एक राजा से संघ की रक्षा करनी चाहिए" जिससे यह अर्थ निकलता है कि संघ की रक्षा तभी हो सकती है जब सघ प्रमुख इस प्रकार के गुण वाले होंगे।

संक्षेप में, भारतीय विचार में विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियों की भी कल्पना है और यद्यपि संघराज्यों के संरक्षण के उपाय बताये गये हैं तथा यह माना गया है कि यदि यह शासन-पद्धति सफल होगी तो बहुत अच्छी होगी, फिर भी साधारणतया ऊपर बताये गये कारणों के आधार पर यह मान्यता प्रतीत होती है कि इस प्रकार की शासनपद्धतियों का सफलतापूर्वक कार्य कर पाना कठिन है। सम्भवतः यह एक कारण है जिससे इन पद्धतियों का ज्ञान होने पर भी इनका विवेचन बहुत कम, एक-दो स्थानों पर दिखाई देता है और वहाँ भी इनके दोषों का ही विवेचन अधिक है।

अध्याय ६

राज्य का प्रशासन

१. सप्ताङ्ग

भारतीय विचारानुसार राज्य के सप्ताङ्ग—अभी तक राज्य व्यवस्था में जिस राजा का वर्णन किया है वह भारतीय व्यवस्था के अनुसार राज्य का एक अंग है, यद्यपि वह सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके अतिरिक्त राज्य के छः अन्य अंग बताये गये हैं—अमात्य, दुर्ग, राष्ट्र, कोश, दण्ड तथा मित्र। इन अंगों को कुछ लोगों ने (कौटिल्य, विष्णु धर्मसूत्र), प्रकृति के नाम से सम्बोधित किया है। इसके अतिरिक्त सबों ने राजा को स्वामी कहा है। मनु तथा शान्तिपर्व में दुर्ग को 'पुर' कहते हैं; राष्ट्र को याज्ञवल्क्य स्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, अग्निपुराण तथा शान्तिपर्व में "जन-पद" कहा गया है; कामन्दक तथा शुक्र ने दण्ड के स्थान पर "बल" शब्द का प्रयोग किया है तथा "मित्र" को मनु, कामन्दक और शुक्र "सुहृत्" कहते हैं। इन सप्तांगों का क्रम भी विभिन्न ग्रन्थों ने कुछ मात्रा में अलग रखा है, यद्यपि 'स्वामी' और 'अमात्य' को सबने प्रारम्भ में रखा है तथा 'मित्र' को शान्तिपर्व के अतिरिक्त अन्य सब ग्रन्थों में अन्त में रखा है। कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा अग्निपुराण में तो यह नाम एक ही क्रम में दिये हैं—स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र। इस क्रम की तुलना में मनुस्मृति में केवल 'पुर' और 'राष्ट्र' को तथा मत्स्य पुराण में केवल 'कोश' और 'दण्ड' को एक दूसरे के स्थान पर बदल कर रख दिया है। विष्णु धर्मसूत्र में केवल 'राष्ट्र' को सबसे अन्त में रख दिया है 'मित्र' से पहले। शान्तिपर्व में 'कोश', 'दण्ड', 'मित्र' को पहले रखकर 'जनपद' और 'पुर' को अन्त में कर दिया है और शुक्रनीति में 'सुहृत्' को 'स्वामी' और 'अमात्य' के बाद रखकर फिर 'कोश' को रख दिया है। मनुस्मृति, मत्स्य पुराण, विष्णुधर्मसूत्र में 'जनपद', 'दुर्ग', 'कोश', 'दण्ड' के परिवर्तित क्रमों का कोई विशेष कारण नहीं होता, अपितु यह परिवर्तन इतना कम है कि बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। अतः यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो शान्तिपर्व और शुक्रनीति को छोड़कर किसी ग्रन्थ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है और इन दो ग्रन्थों में दो-दो अंग का क्रम ही परिवर्तित किया गया है (शान्तिपर्व जनपद और पुर; शुक्रनीति-सुहृत् और कोश)। इन परिवर्तनों के कारण का अनुमान लगाया जा सकता है परन्तु उसका कोई विशेष उपयोग नहीं है। इसमें मनुस्मृति और कौटिलीय अर्थशास्त्र में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन अंगों का यह क्रम इनके महत्त्व के अनुसार है। इससे

यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुस्मृति में और अर्थशास्त्र में पुर (दुर्ग) और राष्ट्र (जनपद) के तुलनात्मक महत्त्व के विषय में मतभेद है। परन्तु कौटिल्य के द्वारा यह कहकर यह महत्त्व बहुत कम कर दिया गया है कि एक विशेष स्थिति में दुर्ग महत्त्वपूर्ण है और दूसरी स्थिति में जनपद। भारतीय विचारकों ने इन सप्त प्रकृतियों का उल्लेख अथवा राज्य का इन सात अंगों में विभाजन राज्य की व्यावहारिक आवश्यकता का ध्यान रख कर किया था। यह स्पष्ट है कि राज्य को एक सर्वोच्च प्रतिनिधि अथवा शासक अथवा नियंत्रणकर्त्ता की आवश्यकता होती है (राजा)। परन्तु उसके साथ उस सर्वोच्च व्यक्ति की सहायता के लिये तथा शासन के विभिन्न अंगों का भार संभालने के लिये सहायक भी आवश्यक हैं (मन्त्री)। फिर जनपद (राष्ट्र) अर्थात् जनसंख्या और क्षेत्र के बिना तो राज्य का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। इसके अतिरिक्त राज्य न तो कोष के बिना चल सकता है न सेना के ही बिना और राज्य-शासन के लिये 'पुर' (राजधानी) की भी आवश्यकता है जिसको इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उसे 'दुर्ग' कहा जा सके। सबसे अन्त में यदि किसी राज्य के अन्तर्राज्य सम्बन्ध हैं और वह राज्य के लिये अनिवार्य ही है तो राजा को अन्य राजाओं में से कुछ को अपना मित्र बनाना ही पड़ेगा और उन मित्रों (सुहृद्) को राज्य से पृथक न मानकर भारतीय राजनीति शास्त्र में व्यावहारिक विचार करने के लिये, राज्य का ही एक अंग माना है। इस व्यावहारिक विश्लेषण के कारण भारतीय विचार में राज्य के इन अंगों अथवा प्रकृतियों का विवेचन वर्तमान काल के राजनीति शास्त्र के अंगों (Organs)—कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायकमण्डल, अथवा प्रकृतियों (elements), जनसंख्या, क्षेत्र, शासन तथा प्रभुसत्ता के विवेचन से भिन्न है (विस्तार से देखिये अध्याय १२ आगे)।

सप्ताङ्गों की आवश्यकता और कार्य—राज्य के इन सातों अंगों की व्यावहारिक आवश्यकता और महत्त्व अर्थात इन सातों बातों को राज्य का अंग क्यों माना गया है इसका कारण और उनके बिना अथवा इनके दोष पूर्ण होने से राज्य के अस्तित्व को होने वाली हानि राजनीति के भारतीय ग्रन्थों में सविस्तार वर्णित है। राजा का महत्त्व उसके शरीर-रक्षा के वर्णन में पीछे बताया गया है। इसी के सम्बन्ध में कौटिल्य का कहना है कि "आत्मवान नृप असम्पन्न प्रकृतियों को भी योग्य बना लेता है और यदि राजा अनात्मवान रहा तो वह वृद्धिशील और (राजा में) अनुरक्त (अन्य) प्रकृतियों का भी नाश कर देता है"। मन्त्रियों की आवश्यकता यह बताई गई है कि मन्त्रणा देना, मन्त्रणा का फल प्राप्त करना (अर्थात मन्त्रणा को कार्यान्वित करना), कर्मों का सचालन करना, आय-व्यय की व्यवस्था करना, दण्ड का (स्वराज्य में तथा पर-राज्य में) ठीक से प्रयोग करना, शत्रुओं तथा डाकुओं की रोकथाम करना, राज्य का रक्षण करना, व्यसनों (राज्य के अन्दर उत्पन्न हुए दोषों तथा संकटों और विभिन्न प्रकृतियों के दोषों का प्रतिकार करना), कुमारों की रक्षा करना तथा (आवश्यकता पड़ने पर) उनका अभिषेक करना और कुमारों को

मर्यादा में रखना ये—मन्त्रियों के काम हैं इनके अतिरिक्त मंत्री पर ये सभी काम निर्भर है—राज्य के सभी कार्यों की पूर्ति, अपना तथा दूसरे राज्य के योगक्षेम का साधन, राज्य के तथा उसके विविध अंगों के दोषों (व्यसनों) का प्रतिकार, शून्य क्षेत्रों को बसाना तथा उनका विकास करना तथा दण्ड, कर और अनुग्रह की व्यवस्था करना। मंत्रियों की आवश्यकता और महत्त्व का उल्लेख वाद में भी मंत्रियों के वर्णन में किया जायगा। राष्ट्र-वर्णन में भूमि के महत्त्व से विषय में कहा गया है कि "पृथ्वी के गुण राष्ट्र की वृद्धि होती है और राष्ट्र की वृद्धि नृप की वृद्धि के लिये है। अतः अपने कल्याण के लिये राजा भूमि को गुणवती वनाये। फिर प्रजा का महत्त्व वताते हुये कहा गया है कि सोना, अन्न, वस्त्र, वाहन तथा अन्य सव द्रव्य प्रजा से ही सम्भव होते हैं, प्रजा से ही वार्ता (कृषि, व्यापार आदि) का साधन होता है तथा वार्ता से ही संसार को सहारा मिलता हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से निर्मित राष्ट्र के महत्व के भी सम्वन्ध में कहा गया है कि राष्ट्र के ही आधार पर राज्य के सभी अंगों की वृद्धि संभव है। इसलिए राजा सभी प्रयत्नों से राष्ट्र की उन्नति करे। दुर्ग की आवश्यकता यह वतलाई गई है कि दुर्ग के कारण राजा का, प्रजा का और कोप का संरक्षण होता है, उससे युद्ध वहुत अच्छी प्रकार से लड़ा जा सकता है और दुर्ग में रहने के कारण राजास्वपक्ष और परपक्ष द्वारा सम्मानित रहता है। कोष इसलिये आवश्यक है कि कर्मचारियों का भरण-पोषण, दान, भूषण, वाहनों (घोड़े, हाथी आदि) का क्रय, स्थिरता, शत्रु को पीड़ित करना तथा दुर्गों को ठीक रखना, पुल का बाँधना, व्यापार, प्रजा, मित्र को वश में रखना, तथा धर्म, अर्थ काम की सिद्धि—ये सब कोष पर निर्भर हैं तथा उसके कारण राजा अपने क्षीण वल को बढ़ा लेता है। स्वयं प्रजा के ऊपर अधिकार कर लेता है तथा शत्रुओं को भी अपने आश्रित कर लेता हैं। सेना का यह उपयोग है कि मित्र, धन, भूमि की वृद्धि शीघ्र करना, तथा जो है उसका रक्षण कर शत्रु के चक्र को नाश करना, मित्रों को वश में रखना, शत्रुओं को मित्र बनाना तथा आवश्यकता पड़ने पर उनका नाश करना, पृथ्वी का भोग करना—ये सब सेना पर निर्भर हैं। शुक्र ने कहा है कि "सेना के बिना न राज्य हैं, न धन है, न पराक्रम है। साधारण मनुष्य भी वलवान हो तो उसके वश में सव रहते हैं तथा दुर्वल हो तो उसके सव शत्रु हो जाते हैं। फिर राजा के सम्वन्ध में ऐसा क्यों न होगा ?" मित्र के लाभ वतलाते हुये कौटिल्य ने कहा है कि वह विना धन लिये सव कर्म करता है, पार्ष्णिग्राह (आगे से आक्रमण होने पर पीछे रहने वाले शत्रु), शत्रु, बनवासियों के प्रतिकार करने में समर्थ होता है तथा कोष, सेना, भूमि के लिये सहायक होता है और व्यसनों को दूर करने में समर्थ होता है। याज्ञवल्क्य तथा मनु का कहना है कि मित्र का लाभ सुवर्ण और भूमि के लाभ से अधिक उत्तम है।

सप्ताङ्गों के आवश्यक गुण—इन अंगों के गुणों का तथा उनके अन्दर

उत्पन्न होने वाले दोषों (व्यवसन) का भी भारतीय राजनीतिक विचारकों ने विस्तार के साथ वर्णन किया है। इनमें राजा के गुण-दोष पीछे बता ही दिये गये हैं। अमात्यों के गुण भी यद्यपि राज्य-व्यवस्था का वर्णन करने वाले सभी ग्रन्थों में वर्णित है परन्तु यहाँ केवल शान्तिपर्व का उद्धरण दिया जाता है। "कुलीन, शिक्षित बुद्धिमान, ज्ञान, विज्ञान का जानने वाला तथा सभी शास्त्रों के तत्व का ज्ञाता, सहिष्णु, अपने ही देश में उत्पन्न, कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, निग्रही, जितेन्द्रिय, अलुब्ध, सन्तोषी, स्वामी का और मित्र (राजा) का कल्याण करने वाला, देश-काल को जानने वाला, सत्य-व्यवहार में तत्पर, सदा सावधान, हितैषी, तन्द्रा-रहित, अपने विषय में योग्य आचार करने वाला, सन्धि-निग्रह को जानने वाला, राजा के धर्म, अर्थ, काम का ज्ञाता, जनता को (पुर तथा जनपदवासियों को) प्रिय, युद्ध के व्यूहों को जानने वाला, सेना को उत्साह देने में कुशल, इंगित और आकार को समझने वाला, चढ़ाई के ज्ञान में विशारद, हस्ती-विद्या के तत्व को अच्छी प्रकार से जानने वाला, अहंकार शून्य, प्रगल्भ, दक्ष, दमनशील, बली, योग्य उपाय करने वाला, शुद्ध हृदय तथा वैसे ही व्यक्तियों के साथ में रहने वाला, कोमल, मृदुभाषी, शूर, बहुत समृद्धि वाला तथा देश और काल के अनुसार व्यवहार करने वाला होना चाहिये"। राष्ट्र (जनपद) के गुण हैं। अन्न और खानों से पूर्ण व्यापार और खनिज-द्रव्य (हीरे-सोने आदि) से समन्वित, गौओं (पशुओं) के लिये हितकारी, बहुत जलवाली, पवित्र स्थानों से युक्त, सुन्दर हाथियों के बनवाली, जल-स्थल के मार्गों से समन्वित बिना वर्षा के अन्न देने वाली भूमि ऐश्वर्य कारिणी होती है। कंकड़, पत्थर, चट्टानों से तथा वनों से ही भरी भूमि, जिसमें चोर रहते हैं, रूखी है (अर्थात ऊपर है), कंटकाकीर्ण बनवाली, सर्पों से युक्त भूमि अच्छी नहीं होती। अपने आप ही जीविका कमा लेने वाले, अथवा अच्छी जीविका वाले, पृथ्वी के अनुसार गुणों से युक्त, शूद्र, कारीगर, वैश्यों और परिश्रम करने वाले कृषकों से युक्त, जिससे लोग प्रेम करने वाले हैं, शत्रु से द्वेष रखते हैं (शत्रु का आक्रमण अथवा राज्य सहने को तत्पर नहीं हैं) कष्ट-सहिष्णु हैं, कर का बोझा उठाने में तत्पर हैं, विशाल-हृदय हैं, बहुत देशों से आये हुये हैं, धार्मिक हैं, पशु रखने वाले हैं, धनी हैं और जिस देश का नायक मूर्ख, व्यसनी नहीं है, वह जनपद प्रशंसा के योग्य है और उसको प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिये क्योंकि उससे सबकी वृद्धि होती है"। दुर्ग के गुण भी बहुत से स्थानों पर बताये गये हैं; यथा कहा गया है कि युद्ध की सामग्रियों से भरपूर, धान्य, शूरवीर, कोष अस्त्र, से पुष्ट, सहायकों के पुष्ट दुर्ग श्रेष्ठतम है, उसे राजा धारण करे और उस दुर्ग के आधार पर विजय निश्चित है। दुर्ग के अतिरिक्त पुर के गुण यह है कि "विशाल सीमा वाला, बड़ी खाइयों और दीवालों से घिरा हुआ, पर्वत, नदी और घने वन के आश्रम में बना हुआ पुर बसाया जाय। कोष का गुण कौटिल्य ने यह बताया है कि स्वयं अथवा पूर्वजों द्वारा धर्मपूर्वक प्राप्त किया हुआ, सुवर्ण और चांदी से भरा हुआ, अनोखे तथा बड़े रत्नों से भरपूर, दीर्घकाल तक रहने वाली आपत्ति को

भी सहने में समर्थ—ऐसा कोष होना चाहिये तथा इसके अतिरिक्त कामन्दक ने यह भी गुण बताया है कि कोष में आय अधिक होनी चाहिये तथा व्यय कम और वह सुहृदय तथा योग्य अध्यक्ष के आधीन होना चाहिये। इसी प्रकार सेना का भी गुण बतलाते हुये कौटिल्य कहते हैं कि 'पिता और पितामह के समय से चली आने वाली सदैव वंश में रहने वाली जिसके सैनिक तथा उनके सभी, बालक सन्तुष्ट हैं, प्रवास करने में समर्थ, सर्वत्र अजेय रहने वाली, दु:ख सह, बहुत युद्ध लड़ी हुई, सभी युद्ध के शस्त्रों के प्रयोग में विशारद, वृद्धि और क्षय में साथ रहने वाली, जिसमे भेद डालना सम्भव नहीं है, तथा क्षत्रियों से प्रमुख रूप में संयुक्त यह सेना के गुण हैं। मित्र में निम्नगुण आवश्यक हैं कि "त्याग, विज्ञान और सत्वगुण सम्पन्न, राजा का पक्ष लेने वाला, प्रियवादी, अर्थ उत्पन्न करने में समर्थ जिसके साथ भेद नहीं डाला जा सकता है तथा सत्कुली व्यक्ति को मित्र बनाना चाहिये। पिता पितामह के समय से चला आने वाला, नित्य बड़े तथा धीरे उत्थान में भी (अच्छे बुरे समय में) हृदय से साथ रहने वाले मित्र की मित्रता के लिये इच्छा की जाती है।

सप्ताङ्गों के व्यसन (दोष)—राज्य के इन सातों अंगों के गुण बताने के साथ इनके अन्दर उत्पन्न होने वाले दोष अथवा दुर्गुण भी बताये गये हैं जिन्हें व्यसन नाम दिया है। कौटिल्य ने तो एक पूरा अधिकरण (आठवां) ही इन प्रकृतियों के व्यसनों के सम्बन्ध में लिखा है जिसके पहले अध्याय में विभिन्न प्रकृतियों के व्यसनों में किसका पतन तुलनात्मक अधिक हानिकारक है यह विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में राजा राज्य (जनपद) के विभिन्न व्यसन बताये हैं। तीसरे अध्याय में राजा के सात व्यसन वर्णित हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया ही गया है, चौथे अध्याय में राष्ट्र के व्यसन बताये हैं तथा पाँचवें अध्याय में सेना और मित्र के व्यसन उल्लिखित हैं। संक्षेप में और अच्छी प्रकार से कामन्दकीय नीतिसार में तथा अग्नि-पुराण में यह व्यसन वर्णित हैं। राजा के सात व्यसन (वाक, पारुष्य, दण्डपारुष्य, अर्थदूषण, मद्यपान, स्त्री-संसर्ग, मृगया, धूत) वर्णित करने के पश्चात् जिन्हें ऊपर विस्तारपूर्वक बताया गया है फिर आगे अन्य प्रकृतियों के व्यसन निम्न बताये हैं— "आलस्य, जड़ता, घमण्ड, प्रमाद, वैर करना—ये सचिव के व्यसन हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टीड्ढ़ी, चूहे, तोते, असत्यपूर्ण दण्ड, शत्रु का चक्र, चोर, राजा द्वारा सेना की प्रियता का त्याग, रोग, पशुओं का मरण—ये राष्ट्र के व्यसन हैं। मंत्र प्राकार (बाहरी दीवाल) और खाई का नष्ट होना, शस्त्र न रहना, अन्न, वस्त्र और ईंधन का न होना —ये दुर्ग के व्यसन हैं। सम्पूर्ण व्यय हो जाना, अपव्यय करना, बलपूर्वक लेना, ठीक से इकट्ठा न करना, चोरी हो जाना तथा दूर स्थान पर रहना ये कोष के व्यसन हैं। दैव से पीड़ित होना, शत्रु की सेवा से ग्रस्त होना, काम, क्रोध से युक्त होना—ये मित्र के दोष कहे गये हैं। रुकी हुई, बिखरी हुई, भर्त्सना की हुई, अपमानित, बिना वेतन के, रोग से पीड़ित, थकी हुई, दूर से आई हुई, नई भर्ती की हुई, जो क्षीण हो गई हो, नायक-रहित, हत वेग वाली, जिसकी आशा बार-बार नष्ट हुई हो,

जिससे असत्य बोला गया हो, जिसके साथ स्त्रियाँ हों, विक्षिप्त हो, जिसके अन्तर में कोई काँटा चुभा हो (कोई शिकायत हो अथवा भेदिया हो) जिसका व्यूह नष्ट हो गया हो, जो छिन्नविच्छिन्न हो गई हो, जो त्यक्त हो, क्रुद्ध हो; शत्रु से मिली हो, दूषित व्यक्तियों से युक्त हो, स्वयं के (राजा के) अथवा मित्र के द्वारा विक्षिप्त हो, जिसका मूल नष्ट हो गया हो (सामग्री प्राप्त न होती हो), जिसके साथ में स्वामी न हो, अथवा धान्य न हो, बुरे पार्ष्णिग्राह (पीछे के शत्रु) से अन्ध की गई हो—ये सेना के व्यसन हैं।

सप्ताङ्गों का तुलनात्मक महत्व– राज्य के इन अंगों की बताये गये दोषों (व्यसनों) से रक्षा आवश्यक है। अग्नि पुराण में कहा है कि इन सप्तांगों को हानि पहुँचाने वाले को नष्ट कर देना चाहिये। यदि प्रकृतियों के इन व्यसनों को दूर न किया जाय और इनकी उपेक्षा की गई तो उपेक्षा करने वाले राजा का शत्रुओं द्वारा पराभव होता है और इसके विपरीत, यदि वह इनके छिद्रों को नीति से ढक देता है तथा इन्हें कार्य में ठीक से लगा देता है तो वह राजा चिरकाल तक त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का भोग करता है। इसलिये कौटिल्य ने कहा है कि जिन कारणों से प्रकृतियों में व्यसन उत्पन्न होते हैं उनको तन्द्रारहित होकर पहले ही दूर कर देना चाहिये। परन्तु, यदि यह समस्या उत्पन्न हो कि इन प्रकृतियों में किसके व्यसनों को अधिक महत्त्व दिया जाय अर्थात् कौन-सी प्रकृति अधिक महत्त्वपूर्ण है तो मनु के अनुसार राजा, अमात्य, पुर (दुर्ग), राष्ट्र, कोश, दण्ड और मित्र इनमें से पहले-पहले का व्यसन बाद की प्रकृतियों के व्यसनों से अधिक महत्वपूर्ण है। कौटिल्य तथा कामन्दक ने यही श्रेणी स्वीकार की है, केवल पुर और राष्ट्र का क्रम पारस्परिक बदल दिया है। इन सब में भी राजा का व्यसन बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि राजा व्यसनी न हुआ तो वह राज्य के व्यसन को दूर करने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा वह ऐसा नहीं कर सकता है। कौटिल्य तो राजा को ही राज्य का स्वरूप बताता है तथा शुक्र में कहा है कि जिस प्रकार वृक्ष का मूल सूखने पर उसकी शाखा सूख जाती है उसी प्रकार राजा के पास सेनापति आदि भी शीघ्र अथवा देर से नष्ट हो जाते हैं। फिर भी ऐसा नहीं समझना चाहिये कि किसी भी अंग के व्यसन की उपेक्षा की जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार दण्डों के एक समूह को खड़ा किया जाये तो एक दूसरे के आधार पर टिके रहते हैं उसी प्रकार राज्य के भी प्रत्येक अङ्ग के अपने-अपने गुण हैं और इस प्रकार वे सब एक-दूसरे की कमी की पूर्ति करते हुए अन्योन्याश्रित हैं और इस प्रकार एक दूसरे के समान ही हैं। एक अंग के विफल हो जाने पर राज्य अव्यवस्थित हो जाता है और क्योंकि जो कार्य जिस अंग से पूर्ण होता है उस कर्म की दृष्टि से वह अंग श्रेष्ठ है। अतः यदि एक प्रकृति के व्यसन से अन्य भी प्रकृतियों का विनाश होता है तो चाहे वह प्रकृति प्रधान हो अथवा अप्रधान, उसका व्यसन महत्त्वपूर्ण है।

कौटिल्य ने विभिन्न अंगों के तुलनात्मक महत्व का निरूपण विस्तारपूर्वक

किया है। उसने उनके महत्व के क्रमों का वर्णन 'आचार्यों' के मत के रूप में किया है (ऊपर बताया गया) और वह स्वयं भी उनके मत का समर्थक है। तत्पश्चात उसने उस क्रम के विरोधी विचारकों के विचारों का वर्णन और उनका खण्डन (अर्थात् अपने अथवा आचार्यों के मत का मण्डन) युक्तियाँ देकर किया है। ऐसा सब करने में कौटिल्य का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि इन विविध अंगों के कार्यों का और उनके उन कार्यों के कारण उनके महद्त्व का विस्तृत विवेचन हो जाये। सबसे पहले वह भारद्वाज के मत का वर्णन करता है कि स्वामी की तुलना में मन्त्री का व्यसन अधिक गम्भीर है क्योंकि मन्त्री बहुत प्रकार के कार्य करता है, जैसे—राज्य की रक्षा की व्यवस्था करना, विविध आपत्तियों को दूर करना, मन्त्रणा देना और उसके फल की प्राप्ति कराना, विविध प्रकार के कार्यों का अनुष्ठान करना, आय-व्यय का कार्य देखना तथा सेना का आवश्यक प्रयोग करना। मन्त्री के अभाव में यह सब कार्य रह जाते हैं तथा पंख कटे पक्षी के समान राजा के सब प्रयत्न समाप्त हो जाते हैं। मन्त्री के व्यसन (आपत्ति, दोष) के कारण शत्रु के गुप्त षडयन्त्र सम्भव हैं। मन्त्री के विरुद्ध हो जाने पर राजा को प्राणों का संकट है क्योंकि वह राजा के प्राण लेने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। कौटिल्य, भारद्वाज के इस मत को स्वीकार नहीं करता क्योंकि उसके अनुसार राजा ही सब प्रकृतियों (अंगों) का मूल है। वही मन्त्री, पुरोहित आदि अन्य सब कर्मचारियों की नियुक्ति करता है, यदि कुछ अमात्य व्यसनपूर्ण (दोषपूर्ण अथवा आपत्तिग्रस्त) हो गये हों तो उनके स्थान पर अन्य व्यसनहीन अमात्यों को स्थापित करता है और विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का कार्य संचालित करता है। इसके अतिरिक्त वह पूजनीयों (सज्जन व्यक्तियों) के सत्कार और दूष्टों (दुष्टों अथवा षडयन्त्रकारियों) के दमन में नित्य उद्यत रहता है। राजा सभी प्रकृतियों के, चाहे वे पुरुष-प्रकृति हों (मन्त्री, सुहृत, सेना) अथवा द्रव्य-प्रकृति हों (कोष, दुर्ग, राष्ट्र) व्यसनों का प्रतिकार करता है तथा उनकी उन्नति करता है, सभी प्रकृतियों का शील (गुण), राजा के शील के समान हो जाता है अर्थात् यदि राजा उत्थानशील है तो प्रकृति भी उत्थान के गुणों से परिपूर्ण हो जाती है और यदि राजा में प्रमाद है तो प्रकृतियों में भी प्रमाद छा जाता है। संक्षेप में, विशेष रूप से मन्त्री आदि कर्मचारीगण का तथा साधारण रूप से सभी प्रकृतियों का उत्थान और क्षय राजा पर निर्भर करता है अतः राजा का व्यसन (आपत्ति) मन्त्रियों के व्यसन से गुरुतर है। दूसरा मत विशालाक्ष का है। उसके अनुसार जनपद (राष्ट्र) का व्यसन अमात्य के व्यसन से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कोश, सेना, श्रमिकगण, विभिन्न वस्तुओं का संग्रह वन, जिस में से प्राप्त होने वाली वस्तुएँ भी सम्मिलित हैं और यातायात के साधन जनपद से ही प्राप्त होते हैं। यदि जनपद न रहे तो इन आवश्यक वस्तुओं के अभाव में स्वामी और अमात्य का अस्तित्व भी न रहे। इसका अर्थ है कि जनपद पर कोश और सेना का अस्तित्व निर्भर है और कोष तथा सेना पर स्वामी और अमात्य का।

दूसरे शब्दों में विशालाक्ष के अनुसार स्वामी और अमात्य का स्थान जनपद, कोष और सेना के पश्चात आना चाहिए। कौटिल्य इस मत का विरोध करता है। उसके अनुसार अमात्य राज्य के सभी कार्यों को प्रारम्भ करता है। उसी के द्वारा जन-शून्य स्थानों को बसाये जाने और उनके विकास की व्यवस्था होती है। यह विकास, वह दण्ड, कर और अनुग्रह के उचित प्रयोग के द्वारा उस क्षेत्र के योगक्षेम के साधन द्वारा, अपने मित्रों के योगक्षेम का साधन करके जिनके द्वारा इस क्षेत्र के योगक्षेम की वृद्धि में भी सहायता मिलेगी, इस जनपद के तथा प्रकृतियों के व्यसनों का प्रतिकार कर और जनपद के समस्त कार्यों को सम्पन्न कर, कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि जनपद से राज्य के विकास के लिये बहुत से साधन प्राप्त हो सकते होंगे परन्तु इन साधनों की प्राप्ति तभी सम्भव होगी जब अमात्य जनपद की उचित व्यवस्था करेगा अन्यथा जनपद के रहते हुए भी राष्ट्र का उत्थान नहीं होगा, अपितु उसका ह्रास ही होगा। दुर्ग और जनपद के व्यसनों में दुर्ग के व्यसनों के गुरुतर होने के विषय में पराशर और उसके अनुयायियों के तर्कों का कौटिल्य सीधे खण्डन करता है। पाराशरों का कहना है कि कोष और सेना की उत्पत्ति का स्थान दुर्ग है, अर्थात् राज्य की सम्पत्ति मुख्यतया नगरों से प्राप्त होती है और कुछ मात्रा में उस कोष के आधार पर ही सेना खड़ी की जा सकती है, परन्तु कौटिल्य कहता है कि कोष और सेना ही नहीं, वार्ता (जिसमें व्यापार भी सम्मिलित है) और दुर्ग का मूल भी जनपद है, जिसका अभिप्राय यह है कि जनपद के आधार पर ही नगरों का निर्माण हुआ है और उनका व्यापार टिका रहता है। इसलिए कोष और सेना का भी मूल दुर्ग नहीं हो सकता। पाराशरों के इस तर्क के उत्तर में, कि नगरवासी जनपद (ग्रामीण क्षेत्रों के) निवासियों से अधिक शक्तिशाली होते हैं तथा राजा की आपत्ति में सदैव सहायक होते हैं, कौटिल्य का कहना है कि शौर्य, दृढ़ता, दक्षता तथा संख्या की बहुलता जनपद निवासियों में मिलती है। इसलिए सेना का तथा राजा की आपत्ति में सहायता का प्रमुख स्थान भी जनपद ही है। परन्तु कौटिल्य का कहना है कि पर्वत पर बसे दुर्ग और द्वीप के बीच में बसे दुर्ग जनपद के अभाव में भी सुरक्षित रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त जिस राज्य में कृषकों का बाहुल्य है, जो सम्भवतः अपने काम में लगे रहते हैं, वहाँ दुर्ग का व्यसन अधिक महत्त्वपूर्ण है, परन्तु जिस जनपद के अधिकांश निवासी योद्धा है अर्थात् अपने नियमित व्यवसाय के साथ-साथ युद्ध के लिये भी सन्नद्ध रहते हैं वहां जनपद का व्यसन अधिक महत्त्व-पूर्ण है। पाराशरों का एक तर्क और है, जिसका कौटिल्य उत्तर नहीं देता, कि जनपद निवासी साधारणतया अमित्र होते हैं। सम्भवतः वह इस तर्क को इतना उपेक्षणीय मानता है कि उसका उत्तर देना भी उसे आवश्यक नहीं लगता। इसके आगे कौटिल्य पिशुन के उन तर्कों का खण्डन करता है जिन तर्कों के द्वारा पिशुन यह सिद्ध करना चाहता है कि कोष का संकट दुर्ग के संकट से बड़ा है। पिशुन का का तर्क है कि दुर्ग की मरम्मत और दुर्ग की रक्षा कोष पर निर्भर है, पर कौटिल्य

का कहना है कि कोष (की प्राप्ति और सुरक्षा) दुर्ग पर निर्भर है। पिशुन का कहना है कि जनपद पर तथा मित्र और शत्रु पर नियन्त्रण, देश से दूर स्थित लोगों को प्रोत्साहित करना और सेना की शक्ति का प्रयोग कोष के द्वारा सम्भव है, पर कौटिल्य का मत है कि अपने पक्ष (जनपद) तथा मित्र पर नियन्त्रण, शत्रु और वनवासी जातियों का प्रतिरोध, सेना की सुस्थिति और सेना की शक्ति का प्रयोग दुर्ग पर आधारित है। पिशुन कहता है कि कोष के माध्यम से शत्रु द्वारा गुप्त षडयन्त्र कर, दुर्ग पर नियन्त्रण करना सम्भव है। इसके विपरीत कौटिल्य कहता है कि दुर्ग के अभाव में कोष शत्रु का हो जाता है। पिशुन का अन्तिम तर्क है कि आपत्ति में कोष को अपने साथ ले जाया जा सकता है, दुर्ग को नहीं। कौटिल्य का उत्तर है कि जो दुर्ग के स्वामी हैं, उनका साधारणतया उच्छेद नहीं होता। कौणपदन्त के विचार से कोष और दण्ड (सेना) के व्यसन में दण्ड का व्यसन गुरुतर है क्योंकि सेना के अभाव में कोष का विनाश निश्चित है और कोष के न रहने पर भी भूमि अथवा वन से उत्पन्न वस्तुओं को देकर (अथवा बेचकर) अथवा सेना को (सेना में भरती होने वाले व्यक्तियों को) शत्रु की भूमि पर अधिकार करने की स्वतन्त्रता देकर सेना का संग्रह करना सम्भव है। इसके अतिरिक्त क्योंकि सेना के अधिकारी राजा के उतने ही समीप रहते हैं और इस कारण उतने ही निकट से परामर्श देते हैं, जैसे अमात्य, अतः सेना का महत्त्व उतना ही है जितना अमात्य का। मित्र और शत्रु पर नियन्त्रण तथा दूसरे की सेना को प्रोत्साहित करना (सम्भवतः विरोध के लिए) और अपनी सेना की शक्ति में वृद्धि करना भी सेना के द्वारा ही सम्भव है। कौटिल्य कहता है कि कोष के न रहने पर अर्थात् वेतन न मिलने पर सेना या तो शत्रु के साथ मिल जाती है अथवा राजा को मार डालती है और क्योंकि कोष के द्वारा सभी कार्यों को सम्पन्न करना सम्भव है इसलिए कोष (अर्थ) धर्म और काम का भी आधार है। फिर भी कौटिल्य का विचार है कि देश, काल और कार्य के अनुसार कभी कोष का महत्त्व अधिक हो जाता है, कभी सेना का, क्योंकि कोष के द्वारा सेना का संग्रह और परिचालन और सेना के द्वारा कोष को प्राप्त करना और उसकी रक्षा करना सम्भव है। अन्तिम बात का यह निष्कर्ष निकलता है कि कौटिल्य के मत में दोनों लगभग समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं यद्यपि कोष के द्वारा विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि होने से कुछ मात्रा में कोष का महत्व अधिक है। वातव्याधि दण्ड के व्यसन की तुलना में मित्र का व्यसन अधिक महत्वपूर्ण बताता है क्योंकि मित्र बिना धन के ही कार्य नहीं करता, वह कोष, सेना, भूमि आदि के द्वारा सहायता देता है, आपत्तियों में साथ देता है और शत्रु तथा उसके सहयोगियों को रोकता है। कौटिल्य यहाँ भी कहता है कि देशकाल के अनुसार तथा दोनों की तुलनात्मक शक्ति के आधार पर अलग-अलग स्थितियों में कभी दण्ड अधिक महत्त्वपूर्ण है, कभी मित्र, यद्यपि मित्र की तुलना में दण्ड के कुछ लाभ अधिक हैं, जैसे शीघ्र अभियान लेना हो अथवा आन्तरिक स्थिति पर नियन्त्रण करना हो तो

मित्र का उपयोग नहीं है। फिर, दोनों पर आपत्ति साथ में आने पर अथवा शत्रु की वृद्धि होने पर मित्र अपना लाभ देखकर व्यवहार करता है। इतना ही नहीं, जिसके पास सेना है, उसी का मित्र, मित्र बना रहता है तथा शत्रु भी मित्र बन जाता है। इस प्रकार अन्तिम दो तुलनाओं में यद्यपि कुछ मात्रा में, कौटिल्य कोष को सेना से तथा सेना को मित्र से अधिक महत्त्वपूर्ण बताता है, परन्तु फिर भी परिस्थिति के अनुसार कोष और सेना को तथा इससे थोड़ी कम मात्रा में सेना और मित्र को समान महत्वपूर्ण मानता है।

राज्य की शरीर से तुलना (Organic Nature of the State)—इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय विचारक समाज के ही समान राज्य को भी शरीर रूप (Organic) मानते हैं। इसलिये उपर्युक्त सात प्रकृतियों को राज्य का अंग कहा गया है। शुक्र ने तो यह स्पष्ट रूप से कहा है और राज्य की शरीर से पूर्णोपमा देते हुए बताया है कि राज्य के सिर के रूप में राजा है, अमात्य उसके नेत्र हैं, मित्र कर्ण हैं, कोष मुख है, सेना मन है, और दुर्ग तथा राष्ट्र हाथ-पैर हैं तथा अन्यत्र शुक्र का कहना है कि "राज्य रूपी वृक्ष का मूल राजा है, मंत्री तना है, सेना अधिकारी शाखा है, सेना पत्ते और फूल है, प्रजा फल है तथा भूभाग उस वृक्ष के बीज और भूमि है"। शान्ति पर्व में भी राज्य को शरीर कहा है जिसके विभिन्न अंग बताये गये हैं। यह स्वाभाविक है कि जब भारतीय विचारकों ने सम्पूर्ण समाज को ही समग्र मानकर उसे शरीर कहा जिसके मुख ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, उरु वैश्य तथा पेट क्षत्रिय हैं। तब समाज के राजनीतिक संगठन राज्य को भी शरीर ही कहें अर्थात् राज्य को स्वतंत्र रीति से एक पृथक् शरीर का अस्तित्व नहीं दिया है परन्तु समाज को एकात्म मानकर उसे शरीर समझने के कारण उसी के एक दूसरे प्रतिरूप को भी उसी की रक्षा के लिये निर्मित है, एक शरीर माना गया है।

राजा के परामर्शदाता

पुरोहित—राजा के पश्चात् राज्य का दूसरा अंग मंत्री है जिसकी शुक्र ने राज्य के नेत्रों से उपमा दी है। भारतीय राज्य-व्यवस्था में राजा और मंत्री मिलकर ही राज्य की कार्यपालिका बनाते हैं। इसलिये अब मंत्रियों से सम्बन्धित व्यवस्था का वर्णन करना आवश्यक है। मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था भी राज्य के लिये एक आवश्यक अंग है, और मंत्री भी राज्य के कर्मचारी ही हैं। इसलिये मंत्रियों के अतिरिक्त सभी कर्मचारियों की पूरी व्यवस्था का वर्णन भी यहाँ किया जायगा। मंत्रियों के पूर्व राज्य की व्यवस्था में जिसका सबसे प्रमुख स्थान था वह पुरोहित है। मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य, शान्तिपर्व तथा गौतम ने पुरोहित नियुक्त करने का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। शुक्र ने उसे राज्य के दस अधिकारियों में गिना है तथा कामन्दक और अग्निपुराण ने भी स्पष्ट रीति से उसकी नियुक्ति के विषय में उल्लेख किया है। शुक्र ने राज्य कार्य करने वाले

अधिकारियों में पुरोहित को सर्वश्रेष्ठ कहा है तथा शुक्र और शान्तिपर्व में कहा है कि वह उसे राज्य-सभा में अपने पिता के समान श्रेष्ठ आसन दे तथा उसका सम्मान करे। पुरोहित के गुण गौतम ने बताये हैं कि वह विद्या, सद्-व्यवहार, वाणी (मीठी और प्रभावी), रूप, आयु और शील से सम्पन्न, न्यायी तथा तपस्वी होना चाहिये। शान्तिपर्व के अनुसार वह सज्जनों का रक्षण करने वाला तथा दुष्टों का दमन करने वाला आत्मज्ञानी, तपस्वी, धर्मज्ञ तथा बुद्धिमान हो। बहुत स्पष्ट रीति से अग्नि पुराण कामन्दक, याज्ञवल्क्य कौटिल्य, विष्णु तथा शुक्र ने कहा है कि उसे वेद और वेदाङ्गों का ज्ञाता, धर्म, दण्डनीति तथा धनुर्वेद में कुशल होना चाहिये और उसे अथर्ववेद के शान्तिकर्म करने का भी अभ्यास होना चाहिये। इसलिये पुरोहित का एक और सबसे प्रमुख कार्य है कि वह शान्तिकर्म तथा वेदोक्त कर्म (यज्ञ आदि) करे। कामन्दक तथा अग्निपुराण ने दैवी और मानुषी आपत्तियों (व्यसनों) का उल्लेख किया है और कहा है कि दैवी आपत्तियाँ शान्तिकर्मों से तथा पुरुषार्थ से नष्ट होती हैं तथा मानुषी आपत्तियाँ नीति से और पुरुषार्थ से नष्ट होती हैं और इन्होंने अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और हिंसक जन्तुओं को दैवी आपत्तियों में बताया है तथा कौटिल्य ने भी यही दैवी आपत्तियाँ बताकर इनकी शान्ति के लिये क्या-क्या मनुष्योचित उपाय तथा कौन-कौन से शान्तिकर्म किये जा सकते हैं इसका विस्तार से उल्लेख किया है। इन्हीं दैवी आपत्तियों तथा शत्रुकृत माया को (जिसका उल्लेख बाद में किया जायगा) दूर करने का कार्य पुरोहित का है। आपस्तम्ब के अनुसार पुरोहित का एक कार्य यह भी है कि वह विभिन्न अपराधियों को उनके अपराध का प्रायश्चित बतावे। राजा को उसके सभी कार्यों में सहायता देने का भी काम पुरोहित का है। ऊपर राजा मुचकुन्द की कथा दी हुई है। नारद-पुराण में (अध्याय ८) भी एक कथा है कि जब राजा बाहु से शत्रुओं ने उनके अविनीत होने के कारण राज्य छीन लिया था तो उनके पुत्र सगर को पुरोहित वसिष्ठ जी ने राज्य वापिस लेने के लिये बहुत से शस्त्र देकर सहायता की तथा वामन पुराण में बताया है कि जब देवताओं से युद्ध करते समय दानव लोग मरने लगे तो दानवराज के पुरोहित शुक्राचार्य ने राजा को ढाढस बंधाया कि वह सब मृत राक्षसों को संजीवनी विद्या से जीवित कर देंगे और उन्होंने वैसा ही किया। इसके अतिरिक्त पुरोहित का यह अधिकार है कि राजा उसके कहने के अनुसार चले तथा यदि राजा कहीं गड़बड़ी करता है तो वह राजा को हटा दे (देखिये पीछे)। यद्यपि पुरोहित का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, इतना अधिक अधिकार है फिर भी उसके लिये यह नियम है कि यदि पुरोहित अपने धर्म में न रहे तो राजा उसे दण्ड दे तथा ऐसी स्थिति में वध दण्ड न देकर या तो बन्धन में डाल दे अथवा निर्वासित कर दे।

राजा तथा मन्त्रियों का सम्बन्ध—पुरोहित का तो राज्याधिकारियों में सर्व-श्रेष्ठ स्थान है और वह एक प्रकार से राजा को धर्म के मार्ग पर रखने के लिये है

परन्तु राजा के लिये सहायकों की भी आवश्यकता है क्योंकि राजा अकेला राज्य का कार्य नहीं चला सकता, इसलिये अमात्यों की नियुक्ति आवश्यक है। मनु का कहना है कि "यदि कोई सरल कार्य भी हो तो वह भी एक व्यक्ति के द्वारा होना कठिन होता है फिर राज्य की उन्नति बिना सहायकों के कैसे हो सकती है ?

शान्तिपर्व में तो यह भी कहा हैं कि राजा को राज्य मिले भी तो वह बिना सहायकों के शीघ्र नष्ट हो जायगा तथा वह दो-तीन दिन से अधिक नहीं चल सकता है। कौटिल्य ने मन्त्रियों की नियुक्ति का यह भी एक कारण बताया है कि कार्य बहुत-से होते हैं और कई स्थानों पर होते हैं, अतः देश-काल की त्रुटि न हो और परोक्ष के भी सब कार्य हो जाय इसके लिये अमात्य आवश्यक हैं। इन कारणों से राजा से यह आग्रह किया गया है कि वह सहायकों (अमात्यों) की नियुक्ति करे। केवल इनकी नियुक्ति ही नहीं राजा के लिये यह भी आवश्यक है कि वह इनका मत जाने, उस पर विचार करे और साधारणतया उस मत के अनुसार कार्य करें। इसलिये राजा के दैनिक कार्य क्रम में मन्त्रियों के साथ विचार करने का भी समय रखा गया है। तथा कामन्दक ने कहा है कि जो राजा मन्त्रियों के मत की अवमानना करता है उसका शीघ्र ही पतन होता है और यह भी कहा है कि यदि राजा के मन्त्रियों में दोष (व्यसन) उत्पन्न हो जाता है तो राजा कटे हुये पंखों जैसे पक्षी के समान गिर जाता है। मन्त्रियों का ही महत्त्व बताने के लिये कौटिल्य ने बताया है कि इन्द्र की मन्त्री परिषद में सहस्त्र व्यक्ति हैं वही उसकी आखें है। इसलिये उसे सहस्त्राक्ष कहा जाता है अर्थात मन्त्रियों से मन्त्रणा करने का महत्त्व इतना अधिक है। मन्त्रियों के मत को केवल जानकर उन पर विचार करना ही नहीं अपितु वह जो बात कहें उस बात को मानना चाहिये। शुक्र ने यह भी कहा है कि "बुद्धिमान राजा, सभ्य, अधिकारियों, प्रजा तथा सभासद इनके मत में स्थित रहें (इनके मत के अनुसार कार्य करे). परन्तु अपने मत में स्थित न रहें, जो राजा स्वतन्त्र होता है (अपनी ही इच्छानुसार कार्य कर दूसरों के मत की अवमानना करता है) वह अनर्थ की ओर बढ़ता है और उसके कारण राजा में और प्रजा में भेद पड़ जाता है।" मन्त्रियों का मत क्यों जानना और मानना चाहिये, इसका कारण शुक्र यह बताते हैं कि पुरुष-पुरुष में, आप्त पुरुषों के वाक्यों से, अनुभव से, शास्त्र से, अनुमान से, प्रत्यक्ष से, सादृश्य से साहस से, धन-बल से, ऊँच-नीच देखने से बुद्धि का वैभव तथा व्यवहार में विचित्रता दिखाई देती है (अर्थात् विभिन्न कारणों से मनुष्यों के विचार और व्यवहार भिन्न होते है)। इस कारण एक ही व्यक्ति सभी बातों के अथवा किसी बात के सभी पक्षों को समझने में समर्थ नहीं होता। इसलिये राजा राज्य की वृद्धि के लिये सहायकों का वरण करे। केवल राजा का ही यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह मन्त्रियों के मन को जानकर तदनुसार कार्य करने का यत्न करे, परन्तु यह मन्त्रियों का भी कर्त्तव्य है

कि वह राजा को सत्परामर्श दें तथा राजा को अकार्य करने से रोकें। मन्त्रियों के गुणों का उल्लेख पहले ही कर दिया गया है।

मन्त्रियों के प्रकार तथा संख्या—मन्त्रियों के अन्दर भी दो प्रकार हैं—अमात्य अथवा सचिव तथा मन्त्री। अमात्य अथवा सचिव शब्द को कौटिल्य, मनु, कामन्दक, तथा अग्नि पुराण ने पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त किये हैं परन्तु अमात्य और मन्त्री शब्द स्पष्ट रूप में पृथक अर्थों के द्योतक हैं। कौटिल्य विभिन्न आचार्यों द्वारा वर्णित अमात्यों के गुण बताने के पश्चात् कहता है कि इन सब आचार्यों के मत ठीक हैं तथा कार्य को देखकर ऐसे लोगों को विभिन्न कार्यों के लिये अमात्य बना देना चाहिये परन्तु मन्त्री नहीं बनाना चाहिये। फिर विभिन्न प्रकार से अमात्यों की परीक्षा लेने की विधि बताकार आगे कहता है कि जो इन सभी परीक्षा में खरे उतरें उन्हे ही मन्त्री बनाना चाहिये। शान्तिपर्व में कहा है कि राजा को चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र तथा एक पौराणिक सूत को अपना अमात्य बनाना चाहिये और इनमे से भी, उसे श्रुतिस्मृति के ज्ञानी, विनीत समदर्शी, झगड़े को शान्त करने में समर्थ, अर्थ (धन) में लोभ न रखने वाले तथा सात घोर व्यसनों (मृगया, द्यूत आदि) से रहित आठ मन्त्रियों के बीच में मन्त्रणा करनी चाहिये। अमर कोश में स्पष्ट रूप से बताया है कि जो 'धी सचिव' होते है (अर्थात जो परामर्श देने का और विचार करने का काम करते हैं, वे तो मन्त्री हैं और इनके अतिरिक्त जो शेष अमात्य हैं वे कर्म सचिव हैं अर्थात निर्णय को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व उनका है। शुक ने पहिले तो आठ मन्त्रियों का और उनके विषय के सब नियमों का वर्णन किया है और फिर कहा है कि जो अन्य कर्म सचिव हैं उनको भी राजा नियुक्त करे। मन्त्रियों की संख्या के विषय में कौटिल्य तथा कामन्दक का कहना है कि कार्य के लिये जितने आवश्यक हों उतने मन्त्री नियुक्त करने चाहिये तथा मनु शान्तिपर्व तथा शुक्र ने आठ मन्त्री (मनु के अनुसार सात अथवा आठ) रखने की निश्चित संख्या दी है। शुक्र ने इन आठ मन्त्रियों का नाम भी बताया है कि सुमन्त्र, पंडित, मन्त्री, प्रधान, सचिव, अमात्य प्राड्विवाक और प्रतिनिधि। इन आठ मन्त्रियों से राजा युक्त होना चाहिये और उसने यह भी कहा कि पुरोहित तो सबसे श्रेष्ठ है परन्तु उसके पश्चात् इन मन्त्रियों के महत्त्व का क्रम है प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्रि, प्राड्विवाक, पंडित, सुमन्त्र और अमात्य। इन सभी का कार्य शुक्र ने बताया है क्या करना उचित है, क्या नहीं, इसका ज्ञाता प्रतिनिधि है (प्रधान मन्त्री), सम्पूर्ण कार्यों का निरीक्षण करने वाला प्रधान है, सेना का अधिकारी सचिव है, नीतिकुशल अर्थात् पर राज्यों से सम्बन्ध रखने वाला मन्त्री है, धर्म को जानने वाला पंडित है, लोक (प्रथाओं) तथा शास्त्र (धर्म शास्त्र) और नीतिं (अर्थशास्त्र तथा व्यवहार) का ज्ञाता अर्थात न्याय देखने वाला प्राड्विवाक है, देशकाल का ज्ञान रखने वाला (गृह मन्त्री) अमात्य है और आय-व्यय को जानने वाला सुमन्त्र है। इसके पश्चात् शुक्र ने इन सब मन्त्रियों के

कार्य विस्तार के साथ वर्णन किये है। यद्यपि मन्त्रियों की संख्या आठ अथवा आवश्यकतानुसार इससे अधिक-कम बताई गई है परन्तु परामर्श साधारणतया तीन-चार मन्त्रियों से ही होना चाहिये क्योंकि न तो अकेले ही सब नीतियाँ निश्चय कर लेना ठीक है (उससे योग्य विचार अथवा कार्य नहीं हो पाता है) और न बहुत मन्त्रियों के साथ क्योंकि बहुतों के साथ विचार करने में बहुत कठिनाई से कोई निश्चय हो पाता है तथा मन्त्रणा की गुप्तता भी रहनी कठिन हो जाती है। कौटिल्य ने और भी अधिक विस्तार के साथ बताया है कि एक मन्त्री के साथ विचार करने पर जहाँ कोई कठिनाई का स्थान होता है वहाँ वह अकेला व्यक्ति ठीक से निश्चय नहीं कर पाता है और वह उच्छखंला भी हो सकता है तथा दो के साथ मन्त्रणा करने पर दोनों मिलकर कार्य रोक सकते हैं और यदि उनमें झगड़ा हो जाये तो फिर कार्य का बिल्कुल ही नाश हो जाता है। अतः तीन या चार मन्त्रियों के साथ ही परामर्श करना चाहिये।

मंत्रियों की परीक्षा— मन्त्रियों की नियुक्ति परीक्षा करके होनी चाहिये क्योंकि यदि योग्य पुरुष राजा के चारों ओर न रहें तो राज्य का कार्य ठीक से नहीं चलता। इन मन्त्रियों की परीक्षा का एक ढंग है जिसे उपधा कहा जाता है तथा यह उपधायें पाँच प्रकार की होती हैं। कामन्दक ने इसका अर्थ बताया है कि समीप से (उप) जो परीक्षा (धा) की जाती है उसे उपधा कहते हैं। कौटिल्य ने इनमें से चार उपधाओं का विस्तार के साथ वर्णन किया है। जो व्यक्ति अपने धर्म पर तत्पर है अथवा नहीं इस प्रकार की परीक्षा हो उसे धर्मोपधा कहा है, व्यक्ति लोभी है अथवा नहीं इसकी परीक्षा अर्थोपधा है, व्यक्ति पर-स्त्री; संसर्ग की कितनी कामना रखता है इसकी जांच करना कामोपधा है तथा राजा के दण्ड का भय मन में निर्माण कर व्यक्ति को डिगाने का प्रयत्न करना यह भयोपधा है। इनका वर्णन कर कौटिल्य कहता है कि धर्मोपधा से शुद्ध अमात्यों को धर्म-निर्णय (व्यवहार अर्थात मुकदमे के निर्णय) में तथा दुष्टों को दण्ड देने में नियुक्त किया जाय, अर्थोपधा द्वारा शुद्ध प्रमाणित व्यक्तियों को समाहर्ता (कर लेने के) तथा सन्निधाता (कोष की रखवाली) के काम पर नियुक्त किया जाय। कामोपधा द्वारा परीक्षित अमात्यों को अन्तःपुर की व्यवस्था पर नियुक्ति किया जाय, भयोपधा से शुद्ध अमात्यों को राजा अपने समीप के कार्यों पर रखे और जो उन सब से शुद्ध हो उन्हें राजा मन्त्री बनाये। इतना सब वर्णन करने के पश्चात् भी कौटिल्य कहता है कि इस परीक्षा में राजा स्वयं अपना अथवा महारानी का नाम न डाले क्योंकि यदि इन परीक्षाओं के द्वारा कोई अदुष्ट अमात्य दूषित हो गया तो फिर उसे ठीक करना किसी प्रकार संभव न होगा और वह अमात्य फिर राजा को हटाये बिना शान्त नहीं होगा तथा उसका यह भी कहना है कि इन परीक्षाओं के द्वारा राजा बाहर के व्यक्तियों की परीक्षा ले (जिन्हें अमात्य बनाना हो) परन्तु अमात्यों की परीक्षा तो केवल गुप्तचरों द्वारा ही लेनी चाहिए। अमात्यों की परीक्षा करने का

दूसरा ढंग कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दीय नीतिसार तथा अग्नि पुराण में दिया हुआ है। वहाँ वताया है कि अमात्यों की निम्न गुणों की परीक्षा विभिन्न प्रकार से की जाय यथा कुल का और सम्मान का ज्ञान तथा कलाओं में निपुणता यह उसके सम्वन्धियों से जानी जाय, दक्षता, ज्ञान, धर्म प्रगल्भता (कार्य-निपुणता) तथा प्रीति यह कार्य द्वारा देखनी चाहिये; वाणी की कुशलता तथा सत्यवादिता, यह वात-चीत द्वारा जानी जाय, उत्साह, प्रभाव, क्लेश सहिष्णुता, धर्म-अनुराग तथा स्थिरता आपत्ति द्वारा देखनी चाहिये, भक्ति, मित्रता और पवित्रता व्यवहार में देखनी चाहिए; वल सत्व (शरीर की आन्तरिक सहन-क्षमता) आरोग्य और शील साथ रहने वालों से जाना जाय, गम्भीरता, शत्रुओं द्वारा वताये गये दोष, मृदुता और क्षुद्रता को प्रत्यक्ष रूप में जानने का प्रयत्न करना चाहिये तथा जो परोक्ष (प्रकट न होने वाले) गुण हैं, वे कर्मों द्वारा जानने चाहिये। मन्त्रियों की नियुक्ति के सम्वन्ध में अन्य वहुत से नियम शुक्र नीति में दिये हुये हैं। राजा उनका परिवर्तन करता हुआ उन्हें एक दूसरे के कर्म में नियुक्त करे। वह कभी भी अधिकारियों को अपने से अधिक वलशाली न वनावे और उन दस अधिकारियों को (पुरोहित तथा दूत को मिलाकर) परस्पर सम रूप से वलवान वनावे। वह एक ही अधिकार पर सदा तीन व्यक्तियों की नियुक्ति करे और उनमें जो सवसे वुद्धिमान हो उसको उनमें से मुख्य वनावे तथा दो उसके दर्शक (सहायक) हों और तीन, पाँच, सात अथवा दस वर्ष में उनका कार्य-कौशल देखकर, उनका परिवर्तन करे। यदि कोई कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है अथवा कम महत्त्वपूर्ण है अथवा कोई कार्य अधिक है अथवा कम है, यह देखकर राजा उसमें अधिक दृष्टा (सहायक) नियुक्त करे अथवा उसमें कोई दृष्टा न नियुक्त करे। कभी किसी व्यक्ति को राजा चिरकाल तक अधिकार न दे क्योंकि अधिकार के मद से लोग भ्रमित हो जाते हैं। इसलिये ऐसे व्यक्ति को कार्यक्षम देखकर उसे अन्य कार्य में नियुक्त करे तथा उसके स्थान पर उसके अन्य कार्य कुशल अनुयायी को नियुक्त करे। राजा श्रेष्ठ पदों पर क्रम से जो अधिकारी हो जाता है उसको नियुक्त करता जाय।

मंत्रियों के कार्य—मंत्रियों के कामों के विषय में कहा गया है कि मंत्रणा देना, मंत्रणा के फल को प्राप्त करना, कार्य का प्रारम्भ करना, आय-व्यय की देख-भाल करना, दण्डनीति का प्रयोग करना, शत्रु को रोकना, व्यसनों को दूर करना, ये मंत्रियों के कार्य हैं। मनु का कहना है कि "मंत्रियों के साथ राजा नित्यप्रति राज्य की सामान्य व्यवस्था का, सन्धि और विग्रह का, देश की स्थिति वनाये रखने का, उसमें उन्नति करने का, नया प्रदेश प्राप्त करने का, दोषों को शान्त करने का विचार करे।" मंत्रियों के कार्यों का अन्य ढंग से भी वर्णन किया गया है, "जो अभी तक कार्य प्रारम्भ नहीं हुआ उसे प्रारम्भ करना, और जो ठीक से व्यवस्थित है उसे सफल करना" यह मंत्रियों का काम है। "जिसका ज्ञान नहीं है उसका ज्ञान प्राप्त करना (गुप्तचरों द्वारा), जिसका ज्ञान है इसके विषय में निर्णय लेना, जो

निर्णय किया हुआ है, उसमें शक्ति लगाना, जहाँ सन्देह हो उसे दूर करना और जिस कार्य का थोड़ा-सा फल प्राप्त हुआ है उसको पूरा करना यह मंत्रियों द्वारा करने योग्य है"। इसके अतिरिक्त मंत्र पांच प्रकार का बताया है। कर्मों के प्रारम्भ करने की योजना बनाना, उसके लिये आवश्यक व्यक्ति और धन का संग्रह करना, देशकाल का योग्य विचार करना, कोई आपत्ति आई हो तो उस आपत्ति को दूर करना। सभी वर्णनों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि चारों ओर का ज्ञान प्राप्त कर सब कार्यों के सम्बन्ध में ठीक निर्णय लेना और कार्य की ठीक योजना, व्यवस्था और सचालन करना मंत्रियों का काम है।

राजा को अपने मंत्रियों से उपरोक्त सब कामों का परामर्श करने का ढंग यह बताया है कि राजा इन सब मंत्रियों का मत पृथक-पृथक अथवा एक साथ जानकर फिर उसके विषय में स्वयं निर्णय करे अर्थात् यद्यपि उसे यह चाहिए कि वह सब 'मंत्रियों के मत जाने और उसकी अवहेलना न करे परन्तु फिर भी वह उस पर विचार अवश्य करे। कौटिल्य का यह भी कहना है कि जो समीप के मंत्री होते हैं उनसे राजा प्रत्यक्ष बातचीत करे तथा दूर रहने वालों के साथ मंत्रणा करे। यह भी एक नियम है कि मत विभिन्नता में अधिकांश व्यक्तियों का मत माना जाय। कामन्दक ने इन सब नियमों के अतिरिक्त कहा है कि "जो मत शास्त्रानुसार हो, जिसके फल की कल्पना हो, हितकारी हो, बुद्धिमानों द्वारा कहा गया है कि उस मत के अनुसार साधु या राजा आचरण करे। मन्त्र का कार्य करने का काल व्यतीत न करे और यदि उसका समय व्यतीत हो गया हो तो फिर पूर्ववत् विचार करे। बुद्धिमान कभी काम करने का समय व्यतीत न करे क्योंकि कार्य का फिर वैसा योग मिलना दुर्लभ होता है।

जो मंत्रणा की गई हो और जो विचार कर निश्चय किया गया हो अर्थात जो मंत्र हो वह बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। सभापर्व तथा अयोध्या काण्ड का कहना है कि विजय मंत्र पर ही निर्भर करती है और कौटिल्य ने कहा है कि एक धनुर्धारी द्वारा फेंके हुए बाण से एक व्यक्ति की भी मृत्यु हो सकती है अथवा ऐसा भी हो सकता है कि किसी की न हो परन्तु यदि बुद्धिमान द्वारा कोई मंत्रणा कार्यान्वित की गई तो वह गर्भ के बालकों तक को मार देती है।" याज्ञवल्क्य राज्य के लिये मंत्र ऐसा ही महत्त्व बताकर कहते हैं कि मंत्रणा गुप्त रखी जानी चाहिये तथा उसे तब तक प्रकट नहीं होने देना चाहिये जब तक उसका फल प्रकट न हो जाय। मंत्रणा की इस गुप्तता पर सभी ग्रंथों ने बहुत महत्त्व दिया है। और इसके लिये यह नियम बताये हैं कि मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिये जहां कोई मंत्रणा सुन न सके यथा पर्वत के ऊपर, महल के अन्दर, वन में अथवा निर्जन स्थान में तथा जहाँ खंभे, झरोखे अथवा बीच में और कुछ न हो; जैसे घास, कांस, आदि। मंत्रणा के स्थान से जड़, गूंगे, बहरे, पक्षी, स्त्री, मलेच्छ, रोगी तथा भग्नांग वाले व्यक्ति को हटा दें क्योंकि पक्षियों से भी (तोता, मैना आदि

से) भेद खुल जाता है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने यह भी कहा है कि यह आज्ञा निकलवा दी जाये कि मंत्रणा के स्थान पर कोई आ न सके और यदि कोई मंत्र प्रकट करे तो उसको वध-दण्ड दिया जाय। कभी-कभी मंत्र राजा, अमात्य, दूत आदि के इंगित और आकार से भी प्रकट हो जाता है। इसलिये जो इस मंत्रणा में सम्मिलित लोग हैं उनको कार्य प्रकट होने तक नियंत्रण में रखा जाय क्योंकि उनके द्वारा असावधानी से, मद से, सोते हुये प्रलय करने से, काम की स्थिति में मंत्र प्रकट हो जाता है। कौटिल्य ने मंत्रणा गुप्त रखने के अन्य ढंगों को अमान्य किया है यथा अकेले कार्य करना अथवा जिस काम पर विचार करना हो वह काम मंत्रियों के समक्ष उपस्थित न कर अन्य वैसा ही विषय उपस्थित करना अथवा केवल उन्हीं लोगों से मंत्रणा करना जो उन विषयों से संबधित हैं।

अन्य नियम—मंत्रियों के सम्बन्ध में अन्य नियम ये हैं कि यदि राजा राज्य का कार्य देखने में असमर्थ हो जाय, अस्वस्थता अथवा अशक्तता के कारण से, तो वह अपने स्थान पर मंत्री अथवा मंत्रियों को काम सौंप दे। राजा को भी यह चाहिये कि वह मंत्रियों से अधिक आराम से जीवन न व्यतीत करे परन्तु उसमें और मंत्रियों में केवल आज्ञा देने का तथा छत्र धारण का ही अन्तर हो। दूसरी ओर यह भी कहा है कि यदि मंत्री अनुचित कार्य करे, तो उसे दण्ड दिया जाय।

विभागों के अध्यक्ष—ऊपर दो प्रकार के मंत्रियों का वर्णन है, एक तो वह जो मंत्रणा देते हैं—अर्थात् 'धी-सचिव, और दूसरे वह जो योजनाओं को कार्यान्वित कराते हैं अर्थात् 'कर्म सचिव।' धी-सचिवों से होने वाली मंत्रणा के सम्बन्ध में ऊपर पूरा वर्णन किया गया है तथा कर्म-सचिवों अर्थात शेष अमात्यों के विषय में भी उनके आवश्यक गुण तथा परीक्षा के पश्चात् उनकी नियुक्ति का वर्णन किया है। इन कर्म-सचिवों अथवा अमात्यों को ही विभिन्न विभागों के अध्यक्ष के रूप में कार्य देने का उल्लेख है। कौटिल्य का यह कथन पीछे बताया ही गया है कि चारों उपधाओं में परीक्षित होने पर जो शुद्ध प्रमाणित हों उन्हें मंत्री बनना चाहियें तथा शेष लोगों को उनके गुणों के अनुसार धर्म-निर्णय का अथवा दुष्टों को दमन करने का अथवा कोष-रक्षण, धन-संग्रह आदि का कार्य दिया जाय। कौटिल्य ने बाद में यह बहुत स्पष्ट रूप से कहा है कि अमात्य की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार अध्यक्ष बनाया जाय, उनकी उनके कार्यों में नित्य परीक्षा की जाय। मनुस्मृति में भी पहले तो आठ मन्त्रियों की नियुक्ति का उल्लेख किया है और उनके साथ मंत्रणा करने के नियम बताये हैं तथा फिर कहा है कि राजा 'सुपरीक्षित, पवित्र, बुद्धिमान, वीर, उचित रीति से धन का उपार्जन करने वाले लोगों को अमात्य बनावे।" जितनों से राज्य का कार्य ठीक प्रकार से चले उतने आलस्यरहित, दक्ष और बुद्धिमान अमात्य नियुक्त करे। इनमें से अर्थ-प्राप्ति के स्थानों के (भूमि प्राप्त करने तथा धन सम्पादन करने के) काम पर तो वीर, दक्ष, कुलवान पवित्र लोगों को नियुक्त करे

और डरपोक लोगों को अन्तःपुर के काम पर नियुक्त करे अर्थात् यह अमात्य अध्यक्षों के रूप में कार्य करें। अन्य ग्रन्थों में भी अध्यक्षों की नियुक्ति के संबंध में उल्लेख करते हुए उनके गुण बताये गये हैं तथा किस कार्य में कैसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाय यह बताया गया है। चतुर प्रामाणिक और अच्छे कुल के अध्यक्ष नियुक्त करने का उल्लेख याज्ञवल्क्य तथा मनु ने स्पष्ट रीति से किया है। शान्तिपर्व में भी कहा है कि खान, नमक, शुल्क (आय लेने का कार्य) तथा हाथीखाने के स्थान पर (अध्यक्षों के काम पर) राजा विश्वास-पात्र, योग्य, हितकारी अमात्यों को नियुक्त करे। विष्णु धर्मसूत्र में भी कौटिल्य के समान ही कहा है। धर्म-निष्ठ व्यक्तियों को व्यवहार का तथा धर्म का काम सौंपा करे, वीर लोगों को सेना का, चतुर लोगों को आय लेने का तथा अत्यन्त विश्वस्त लोगों को खान, नमक आदि का काम दे। शुक्रनीति में भी आठ मंत्रियों का विस्तार से वर्णन कर फिर सेना, पशु, कोष, अन्न, उद्यान मन्दिर आदि के लिये पृथक-पृथक कर्म-सचिव नियुक्त करने का उल्लेख किया है जिनको अध्यक्ष की संज्ञा दी है। इस सब अध्यक्षों में भी कोषाध्यक्ष की योग्यता के सम्बन्ध में बहुत आग्रह किया गया है। याज्ञवल्क्य ने अध्यक्षों की इस योग्यता का आग्रह के साथ ही उल्लेख किया है कि वे आय और व्यय के काम में दक्ष हों। आय के कार्य में कैसे लोग नियुक्त हों उसका मनुस्मृति का उदाहरण ऊपर दिया ही हुआ है। कामन्दक ने भी अध्यक्षों की नियुक्ति का उल्लेख करने के पश्चात कोषाध्यक्ष का विशेष वर्णन करते हुये कहा है कि वह ऐसा व्यक्ति हो जो व्यय अधिक न करे तथा उसकी निरन्तर परीक्षा होनी चाहिये क्योंकि जीवन कोष के ही आधीन है"। तथा शान्तिपर्व में भी बताया है कि कोषाध्यक्ष विश्वासपात्र, सन्तोषी तथा भण्डार को बढ़ाने वाला हो। कौटिल्य ने इन अध्यक्षों के काम का विस्तार से उल्लेख अपने सबसे बड़े अधिकरण में ३६ अध्यायों में किया है। (अधिकरण २)

कर्मचारियों की परीक्षा, उनके दोष और उन पर नियन्त्रण—मन्त्री, अमात्य अथवा अध्यक्ष ये सब राजकर्मचारी ही हैं परन्तु क्योंकि इनके अतिरिक्त अन्य राज्यकर्मचारी भी होते हैं इसलिये राज्य कर्मचारियों के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन ग्रंथों में है। सर्वप्रथम तो कौटिलीय अर्थशास्त्र में राज्य कार्यालय (अक्षपटल) का उल्लेख है जहाँ राज्य-कार्य सम्बन्धी सभी पुस्तकें रहती हैं जिसमें आय-व्यय का हिसाब, प्रत्येक वस्तु के तथा उसके मूल्य के सम्बन्ध में पूरा विवरण, देश, ग्राम, कुल जाति, और संघों (समूहों) के धर्म, व्यवहार, चरित्र (प्रथाओं) का उल्लेख, कर्मचारियों के वेतन आदि का विवरण, दण्ड से प्राप्त धन का विवरण तथा मित्र और अमित्रों के साथ सन्धि और युद्ध का पूरा उल्लेख रहे। इसके पश्चात् यह भी बताया गया है कि क्योंकि मनुष्यों का मन एकसा नहीं रहता और क्योंकि मनुष्य कई बार कार्य में गड़बड़ी करने लगते हैं इसलिए कर्मचारियों की निरन्तर परीक्षा होनी चाहिये। इनकी परीक्षा लेने का यह ढंग है कि गुप्तचरों द्वारा इनके दोषों का पता लगाना चाहिये इनके घर की जाँच के लिये स्त्री-गुप्तचर होनी

चाहिये। तथा इनके सब गुप्त धन की भी जाँच होनी चाहिये। कर्मचारियों के अन्दर जो दोष उत्पन्न होते हैं वे कौटिल्य के अनुसार हैं—उनका संगठित होकर राजा अथवा प्रजा का भक्षण करना, उनका पारस्परिक संघर्ष कर राज्य कार्य को हानि पहुँचाना, बिना स्वामी की आज्ञा के कार्य करना, प्रमाद करना, राज्य के अथवा प्रजा के धन का भक्षण करना (गबन अथवा रिश्वत) तथा प्रजा का पीड़न करना। इनमें जो कर्मचारियों का सबसे प्रमुख दोष है वह है कि रिश्वत अथवा दूसरे का धन हड़पना और इस दोष से प्रजा की रक्षा करने का बहुत आग्रह है। कौटिल्य ने कर्मचारियों द्वारा राज्य के धन अपहरण के चालीस ढंगों का उल्लेख करके उनके द्वारा धन अपहरण का पता लगाने का ढंग, उनके गुप्त धन की जांच, उनके द्वारा हिसाब लिखने में गड़बड़ी, और इस अपराध के लिये कर्मचारियों को दण्ड तथा धन वसूली आदि ढंग का विस्तार से उल्लेख किया है। कर्मचारियों के जिन अन्य दोषों का यत्र-तत्र उल्लेख किया गया है, वे हैं अनुचित न्याय करना—स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करना, गलत काम करना, अपराधियों का साथ देकर उन्हें छोड़ना, राजा की आज्ञा गलत लिखना, मंत्र खोलना, शत्रु को सहायता देना। निर्दोष कर्मचारियों के होने का इतना अधिक आग्रह है कि कौटिल्य ने विभिन्न शस्त्रधारी दलों से होने वाली हानि से दुष्ट कर्मचारियों से होने वाली हानि अधिक बड़ी बताई है। दुष्ट कर्मचारी राज्य की ही हानि नहीं करते अपितु प्रजा को भी बहुत सताते हैं। इसलिये कर्मचारियों को कण्टकों के रूप में प्रमुख रीति से बताया गया है और राजा से इस बात का बहुत आग्रह किया गया है वह इससे प्रजा की रक्षा करें। दुष्ट कर्मचारियों के रहने से राज्य को होने वाली हानि प्रदर्शित करने के लिये शान्तिपर्व में कुछ कथायें दी हुई हैं जिन कथाओं में यह बताया है कि दुष्ट कर्मचारी किस प्रकार एक राज्य का नाश करते हैं, किस प्रकार वह प्रामाणिक व्यक्तियों के अर्थात् जो उनके दुष्कर्मों को रोकने का प्रयत्न करते हैं उनके नाश का प्रयत्न करते हैं और किस प्रकार वह राजा को बहकाकर भ्रम में डालते हैं।

कर्मचारियों के गुण और व्यवहार—कर्मचारियों के आवश्यक गुण कामन्दक ने बतलाये हैं। कर्मचारी वर्ग अपने राजा की ठीक-ठीक प्रकार से आराधना करता हुआ स्वयं में विद्या, विनय और कर्मशीलता उत्पन्न करे। कुल, विद्या, शास्त्र, ज्ञान, शील, विक्रम, धैर्य, यत्न, बल, आरोग्य, स्थिरता, पवित्रता, क्षमा आदि से युक्त होकर तथा चुगली, द्रोह, परस्पर भेद उत्पन्न करना, शठता, चंचलता, असत्यता, आलस्य और चपलता आदि से मुक्त होकर राजा की सेवा करनी चाहिये। कार्य में दक्षता, भद्रता (उपयुक्त ढंग से रहना), दृढ़ता, क्षमा, क्लेश-सहिष्णुता, सन्तोष, शील, उत्साह, यह सेवकों को शोभा देता है। कर्मचारियों के व्यवहार का वर्णन कामन्दकीय नीतिसार, शुक्रनीति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, मत्स्यपुराण, अग्नि-पुराण, महाभारत में दिया हुआ है। शुक्र नीति में दिया हुआ वर्णन विस्तार से यहाँ दिया जाता है। यत्न से वह राजा की सेवा करे और अपना स्वयं का

अहंकार न रखकर राजा का ही पक्ष लेता हुआ अच्छी वाणी से बोले। राजा के प्रश्न के उत्तर को जानता हुआ भी तुरन्त उत्तर न दे और राजा के बुलाने पर उदण्ड भेष में न जाकर उसके सामने सदा अंजलि बाँधे रहे उसके सामने आसन पर झुककर बैठे। ऊँचे स्वर से हंसना, थूकना, किसी की निन्दा करना, जंभाई लेना, अंगड़ाई लेना, यह राजा के सामने न करे। प्रवीण और बुद्धिमान सेवक अभिमान छोड़ दे और आपत्ति में (राजा के) कुमार्ग में जाने पर (राजा के), तथा कार्य का उचित काल बीतने पर राजा का हित करने वाला, बिना राजा के पूछे, तथा पूर्ण वचन वाले। सदैव प्रिय, तथ्यपूर्ण, लाभप्रद और धर्म, अर्थ के अनुकूल वचन बोले। अपने समान स्तर के लोगों के साथ बात-चीत करते हुये सदैव राजा के हितकारी बात करे। वह राजा में गुणों का वर्धन करने के लिये सदैव इस प्रकार कहे "हे राजा! तुम दानशील धार्मिक वीर और नीतिमान हो तथा तुम्हारे मन में अनीति को कोई स्थान नहीं मिलता है।" जो अनीति के कारण नष्ट हो गये उन राजाओं के विषय में सदा राजा को बताता रहे। यह प्रयत्न करे कि राजा कभी प्रजा को कष्ट न दे। सेवक अनर्थयुक्त आजीविका की इच्छा न करे, किसी के प्रति असूया (द्वेष) का भाव न रखे, किसी की कमी पर ध्यान न दे तथा उस कमी को यथाशक्ति पूरा करने का प्रयत्न करे। यह सोचकर कि राजा हमारा परममित्र है। जो मन में आवे वह न कहे, स्त्रियों के साथ, स्त्रीकामियों के साथ, पापियों के साथ, राजा के शत्रुओं के साथ, जिन्हें राजा ने निकाला हो, उनके साथ एकान्त में रहना, बात-चीत करना अथवा उनका संसर्ग करना छोड़ दें। वेष-भाषा का अनुकरण न करे और बुद्धिमान सम्पन्न होने पर भी वह उसके गुणों की स्पर्द्धा न करे। कुशल सेवक राजा का प्रिय और अप्रिय, प्रेम और द्वेष जाने और राजा के इंगित, आकार चेष्टा से उसके अभिप्राय को समझे। राजा जो वस्त्र-भूषण दे, उन्हें वह सदा धारण करे और नित्य होने वाले कार्य को राजा से बतावे। गुप्तचरों और चुगली करने वालों के दोष से यदि राजा कोई अनुचित बात कहे तो उसको चुप होकर सुन ले परन्तु उसका अनुमोदन न करे। आपत्ति आने पर राजा को कभी न छोड़े क्योंकि जिसका अन्न एक बार भी आदर के साथ खाया हो उसका सदैव इष्ट चिन्तन करना चाहिये। ठीक से सेवा करने पर अप्रधान व्यक्ति भी प्रधान हो जाता है और सेवा करने में आलस्य से प्रधान व्यक्ति भी अप्रधान हो जाता है। अतः राजा की नित्य सेवा कर वह उसका प्रिय हो। जिस पर राजा की प्रीति हो उसका अनिष्ट चिन्तन न करे, कभी अपने अधिकार का गौरव प्रदर्शित न करे तथा भेद भी न उत्पन्न करे। जो अधिकारी राजा के हित, अहित को स्पष्ट नहीं कहते है वे सेवक के रूप में उसके वैरी हैं और यदि राजा मंत्रियों के मुख से हित-अहित नहीं सुनता है तो वह राजा के रूप में प्रजा का धन हरण करने वाला डाकू है। राजा के आवश्यक कार्य में प्राणों का संशय होने पर भी यह कह कर कि "जो आपकी आज्ञा होगी वह मैं आवश्य पूरा करूंगा।" उस कार्य को पूर्ण-शक्ति के साथ करने का प्रयत्न करे।

राजा के बड़े कार्य में सेवक अपना प्राण भी दे दें। वेतन के अतिरिक्त अन्य प्रकार से राजा का धन हरण न करे अन्यथा वह धन हरने वाले स्वयं का ही नाश करते है। राजा के साथ वह क्रीड़ा न करे और यदि करे भी तो विशेष समझ कर के। राजा के बुलाने पर अपने सैकड़ों बड़े कार्य को छोड़कर तुरन्त जाय तथा राजा की मन्त्रणा मित्रों को भी न बताये। द्रव्य के लोभ से सतकार्य को नष्ट न करे और समय आने पर अपने स्त्री, पुत्र, धन और प्राणों से राजा की रक्षा करे, रिश्वत न ले, राज्य से गलत बात न कहे और अनुचित तथा अधिक दण्ड देने वाले राजा को राजा की रक्षा के लिये एकान्त में कड़ाई से समझाये।" "सुशील, अच्छी प्रकार से कर्म करने वाला, आलस्यरहित, अपने अपने कार्य से राजा के कार्य को चौगुने प्रयत्न से तथा मन, वाणी, शरीर से करे, सन्तुष्ट रहे, मृदुवाणी बोले, कार्य में दक्ष, पवित्र और दृढ़ रहे। परोपकार में दक्ष हो, अपकार करने में पराड़मुख हो। यदि स्वामी अन्याय करे, उसके दोषों को प्रकाशित न करे, सत कार्य शीघ्रता से, असतकार्य देरी से करने वाला हो। वेतन के समान व्यय करे, इन्द्रिय दमन करने वाला, दयालु तथा शूर हो। इसके विपरीत शठ, कायर, लोभी, सामने प्रिय बोलने वाले, अभीमानी, व्यसनी, दुखी रिश्वत लेने वाले, नास्तिक, घमण्ड करने वाले अपमानित तथा बुरे वाक्यों से मर्म भेदने वाले, धर्महीन लोग अच्छे सेवक नहीं होते है।" शुक्र ने राज्य सेवकों के जो व्यवहार के नियम बतायें हैं वैसे ही नियम अन्य ग्रन्थों में दिये हुये है। इन सब नियमों का सार यह है कि कर्मचारियों को निःस्वार्थ भाव से राजा की सेवा करनी चाहिए। मनु का कहना है कि राजा की सेवा से अच्छे कुल भी अकुलीन हो जाते हैं और जिनका अन्न नहीं खाना चाहिये उनके श्रेणी में राजा को भी रखा है तथा कहा है। कि राजा का अन्न तेज हरता है। अत्रि स्मृति ने यह भी कहा है कि यदि चारों वेदों को पढ़कर, समी शास्त्रों का जानने वाला व्यक्ति राजा के भवन में भोजन करता है तो वह विष्टा के कीड़े के रूप में जन्म लेता है। आँगरी स्मृति में राजा का अन्न व्यक्ति का तेज हरने वाला बताया है। राज्य सेवा को करने का यह आग्रह इस कारण से तो किया ही गया है कि राज्य सेवा करने वाला कोई ही व्यक्ति सचरित्र रहता होगा क्योंकि व्यक्ति अधिकार मद में आकर चरित्रहीन, अत्याचारी भ्रष्ट तथा लोभी हो ही जाता है। इसके साथ यह भी एक कारण बताया है कि राजा की सेवा करने पर व्यक्ति की निर्भीक वृत्ति, सत्यवादिता और उचित बात के लिये आग्रह करने का साहस नष्ट हो जाता है। शान्तिपर्व में राज-सेवा का यह दोष स्पष्ट किया गया है। वहाँ कथा में वन में घूमने वाला एक व्यक्ति राजा से कहता है कि दूसरे के आश्रय में रहना, चाहें वह कितना ही प्रतापी हो, मैं अच्छा नहीं समझता। राजा के आश्रय में रहने वालों में राजा के क्रोध के भय से दोष उत्पन्न हो जाते हैं परन्तु बनवासी निर्भय, निःशक (बिना किसी मोह अथवा कामना के) तथा व्रतचारी रहते हैं। राजा के साथ रहने वाले लोगों के हृदय में राजा के बुलाने पर जो भय उत्पन्न होता है वह भय उन लोगों को नहीं होता जो

वन के मूल फल खाने में सन्तुष्ट रहते हैं। बिना परिश्रम के मिलने वाला पानी तथा भय देने वाला स्वादिष्ट अन्न इनकी विचार कर तुलना करता हूँ तो देखता हूँ जहाँ निवृत्ति है वहाँ सुख है। सदगुणी, राजा का सम्मान करने वाला, राज्य का कार्य ठीक से करने वाला और राज्य का हित सदैव दृष्टि में रखने वाला होना चाहिये। यह भी आग्रह है कि कर्मचारी को सदैव योग्य बात ही कहनी चाहिये और राजा को सन्मार्ग पर रखने का प्रयत्न करना चाहिये। राज्य कर्मचारियों के व्यवहार में यह भी बताया गया है कि वे सदगुणी राजा का ही सेवा करें दुर्गुणी का नहीं। और यदि राजा प्रसन्न हो तो उसके पास रहे अन्यथा वह स्थान छोड़ दें। कर्मचारियों का कैसा व्यवहार होना चाहिये यह बताने के साथ राजा से भी यह कहा गया है कि राजा कर्मचारियों को सदैव शिक्षा, आवश्यकतानुसार दण्ड, देता रहे, उनका अपमान न करे अपितु सम्मान करे, उनसे कोमल वचन बोले, उनकी रक्षा करे और उन्हें हंसी से, कोमल वाणी से, क्षमा से, सत्कार से, आदर से, प्रेम से, अपने समीप आसन देने से, उनके उपकार के वर्णन से, कुशल पूछने से, वस्त्र-वाहन, भूषण, धन, चादर आदि देने से उन्हें प्रसन्न रखे।

राज्य सेवा की निन्दा—भारतीय विचारकों ने यद्यपि राज्य को इतना महत्व दिया है परन्तु राज्य की सेवा करना उनके मत के अनुसार बहुत हीन है अर्थात उनके विचार के अनुसार राजा की व राज्य की सेवा करना सम्मान और प्रतिष्ठा की बात नहीं, वह एक निम्न श्रेणी का कार्य है।

कर्मचारियों के वेतन तथा अन्य सुविधायें—कर्मचारियों को वेतन देने और उन्हें सन्तुष्ट रखने का बहुत आग्रह है। कामन्दक का कहना है कि जो राजा आजीविका नहीं देता उसे लोग इस प्रकार त्याग देतें हैं जैसे सूखे वृक्ष को पक्षी। लोग धन देने वाले दुश्चरित्र और अकुलीन राजा की भी सेवा करते हैं, परन्तु दुग्धहीन गाय को उसका बछड़ा भी छोड़ देता है। इसलिये राजा से कहा गया है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को उसके पद और कार्य के अनुसार आजीविका दे और इसमें कभी कमी न करे। कर्मचारियों के वेतन, छुट्टी आदि के नियम शुक्र नीति में विस्तार से दिये हुये हैं तथा कौशिल्य ने भी उनका वर्णन किया है। शुक्र के अनुसार वेतन सौर मास (सूर्य के अनुसार अर्थात सक्रान्तियों) से तथा व्याज चन्द्र-मास से लगाना चाहिये। वेतन तीन प्रकार का होता है—कार्यमान अर्थात एक निश्चित कार्य बताकर उस कार्य का वेतन देना (piece wage)। कालमान अर्थात वर्ष, मास, अथवा दिन के अनुसार वेतन देना (time wage) तथा कार्य का लगाना अर्थात इतने काल में इतना कार्य करना आवश्यक होगा और उसका इतना वेतन दिया जायेगा। वेतन न देना अर्थात वेतन देर से देना यह कभी नहीं होना चाहिये। 'श्रेष्ठ वेतन वह होता है जिसमें लेने वाले

के पालन पोषण योग्य सभी व्यक्तियों का पोषण हो जाय। जब केवल अनिवार्य लोगों का ही पोषण हो तो वह मध्यम वेतन हैं और जब केवल एक ही व्यक्ति का भरण पोषण हो तो वह हीन वेतन है। इसमें कम से कम इतना वेतन अवश्य ही देना चाहिये। जिससे आवश्यक पोषित करने योग्य व्यक्तियों का पोषण हो सके (मध्यम वेतन) क्योंकि जिन कर्मचारियों को हीन वेतन दिया जाता हैं वे शत्रु हो सकते है, दूसरे के कार्य का साधन करते हैं और कोश तथा प्रजा का धन हरण करने वाले होते हैं। उत्सवों में राजा उनसे कार्य न करावें जब तक आवश्यक न हो और श्राद्ध दिनों में तो बिल्कुल कार्य न करावे रोगी होने की अवस्था में तीन-चौथाई वेतन दिया जाय परन्तु पांच वर्ष के मत्यु को बीमारी का तीन मास का अथवा आवश्यकतानुसार कम अथवा अधिक वेतन दिया जाय। एक सप्ताह के रोग में तनिक भी वेतन न काटा जाय। यदि कोई सदा रोगी रहता है तो उसके स्थान पर कोई प्रतिनिधि लिया जाय पर यदि कोई गुणी कर्मचारी हो तो उसे रोग की अवस्था में भी सदा आधा वेतन देना चाहिए। विना काम किये राजा वर्ष में एक वार पन्द्रह दिन का वेतन दे(अर्थात वर्ष में पन्द्रह दिन का अवकाश दे)और जिसने चालीस वर्ष राजा की सेवा की हो उसके लिए विना सेवा के ही सदैव के लिए आधा वेतन देता रहे (Pension) यदि राजा के क र्य में कर्मचारी नष्ट हो जाय तो उसका वेतन उसके पुत्र को बालक रहने तक दे और तत्पश्चात पुत्र के गुण देख कर उसे वेतन दे। कर्मचारी के वेतन का छटा अथवा चौथा अंश रखना चाहिये। (Provident Fund) तथा दो तीन वर्ष में उसे आधा अथवा पूर्ण, वेतन एक वार देना चाहिए (Bonus) कौटिल्य ने यह नियम संक्षेप में दिया है तथा सभापर्व में भी कहा है कि राजा का कर्त्तव्य है उसकी सेवा में मरे व्यक्ति की पत्नियों का वह पोषण करे। कर्मचारियों को बेचने और गिरवी रखने के अधिकार से रहित भूमि देने का नियम कौटिल्य ने बताया है। तथा शुक्र का भी कहना हैं कि यदि भूमि कर्मचारी को दी जाय तो तभी तक के लिए जब तक जीवित रहता है। कौटिल्य का कहना है कि राजधानी और राज्य से प्राप्त कुल आय का एक चौथाई अथवा कार्यों को ठीक प्रकार से करने के लिए जितना आवश्यक हो उतना धन कर्मचारियों को वेतन में दिया जाये। किसी भी स्थिति में राज्य का कोष देखकर वेतन देना चाहिए जिससे राजा के धर्म और अर्थ को हानि न हो। उचित वेतन देने का लाभ यह है कि फिर कर्मचारी किसी के उकसाने से अथवा स्वयं इच्छा से भी विद्रोह नहीं, काम ठीक से करते हैं, स्वामी के सहायक होते हैं तथा अपने अन्य सहयोगियों को भी अपने साथ काम में लगा लेते हैं। कौटिल्य मुद्रा (Cash) और अव (kind) दोनों में वेतन देने की बात कहता है। सेवक की जाति, आकृति, आयु दशा, ग्राम तथा उसे दिया जाने वाला वेतन तथा उसका काल भी लिख लिया जाना चाहिए तथा यह भी लिखना चाहिए कि कर्मचारी को कितना वेतन तथा कितना पारितोषिक दिया और उससे उसका प्राप्ति पत्र (रसीद) ले लेना चाहिये। शुक्र ने

यह भी बताया हैं। कि आपत्ति के समय राजा कर्मचारियों को समझाकर, वेतन आधा या तिहाई अंश दे और इस समय राजा के कार्य को भृत्य आठ वर्ष तक तथा अधिक धनी कर्मचारी सोलह वर्ष तक बिना वेतन के भी करें तथा निर्धन कर्मचारी केवल अन्न वस्त्र लेकर ही करें।

राज्य-व्यवस्था

शासन-व्यवस्था—केन्द्रीय कर्मचारियों के अतिरिक्त राजा की शासन-व्यवस्था का भी पूरा ढाँचा स्पष्ट रहना आवश्यक है तथा राजा के स्थानीय कर्मचारियों की भी व्यवस्था होनी चाहिये। मनुस्मृति, विष्णुधर्मसूत्र, शान्तिपर्व, अग्निपुराण में इस सम्बन्ध में बताया है कि राज्य में एक गाँव, दस गाँव, बीस गाँव, सौ गाँव तथा सहस्र के अधिपति नियुक्त करने चाहिये। यदि ग्राम में कहीं दोष उत्पन्न हो तो एक गांव का अधिकारी दस ग्राम के अधिकारी से जाकर निवेदन करें कि; दस ग्राम का अधिकारी बीस ग्राम के अधिकारी से और इसी प्रकार क्रमशः अपने से ऊँचे ऊंचे अधिकारी से जाकर नीचे के अधिकारी अपने क्षेत्र की गड़बड़ी बतावें। इसके अतिरिक्त नगरों के भी अधिकारी नियुक्त करने का उल्लेख है तथा यह कहा है कि इन सब ग्रामों तथा नगरों के अधिकारियों के ऊपर एक सचिव हो जो धर्मज्ञ हो, सदैव सन्नद्ध रहने वाला हो तथा स्निग्ध स्वभाव का हो। वह सचिव जैसे नक्षत्रों के ऊपर ग्रह रहते हैं उसी प्रकार वह उन सबों की स्वयं देखभाल करे। इसके साथ उसके लिए यह भी आवश्यक है कि गुप्तचरों द्वारा स्थानीय अधिकारियों के हालचाल जानता रहे क्योंकि यदि कोई अधिकारी हिंसक, पापी पर धन को लूटने वाला शठ हो तो उनसे प्रजा की ठीक से रक्षा की जानी चाहिये। इन सब अधिकारियों को इनके कार्यों के अनुरूप इन्हें वेतन आदि मिलना चाहिए अर्थात् ग्राम वासियों द्वारा राज्य के लिये उस ग्राम से प्रतिदिन जो अन्न-वस्त्र ईंधन दिया जाने योग्य है वह उस एक ग्राम के अधिकारी को मिलना चाहिए, तथा दस गांव का अधिकारी एक कुल की आय का तथा बीस ग्राम का अधिपति पाँच कुलों की आय का भोग करे ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। इसी प्रकार से सौ ग्राम के अधिपति को एक ग्राम की आय, जो ग्राम बड़ा समृद्धिशाली तथा अच्छी जनसंख्या वाला हो, तथा सहस्र ग्राम के अधिकारी को एक शाखा नगर की आय उसके स्वयं के लिए मिलनी चाहिए। शुक्र ने इन अधिकारियों के प्रयोग के वाहन भी बताये हैं कि दस गाँव के अधिकारी अश्व के ऊपर चढ़कर कार्य करे; सौ गाँव का अधिपति एक घोड़े के रथ पर चढ़े, सहस्र गाँव का अधिपति नरयान (पालकी) पर अथवा दो घोड़ों की सवारी पर बैठे तथा दस सहस्र गाँव का स्वामी चार घोड़ों के यानों पर चला करे। इसी प्रकार जिसका जितना अधिकार हो उसी प्रकार उसे अधिक मान की व्यवस्था की जाये। शुक्र ने यह बताया है कि दस ग्रामों का अधिपति 'नायक' कहलाता है, सौ गाँवों के अधिपति को अनुसामन्त कहते हैं, सहस्र गाँवों के अधिपति को 'सामन्त'

तथा दस सहस्र गाँवों के अधिपति को 'आशापाल' अथवा 'विराट' कहते हैं। कौटिल्य ने भी लगभग ऐसी ही व्यवस्था राज्य की बताई है जिसमें कहा है कि आठ सौ गाँवों के बीच में स्थानीय, चार सौ गाँवों के बीच में हैं, द्रोणमुख, दो सौ गाँवों के बीच में खार्वटिक तथा दस गाँवों के बीच में संग्रहण की व्यवस्था की जाय तथा सीमाओं पर अंतपालों के अधिकार में दुर्ग बनाये जायें अर्थात् जनपद के द्वारों पर अंतपालों की रक्षा के लिए अधिष्ठित किया जाये और इन दुर्गों के बीच में स्थित सीमा की रक्षा का भार शबर, पुलिन्द, चाण्डाल, वनचर आदि को सौंपा जाये। इन क्षेत्रीय अधिकारियों के आय के साधन के रूप में कौटिल्य ने भी इन्हें भूमि देने को कहा है परन्तु उन्हें बेचने अथवा गिरवी रखने का अधिकार न हो। उसने इस सब स्थानीय व्यवस्था की देखरेख के लिए एक अध्यक्ष अथवा सचिव की नियुक्ति का उल्लेख किया है जिसका नाम 'समाहर्ता' बताया है, जिसके आधीन जनपद की व्यवस्था का उसने विस्तार के साथ उल्लेख भी किया है 'समाहर्ता' जनपद (राज्य के क्षेत्र) को चार भागों में बाँटें जिनमें से प्रत्येक की देख-रेख के लिए 'स्थानिक' नाम के अधिकारी को नियुक्त करें तथा पाँच गाँव अथवा दस गाँवों पर 'गोप' नामक अधिकारी नियुक्त करे (शुक्र के अनुसार 'नायक') पुस्तकों में गावों के लिए कृषि योग्य स्थान, बन्जर, ऊँचे स्थल (टीले आदि)—उद्यान, वन, चैत्य, देवालय, तालाब, श्मशान, सत्र (यज्ञ स्थल) प्याऊ, पुण्य, स्थान मार्ग, खेत, खेतों की सीमा, वन की सीमा, मार्ग की सीमा तथा खेत को जोतने-बोने के लिए देना, खेत का विक्रय, दान तथा कर से मुक्ति आदि सब निबन्धित होनी चाहिये। घर में से कितने कर देने वाले हैं, कितने कर देने वाले नहीं हैं, यह भी लिखा जाना चाहिये। इन घरों में से कितने घर किस वर्ण के हैं, कितने किसान, ग्वाले, व्यापारी, कारीगर तथा सेवक हैं, कितने पक्षी-पशु हैं और यहाँ से राज्य को कितना सुवर्ण, कितनी बेगार, कितना शुल्क और कितना दण्ड प्राप्त होता है यह भी लिखा जाना चाहिए। कुलों के विषय में तथा उनके स्त्री, पुरुष, बाल-वृद्धों के विषय में उनके कार्य, चरित्र (व्यक्तिगत चरित्र अथवा प्रथाएँ) आजीविका तथा व्यय के परिमाण आदि भी ज्ञात होने चाहिए। इसके अतिरिक्त राज्य को ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ट इन तीन भागों में बाँट कर कौन से ग्राम कर देने से मुक्त हैं, कौन से सेना के व्यय में लगे हैं यह भी लिखना चाहिए तथा यह भी लिखना चाहिए कि किस ग्राम में कितना, धान्य, पशु, सुवर्ण, वृक्ष आदि हैं और किसका कितना कर प्रति कर देना है। इन सब बातें का पता रखने के लिए तथा बताने के लिए गृह प्रति (गृहस्थ) गुप्तचरों की योजना की जाय जो ग्राम के खेतों, गृहों, कुलों का ज्ञान दे तथा गृहों के वर्ण, कर्म, उनकी आय व्यय आदि भी बताए तथा आने वाले, जाने वाले, प्रवास करने वाले तथा दुष्ट लोगों का भी ज्ञान रखें। वैदेहक (व्यापारी) गुप्तचर अपने राज्य में उत्पन्न वस्तु, राज्य की व्यापार-सम्बन्धी सेतु वन, कारखानों और उत्पन्न वस्तुओं का ज्ञान रखें। वहाँ पर राज्य में उत्पन्न वस्तु, जल के मार्गों से लोगों

और वस्तुओं का आना-जाना, व्यापार की वस्तुओं का मूल्य आदि, शुल्क (चुंगी)। वर्तनी (मार्ग शुल्क), अतिवाहिक (वाहन कर), आदि का भी ज्ञान रखे। तापस गुप्तचर, किसान, व्यापारी, अध्यक्षों आदि की ईमानदारी व बेइमानी का ज्ञान रखे। पुराने चोर, गुप्तचर, ग्राम के अन्दर, चैत्यों में मार्गों पर, विसर्जन स्थानों में, वृक्ष, नदी, तीर्थ, आश्रम, वन, पर्वत में चोरों तथा शत्रुओं के के वीर पुरुषों प्रवेश करने, ठहरने और जाने का तथा उसके प्रयोग का ज्ञान रखें। इस प्रकार समाहर्ता जनपद के कल्याण का विचार करें। ऊपर राजा के शासन की जो विस्तृत व्यवस्था वर्णित है उससे श्रेष्ठ व्यवस्था का देश के प्रशासन के लिए निर्माण करना कठिन है।

स्थानीय प्रशासन-ग्रामों तथा नगरों का — राज्य के सम्पूर्ण व्यवस्था के वर्णन के पश्चात ग्रामों और नगरों की व्यवस्था शेष रह जाती है। गाँवों की परिभाषा शुक्र ने जो दी है कि जो एक कोस में बसा हो तथा जहाँ से एक सहस्र चांदी के पण (रुपये) की आय हो वह ग्राम है। आधे गाँव को पल्ली और पल्ली के आधे भाग (चौथाई भाग) को कुम्भ कहते हैं। कौटिल्य का भी कहना है कि कोस दो कोस की सीमा में गाँव बसाये जायें। जिनमें शुद्र और किसान अधिक हों, सौ से लेकर पाँच सौ तक कुल हों तथा जो गाँव एक दूसरे की रक्षा करने में समर्थ हों और इन गाँवों की सीमा, नदी, पर्वत, वन, खाई अथवा गुफा सेतु, बाँध अथवा वृक्षों से बनाई जाय। शुक्र ने प्रत्‍ क ग्राम तथा पुर में छः राज्य कर्मचारी रखने की व्यवस्था निर्दिष्ट की है जो हर छः कर्मचारी हैं—(१) ग्राम का अधिपति, (२) साहस-अधिपति अर्थात् सुरक्षा अधिकारी, (३) भागहार अर्थात् कृषि सम्बन्धी राज्य की आय लेने वाला, (४) लेखक, (५) प्रतिहार, (६) शुल्क ग्राह अर्थात् व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क लेने वाला। इन सबके कामों को विस्तार से बताते हुए शुक्र ने कहा है कि ग्राम का अधिपति माता-पिता के समान, लुटेरे, चोर और अधिकारी गणों से प्रजा की रक्षा करने में दक्ष होना चाहिए। साहसाधिपति न बहुत क्रूर न बहुत मृदु होना चाहिए और उसे दण्ड का निधान इस प्रकार करना चाहिए कि प्रजा नष्ट न हो। भाग हार इस प्रकार से काम करने वाला हो जो माली के समान वृक्षों को पुष्ट कर उनसे फल और फूल बीने अर्थात् वह इस बात की भी व्यवस्था करे कि लोगों की खेती आदि उत्तम हो तथा वह उतना ही भाग उसमें से ले जिसमें लोग नष्ट न हो जाय। लेखक अर्थात् ग्राम की पुस्तकों आदि की देख-भाल करने वाला (पटवारी अथवा लेखपाल) ऐसा व्यक्ति हो जो अपना लेख असंदिग्ध और बिना गूढ़ार्थ के लिखे गणित में कुशल तथा देश की भाषा को अच्छी प्रकार जानने वाला होना चाहिए। प्रतिहार (चौकीदार) शस्त्रास्त्र में कुशल दृढ़ शरीर वाला, निरालसी, विनम्र और ठीक प्रकार से पुकार करने वाला (पुकार लगाने वाला तथा बुलाने वाला) होना चाहिए। शुल्क-ग्राह अथवा शौल्किक ऐसा होना चाहिए जो इस प्रकार शुल्क ले जिससे व्यापारियों का मूल धन नष्ट न हो। इनके वर्ताव के विषय में शुक्र का कहना है कि ग्राम का अधिपति ब्राह्मण

सहस्राधिपति तथा भाग ग्राह क्षत्री, शुल्कग्राही वैश्य, लेखक का स्थान तथा प्रतिहार शुद्र होना चाहिए। कौटिल्य ने भी ग्राम की व्यवस्था का उल्लेख किया है जिसमें ग्राम अधिकारी तथा ग्रामवासियों द्वारा अपराधियों को दण्ड देने का तथा ग्राम के सामाजिक जीवन की रक्षा का पूर्ण उल्लेख है। ग्राम की आन्तरिक व्यवस्था की ही दृष्टि से सीमा-सम्बन्धी झगड़ा निपटाने का अधिकार ग्रामवासियों को बताया गया है तथा विभिन्न जातियों को भी अपने पारस्परिक झगड़े निपटाने का अधिकार है। इन सब वर्णनों से प्रतीत होता है कि यद्यपि स्थानीय शासन व्यवस्था पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण होना आवश्यक माना गया था। फिर भी स्थानीय व्यवस्था बहुत अंशों में स्थानीय व्यक्तियों के हाथ छोड़ दी गई थी।

नगर की व्यवस्था की दृष्टि से नगर-निर्माण का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र शुक्रनीति, शान्तिपर्व, मत्स्यपुराण, वायुपुराण में दिया हुआ है। इन सभी वर्णनों में यह बताया गया है कि नगर निर्माण में नगर की सुरक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए, राज प्रासाद, राज्य-सभा, विभिन्न कार्यालय, नगर की सुविधा, समस्त वस्तुयें जैसे तालाब, उद्यान आदि, मन्दिर, बाजार, कर्मचारियों के घर, मार्ग, जनता के व्यक्तियों के वर्णनानुसार तथा व्यवस्थानुसार घर-धर्मशाला, श्मशान होने चाहिएँ तथा नगर की आवश्यकता की पूर्ति के लिए विविध वस्तुओं का संग्रह होना चाहिए। नगर कैसा होना चाहिए इसका शान्तिपर्व में वर्णन करते हुए बताया है कि जो पुर ऐसा हो जिसमें दुर्ग धान्य और शस्त्रों से पूर्ण दृढ़ आकार (चारों ओर की दीवार) और और परिखा वाला हो, हाथी, घोड़े, रथों से भरा हुआ, जिसमें विद्वान और शिल्पी हों, ठीक से संचित किए हुए भण्डार हों, जिसमें धार्मिक कार्यशील व्यक्ति हों, तेजस्वी व्यक्तियों से भरपूर हो, सभी व्यापारिक वस्तुओं से युक्त हों, जिसके लोगों का व्यवहार प्रसिद्ध हो, जो शान्त हो तथा जहाँ भय न हो, जो दमकता हुआ गाने-बजाने से निनादित, जिसमें बहुत बढ़िया घर हों, शूर और धनवान व्यक्तियों से सम्पन्न हों वेद-ध्वनि से गूँजता हुआ हो, सामाजिक उत्सव जिसमें होते हों, सदा देवता की पूजा होती हो, ऐसे पुर अपने अमात्य और सेना को वश में रखने वाला निवास करे। जनपद के समान नगर में भी पूर्ण प्रबन्ध का कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में वर्णन मिला है। कौटिल्य ने लिखा है कि नागरिक (नगर का अधिकारी) समाहर्ता के समान ही नगर की व्यवस्था करे तथा वह भी नगर को चार भागों में बाँटकर प्रत्येक को एक स्थानिक के आधीन करे तथा दस से लेकर चालीस कुलों पर एक गोप नियुक्त करे। गोप अपनी व्यवस्था में आने वाले स्त्री-पुरुषों के नाम, गोत्र, जाति, कर्म, आय, व्यय, जाने, बाहर से आने वालों पर ध्यान रखे तथा घर के लोग बाहर से आने वाले व्यक्ति की सूचना गोप तथा स्थानिक को दें अन्यथा उन पर दण्ड हो और यदि बाहर से आने वाला व्यक्ति कोई अपराध करे तो जहाँ वह ठहरा है उसका गृह-स्थान भी उस अपराध का दोषी माना जाय। यदि कोई अधिक व्यय करता हो, अथवा अनुचित कार्य करता हो अथवा छिपे ढंग से अपने घाव

का उपचार कराता हो तो प्रत्येक जानकार को उसकी सूचना भी नगर अधिकारियों को दे देनी चाहिए। इन नियमों के अतिरिक्त कौटिल्य ने आग से सुरक्षा का, नगर की स्वच्छता का, मृत पशुओं और मनुष्यों की व्यवस्था का, चोरी से सुरक्षा का भी नगर व्यवस्था के अन्दर विस्तृत उल्लेख किया है।

अपराधियों को दण्ड—राज्य के प्रशासन में जो सबसे अधिक महत्व की और आवश्यक बात है वह है कि अपराधियों को दण्ड देना। मनुस्मृति में कहा है कि जिसके राज्य में चोर, परस्त्रीगामी, दुष्टवाणी बोलने वाला साहसिक (डाकू, हत्यारा आदि) अथवा मारपीट करने वाला नहीं होता वह इन्द्रलोक को जाता है। अपने राज्य में इन पांचों पर नियन्त्रण करने वाला अन्य राजाओं पर साम्राज्य करता है तथा संसार में यशकारी होता है। इन पांचों अपराधों के विषय में स्मृतियों ने विस्तार से बताया है। फिर दुष्ट वाणी के अन्तर्गत—कठोर वचन कहना, किसी मनुष्य के ज्ञान, देश, जाति, कर्म तथा शरीर की दुर्भावना से निन्दा करना, किसी के अंग-भंग, अथवा रोगी इन्द्रीय के विषय में चिढ़ाना, माता, पिता, पत्नी, माता, पुत्र, गुरु को गाली देना तथा आपस में कहा सुनी होना सम्मिलित किया गया है। कौटिल्य ने वाक पारुष्य में निन्दा करना, उपहास करना, तथा भर्त्सना करना भी सम्मिलित किया है। मिथ्या प्रवाद तथा व्याज स्तुति पर भी दण्ड बताया है। किसी को मारने की धमकी देना भी दण्ड योग्य कहा है तथा यह भी कहा है कि जो अपने देश, ग्राम, जाति, संघ (कोई संस्था जिसका वह सदस्य है) अथवा समुदाय की निन्दा को उसे भी दण्ड मिलना चाहिए। दण्ड मारुष्य अर्थात मारपीट में वनस्पतियों की शाखा, तना, जड़, न काटनी अथवा पशु पर प्रहार, अगीडन और मारना, किसी के द्रव्य का नाश करना अथवा उपभोग की हुई वस्तुओं का नाश करना; स्त्री, पुत्र, दास, भ्राता, आदि को अधिक ताड़ना देना; किसी पर भस्म, कीचड़, धूल फेंकना, किसी पर थूकना, कुल्ला करना, हाथ, पांव, केश, वस्त्र पकड़कर खीचना, किसी का चलना, खाना आदि रोक देना, शरीर का कोई अंग तोड़ देना, मुह काला करना, लकड़ी, ढेला, पत्थर, लोहा, दण्ड, रस्सी आदि से प्रहार करना, किसी पर शस्त्र, सर्प जैसी धातक वस्तु फेंकना सम्मिलित किया है और मारने में क्रम से चमड़े को पेरना, रक्त निकालना; माँस-भेद करना तथा हड्डी-भेदन करना क्रमशः एक एक से अधिक बढ़कर बताए गये हैं। चोरों को दण्ड देना यह इनसे भी बढ़कर है। मनु का कहना है कि चोरों को रोकने में राजा बहुत यत्न करे क्योंकि इससे उसके यश और राज्य में वृद्धि होती है। यदि राजा चोर को दण्ड न दे तो उसे उस चोरी का पाप लगता है। चोरी का महत्व होने के कारण मनु स्मृति और कौटिल्य दोनों ने इसका बहुत अधिक उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य और कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में उन लोगों का वर्णन किया है जिन्हें शंका में पकड़ना चाहिए इसके अन्तर्गत निम्न व्यक्तियों को रखा है जिसकी कुल सम्पति नष्ट हो गई हो अथवा कोई आय नहीं हो, जो अपना देश, जाति, गोत्र, नाम, गलत बतायें, जो

गुरु का कार्य करता हो, जो मांस-मदिरा, अभक्ष भोजन में सुगन्ध, माला, वस्त्र, भूषण आदि आसक्त हो तथा ऐसे व्यक्तियों का सत्संगी हो, सर्वदा बाहर घूमने वाला हो, जिसके स्थान का, गवन तथा वेचने की वस्तुओं का कुछ पता न चलता हो, जो अनुपयुक्त समय में एकान्त में, वन में घूमने वाला हो, जो गुप्त रूप से मंत्रणा करता हो, जो सदा भीतर रहता हो, जो दूसरे के घर में घुसता देखा गया हो, जो परस्त्री द्रव्य, शूर को गौर से देखता हो, जिसके पास बुरे कर्मों के शास्त्र और उपकरण हों, जो रात्रि में दिवालों की छाया में घूमते हों, जो रूप बदली हुई वस्तुओं को अनुचित स्थान और काल में वेचता हो, जो विना कारण वैर रखता हो, जिसकी जाति, कर्म नीच हो, जो अपना रूप छिपाये रखता हो, जो अपने रूप से भिन्न आकार रखता हो, जो अपना कर्म छिपाता हो, जो नागरिक और सरकारी कर्मचारी को देखकर छिप जाता हो अथवा खिसक जाता हो, जो एकान्त में वैठा हो, चिन्तित रहता हो, जिसके मुख का रंग सूखा और स्वर भिन्न हो, जो शस्त्रधारी हो, मनुष्यों को कष्ट देने वाला हो तो ऐसे व्यक्ति को अपराधी हिंसक निधि (रखी हुई सम्मति) और निक्षेप (धरोहर) का अपहरणकर्त्ता, विष का प्रयोगकर्त्ता और गुप्त जीविका करने वाला समझ लेना चाहिए। चोरों तथा अन्य अपराधियों को पकड़ने की विधि यह बताई है कि जो उनके (वीरों अथवा अन्य अपराधियों के) सहायक, अनुगामी, विभिन्न अपराध सम्बन्धी कामों में निपुण तथा पुराने चोर हों उनके द्वारा चोरों आदि को जानकर उन्हें नष्ट किया जाय और उन्हें विभिन्न बहानों से बुलाया जाय। मनु ने चोरों की सहायता करने वाले व्यक्तियों को भी दण्ड देना बताया है चाहे वह राज्य अधिकारी ही हो। मनु ने यह भी कहा है कि जो चोरों के आने पर नहीं दौड़ते उन्हें भी दण्ड देना चाहिये। कौटिल्य ने भी चोरों को पकड़ने के लिए उपरोक्त ढंग बताया है तथा अन्य अपराधों की जाँच करने का विस्तृत ढंग भी वर्णन किया है कि जिसमें यह बताया है कि किस प्रकार के व्यक्तियों को सन्देह में पकड़ना चाहिए, व्यापारियों को चोरी की वस्तु की सूचना देकर चोरी का इस प्रकार पता लगाकर उन्हें पकड़ना चाहिए तथा किस प्रकार की चोरी में यह समझना चाहिये कि केवल घर के अन्दर के ही व्यक्तियों द्वारा चोरी की गई है और किस प्रकार की चोरी में यह समझना चाहिए कि उसमें बाहर वाले भी सम्मिलित हैं। यदि घर के किसी व्यक्ति द्वारा ही चोरी किये जाने का सन्देह हो तो उससे किस उत्तर के व्यक्तियों को पकड़ना चाहिये। चोरी के विषय में अन्य आस-पास के लोगों से किस प्रकार प्रश्न करना चाहिए तथा जिन पर चोरी का सन्देह हो उससे किस प्रकार प्रश्न करना चाहिये। कौटिल्य ने चोरी रोकने के लिए आवश्यक व्यवस्था बताई है। चोरी के अन्तर्गत वस्तुओं की चोरी के अतिरिक्त पुरुषों और कुलीन स्त्रियों की चोरी तथा चोर के हाथ से वस्तु लेना भी चोरी के अन्दर सम्मिलित हैं। परन्तु वनस्पति फल, मूल, होम के लिए लकड़ी गौ के लिए चारा और भूखे पथिक द्वारा खाने के लिये थोड़ी ईख, मूली आदि ले लेना चोरी

के अन्तर्गत नहीं माना गया है। यद्यपि वाक्-पौरुष्य, दण्ड-पौरुष्य और स्त्री संग्रहण में नीचे वर्णों को अपराध का दण्ड अधिक है, परन्तु चोरों ने ऊपर के वर्णों के लिए नीचे के वर्णों की तुलना में दुगुना दण्ड बताया है। पहली बार की चोरी अथवा अपराध का दण्ड कम है, दूसरी बार का दण्ड अधिक है (हाथ पैर काटना) तथा तीसरा बार का बहुत अधिक (मृत्यु) है। याज्ञवल्क्य का यह भी कहना है कि यदि चोर न पकड़ा जावे तो गाँव में चोरी होने पर ग्राम के अधिकारी का दोष है, धर्मशाला आदि में चोरी हो तो वहाँ के स्वामी का और मार्ग में चोरी हो तो मार्ग रक्षक का। यदि गाँव की सीमायें चोरी हो तो गाँव वाले धन दें अन्यथा जहाँ चोर का माल गया हो वहाँ के लोग दे। गुप्त रूप से धन का हरण चोरी है परन्तु जिसमें हिंसापूर्ण ढंग से कोई कृत्य किया जाय अथवा वस्त्र......जाय वह साहस है। उपरोक्त तीन अपराधों से (वाक्-पौरुष्य, माली आदि दण्ड पौरुष्य मारपीट, तथा चोरी से) साहस बड़ा अपराध है; साहस जिसमें डाके हत्या आदि सम्मिलित हैं। वाणी का दुष्ट चोर और दण्ड से मारने वाला इन सबसे साहस करने वाले मनुष्य को अधिक पापी समझना चाहिए। जो राजा साहस के करने पर भी उसे क्षमा करता है वह शीघ्र विनष्ट होता है तथा शत्रुओं के वश हो जाता है। इसलिए मित्रता की भावना के कारण अथवा विपुल धन के आधार पर राजा मनुष्यों को भय देने वाले साहसियों को न छोड़े।

इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि इन साहस के कार्यों के पीछे (उनके हत्या आदि) बहुधा बहुत धनवान अथवा......व्यक्तियों का हाथ रहता है, परन्तु उन्हें भी अवश्य दण्ड देना चाहिए। इसलिए याज्ञवल्क्य का कहना है कि जो साहस करेगा उसे चौगुना दण्ड होना चाहिये। कौटिल्य ने एक अध्याय में हत्या का विवरण दिया है और किस वस्तु से हत्या की गई है यह पहचानने का ढंग, तथा वध के कारण जानने की पद्धति और बाधक को खोजने का ढंग भी विस्तार से बताया है। एक अन्य अध्याय में मार डालने, विष देने, अंग-छेदन करने, आग लगाने, पुक्त तोड़ने, राजा अथवा माता-पिता के प्रति अपराध करने में व्यक्तियों को कितना दण्ड देना चाहिए यह भी विस्तार के साथ वर्णित किया है। साहस के अपराध में दण्ड दिये जाने के कुछ अपवाद भी हैं। "जहाँ धर्म में बाधा पड़े, वर्ण शंकरता उत्पन्न हो, स्वयं की रक्षा के लिए युद्ध में, स्त्री, ब्राह्मण की विपत्ति में द्विजातियों को राज्य ग्रहण करना चाहिए, उससे धर्म-हानि नहीं होती है। आततायी हो, गुरु, बालक, वृद्ध अथवा विद्वान ब्राह्मण में से भी कोई हो, तो भी बिना विचार किये उसे मार डालना चाहिए और उसके वध में मारने वाले को कोई दोष नहीं क्योंकि प्रकट अथवा अप्रकट रूप से आततायी का क्रोध ही उसे मारता है। पाँचवें प्रकार के अपराधी वे हैं जो पर स्त्री के साथ व्यभिचार करते हैं। इस अपराध का वर्णन स्त्री-संग्रहण के नाम से किया गया है तथा इस अपराध को भी करना बहुत आवश्यक है, विशेष कर इसलिए कि भारतीय समाज वर्णों और आश्रमों पर आधारित समस्त

व्यवस्था ही इससे नष्ट होती है, इसके कारण पारस्परिक विद्वेष उत्पन्न होता है जिससे समाज की सुस्थित में बाधा पड़ती है; इससे भारतीय व्यवस्था का वैवाहिक ढाँचा विगड़ता है तथा इसके कारण मनुष्य का मन काम-वासना से दूर हटने के स्थान पर कामोपभोग निम्न प्रकृति को बढ़ता है। मनु ने कहा है 'पर स्त्री से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्तियों को राजा कष्टदायक दण्डों से अर्थात् शरीर छेदन आदि के दण्डों से दण्डित कर उन्हें राज्य निर्वासित कर दे क्योंकि उससे संसार में वर्ण शंकरता उत्पन्न होती है जिससे समाज का मूल नष्ट करने वाला अधर्म सब लोगों के नाश के लिए उत्पन्न होता है। स्त्री संग्रहण अर्थात् व्याभिचार पर स्त्री अथवा पर पुरुष से काम सम्बन्ध सम्मिलित है। साथ ही साथ निर्जन स्थानों पर जैसे वन आदि, पर स्त्री से वातचीत करना, परायी स्त्री के पास माला आदि भेजना, हंसी आलिंगन करना, गहने वस्त्र पकड़ना, जग्घा, निर्वा, केश आदि पकड़ना एक आसन पर वैठना, एक सैया पर सोना अथवा काम चिह्न करना भी स्त्री संग्रहण के अपराध हैं। स्त्री के अभिभावकों द्वारा मना करने पर भी किसी अन्य पुरुष की स्त्री से वातचीत करना भी इसी अपराध के अन्तर्गत आता है तथा कन्या का किसी स्त्री अथवा पुरुष द्वारा किसी प्रकार से कन्यात्व नष्ट करना अपराध है। अस्वभाविक व्याभिचार भी दण्डनीय है। परन्तु इसके अपवादों में दूसरे राज्य, वर्ण, नदी के प्रवाह से लाई हुई स्त्री, दुर्भिक्ष में अथवा मृत समझकर छोड़ी हुई स्त्री तथा अपहृत पर स्त्री के साथ उसके इच्छा के अनुसार सम्भोग सम्मिलित हैं। वैश्याओं अथवा नर आदि की स्त्रियों के साथ सम्भोग भी दण्डनीय नहीं है क्योंकि वे स्त्रियाँ स्वयं सुसज्जित होकर दूसरों के साथ सहवास करती हैं, किसी पर स्त्री के साथ कोई कारण होने पर एकान्त में वात करने में भी दोष नहीं है यदि वह पुरुष पहले से ही स्त्री संग्रहण का दोषी न हो। भिक्षु, यज्ञकर्त्ता तथा कारीगर आदि विना किसी दोष के पर स्त्रियों से वात कर सकते हैं। इन पाँचों प्रमुख अपराधों के अतिरिक्त अन्य अपराध रोकने का भी राजा का कर्त्तव्य हैं। इन अपराधों में महापातक, तथा कर्मचारियों के और व्यापारियों तथा अन्य समाज विरोधी अपराधों का पहले ही वर्णन कर दिया गया है। राज्य विरोधी अपराधों को भी रोक आवश्यक है क्योंकि यदि राज्य नष्ट करने वालों के प्रयत्न न रोके गये तो राज्य का आस्तित्व न रहेगा तथा राज्य द्वारा समाज की और समाज व्यवस्था की रक्षा और समाज का पालन भी सम्भव न रह जायेगा। इनमें सबसे प्रमुख अपराध है राजा से द्वेष करना जिसे वर्तमान काल में राजद्रोह कहा जाता है। नियमित कर से अधिक कर लेना भी कर्मचारियों का एक अपराध है। राजा की आज्ञा को गलत ढंग से लिखना भी अपराध है तथा विवाद में अकाम करना तथा गुप्त मंत्र प्रकट करना भी मनु ने राज्य के विरुद्ध अपराधों में—नगर की दिवाल तोड़ने वाला और खाई भरने वालों को भी गिना है। अन्य राजकीय अपराधों का कर्मचारियों के अपराधों के वर्णन में उल्लेख कर दिया गया है।

ऊपर जिन अपराधों का उल्लेख किया गया है, उन्हें रोकना इसलिए आवश्यक है कि उनके रोकने से समाज के अन्दर का पारस्परिक संघर्ष रोका जा सकता है। जब यह कहा जाता है कि राज्य का प्रमुख कार्य समाज की रक्षा है और दुष्टों का दमन है तो उसका प्रधान अर्थ यही है कि विभिन्न प्रकार के जो अपराधी हैं उन्हें राज्य अपनी शक्ति के आधार पर नियन्त्रण में रखे। क्योंकि बिना दण्ड (दो अर्थ) के वस में आ ही नहीं सकते और बिना वस में आये वह समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था को नष्ट कर देते हैं। उसका महत्व बताने के लिये शान्तिपर्व में में कहा है कि "उद्यानों में, क्रीड़ा, अमोद के स्थानों में, प्याऊ आदि पर, धर्मशालाओं में, मद्यपान के स्थानों पर, वेश्याओं के यहाँ, तीर्थों में तथा लोक—एक भी करण के स्थानों पर धर्म नष्ट करने वाले, पापी, चोर संसार के कण्टक आते हैं। राजा उन्हें खोजकर दण्ड दे। इन्हें ठीक करने का उपाय बताते हुए कहा है कि यदि मर्यादा को नष्ट करने दुष्ट दस्यु उत्पन्न हो जाय तो उन्हें ठीक करने के लिए यह उपाय है कि जो दो प्रकार प्रज्ञा, सरला और वक्रा होती है उनमें से यथासम्भव तो वक्रा प्रज्ञा से काम न ले परन्तु बाधा पड़ने पर उसका अवश्य उपभोग करे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि दुष्ट लोग क्योंकि सरल ढंग से ठीक नहीं होते अतः वक्र ढंग से ठीक करना चाहिए। अपराधों को नष्ट करने का राज्य के लिए बहुत महत्वपूर्ण काम होने के कारण शुक्र ने ऐसे अपराधियों की एक बहुत लम्बी सूची दी है जिन्हें राज्य से निर्वासित कर देना चाहिए।

राज्य के शासन-प्रबन्ध में अपराधियों को दण्डित करना तथा उन्हें वश में रख उनसे प्रजा का रक्षण करना यह तो एक महत्वपूर्ण कार्य है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त राज्य की प्रबन्ध मे प्रजा के सुविधा के लिए राज्य को अन्य भी बहुत-से काम करने उचित है। इन सब का वर्णन संक्षेप में पिछले अध्याय में राज्य के कार्यों का वर्णन करते समय पर ही दिया गया है। शासन प्रबन्ध की दृष्टि से बहुत-से कार्य हैं। वे सब पिछले अध्याय में दिये गये हैं। अतः उन्हें दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

गुप्तचर—राज्य की सुरक्षा, व्यवस्था, जानकारी तथा राज्य के अन्दर गड़बड़ी करने वाले राज्य अधिकारी गण, व्यापारी, अपराधी तथा शत्रु के लोगों की देखभाल करने के लिए गुप्तचरों की भी आवश्यकता है। पीछे यह भी बताया है कि नित्यप्रति गुप्तचरों से सम्पूर्ण राज्य की जानकारी प्राप्त करना राजा का एक आवश्यक कार्य है तथा गुप्तचरों के द्वारा राजा को प्रजा के मत जानने का प्रयत्न करना चाहिए गुप्तचरों के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त भी विभिन्न राजनीति के ग्रंथों में नियम बताये गये हैं। मनु, अग्निपुराण तथा कामन्दक ने गुप्तचरों को राजा की आँखें बताया है जिनके द्वारा राजा राज्य का सब हाल जानता है और जिनके बिना वह अंधा रहता है। राजा के दैनिक कार्यक्रम में मनुस्मृति में कहा है कि "द्रव्य को हरण करने वाले दो प्रकार के डाकू होते हैं, एक तो प्रकट तथा एक अप्रकट और

इन्हें राजा अपने गुप्तचर रूपी नेत्रों से पहिचान ले। प्रकट रूप से लूटने वाले तो विभिन्न प्रकार के व्यापारी होते हैं और गुप्त ठग, चोर तथा वनों में रहने वाले डाकू होते हैं। "मनु ने प्रकट ठगों में रिश्वत लेने वालों, ठग, जुआरी, चिकित्सक, कारीगर तथा निपुण वेश्याओं को भी सम्मिलित किया है और कहा है कि इन सभी के विषय में अच्छे चरित्रवाले, गुप्त रूप से रहने वाले, उन्हीं के व्यवसाय करनेवाले गुप्तचरों द्वारा जानकारी प्राप्त की जाये जिन गुप्तचरों को विभिन्न स्थानों पर नियुक्त किया जाये और उन कण्टकों को जानकर फिर से राजा इनको दण्ड देकर वश में करे। इन गुप्तचरों के रहने योग्य स्थान मनु ने बताये हैं—सभा, प्याऊ, सदावर्त के स्थान, अन्न के विक्रय के स्थान वेश्यागृह, चौराहे, चैत्य, वृक्ष, विभिन्न व्यक्तियों के समाज, टूटे हुए बाग, वन, शिल्पगृह, शून्य स्थान, वन-उपवन और कहा है कि (उपर्युक्त) डाकुओं के लिए इन स्थानों पर राजा गुप्तचर और स्थिर तथा भ्रमण करती हुई सेना रखे। शान्तिपर्व में भी चरों के रखने की आवश्यकता कई स्थानों पर बताई है। मनुस्मृति के समान ही उन स्थानों का उल्लेख किया गया है, जहाँ राजा को मित्रों, पुत्रों के पास, पुर, जनपद में, सामन्त राजाओं के पास भी गुप्तचर छोड़ने का आग्रह है और उन गुप्तचरों के विषय में बताया गया है कि वे परीक्षित हों, भूख, प्यास, परिश्रम सहने वाले हों तथा जड़, अन्ध और बधिर हों। अग्निपुराण में बहुत संक्षेप में गुप्तचरों के विषय में बताया है कि जनता द्वारा न जाने हुए, सौम्य, एक दूसरे को न जानने वाले व्यापारी, ज्योतिषी, पुजारी, चिकित्सक तथा सन्यासियों को गुप्तचर बनाया जाये, राजा उनमें से किसी एक का विश्वास न करे परन्तु यदि कई गुप्तचर एक ही बात कहें तभी माने। इन गुप्तचरों द्वारा दूसरे राज्यों के आए हुए सभी व्यक्तियों की जानकारी भी रखी जाय। शुक्र ने यह बताकर कि किन-किन व्यक्तियों की जानकारी गुप्तचरों से प्राप्त करनी चाहिए (अधिकारी, प्रजा, शत्रु, सैनिक, स्त्री, बांधव आदि) तथा कौन लोग गुप्तचर बनाये जायें, यह कहा है कि जो राजा झूठ बोलने वाले गुप्तचर को दण्ड नहीं देता वह राजा मलेच्छ और प्रजा का प्राण और धन अपहरण करने वाला है; इसलिए गुप्त रूप में तथा प्रकट रूप से उनकी सत्यता की परीक्षा करे क्योंकि उनकी सत्यता की परीक्षा किये बिना वह तत्त्व नहीं जान सकता तथा वैसा किये बिना गुप्तचर झूठ बोलने से नहीं चूकते। गुप्तचरों के सम्बन्ध में विस्तार से नियम कामन्दक तथा कौटिल्य ने दिये हैं तथा कौटिल्य ने यह भी विस्तार के साथ बताया है कि शत्रु के साथ व्यवहार में अपने राज्य के विरोधी को अपराधियों आदि को नष्ट करने में राज्य के विषय में ज्ञान प्राप्त करने में तथा राज्य के अधिकारियों की जानकारी प्राप्त करने में गुप्तचरों का किस प्रकार उपयोग किया जाये। कौटिल्य का कहना है कि विभिन्न प्रकार के लोगों को छात्र, सन्यासी, कृषक, व्यापारी, तपस्वी, ज्योतिषी, तंत्र-मंत्र, वशीकरण, माया, पक्षियों की बोली जानने वाले; शूरवीर; भाइयों पर भी स्नेह न रखने वाले; क्रूर; परिव्राजिका, दरिद्र अथवा विधवा ब्राह्मणी-गुप्तचर बनाना चाहिए और उसने इनके क्रमशः नाम दिये हैं

कापटिक, उदास्थित, गृहपति, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुणी। कहाँ किस प्रकार के गुप्तचर का प्रयोग किया जाय यह भी बताया है। यह तो बाह्य चर हैं परन्तु कौटिल्य ने इनके अतिरिक्त कुबड़े, बौने, गूंगे, बहरे, जड़, अंधे व्यक्तियों तथा नट, नर्तक, गायक वादक, कथाएँ सुनाने वाले, खेल-तमाशा करने वाले तथा स्त्रियों को भी अभ्यन्तर चर बनाने के विषय में कहा है जो घर में जाकर पता लगाते हैं। कौटिल्य ने यह भी नियम बताया है कि ये अभ्यन्तर गुप्तचर सब सूचना प्रथम पाँच प्रकार के गुप्तचरों को (छात्र आदि) दे जिन्हें कौटिल्य ने पंच-संस्था कहा है। यह सूचना संकेतलिपि द्वारा दी जानी चाहिए। ये सभी गुप्तचर परस्पर में एक दूसरे को तथा पञ्चसंस्था के अन्य गुप्तचरों को न जाने। कौटिल्य ने अन्य ग्रंथों के समान यह भी नियम बताये हैं कि जब तीन गुप्तचरों की बात एक-सी निकले तब उसका विश्वास किया जाय; इन गुप्तचरों की पवित्रता का भी ऐसा ही अन्य गुप्तचरों से राजा पता लगाता रहे तथा शत्रु, मित्र उदासीन मध्यम राजाओं के देश में, अठारह तीर्थों के पास, सीमा पर, लोगों के घरों में, वनों में तथा शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाने के लिए रखा जाय। कामन्दक ने कौटिल्य के ही समान गुप्तचरों के नियम बताये हैं तथा इनके अतिरिक्त अभ्यन्तर चरों में छत्र और चमर धारण करने वाले, यान (सवारी—रथ आदि) तथा वाहन (घोड़े आदि) पर काम करने वाले, भोजन बनाने वाले, शृंगार करने वाले, शरीर की मालिश आदि करने वाले, जल, पान, फूल, गन्ध और आभूषण देने वाले (बेचने वाले अथवा ये वस्तुएँ देने की नौकरी करने वाले) लोगों को भी रखा है। कामन्दक का कहना है कि गुप्तचर तर्क तथा चेष्टा से भाव जानने वाले, स्मृतिमान, मृदु, कष्ट, परिश्रम सहने वाले, दक्ष और प्रतिपत्तिमान (तुरन्त बुद्धि) होने चाहिए तथा यह आकार, इंगित, संज्ञा, आदि के द्वारा लोगों के भावों को पहचानते रहें। कामन्दक ने गुप्तचरों का महत्त्व भी बताया है कि गुप्तचर रखने वाला राजा सोता हुआ भी जागते हुए के समान है (उसे सब बातों का ज्ञान रहता है) और बिना गुप्तचर के वह जागता हुआ भी सोते हुए के समान है तथा फिर वह जागने में समर्थ नहीं रहता। इनके द्वारा राजा शत्रु पक्ष के तथा अपने पक्ष में पापी लोगों का ज्ञान प्राप्त करे और फिर जो पापी हैं अथवा अकारण क्रुद्ध हैं उन्हें दण्ड दे तथा जो सकारण क्रुद्ध हैं उन्हें दान, मान से अपने वश में करे तथा अपने छिद्र को पूरा करे।

लिखित व्यवस्था का आग्रह—राज्य के प्रबन्ध में अन्तिम बात यह है कि राज्य की शासन-व्यवस्था लिखित रूप में होनी चाहिए। शुक्र नीति में कहा है कि "राजा के लेख (लिखित आज्ञा) के बिना कर्मचारी लोग कोई काम न करें तथा राजा भी कोई छोटी अथवा बड़ी आज्ञा बिना लेख के न दे। पुरुष के लिये भूलना अथवा भ्रान्ति हो जाना बहुत स्वाभाविक है अतः लेख द्वारा उचित निर्णय होता है। जो बिना लेख के आज्ञा देता है तथा बिना लेख के कार्य करता है वह राजा और कर्मचारी दोनों चोर हैं। राज्य का चिह्न बना हुआ लेख ही राजा है, राजा

(व्यक्ति) राजा नहीं है।" कौटिल्य ने कहा है कि "शासन (लिखित आज्ञा) को शासन कहते हैं। राजा लोग शासन प्रधान होते हैं (अर्थात् अपना कार्य लिखित रूप में करते हैं) इसके कारण संधि, विग्रह भी लिखित होते हैं, इसलिए राजा अमात्य के गुणों से युक्त, सभी कानूनों को जानने वाला, शीघ्र ग्रन्थ अथवा अक्षर लिखने वाला, बोलने में समर्थ लेखक नियुक्त करे। वह अव्यग्रमन (सुस्थिरचित) होकर राजा का सन्देश सुन निश्चित अर्थ का लेख तैयार करे" राजाज्ञा पर सब मन्त्री किस प्रकार सहमति दें इसका विस्तृत विवरण शुक्रनीति में किया है राजा अपनी इच्छा के अनुसार लेख तैयार करा कर उसे देखकर और उस पर विचार कर, लेख के अनुरूप चिन्ह करावे। फिर मन्त्री, प्राड्विवाक, पंडित और दूत इस पर प्रथम लिखे 'स्वा विरुद्धं लेखा' (यह लेख हमारी इच्छा के अनुकूल है) अमात्य लिख दे साधु लिखी तमास्ते (अच्छा लिखा गया है) फिर सुमन्त्र लिखे 'सम्यक विचारीतम्' (ठीक विचार है)। फिर प्रधान स्वयं लिखे 'सत्यम्, यथार्थम्' (सत्य, यथार्थ है) और फिर प्रतिनिधि लिखे 'अंगीकर्तुं योग्यम्' (अंगीकारक योग्य है)। युवराज स्वयं लिखे अंगीकर्त्तव्यम्' (अंगी कार किया जाय) और पुरोहित लिखे 'लेखा स्वाभिमतं' (यह लेख मेरे मन के अनुकूल है) यह सब लेख के अन्त में अपनी-अपनी मुद्रा का चिन्ह करें और फिर राजा लिखे। 'अंगी कृतम्' (अंगीकार किया गया) यदि राजा कार्य की अधिकता के कारण देख न सके तो युवराज आदि राजा को उसे दिखाले और मन्त्रीगण अपनी मुद्रा बना कर लिखें 'राजा दृष्टम्'''सम्यग्दर्शनाक्षमः' अर्थात् राजा ने देख लिया है परन्तु राजा ठीक से देखने में असमर्थ है। इस सब पद्धति से एक तो यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्णयों का अन्तिम समय राजा का ही लेना आवश्यक था और प्रत्येक निर्णय का अन्तिम उत्तरदायित्व उसी का था। यह भी इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण निर्णय पर सभी मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श आवश्यक था।

—:०:—

अध्याय ७

विधि, न्याय और दण्ड

राज्य के शासन के वर्तमान काल में तीन अंग माने जाते हैं—कार्यपालिका, विधायक संस्था और न्यायपालिका। यहाँ तक भारतीय शासन-व्यवस्था के अनुसार कार्यपालिका तथा उस कार्यपालिका के द्वारा राज्य के प्रशासन का वर्णन किया गया है। अतः अब विधायक संस्था का तथा न्यायपालिका का वर्णन शेष रह जाता है।

राज्य और विधि—वर्तमान काल में विधि-निर्माण का कार्य राज्य को करना पड़ता है। समाज के अन्दर जिस समय जैसी स्थिति होती है उस समय उस स्थिति के अनुसार विधि की आवश्यकता पड़ती है तथा तत्कालीन परिस्थितियों के लिये भी बहुधा विधि का निर्माण करना आवश्यक हो जाता है, विशेष रूप से उन राज्यों में, जहाँ 'विधि के अनुसार ही राज्य चलता है' (Rule of Law), वहाँ तो कोई भी बात विधि बनाये बिना की ही नहीं जा सकती, इसलिये राज्य को प्रत्येक समय विधि बनाना पड़ता है। जनतान्त्रिक राज्यों में यह विधि बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित एक पृथक् संस्था के पास होता है। अर्थात् वर्तमान काल में विधि बनाने के लिये राज्य के अन्दर साधारणतया पृथक व्यवस्था रहती है, कम से कम राज्य-व्यवस्था का वर्णन करने वाले ग्रन्थों में उसका पृथक उल्लेख अवश्य किया जाता है। परन्तु भारत में यद्यपि विधि के अनुसार राज्य का सिद्धान्त मान्य था, फिर भी यहाँ विधि बनाने का कार्य राज्य को उस प्रकार नहीं दिया गया था, जैसा वर्तमान काल में है। प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था का, और वर्तमान-कालीन (पश्चिमी देशों की पद्धति पर आधारित) राज्य-व्यवस्था के अन्तर का प्रमुख कारण यह है कि जब वर्तमान काल में राज्य प्रभुसत्ताधारी है और उसे समाज के अन्दर के सभी नियम निर्माण कर समाज-जीवन की व्यवस्था करने का भी अधिकार है, अर्थात् जबकि वर्तमान काल में राज्य का समाज के ऊपर महत्व है ऐसा कहना चाहिये कि राज्य सर्वग्राही है—तब भारतीय व्यवस्था में राज्य को स्वयं समाज-नियमों के और समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत रहना आवश्यक माना गया। क्योंकि यह समाज-व्यवस्था उन लोगों द्वारा निर्मित की गई थी जो समाज-जीवन का अनुभव प्राप्त किये हुए मनुष्य की चरम अवस्था को प्राप्त तथा सांसारिक जीवन के स्वार्थों से निर्लिप्त थे, अतः जो समाज की व्यवस्था निर्माण करने के लिये सबसे अधिक योग्य थे और क्योंकि यह व्यवस्था आप्त वाक्यों के रूप में श्रुति (वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद) दी गई थी तथा इसका स्पष्टीकरण नियमों के रूप में स्मृतियों में (जिसके अन्तर्गत धर्मसूत्र, षड्दर्शन के ग्रन्थ, वेदाङ्ग के ग्रन्थ तथा व्याकरण, कोष

आदि आते हैं) तथा कथाओं के रूप में इतिहास-पुराण ग्रन्थों में किया हुआ था। यह व्यवस्था सनातन मानी गई थी अर्थात् यह समझा गया था कि यह व्यवस्था सर्व श्रेष्ठ है और इसी को स्थापित करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यह माना गया था कि जिस मात्रा में यह व्यवस्था नहीं रहती उतनी ही मात्रा में समाज की व्यवस्था में गड़बड़ रहती है। इसीलिये इस व्यवस्था को अपरिवर्तनीय भी समझा गया था। इस कारण भी समाज की नई व्यवस्था निर्माण करने का अर्थात् समाज-व्यवस्था के नये नियम बनाने का कोई प्रश्न नहीं था। इसलिये स्वाभाविक ही विधि बनाने का अधिकार राज्य को नहीं दिया गया था और न उसकी कोई आवश्यकता ही समझी गई थी। फिर, राज्य के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारकों की यह धारणा थी (और यह वर्तमान काल में भी सत्य है) कि राज्य का अधिकार जिन लोगों के पास रहता है—चाहे राजतन्त्र हो, चाहे आभिजात्यतन्त्र हो, चाहे जनतन्त्र अथवा गणतन्त्र हो—वे सांसारिक दृष्टि से महत्त्वाकांक्षी होते हैं। वे अपने उद्देश्य की सिद्धि में अर्थात् अपने महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करने के लिये अर्थात् राज्य की प्राप्ति करने के लिये अथवा उसमें वृद्धि करने के लिये सब प्रकार के छलछद्मपूर्ण उपाय भी करने में तत्पर रहते हैं। इसलिये समाज-व्यवस्था के नियमों का निर्माण करने मे वे अयोग्य होते हैं क्योंकि वे निष्पक्ष और निर्लिप्त रूप से तथा सांसारिक जीवन के संघर्षों और स्वार्थों से ऊपर उठकर विचार कर ही नहीं सकते। राज्य को समाज व्यवस्था के नियम-विधान बनाने का अधिकार देने का अर्थ होगा उन्हीं लोगों के हाथ में समाज-नियम बनाने का अधिकार देना और यह भारतीय समाज व्यवस्थापकों को मान्य नहीं था। इसलिये केवल समाज-व्यवस्था के नियम बनाने का अधिकार ही नहीं, अपितु उन नियमों के स्पष्टीकरण का अधिकार भी राज्य को नहीं दिया गया था तथा उसके स्पष्टीकरण के लिये 'परिषद' नाम की एक संस्था निर्माण की गई थी, जिसका नीचे विचार किया जायेगा।

विधि के प्रकार और उनका तुलनात्मक विवेचन—यद्यपि भारतीय समाज-व्यवस्था में समाज-जीवन के नियम बनाने का अधिकार राज्य को नहीं था, परन्तु जैसा बताया गया, समाज-व्यवस्था के नियम तो थे ही। सबसे प्रथम, यह नियम धर्मशास्त्रों में (श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण) में दिये हुये थे—जिनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक तथा वैयक्तिक, शिक्षा, विवाह, स्त्री, पुरुष सम्बन्धी आदि सभी प्रकार के नियम थे। इसलिए इस दृष्टि से धर्मशास्त्रों के नियम विधि (कानून) के रूप में हैं। यह नियम समाज की व्यवस्था करने वाले थे और भारतीय विचार के अनुसार इनके सम्बन्ध में राज्य के लिये यह आवश्यक था कि यह देखे कि इन्हीं नियमों के अनुसार समाज का जीवन चले। परन्तु वह नियम इस दृष्टि से विधि अर्थात् कानून नहीं थे कि इनका राज्य द्वारा निर्माण किया गया हो अथवा इन नियमों के आधार पर न्यायालय में विवाद उपस्थित किया जा सके क्योंकि धर्मशास्त्रों के इन नियमों में ऐसे बहुत-से नियम हैं जो केवल व्यक्तिगत जीवन के ही हैं (जैसे विभिन्न

आश्रमों के दैनिक आचार के नियम) और ऐसे भी बहुत-से नियम हैं जो यद्यपि समाज-जीवन से सम्बन्धित है और जिनके विषय में यह आग्रह किया गया है कि व्यक्ति को इन्हें पालन करने का प्रयत्न अवश्य करना ही चाहिये परन्तु जिनके पालन न करने वाले के लिये दण्ड का कोई विधान नहीं किया गया है (जैसे ब्राह्मणों को दान देने का अथवा क्षत्रिय द्वारा गौ, ब्राह्मण, स्त्री, बालकों के लिये लड़ने का नियम) संक्षेप में, यद्यपि यह नियम राज्य द्वारा लागू किये जाने के लिये हैं और इस दृष्टि से कानून हैं, परन्तु यह पारस्परिक विवाद के नियम नहीं हैं। इसलिये धर्मशास्त्रों तथा अर्थशास्त्रों में पारस्परिक विवाद के नियम 'व्यवहार' के नाम से दिये हुए हैं। 'व्यवहार' का अर्थ है पारस्परिक विवाद के विविध (वि) संदेहों (अव) को हरण (हर) करने वाला साधन। व्यवहार के यह नियम धर्मशास्त्रों के अन्य नियमों (आचार) के ही अनुसार हैं और इसलिये याज्ञवल्क्य शुक्रनीति तथा अग्निपुराण ने कहा है, "स्मृति और आचार के उलंघन से जो दूसरों द्वारा पीड़ित हो वह यदि राजा के यहाँ (न्याया-लय में) आवेदन करे तो वह व्यवहारपद है।" अतः क्योंकि धर्मशास्त्रों के अन्य नियमों के द्वारा पारस्परिक विवादों का निर्णय नहीं होता, इसलिये उन नियमों को, जिनके द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों के निर्णय हो सकें, धर्मशास्त्रों ने 'व्यवहार' के नियमों के रूप में दिये हैं। मनु ने तथा अन्य धर्मशास्त्रकारों ने इन नियमों को अट्ठारह भागों में विभाजित किया है और इन अट्ठारह भागों को व्यवहार के अट्ठारह पद कहा है (देखिये विस्तार से आगे) जिन अट्ठारह पदों में अपराध-सम्बन्धी (Criminal) तथा अन्य अर्थ और काम से सम्बन्धित (civil) सभी नियमों की व्यवस्था दी हुई है। इनमें से अपराध-सम्बन्धी नियमों के मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कर ही दिया गया है। इसलिये धर्मशास्त्रों के आचार-सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त यह (व्यवहार के नियम) दूसरे प्रकार के विधान हैं। परन्तु, समाज के अन्दर रहने वाले ऐसे भी बहुत-से अंग हैं जिनकी कुछ अपनी अलग प्रथाएँ हैं। समाज के उन अंगों को बाध्य करना, कि वह अपनी प्रथाएँ छोड़कर धर्मशास्त्रों के आचार अथवा व्यवहार सम्बन्धी नियमों को मानें, यह अनुचित होगा—क्योंकि एक तो इससे उनमें विरोध करने की प्रतिक्रियात्मक भावना उत्पन्न हो सकती है तथा दूसरे, इससे वह लोग अपने परम्परागत नैतिक आचारों से भ्रष्ट होंगे और इस कारण, उनकी नैतिक उन्नति न होकर उनका नैतिक पतन होगा। इसलिये विभिन्न जातियों, जनपदों, कुलों तथा संस्थाओं के नियमों को अर्थात् स्थानीय अथवा जातीय प्रथाओं को मानने का आग्रह है, कौटिल्य ने इन प्रथाओं को राज्य की पुस्तकों में लिखने का आदेश भी दिया है। इसका अर्थ यह कि भारतीय समाज-व्यवस्था में तीसरे प्रकार के विधान के रूप में प्रथाओं को मान्य किया गया है। उपरोक्त तीन प्रकार के जो विधान है वह राज्य द्वारा लागू नहीं होते हैं, परन्तु इन्हें राज्य को मानना पड़ता है तथा न्यायालयों द्वारा निर्णय भी बहुत कुछ इनके द्वारा होता है। समाज-जीवन को नियमित और संयमित करने वाले लगभग सभी विधान

उपरोक्त तीन प्रकार के विधानों के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य कोई नियम बना ही नहीं सकता अथवा आज्ञा दे ही नहीं सकता। राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू होंगे उन्हें 'राजशासन' कहा गया है। परन्तु राजा की आज्ञा द्वारा या तो नियम लागू होने चाहियें जो धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत अथवा प्रथाओं द्वारा मान्य है जिनके उदाहरण शुक्रनीति में दिये हुए हैं अथवा वह ऐसे नियम होने चाहिये जो तत्कालीन परिस्थिति के दृष्टि से लगाये गये हों। राज्य द्वारा लागू किये गये इन नियमों को मानना भी आवश्यक है। कानून के इन चार प्रकारों में, जीवन व व्यवहार करने के लिये धर्म के नियम अर्थात् धर्मशास्त्र के नियम सबसे श्रेष्ठ हैं। उनके अनुसार यदि व्यक्ति व्यवहार न कर सके तो 'व्यवहार' के नियमों के अनुसार तो चलना ही चाहिये, परन्तु उन जातियों अथवा कुलों में जिनकी अपनी प्रथाएँ हैं और जो इस कारण 'व्यवहार' के नियमों को भी नहीं मानते, उनको अपनी उन प्रथाओं के अनुसार ही व्यवहार करने की अनुमति है और जो इनको भी मानकर नहीं चलता उसे राजा की आज्ञा तो बाध्य होकर माननी पड़ेगी। इस प्रकार जीवन में व्यवहार में लाने की दृष्टि से यदि तुलना की जाय तो 'धर्म' सबसे श्रेष्ठ है, उसके पश्चात व्यवहार के नियम हैं फिर चरित्र (प्रथाएँ) है और फिर राजशासन है, परन्तु न्यायालयों में निर्णय की दृष्टि से इसके विपरीत स्थिति है। न्यायालयों द्वारा धर्म, व्यवहार तथा चरित्र की तुलना में प्रमुखता राजशासन को दी जायेगी क्योंकि वह तत्कालीन परिस्थिति के लिये बनाये हुए नियम हैं और इसलिये धर्म, व्यवहार तथा चरित्र के होते हुए भी उनके अनुसार ही निर्णय होगा। विधि (कानून) के शेप तीन स्रोतों में 'धर्म' और व्यवहार' के नियमों की श्रेष्ठता मानने पर भी किसी व्यक्ति के विषय में उन्हीं प्रथाओं के अनुसार निर्णय होगा जिन प्रथाओं के अनुसार वह जीवन व्यतीत करता है। इस बात का धर्मशास्त्रों में आग्रह भी किया गया है कि उन प्रथाओं को अवश्य माना जाय। इसी प्रकार धर्म और व्यवहार में तुलना करते हुये न्यायालयों द्वारा निर्णय 'व्यवहार' के नियमों के अनुसार दिया जायेगा। न्यायालयों द्वारा विधान के इन स्रोतों को इस क्रम में माने जाने का यह प्रमुख कारण है कि यद्यपि धर्म व्यवहार, चरित्र, राजशासन में पहले-पहले बताये गये विधान के स्रोत अधिक श्रेष्ठ हैं परन्तु इसी कारण वे व्यवहार में लाने के लिये अधिक कड़े भी हैं इस कारण उनका पालन करना भी कठिन है। अतः जो व्यक्ति जिस प्रकार के नियमों का पालन करता है अथवा कर सकता है उसके सम्बन्ध में वैसे नियमों से अधिक कड़े नियमों के अनुसार निर्णय करना न तो संभव ही होगा न यह उचित होगा। अतः यद्यपि विधि (समाज-नियमों) की हानि से, धर्म व्यवहार से, व्यवहार चरित्र से और चरित्र राजशासन से श्रेष्ठ हैं अर्थात् पहले-पहले बताये गये स्रोत मनुष्य के जीवन में पालन करने के लिये तुलनात्मक अधिक उन्नत समझे गये हैं परन्तु विवादों में लागू करने के लिये पीछे कहे हुए स्रोत पहले कहे हुए स्रोतों की तुलना में पहले

आश्रमों के दैनिक आचार के नियम) और ऐसे भी बहुत-से नियम हैं जो यद्यपि समाज-जीवन से सम्बन्धित हैं और जिनके विषय में यह आग्रह किया गया है कि व्यक्ति को इन्हें पालन करने का प्रयत्न अवश्य करना ही चाहिये परन्तु जिनके पालन न करने वाले के लिये दण्ड का कोई विधान नहीं किया गया है (जैसे ब्राह्मणों को दान देने का अथवा क्षत्रिय द्वारा गौ, ब्राह्मण, स्त्री, बालकों के लिये लड़ने का नियम) संक्षेप में, यद्यपि यह नियम राज्य द्वारा लागू किये जाने के लिये हैं और इस दृष्टि से कानून हैं, परन्तु यह पारस्परिक विवाद के नियम नहीं हैं। इसलिये धर्मशास्त्रों तथा अर्थशास्त्रों में पारस्परिक विवाद के नियम 'व्यवहार' के नाम से दिये हुए हैं। 'व्यवहार' का अर्थ है पारस्परिक विवाद के विविध (वि) संदेहों (अव) को हरण (हर) करने वाला साधन। व्यवहार के यह नियम धर्मशास्त्रों के अन्य नियमों (आचार) के ही अनुसार हैं और इसलिये याज्ञवल्क्य शुक्रनीति तथा अग्निपुराण ने कहा है, "स्मृति और आचार के उलंघन से जो दूसरों द्वारा पीड़ित हो वह यदि राजा के यहाँ (न्याया-लय में) आवेदन करे तो वह व्यवहारपद है।" अतः क्योंकि धर्मशास्त्रों के अन्य नियमों के द्वारा पारस्परिक विवादों का निर्णय नहीं होता, इसलिये उन नियमों को, जिनके द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक विवादों के निर्णय हो सकें, धर्मशास्त्रों ने 'व्यवहार' के नियमों के रूप में दिये हैं। मनु ने तथा अन्य धर्मशास्त्रकारों ने इन नियमों को अट्ठारह भागों में विभाजित किया है और इन अट्ठारह भागों को व्यवहार के अट्ठारह पद कहा है (देखिये विस्तार से आगे) जिन अट्ठारह पदों में अपराध-सम्बन्धी (Criminal) तथा अन्य अर्थ और काम से सम्बन्धित (civil) सभी नियमों की व्यवस्था दी हुई है। इनमें से अपराध-सम्बन्धी नियमों के मूलभूत सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कर ही दिया गया है। इसलिये धर्मशास्त्रों के आचार-सम्बन्धी नियमों के अतिरिक्त यह (व्यवहार के नियम) दूसरे प्रकार के विधान हैं। परन्तु, समाज के अन्दर रहने वाले ऐसे भी बहुत-से अंग हैं जिनकी कुछ अपनी अलग प्रथाएँ हैं। समाज के उन अंगों को बाध्य करना, कि वह अपनी प्रथाएँ छोड़कर धर्मशास्त्रों के आचार अथवा व्यवहार सम्बन्धी नियमों को मानें, यह अनुचित होगा—क्योंकि एक तो इससे उनमें विरोध करने की प्रतिक्रियात्मक भावना उत्पन्न हो सकती है तथा दूसरे, इससे वह लोग अपने परम्परागत नैतिक आचारों से भ्रष्ट होंगे और इस कारण, उनकी नैतिक उन्नति न होकर उनका नैतिक पतन होगा। इसलिये विभिन्न जातियों, जनपदों, कुलों तथा संस्थाओं के नियमों को अर्थात् स्थानीय अथवा जातीय प्रथाओं को मानने का आग्रह है, कौटिल्य ने इन प्रथाओं को राज्य की पुस्तकों में लिखने का आदेश भी दिया है। इसका अर्थ यह कि भारतीय समाज-व्यवस्था में तीसरे प्रकार के विधान के रूप में प्रथाओं को मान्य किया गया है। उपरोक्त तीन प्रकार के जो विधान है वह राज्य द्वारा लागू नहीं होते हैं, परन्तु इन्हें राज्य को मानना पड़ता है तथा न्यायालयों द्वारा निर्णय भी बहुत कुछ इनके द्वारा होता है। समाज-जीवन को नियमित और संयमित करने वाले लगभग सभी विधान

उपरोक्त तीन प्रकार के विधानों के अन्तर्गत आ जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य कोई नियम बना ही नहीं सकता अथवा आज्ञा दे ही नहीं सकता। राज्य की आज्ञा द्वारा जो नियम लागू होंगे उन्हें 'राजशासन' कहा गया है। परन्तु राजा की आज्ञा द्वारा या तो नियम लागू होने चाहियें जो धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत अथवा प्रथाओं द्वारा मान्य है जिनके उदाहरण शुक्रनीति में दिये हुए हैं अथवा वह ऐसे नियम होने चाहिये जो तत्कालीन परिस्थिति के दृष्टि से लगाये गये हों। राज्य द्वारा लागू किये गये इन नियमों को मानना भी आवश्यक है। कानून के इन चार प्रकारों में, जीवन व व्यवहार करने के लिये धर्म के नियम अर्थात् धर्मशास्त्र के नियम सबसे श्रेष्ठ हैं। उनके अनुसार यदि व्यक्ति व्यवहार न कर सके तो 'व्यवहार' के नियमों के अनुसार तो चलना ही चाहिये, परन्तु उन जातियों अथवा कुलों में जिनकी अपनी प्रथाएँ हैं और जो इस कारण 'व्यवहार' के नियमों को भी नहीं मानते, उनको अपनी उन प्रथाओं के अनुसार ही व्यवहार करने की अनुमति है और जो इनको भी मानकर नहीं चलता उसे राजा की आज्ञा तो वाध्य होकर माननी पड़ेगी। इस प्रकार जीवन में व्यवहार में लाने की दृष्टि से यदि तुलना की जाय तो 'धर्म' सबसे श्रेष्ठ है, उसके पश्चात व्यवहार के नियम हैं फिर चरित्र (प्रथाएँ) है और फिर राजशासन है, परन्तु न्यायालयों में निर्णय की दृष्टि से इसके विपरीत स्थिति है। न्यायालयों द्वारा धर्म, व्यवहार तथा चरित्र की तुलना में प्रमुखता राजशासन को दी जायेगी क्योंकि वह तत्कालीन परिस्थिति के लिये बनाये हुए नियम हैं और इसलिये धर्म, व्यवहार तथा चरित्र के होते हुए भी उनके अनुसार ही निर्णय होगा। विधि (कानून) के शेप तीन स्रोतों में 'धर्म' और व्यवहार' के नियमों की श्रेष्ठता मानने पर भी किसी व्यक्ति के विपय में उन्हीं प्रथाओं के अनुसार निर्णय होगा जिन प्रथाओं के अनुसार वह जीवन व्यतीत करता है। इस बात का धर्मशास्त्रों में आग्रह भी किया गया है कि उन प्रथाओं को अवश्य माना जाय। इसी प्रकार धर्म और व्यवहार में तुलना करते हुये न्यायालयों द्वारा निर्णय 'व्यवहार' के नियमों के अनुसार दिया जायेगा। न्यायालयों द्वारा विधान के इन स्रोतों को इस क्रम में माने जाने का यह प्रमुख कारण है कि यद्यपि धर्म व्यवहार, चरित्र, राजशासन में पहले-पहले बताये गये विधान के स्रोत अधिक श्रेष्ठ हैं परन्तु इसी कारण वे व्यवहार में लाने के लिये अधिक कड़े भी हैं इस कारण उनका पालन करना भी कठिन है। अतः जो व्यक्ति जिस प्रकार के नियमों का पालन करता है अथवा कर सकता है उसके सम्बन्ध में वैसे नियमों से अधिक कड़े नियमों के अनुसार निर्णय करना न तो संभव ही होगा न यह उचित होगा। अतः यद्यपि विधि (समाज-नियमों) की हानि से, धर्म व्यवहार से, व्यवहार चरित्र से और चरित्र राजशासन से श्रेष्ठ हैं अर्थात् पहले-पहले बताये गये स्रोत मनुष्य के जीवन में पालन करने के लिये तुलनात्मक अधिक उन्नत समझे गये हैं परन्तु विवादों में लागू करने के लिये पीछे कहे हुए स्रोत पहले कहे हुए स्रोतों की तुलना में पहले

लागू किये जायेगे। यही उचित भी है। इसी बात को कौटिल्य ने विधि के इन चार स्रोतों का वर्णन करते हुए कहा है—"धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन—यह व्यवहार के चार पाद हैं और उनमें बाद वाले पाद पूर्व के व्यवहार पादों की तुलना में पहले लागू किये जाने योग्य हैं। धर्म सत्य में स्थित है, व्यवहार साक्षियों पर, चरित्र मनुष्यों के संग्रह में स्थित है तथा शासन राजा की आज्ञा में।"

विभिन्न प्रकार की विधि का अर्थ—यह जितने भी नियम अथवा विधान हैं उनका विशेष परिस्थिति में अर्थ करने की भी आवश्यकता है। धर्मशास्त्रों के नियमों का अर्थ करने के लिये भारतीय व्यवस्था में एक संस्था निर्माण की गई है जिसका नाम है 'परिषद' परिषद के विषय में मनुस्मृति में कहा गया है—"इस स्मृति में बताये गये धर्म के विषय में यदि कभी शंका हो तो जिसे शिष्ट ब्राह्मण कहें उसी को शंकारहित होकर धर्म समझना चाहिये।। जिन्होंने धर्मानुसार (विधि के अनुसार-गुरु से ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर) वेद को अंगों आदि के सहित पढ़ा है उनको ही, श्रुति का प्रत्यक्ष मान बताने वाले शिष्ट ब्राह्मण समझना चाहिये अथवा दस अथवा तीन श्रेष्ठ कवियों की परिषद में धर्म का निर्णय होना चाहिये और वह व्यक्ति जिसे धर्म बतावें उससे विचलित नहीं होना चाहिये (अर्थात उसे मानना चाहिये)। दस श्रेष्ठ व्यक्तियों की परिषद में तीन व्यक्ति तीन वेदों को जानने वाले, एक नैयायिक, एक तार्किक, एक निरुक्त का ज्ञाता, एक धर्मशास्त्र जानने वाला तथा तीन व्यक्ति तीन आश्रमों के रहने चाहिये। धर्म-संशय के निर्णय के लिये तीन व्यक्तियों की परिषद में ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के ज्ञाता रहने चाहिये। एक भी श्रेष्ठ वेदज्ञाता ब्राह्मण जिसे धर्म कहें उसे ही श्रेष्ठ धर्म समझना चाहिये और सहस्त्रों अज्ञानियों द्वारा कहे हुए को नहीं। व्रतों का पालन न करने वाले, मंत्रों को (वेद को) न जानने वाले, केवल जाति के ब्राह्मण के रूप में जीवित रहने वाले सहस्त्र व्यक्ति भी यदि एकत्रित हो जायें तो उसे 'परिषद' नहीं कहते। तमोगुणी, धर्म न जानने वाले मूर्ख यदि किसी बात को धर्म कहते हैं (अर्थात् यदि परिषद में ऐसे लोग हों) तो उस धर्म के नाम से कहे हुए (अधर्म) का पाप शतगुणित होकर उन धर्मकर्त्ताओं को लगता है।" गौतम-धर्मसूत्र, वशिष्ठ-धर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य स्मृति तथा पराशर स्मृति में भी परिषद के सम्बन्ध में ऐसे ही नियम दिए हुए हैं। इन नियमों को यदि सुसूत्र रूप में देखा जाय तो उनके अनुसार परिषद साधारणतया दस धार्मिक (धर्मशील और धर्मज्ञाता) व्यक्तियों की होनी चाहिये और यदि दस व्यक्तियों की परिषद निर्माण करना संभव न हो तो उससे कम परन्तु योग्य व्यक्तियों से धर्म-निर्णय कराया जा सकता है और एक भी योग्य व्यक्ति का निर्णय माना जा सकता है परन्तु कई निर्गुणी और अयोग्य लोगों का नहीं अर्थात् परिषद की संख्या पूरी करने के लिये दुर्गुणी अथवा अवगुणी ब्राह्मणों को नहीं रखना चाहिये। यह उपरोक्त नियम तो धर्मशास्त्रों द्वारा बताये गये नियमों का अर्थ करने के लिये हैं और उसके लिये परिषद नाम की संस्था निर्माण की गई है। अतः इन नियमों के अन्तर्गत आचार और व्यवहार दोनों के नियम सम्मिलित हैं। यह

'परिषद' ही एक प्रकार से विधायक संस्था भी कही जा सकती है क्योंकि धर्म शास्त्रों के नियमों को तत्कालीन परिस्थिति में लागू करने का अधिकार इसी को है। परन्तु यह विधायक संस्था भी धर्मशास्त्रों के नियमों में परिवर्तन नहीं कर सकती, केवल इतना ही कर सकती है कि यह निर्णय करे कि उन नियमों को प्रत्येक नये प्रश्न पर किस अनुसार लागू किया जाय। अतः इस संस्था को भी सीमित विधायक अधिकार हैं। वर्तमानकालीन विधायक संस्थाओं में और इस विधायक संस्था में एक अन्तर यह भी है कि यह विधायक संस्था राज्य का अंग नहीं है और राज्य व्यवस्था के आधीन। इस अनुसार भारतीय विचारकों ने विधायक बनाने के कार्य से राज्य को तो बिल्कुल अलग रखती है, साथ ही साथ उन्होंने धर्म-नियमो के अर्थ (Interpretation) के माध्यम से भी समाज-नियमों का परिवर्तन अमान्य किया है। अतः विधि के परिवर्तन अथवा विकास की धारणा भारतीय विचारकों को मान्य नहीं है। व्यवहार के नियमों के अर्थ करने के सम्बन्ध में यह भी एक नियम है कि जहाँ भी धर्मशास्त्रों के व्यवहार-सम्बन्धी नियमों में पारस्परिक विरोध होगा वहाँ तर्क के आधार पर यह निर्णय करना चाहिये कि वहाँ किसे ठीक माना जाय। जहाँ तक प्रथाओं के अर्थ का प्रश्न है, विभिन्न जातियों के निर्णय के लिये उनके अपने पृथक् न्यायालय होने की व्यवस्था है। अतः प्रथाओं के अर्थ उन्हीं वर्गों के द्वारा होंगे जिन वर्गों में वह प्रथायें मान्य होंगी। राजाज्ञाओं का अर्थात् राजशासनों का अर्थ राज्य के न्यायालय द्वारा तथा अन्तिम रूप में राजा के द्वारा होगा ही। इस प्रकार भारतीय राज्य-रचना तथा समाज-रचना में विभिन्न प्रकार के कानूनों (समाज-जीवन सम्बन्धी नियमों) के निर्णय की ऐसी व्यवस्था निर्माण की गई कि सभी प्रकार के कानूनों का निर्णय उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा हो जो उन नियमों की भावनाओं को ठीक से समझ सकें तथा जो उन नियमों के प्रयोग के संबंधी में अधिकृत रीति से बोल सकते हों।

अभी तक हमने भारतीय विचारों के अन्तर्गत बताये गये विधियों के प्रकारों का वर्णन और उनके 'अर्थ' (interpretation) करने अथवा उन्हें लागू करने की शैली बताई है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वर्तमान काल में विधि के जो प्रकार बताये जाते हैं उनकी कोई धारणा ही भारतीय विचारों में नहीं थी। उनकी धारणा अवश्य थी परन्तु विधि के उन प्रकारों का विचार भी ऊपर बताये गये विधियों के प्रकारों के अन्तर्गत ही किया गया था। उदाहरण के लिये यदि हम अन्तर्राज्य विधियों को लें तो देखेंगे कि धर्म-नियमों में इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का समावेश हो जाता है, यथा—दूत की अवध्यता का अथवा युद्ध के नियमों का। परन्तु भारतीय विचारकों ने ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की बहुत अधिक व्याख्या नहीं की है क्योंकि उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध स्वार्थ से संचालित होते हैं और क्योंकि इन राज्यों को इन नियमों को बलपूर्वक पालन करवाने का कोई मार्ग नहीं है, अतः यदि राज्यकर्त्ताओं को ऐसा लगता है कि इन नियमों के उल्लंघन करने से उनके स्वार्थ की सिद्धि होती है तो

वे वैसा करने में हिचकते नहीं हैं। इसलिये उन्होंने राज्यों के पारस्परिक संबंधों के नियमों के विस्तृत विवेचन की कोई उपयोगिता नहीं समझी है। फिर भी यदि ध्यान से देखा जाय तो अन्तर्राज्य सम्बन्धों के कुछ नियम प्राप्त हो सकते हैं। यद्यपि उनका यहाँ विस्तृत उल्लेख करना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार स्थानीय नियमों (ग्राम, नगर आदि के प्रशासन के नियमों) का भी उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र में हैं जिनमें नागरिकों के व्यवहार के नियमों का विस्तृत वर्णन भी किया गया है। इसके अतिरिक्त जब यह कहा गया है कि ग्राम के सामाजिक जीवन के विपरीत कार्य करने वालों को ग्रामवासी दण्ड दें तो उससे भी ग्राम-संबंधी नियमों का संदर्भ स्पष्ट होता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण राज्य की सार्वजनिक विधियों के रूप में राज्य की संवैधानिक विधि (Constitutional law) के धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों में दी हुई है (देखिए ऊपर; राज्य-व्यवस्था का वर्णन) तथा राज्य की प्रशासकीय विधियों का विवरण ऊपर 'राजशासन' के नाम से किया ही जा चुका है। धर्मशास्त्रों में (मनु, याज्ञवल्क्य, अग्निपुराण आदि) तथा अर्थशास्त्रों में (कौटिल्य आदि) अपराध-संबंधी विधियों का भी पूरा वर्णन वाक्पारुष्य (गाली देना, धमकी देना आदि), दण्डपारुष्य (मार-पीट), स्तेय (चोरी), साहस (वध तथा डाके आदि), स्त्री-संग्रहण (पर-स्त्री-संबंध-adultery तथा बलात्कार-rape) और द्यूत के नाम से किया ही गया है। इन सार्वजनिक विधियों के अतिरिक्त निजी विधियों का भी पूरा वर्णन 'व्यवहार' नियमों के शेष सदश पादों में हैं। इन सब नियमों का भी विस्तार से यहाँ उल्लेख करना संभव नहीं। प्रथाओं का उल्लेख 'चरित्र' के नाम से है ही तथा संस्थागत विधियों का उल्लेख संविद व्यतिक्रम के नाम से है और इन दोनों प्रकारों के नियमों को पालन कराने का राज्य से आग्रह है (देखिये अध्याय ६ पीछे व्यक्ति और समूहों का राज्य से संबंध) 'धर्म' के नियमों को ही दैविक विधि अथवा प्राकृति के विधि अथवा नैतिक विधि भी नाम दिया जा सकता है। क्योंकि भारतीय विचार के अनुसार ये नियम ईश्वरीय थे तथा मनुष्यों के अन्दर न्याय तथा सद्भावनापूर्ण जीवन निर्माण कर उसकी उन्नति करने वाले थे। विधियों के अन्य प्रकारों का जिनका वर्तमान विचारकों ने उल्लेख किया है (जिसमें व्यावहारिक विधियाँ अर्थात् विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यवहार के नियम अथवा कलात्मक नियम अथवा वैज्ञानिक नियमों का) वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सामाजिक संबंधों को निर्धारित करने वाले नियम नहीं हैं।

विधि के स्रोत प्रमुख रीति से दो प्रकार के बताये जाते हैं—औपचारिक स्रोत तथा भौतिक स्रोत। औपचारिक स्रोत वे हैं जिनके आधार पर विधि के औचित्य का मान होता है। इस अनुसार, भारतीय 'धर्म' नियमों के औचित्य की मान्यता इस कारण से है कि ये नियम अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा, जो संसार से अलिप्त हो चुके थे (ऋषिगण), साक्षात्कार के आधार पर (श्रुति के द्वारा) निर्माण किये गये थे और इसलिये इन नियमों को मान्य करना उचित और आवश्यक कहा

गया है। विधि के औपचारिक स्रोत के रूप में भारतीय विचार में न तो राज्य को ही स्वीकार किया गया है और न जनमत को, क्योंकि दोनों ही अपूर्ण हैं और उनमें समाज-जीवन के समन्वयात्मक और सर्वाङ्गीण तथ्यों का ध्यान रखते हुए निःस्वार्थ रीति से विधि बनाने की पात्रता नहीं है, जैसी उन व्यक्तियों की है जिन्होंने सांसारिक जीवन का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है तथा साथ ही साथ जो सांसरिक स्वार्थों और लालसाओं से ऊपर भी उठ गये हैं। विधि के भौतिक स्रोत के रूप में भारतीय विचार और जीवन में हैं—श्रुति, स्मृति और इतिहास-पुराण ग्रन्थ, जिनमें 'धर्म' और 'व्यवहार' दोनों प्रकार के नियमों का समावेश है। इसके अतिरिक्त प्रथाओं, संस्थागत तथा स्थानीय नियमों और राज्य द्वारा लागू किये गये नियमों को भी मान्यता है ही।

विधि की आवश्यकता भारतीय विचार के अनुसार यह है कि यह सामाजिक संबंधों का नियमन का समाज में शांति और व्यवस्था बनाये रखने में सहायक होते हैं तथा इनके कारण व्यक्ति दोषपूर्ण जीवन से अलग होकर सन्मार्ग की ओर लगता है और इस प्रकार से ये व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायता प्रदान करने वाले हैं। इसलिये भारतीय विचारों के अनुसार विधि सामाजिक सुव्यवस्था बनाये रखने में तथा समाज और व्यक्ति में नैतिक जीवन निर्माण करने में सहायक हैं। भारतीय विचार में विधि और नैतिकता को परस्पर विरोधी नहीं माना गया है क्योंकि जो नियम मनुष्य के लिये उन्नति कारक हैं वहीं नियम विधि के रूप में दिये गये हैं। इस प्रकार भारतीय विचार में विधि सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के लिये उन्नायक है। इतने पर भी अर्थात् यद्यपि भारतीय विचारकों द्वारा विधि और नैतिकता का परस्पर घनिष्ट संबंध माना गया है, फिर भी भारतीय विचारकों की यह भी कल्पना थी कि नैतिकता-संबंधी बहुत-से नियम व्यक्तिगत जीवन और भावना से ही संबंधित होते हैं और उन्हें राज्य द्वारा लागू कराना संभव नहीं होता। इसलिये उन्होंने 'विधि' को दो भागों में 'धर्म' और 'व्यवहार' में बाटा है जिसमें 'धर्म' के अन्तर्गत उन्होंने वे सभी नियम रक्खे हैं जो व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से उन्नति करने वाले हैं तथा 'व्यवहार' के अन्तर्गत इनमें से केवल वे नियम रक्खे गये हैं जो राज्य द्वारा लागू कराये जा सकते हैं तथा जिनके उल्लंघन पर राज्य द्वारा दण्ड दिया जा सकता है।

विधि का पालन क्यों करना चाहिये अर्थात् विधि की आवश्यकता क्या है इसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब प्रश्न उठता है कि विधि का पालन किस शक्ति के आधार पर कराया जा सकता है अर्थात् विधि के पालन के लिये उसके पीछे कौन-सा बल (sanctions) रहता है। जैसा पीछे (अध्याय ९ में) दण्ड का वर्णन करते समय बताया जा चुका है, तदनुसार ही, भारतीय विचारकों ने 'धर्म' नियमों के द्वारा मनुष्य की वृत्ति ठीक करने का पूरा प्रयत्न किया था, फिर भी उनकी धारणा थी कि समाज में कुछ दुष्प्रवृत्तिपूर्ण लोग होते हैं, जिनको उन्होंने 'दुष्ट' अथवा 'असज्जन

का नाम दिया है। ये लोग स्वयं तो सामाजिक नियमों का अपने स्वार्थ के लिये उल्लंघन करते ही हैं, परन्तु यदि ऐसे व्यक्तियों को न रोका जाये तो वह समाज का क्रमशः पतन करने में सहायक होते हैं क्योंकि समाज के अन्य लोग भी धीरे-धीरे उनका अनुसरण करते हैं तथा इस प्रकार के समाज में धीरे-धीरे ऐसी स्थिति निर्माण हो जाती है कि समाज-नियमों का स्वेच्छा से तथा प्रयत्नपूर्वक पालन करने वाला व्यक्ति विरला हीं मिलता है। इसलिये यह कहा गया है कि यह सम्पूर्ण लोक दण्ड से ही जीता जाता है और पवित्र व्यक्ति मिलना दुर्लभ है। दण्ड के ही भय से सम्पूर्ण जगत अपना-अपना भोग भोगने में समर्थ होता है। यदि दण्ड में त्रुटि हो जाय तो सब वर्ण दूषित हो जाय (वर्णसंकरता फैल जाय), सभी मर्यादाएँ नष्ट हो जायें और संसार बहुत दुखी हो। अर्थात् यद्यपि भारतीय विचारकों ने व्यक्ति के अन्दर सद्प्रवृत्ति निर्माण करने का पूरा प्रयत्न किया था, फिर भी उनका विचार था कि धर्म अर्थात् विधि के पालन के लिये पीछे 'दण्ड' का बल अनिवार्य है। इसीलिये भारतीय विचारकों ने अन्य समाज-नियमों के उल्लंघन के लिये भी जिन्हें राज्य द्वारा पालन कराना सभव नहीं है, स्वर्ग और नरक का तथा अगले जन्म में कर्मफल का भय रक्खा था। अत. उन्होंने अनूसार विधि के पालन का पहला बल तो रक्खा था व्यक्ति की उन्नति करने की इच्छा, तथा उसकी आन्तरिक सद्प्रवृत्ति परन्तु इतने को ही पर्याप्त न मानकर उन्होंने विधि के पीछे आवश्यक बल के रूप में राज्य का दण्ड भी रक्खा था।

न्याय

न्याय की आवश्यकता—इन कानूनों के अनुसार समाज का जीवन चलना चाहिये। इन कानूनें का उल्लंघन करने के कारण कुछ ऐसे कृत्य होते हैं जिनसे समाज-जीवन में अव्यवस्था बढ़ती है। ऐसी स्थितियों में व्यक्तियों के इन पारस्परिक संघर्षों को दूर करना और इन संघर्षों के उत्पन्न करने में जो व्यक्ति कारण-स्वरूप हैं उनको, तथा समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्ति हैं उन्हें, दण्ड देना अर्थात् न्याय करना यह राज्य का कार्य है। इस बहुत आग्रह किया गया है कि राजा को व्यवहार के द्वारा दुर्बलों का रक्षण, प्रजा का पालन और दुष्ट निग्रहण करना चाहिए क्योंकि उसी से राजा के तथा प्रजा के पाप नष्ट होते हैं। इसीलिये धर्मपूर्वक दण्ड के प्रयोग करने का अर्थ ही 'व्यवहार' है। न्याय का कार्य राज्य के लिये इतने महत्व का है कि न्याय करने के कार्य को राजा के लिये यज्ञ के समान फलदायक कहा है तथा इसीलिये राज्य में न्याय होना यह राजा का व्यक्तिगत उत्तरदायित्व माना गया है। इस बात का भी आग्रह किया गया है कि यदि राजा व्यक्तिगत सुख भावना के कारण प्रजा के न्याय की चिन्ता नहीं करता तो वह नष्ट हो जाएगा। इसलिये राजा नृग का उदाहरण दिया गया है कि दो ब्राह्मण जब पारस्परिक विवाद का न्याय कराने के लिए कई दिन राजा नृग से भेंट ही न कर सके तो उनके श्राप के कारण राजा

गिरगिट हो गया। कौटिल्य ने भी इस बात पर आग्रह किया है कि राजा अपने स्थान पर आने के बाद विवाद पर उपस्थित व्यक्तियों को द्वार पर बहुत समय न रोके, क्योंकि वैसा होने पर राजा के निकटवर्ती पुरुष राजा से कार्य में गड़बड़ करवा लेंगे, जिसके कारण प्रजा क्रुद्ध हो शत्रु के वश में चली जावेगी।

न्यायालयों का क्रम—न्यायालयों में कुल, श्रेणी, पूग के न्यायालयों का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने किया है और उनका क्रम शुक्र ने बताया है कि राजा को जिन योग्य कुल, श्रेणी और गणों का ज्ञान हो वे (कुल आदि) साहस (हत्या, डाके आदि) और चोरी के अतिरिक्त (अर्थात प्रमुख अपराध सम्बन्धी विषयों को छोड़कर) शेष विषय पर मनुष्यों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करें। जिस विवाद का निर्णय कुल द्वारा नहीं हुआ (अथवा ठीक से नहीं हुआ) उनका विचार श्रेणी करे, श्रेणी से अज्ञात विवादों का निर्णय गण करे और गणों से अविज्ञात विवादों का निर्णय—राजा द्वारा नियुक्त न्यायाधीश करे। कुल आदि (अर्थात कुल, श्रेणी, गणों के न्यायालयों) से अधिक श्रेष्ठ सभासद हैं उनसे बड़ा अध्यक्ष (न्यायाधीश) है और सबसे बड़ा धर्मा-धर्म की योजना करने वाला राजा है। इस विवरण में विभिन्न प्रकार के न्यायालय और उनका क्रम दिया हुआ है अर्थात सबसे पहिले कुल है, फिर उनसे श्रेष्ठ श्रेणी है, फिर सभासद है, फिर न्यायाधीश है, और सबसे अन्त में तथा सबसे ऊपर स्वयं राजा है। इसके अतिरिक्त विभिन्न व्यावसायिक वर्गों के जैसे किसान, कारीगर, नर्तक आदि के न्यायालय होने का भी उल्लेख है जो उन वर्गों के पारस्परिक विवादों का निर्णय करेंगे तथा ग्रामों के लिये उन ग्रामों के सम्बन्ध में वहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा निर्णय करने का तथा ग्रामों के छोटे बड़े समूहों के लिये (जैसे संग्रहण अर्थात दस ग्रामों के समूह, द्रोणमुख चार सौ ग्रामों के समूह तथा स्थानीय आठ सो ग्रामों के समूह के लिये) भी न्याय होने का अर्थात स्थानीय न्यायालयों की परम्परा का भी उल्लेख है। राज्य के प्रमुख न्यायालय के रूप में 'सभा' का सभी ग्रन्थों में उल्लेख आता है। उस सभा का प्रधान न्यायाधीश अथवा प्राड्विवाक है तथा सबसे अन्त में राजा है।

राजा को निर्णय का अधिकार—इनमें सर्वोच्च स्थान पर न्याय करने के लिये राजा है अर्थात, जैसा ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है, राजा के समक्ष कोई भी व्यक्ति पहुँचकर न्याय की मांग कर सकता है और राजा को उस विषय में न्याय करना ही होगा। इसीलिये राजा के दैनिक कार्यक्रम में न्याय करने के लिये आवश्यक समय रखा गया है। रामायण में भी इस बात का उल्लेख है कि रामचन्द्र जी इस बात की चिन्ता करते हैं कि उन्हें प्रतिदिन प्रजा के लोगों से भेंट उनके विवादों का निर्णय करना ही चाहिये। परन्तु इस बात का आग्रह है कि राजा अकेला व्यवहार के प्रश्नों का निर्णय न दे। उसके साथ न्याय करने वाला मन्त्री अथवा प्राड्विवाक अथवा ब्राह्मण अथवा सभ्य होने ही चाहिये जो धर्म के ज्ञाता हों और जिनके व्यवहार के आधार

पर राजा ठीक से निर्णय कर सके। अग्निपुराण ने तो यह स्पष्ट रीति से कहा है कि राजा को व्यवहार (मुकदमें) ज्ञानी विप्रों के द्वारा देखना चाहिये, अर्थात जो निर्णय राजा के साथ रहने वाले ज्ञानी ब्राह्मण दें राजा को उन्हें ही कार्यान्वित करना चाहिये। वायुपुराण तथा मत्स्यपुराण में इसी तथ्य को स्पष्ट करने वाली एक कथा है जिसमें बताया है कि एक बार यज्ञ में इन्द्र द्वारा पशुहिंसा होने पर जब ऋषियों ने इसका विरोध किया तब सब लोग इस प्रश्न के निर्णय के लिये राजा वसु के पास गये। राजा वसु ने अकेले ही बिना विचार किये तथा बिना विभिन्न प्रश्नों का बला-बल तोले यह निर्णय दे दिया कि मुझे तो वेद वाक्यों से ऐसा ही लगता है कि यज्ञ में पशुहिंसा होती है। क्योंकि राजा ने अकेले ही बिना धार्मिक विद्वानों से पूछे और बिना वेद का ठीक से अध्ययन किये यह निर्णय दे दिया था इसीलिये इसे गलत मान कर ऋषियों ने उसे रसातल में जाने का श्राप दे दिया।

प्राड़विवाक (मुख्य न्यायाधीश)—राजा के साथ धर्म निर्णय में धर्मवित् तथा वेदवित् ब्राह्मणों के रहने का वर्णन तो है ही परन्तु राजा का धर्म-निर्णयों में सहायता देने के लिये प्राड़विवाक नाम के एक मंत्री का भी उल्लेख है जो साधारणतया ब्राह्मण होना चाहिये तथा शास्त्र का, लोकप्रथाओं का नीतिशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिये। इस का कार्य प्राड़विवाक है कि वह साक्षी, लेख, भोग तथा दिव्य इन चार साधनों में से जिस साधन को उपयुक्त समझे उस साधन के द्वारा स्वयं अर्थात राज्य से उत्पादित अथवा दूसरों से प्राप्त किये हुए (दूसरों द्वारा उपस्थित किये) व्यवहारों का तथा उन व्यवहारों से संबंधित मनुष्यों का प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, की रीति से तथा प्रथाओं और शास्त्र के अनुसार सभा में बैठकर और बहुत लोगों (धर्मज्ञाताओं) की सम्मति के आधार पर विचार और निर्णय करे तथा फिर सभ्यों सहित राजा को परामर्श दे। इससे भी यह स्पष्ट है कि राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने साथ रहने वाले ब्राह्मणों के मत के अनुसार निर्णय दे। उपरोक्त प्रमुख न्यायाधीश को विवादियों से प्रश्न करने के कारण (प्राड्) तथा विवेक के अनुसार निर्णय करने के कारण (विवाक) ही प्राड्विवाक कहा गया है तथा वह धर्म-अधर्म का विवेचन करता हुआ सभ्यों के द्वारा विचार करता है अर्थात सभ्यों के मतों के आधार पर निर्णय देता है। जिस समय राजा विभिन्न कार्यों में व्यस्त रहने के कारण स्वयं विवादों की ओर ध्यान नहीं दे पाता, उस समय उसका कार्य अर्थात अन्तिम रूप से निर्णय देने का कार्य भी प्राड्विवाक ही करता है। इसी बात को अन्य ढंग से कहा गया है कि यदि राजा कार्य में व्यस्त होने के कारण स्वयं व्यवहारों को न देख सके तो वह एक योग्य, विद्वान ब्राह्मण को कुछ अन्य सभ्यों के साथ व्यवहारों का निर्णय करने के लिये नियुक्त करे।

सभा और सभासद—प्राड्विवाक अर्थात मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों का जो यह मुख्य न्यायालय है जिनमें राजा बहुत बार आकर निर्णयों को घोषित करता है; इस न्यायालय का नाम 'सभा' है और इसके जो सदस्य

हैं वह 'सभ्य' कहे गये है। इस सभा के न्यायधीशों अथवा सभ्यों की संख्या के विषय में कहा गया है कि मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त कम से कम तीन और विद्वान ब्राह्मण होने चाहिये परन्तु इससे अधिक अर्थात पांच अथवा सात सभ्य भी हो सकते हैं। कौटिल्य ने विभिन्न छोटे बड़े सभी न्यायालयों के लिये भी न्यायाधीशों की संख्या तीन बताई है। ऐसी सभा को जिसमें वेद के और धर्मशास्त्र तथा स्थानीय आचारों (प्रथाओं) के ज्ञाता ब्राह्मण विद्वान सदस्य हों, शुक्र ने यज्ञ के समान तथा मनु ने ब्रह्म सभा कहा है (उपरोक्त उद्धरण) क्योंकि ऐसे ही ब्राह्मण ठीक से न्याग कर प्रजा को सुखी कर सकते हैं। मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य सब सभ्यों के विषय में यह नियम है कि वह यथासंभव ब्राह्मण होने चाहियें क्योंकि न्यायकर्ता धार्मिक, निःस्वार्थी तथा चरित्रवान ही होना चाहिये परन्तु यदि योग्य ब्राह्मण न उपलब्ध हों तो वह क्षत्रिय अथवा वैश्य भी हो सकते हैं। परन्तु वह किसी भी जाति के हों उनके अन्दर वह गुण होने ही चाहियें जो न्याय के लिये आवश्यक हैं। न्यायाधीश के गुण आपस्तम्ब ने संक्षेप में बताये हैं कि "विद्या और योग्य कुल से सम्पन्न, वृद्ध, मेधावी (बुद्धिमान और चतुर) तथा धर्म के विषय में भूल न करने वाला (जानबूझ कर अथवा अज्ञान से व्यक्ति विवाद में नियुक्त करना चाहिये।" शुक्र ने कहा है कि न्यायधीशों को वेद का ज्ञाता, इन्द्रियदमन करने वाला, कुलीन, मध्यस्थ (पक्षपात रहित), अनुद्वेगकारी स्थिर (शान्तिचित्त), परलोक से डरने वाला, धार्मिक, उद्योगी तथा क्रोध न करने वाला होना चाहिये। सभासदों अर्थात सभ्यों के यह गुण बताये हैं कि वे व्यवहार के नियमों के ज्ञाता, शुद्ध, आचार, शील और गुणों से युक्त, शत्रु और मित्र में समान (पक्षपात न करने वाले) धर्मज्ञाता, सत्यवादी, निरालसी, काम, क्रोध और लोभ को जीते हुए, प्रियवादी होने चाहिये। इन न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य भी धर्म के ज्ञाता व्यक्ति सभा के अन्दर अपना विचार बोल सकते हैं क्योंकि जो शास्त्र को जानता है वह दैवी वाणी ही बोलता है।

विधि के अनुसार शासन (Rule of law)—जैसा ऊपर बताया गया है व्यवहार का निर्णय धर्मशास्त्रों के अनुसार (अर्थात धर्मशास्त्रों में दिये गये आचार और व्यवहार के नियमों के अनुसार) अथवा प्रथाओं के अनुसार होना चाहिये। यह पहिले बता दिया गया है कि इस बात पर बहुत आग्रह है कि राजा प्रथाओं का उन लोगों से पालन कराये जो उन प्रथाओं को मानते हैं तथा उनके अतिरिक्त अन्य सब लोगों का अर्थात शेष समाज का धर्मशास्त्रों द्वारा नियमन करे अर्थात प्रथाओं को मानने वालों से प्रथाओं का तथा अन्य सब लोगों से धर्मशास्त्रों के नियमों का पालन कराये। (देखिये अध्याय ९) इसका अर्थ यह है कि विधि के रूप में समाज के जीवन को संचालित करने के लिये तथा समाज के लोगों के पारस्परिक संबंधों का निश्चय करने के लिये धर्मशास्त्र के नियम तथा प्रथाएँ ही प्रमुख हैं तथा जैसा बताया गया है, राजा की आज्ञा उन्हीं नियमों को लागू करने के लिये अथवा विशेष परिस्थितियों के लिये ही कुछ नियम बनाने के लिये है और इसी

कारण न्याय की व्यवस्था का वर्णन करते समय राजा की आज्ञा को मानने का बहुत अधिक उल्लेख नहीं है, यद्यपि यह भी कहा गया है कि शिष्टों के संरक्षण तथा दुष्टों के दमन के लिये राजा जो नियम लागू करे उनका पालन अवश्य करना चाहिये। इसका स्पष्ट अर्थ है कि न्यायालयों द्वारा विधि के रूप में धर्मशास्त्रों तथा प्रथाओं को ही लागू करने का आग्रह प्रमुख रीति से है। शास्त्र के अनुसार निर्णय करने का इतना अधिक आग्रह है कि राजा को मनमानी ढंग से अर्थात अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय नहीं करना चाहिये अथवा जो समझ में आये वैसे नियम नहीं बनाने चाहिये। शुक्र का कहना है "स्वयं किये हुए वाक्यों के अनुसार राजा की दी हुई आज्ञा (नियम अथवा निर्णय) राजा को नरक में ले जाने वाली, समाज का नाश करने वाली, शत्रु की सेना का (राजा के लिये) भय उत्पन्न करने वाली (प्रजा के असन्तोष के कारण) तथा राजा की आयु और बीज (पुत्र अथवा समूल राज्य) को नष्ट करने वाली होती है।" इसलिये राजा शास्त्र के अनुसार विवादों का निर्णय करे और यदि किसी स्थान अथवा जाति में अन्य प्रथाओं का पालन होता हो तो उन (प्रथाओं) के अनुरूप निर्णय करे। धर्मशास्त्रों अथवा प्रथाओं के अनुसार निर्णय करने पर, आग्रह होने के कारण इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था में विधि का राज्य (Rule of law) अपनी परिपूर्णता में था। यह सिद्धान्त तो लगभग सभी अच्छी, समाज की तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ध्यान रखने वाली और राज्य कर्त्ताओं के अधिकारों को मर्यादित करने वाली राज्य-व्यवस्थाओं में मान्य है कि राज्य का शासक किसी एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता का ध्यान रखने वाली और राज्यकर्त्ताओं के अधिकारों को मर्यादित करने वाली राज्य-व्यवस्थाओं में मान्य है कि राज्य का शासन किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों की इच्छा के ही आधार पर नहीं चलना चाहिये अपितु कुछ निश्चित नियम होने चाहिये जिनके अनुसार शासन का तथा न्याय का सारा कार्य चलाया जाय और व्यक्ति की तथा समाज की स्वतन्त्रताओं को यदि मर्यादित किया जाए तो वह भी कानूनों के ही आधार पर होना चाहिये। इसीलिये अन्य मर्यादित राज्य-व्यवस्थाओं में राज्य द्वारा कुछ कानून बनाये जाते हैं तथा उनके अनुसार राज्य का सारा काम चलता है। परन्तु इसमें एक ओर तो राज्यकर्त्ताओं को यह सुविधा रहती है कि वह अपनी इच्छानुसार जो चाहें वह कानून बना सकते हैं तथा, दूसरी ओर, उन्हें यह कठिनाई रहती है कि यदि कोई गड़बड़ हो तो उन्हें ठीक करने के लिये पहिले कानून बनाने पड़ते हैं और इसके बाद ही वह उस गड़बड़ी को ठीक कर सकते हैं परन्तु इसमें भी बहुत बार उन कानूनों में छिद्र रह जाने के कारण और बहुत बार उन कानूनों में प्रयत्नपूर्वक छिद्र खोजने के कारण उन कानूनों के बनाने पर भी गड़बड़ी ठीक नहीं हो पाती। अतः एक ओर तो यदि राज्यकर्त्ता अन्यायी और स्वार्थी हों तो वह अपने मनमाने कानून बना सकते हैं और इस प्रकार अपनी इच्छा की पूर्ति अथवा स्वार्थ का साधन कर सकते हैं और, दूसरी ओर, यदि वह ईमानदार हैं दो समाज के जो दुष्ट और समाज

घातक लोग हैं उनको वह उनके स्वार्थपूर्ण और घातक कार्यों से रोक नहीं सकते क्योंकि राज्य कर्त्ताओं को तो कानून की मर्यादाओं के अन्दर चलना ही पड़ेगा परन्तु यह कानून भंग करने वाले लोग कानूनों में छिद्र निकालते हुए अपना मनमाना कार्य कर सकते हैं। संक्षेप में, इस राज्य-पद्धति में एक ओर तो आवश्यकता से अधिक ढिलाई है, कि राज्यकर्तागण जो उनकी इच्छा हो वही कानून बना सकते हैं और दूसरी ओर, प्रत्येक छोटी बात के लिये भी कानून बनाने के सम्बन्ध में इतनी अधिक कड़ाई है कि कितनी भी आवश्यकता हो बिना कानून के राज्यकर्त्तागण अथवा राज्य के अधिकारी कुछ कर ही नहीं सकते। दूसरे शब्दों में, एक ओर तो राज्यकर्ताओं ने आवश्यकता से अधिक समाज का नियम न करने की छूट है, और, दूसरी ओर, उन पर आवश्यकता से अधिक अविश्वास है कि वह बिना कानून के एक पग भी आगे न बढ़ें। इसके अतिरिक्त, इस पद्धति में सदैव नई आवश्यकताओं के उत्पन्न होने के कारण नित्य नये कानून बनाने पड़ते हैं और कानूनों की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि सर्वसाधारण व्यक्ति को कानूनों का ज्ञान रखना अथवा उन कानूनों के अनुसार अपने जीवन को व्यवस्थित करना कठिन हो जाता है। इसलिये भारतीय विचारकों ने ऐसा मार्ग निकाला जिसमें यह सब कठिनाइयाँ न हों और राज्यकर्ताओं को मर्यादित करते हुए भी उनको इतनी स्वतन्त्रता रहे कि वह उसके अनुसार दुष्टों का दमन कर सकें। राज्यकर्ताओं को मर्यादित करने के लिये भारतीय समाज निर्माताओं ने समाज व्यवस्था का और राज्य-व्यवस्था का सम्पूर्ण ढांचा निर्माण कर दिया जिसमें राज्यकर्ताओं के अधिकार तथा उनकी मर्यादाएं भी स्पष्ट कर दीं गई और व्यवस्था के इस ढांचे के अन्दर राज्यकर्ताओं को इतना अधिक कस दिया गया कि वे इस व्यवस्था में कोई भी परिवर्तन न कर सकें। इस दृष्टि से कानून का पूरी प्रकार से निर्माण किया गया और भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था में इसी दृष्टि से यह कहा गया कि कानून राज्यकर्ताओं के भी ऊपर हैं (देखिये अध्याय ९—धर्मराज) परन्तु राज्यकर्ताओं को इतना मर्यादित करने के पश्चात तथा राज्यकर्त्ताओं के विभिन्न नियंत्रण स्थापित करने भी (पुरोहित, मंत्रियों आदि के द्वारा) इस व्यवस्था के अनुसार राज्यकर्ताओं को शेष बातों में स्वतन्त्र छोड़ा गया जिससे वह राज्य का प्रबन्ध अर्थात समाज का शासन बिना किसी कठिनाई के तथा पूर्ण सुगमता के साथ कर सकें और दुष्ट लोगों को नियंत्रित करने में उन्हें कठिनाई न उत्पन्न हो और वह अबाध रूप से नियमों का पालन करवा सकें। इस प्रकार उन्होंने अकारण कानून निर्माण कर सभी कार्य कर सकने की आवश्यकता तथा राज्य में बहुत से कानून निर्माण होने की कठिनाई भी समाप्त कर दी।

शासन के विभिन्न अंगों का पृथक्करण—इसी प्रसंग में एक अन्य भी प्रश्न उठता है, वह है कार्यपालिका, विधायक संस्था तथा न्यायपालिका के पृथक्करण का। यह तो कई स्थान पर पीछे बताया ही गया है और समाज-व्यवस्था के वर्णन में

सिद्ध किया गया है कि भारतीय समाज-व्यवस्था में समाज-सत्ता, राज्य-सत्ता और अर्थ-सत्ता को पूर्ण रीति से पृथक-पृथक किया गया था और जिनके पास इनमें से कोई एक सत्ता थी उन्हें अन्य सत्ता के ऊपर अधिकार न था (यद्यपि इन सत्ताओं के महत्व का क्रम निश्चित था)। इस प्रकार समाज की व्यवस्था के द्वारा समाज और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का संरक्षण किया गया था और यह भी इसीलिये जिससे राज्यकर्त्ता समाज पर मनमाना अत्याचार न कर सकें। विधायक कार्य अर्थात् कानून बनाने का कार्य तो राज्य के पास लगभग था ही नहीं और धर्म के नियमों का परिस्थिति के अनुसार अर्थ करने के लिये भी एक पृथक संस्था-परिषद थी जो राज्य के अधिकार से स्वतन्त्र थी। प्रथाएँ केवल कुछ विशेष जातियों और स्थानों के नियमन के लिये थीं तथा अधिकांश समाज की व्यवस्था धर्मशास्त्रों के अनुसार ही करने की भावना थी। समाज से संबंधित अधिकांश विधायक कार्य जो परिषद द्वारा किया जाता था वह तो राज्य से पृथक था ही परन्तु प्रथाओं पर भी राज्य के नियंत्रण होने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रथाओं के अन्तर्गत उन्हीं नियमों का समावेश होता है जो किसी विशेष वर्ग अथवा समुदाय में उस समाज के, उस समाज के व्यक्तियों के, तथा उन व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों के नियमन के लिये इस समाज के व्यवहार में स्वतः ही स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। विधायक कार्य के इस पूर्ण पृथक्करण के अतिरिक्त कार्यपालिका और न्यायपालिका का भी पृथक्करण भारतीय राज्य-व्यवस्था में था। राज्य का प्रतीक होने के कारण यद्यपि राजा राज्य के इन दोनों अंगों पर अधिकार रखता था, परन्तु जैसा अभी विचार किया गया है, राजा जो भी न्याय का कार्य करता था वह उसे न्यायधीश तथा अन्य ब्राह्मणों की सहमति से करना होता था जो धर्म के ज्ञाता थे और जो साथ ही साथ अपना कार्य करने में स्वतन्त्र भी थे। इस प्रकार यद्यपि राज्य का प्रतीक होने के कारण राजा के पास कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों का उत्तरदायित्व था परन्तु न्याय के कार्य में उसे अन्य स्वतन्त्र व्यक्तियों (सभ्यों आदि के) द्वारा ही संचालित होने का नियम था। एक प्रकार से ऐसा कहा जा सकता है कि राज्य में ठीक से न्याय हो, राजा का यह उत्तरदायित्व राज्य के प्रमुख होने के नाते अवश्य था परन्तु निर्णय करना राजा का कार्य न था। पर राजा के अतिरिक्त राज्य की जो शेष व्यवस्था थी उसमें तो कार्यपालिका और न्यायपालिका का इससे भी अधिक पूर्ण पृथक्करण था और राज्य के शासन का कार्य करने वाले तथा न्याय की व्यवस्था करने वाले व्यक्ति बिल्कुल पृथक-पृथक थे (जैसा पिछले वर्णन से सिद्ध होता है)। कौटिल्य का स्पष्ट कहना है कि तीन धर्मस्थ और तीन अमात्य राज्य के विभिन्न भागों में व्यवहारों के कार्य करें। स्पष्ट ही है कि तीन धर्मस्थ न्याय का कार्य करने के लिये हैं और तीन अमात्य इस संबंध में शासन की व्यवस्था देखने के लिये हैं। इसी प्रकार न्याय की व्यवस्था करने के लिये पृथक संस्थाएँ हैं (ग्राम, कुल, श्रेणी आदि की) और शासन का प्रबन्ध करने के लिये पृथक व्यक्ति हैं (राज्य कर्मचारी) और इस प्रकार भारतीय

राज्य-व्यवस्था में कार्यपालिका और न्यायपालिका का भी पूर्ण पृथक्करण किया गया है। कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायक मण्डल का पृथक्करण इस ढंग से स्पष्ट रीति से समझा जा सकता है कि भारतीय व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्य 'मंत्रिपरिषद' द्वारा, न्यायपालिका का कार्य 'सभा' द्वारा तथा विधायक कार्य 'परिषद' द्वारा होने का नियम था और यह तीनों संस्थाएँ पृथक और एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र थीं। इन सबका संबंध करने वाला राज्य का प्रतीक-राजा था, जो कार्यपालिका का कार्य तो प्रत्यक्ष देखता ही था, साथ ही सभा के परामर्श से **विवादों के निर्णय घोषित** करने का भी उसे कार्य था और विधायक 'परिषद' द्वारा निश्चित किये हुए धर्म को भी लागू करने का उसे काम था। राजा के ऊपर पुरोहित का स्थान था (देखिये पिछला अध्याय) जो इन सभी बातों की देखरेख करता था और जो यह देखता था कि सब कार्य व्यवस्था (धर्म) के अनुसार चले और राजा सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथ में लेकर प्रजा पर अत्याचार न करने लगे।

पक्षपातहीन तथा ठीक न्याय—भारतीय न्याय-व्यवस्था में ठीक न्याय होने पर तथा निर्णयकर्त्ताओं के पक्षपातरहित होने पर बहुत आग्रह किया गया है अर्थात् चाहे भूल से हो चाहे पक्षपात से अन्याय न होना चाहिये। उचित न्याय होने पर इतना अधिक आग्रह है कि राजा की विभिन्न देवताओं से तुलना करते हुए कहा गया है कि राजा को यम के समान न्यायी होना चाहिये। उचित न्याय होने की इस बात को विभिन्न रीतियों से कहा गया है। सबसे पहिले तो यह बात कही गई है कि सभा के अन्दर सभासदों को न्यायपूर्ण बात ही करनी चाहिये और अधर्म के स्थान पर धर्म की प्रतिष्ठा करनी चाहिये। इस संबंध में मनुस्मृति में विस्तार से कहा गया है, "जहाँ पर सभा में अधर्म से विधा हुआ धर्म रहता है वहाँ पर (उस अधर्म से) विद्ध सभासद धर्म की उस पीड़ा को दूर नहीं करता (अर्थात् अधर्मपूर्ण सभा में न्याय के स्थान पर अन्याय होता है जिससे धर्म नष्ट होता है)। सभा में या तो प्रवेश नहीं करना चाहिये और प्रवेश करे तो उपयुक्त बात करनी चाहिये क्योंकि जो व्यक्ति न कहने योग्य बात कहता है (अर्थात् अन्यायपूर्ण, पक्षपातपूर्ण, अधर्मपूर्ण अथवा अनुचित बात कहता है) वह पाप का भागी होता है। जहाँ पर धर्म, अधर्म के द्वारा और सत्य, असत्य के द्वारा नष्ट किया जाता है वहाँ पर उस अधर्म के कारण सभासद भी नष्ट होते हैं। यदि धर्म को नष्ट किया जाता है, तो वह धर्म अपने नाश करने वाले को भी नष्ट कर देता है और यदि धर्म की रक्षा की रक्षा की जाती है तो धर्म भी सबकी रक्षा करता है। इसलिये यह समझकर कि धर्म नष्ट होने पर कहीं हमें न मारे, धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिये (अर्थात् धर्म का पालन करना चाहिये)। (अन्याय होने पर) अधर्म का चतुर्थांश तो अधर्म-कर्ता को, चतुर्थांश साक्षियों को, चतुर्थांश सभासदों को तथा चतुर्थांश राजा को मिलता है। जहाँ पर निन्दा के योग्य व्यक्ति की निन्दा होती है वहाँ पर पाप केवल पापकर्त्ताओं को मिलता है और राजा तथा सभासद दोनों पाप से मुक्त हो जाते हैं। एक अन्य बात यह कही गई है कि

केवल दण्ड योग्यों को ही मिलना चाहिये और अदण्ड योग्यों को नहीं अर्थात् अन्याय-पूर्वक दण्ड नहीं देना चाहिये क्योंकि उचित रीति से दण्ड का प्रयोग न होना राज्य के लिये हानिकारक है। (देखिये अध्याय ६ दण्ड-प्रयोग)। इसीलिये यह कहा गया है कि किसी अपराध की योग्य परीक्षा करके ही दण्ड दिया जाना चाहिये। वसिष्ठ ने तो यह भी एक नियम बताया है कि यदि किसी दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड न मिले अर्थात् यदि वह छूट जाय तो राजा को एक दिन का और पुरोहित को तीन दिन का उपवास करना चाहिये तथा यदि किसी निर्दोष व्यक्ति को दण्ड मिल जाय तो राजा को तीन दिन का उपवास करना चाहिये तथा पुरोहित को इच्छा व्रत करना चाहिये। इसका अर्थ यह कि भारतीय विचार के अनुसार यद्यपि किसी **पापी का छूटना भी बड़ा भारी दोष है परन्तु निर्दोष व्यक्ति को दण्डित होना उससे भी भयंकर बात है।** उचित न्याय की दृष्टि से यह भी आग्रह था कि राजा अथवा सभासद क्रोध, लोभ, मोह रहित होकर ही विवादों को सुने क्योंकि ऐसा करने पर ही प्रजा उनसे सन्तुष्ट रहती है और ऐसा होने पर ही प्रजा राजा का अनुगमन करती है। मोहादि से राजा को इतने दूर रहना चाहिये कि स्वयं के पुत्रादि भी हो तो भी उनके प्रेम से प्रभावित न होना चाहिए। न्याय में पक्षपात न करने का स्पष्ट उल्लेख भी है। शुक्र ने कहा है कि सभ्यों के लिये अपक्षपात ही भूषण है; शातातप का कहना है कि सभा में पक्षपात करने वाले को उसके इस कर्म के परिणाम-स्वरूप (कर्मफल के रूप में) पक्षाघात (लकवा) हो जाता है; तथा अग्निपुराण में गलत निर्णय देने को ब्राह्मण-वध के समान महापातक माना है। पक्षपात न हो इसके लिये लोभ, भय, वैर आदि को तो मना किया ही है।

अन्याय रोकने के नियम—परन्तु साथ-साथ यह भी अन्य नियम बताये हैं कि गुप्त रूप से विवाद न सुनने चाहिये, पक्ष और उत्तर दोनों ही वादियों के समक्ष सुने जाने चाहिये तथा निर्णय दोनों वादियों को सुनने के पश्चात् ही होना चाहिये। पक्षपात रोकने के लिये इस बात का भी आग्रह है कि राजा और सभासदों को एक दूसरे के ऊपर रोक रखनी चाहिये अर्थात् यदि सभासदों की कोई बात अनुचित हो तो राजा को चाहिये कि वह उसे न माने परन्तु उसे स्वयं भी कोई अनुचित बात न करनी चाहिये और यदि वह ऐसा करे भी तो सभासदों को चाहिये कि वे उसकी उपेक्षा न करें और निर्भयतापूर्वक उसका विरोध करें। यह तो ऊपर बताया ही गया है कि सभासदों से सभा में सत्य ही बोलने का आग्रह है (मनु का उद्धरण) परन्तु सभासद अन्याय न करें उसके लिये भी यह नियम है कि यदि सभासद रिश्वत लें अथवा गलत न्याय करें अथवा राग, लोभ, भय के आधार पर विवादों का निर्णय करें अथवा धमकी देकर वादी से कुछ लिखवालें अथवा गुप्त रूप से पक्ष और उत्तर को सुनें तो उन्हें दण्ड देना चाहिये। कौटिल्य ने न्यायाधीशों के विभिन्न अपराधों का उल्लेख किया है जिनमें वादी को धमकाना, फटकारना, निकाल देना, रिश्वत लेना, पूछने न योग्य बात को पूछना अथवा

पूछने योग्य बात को न पूछना, पूछी हुई बात की उपेक्षा कर देना आदि सम्मिलित किये हैं और यह भी कहा है कि यदि न्यायाधीश गलत सुवर्ण दण्ड देता है तो उससे उसका दुगुना दण्ड लेना चाहिये अथवा यदि वह गलत शारीरिक दण्ड देता है तो उस पर भी शारीरिक दण्ड होना चाहिये। न्याय ठीक से हो इसके लिये लेखक (पेशकार) के संबंध में भी यह कहा है कि यदि वह गलत लिखे अर्थात् न कही हुई बात लिख ले, कही हुई बात न लिखे, गलत बात को ठीक से बनाकर और ठीक बात को बुरे ढंग से लिखे अथवा अर्थ में गोलमाल कर दे तो उसे भी दण्ड होना चाहिये। न्याय ठीक से हो इसके लिये यह कहा गया है कि जो भी व्यक्ति विवाद में उपस्थिति हो उससे राजा को इस प्रकार बात करनी चाहिये कि वह अपना विवाद अथवा अपनी बात निर्भयता के साथ कह सके क्योंकि अन्यथा राजा के पास न्याय के लिये उपस्थित होने में ही लोगों को भय रहेगा। विवादों में राजा और सभासदों से तो सत्य बोलने का आग्रह है ही परन्तु न्याय ठीक से हो इसलिये वादियों से भी सत्य बोलने का आग्रह किया गया है तथा यह कहा गया है कि यदि वह असत्य बोलें तो उन्हें दण्ड दिया जाय। इसी प्रकार साक्षियों के सत्य बोलने पर भी आग्रह है। इस पर तो इतना अधिक आग्रह है कि नरक जाने वालों की सूची में झूंठी साक्षी देने वाले का उल्लेख है तथा आपस्तम्ब, गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य, शुक्र, कौटिल्य ने तथा अग्निपुराण में झूंठे साक्षी को दण्ड देने का और उसके नरक जाने का उल्लेख है। शंखस्मृति में झूंठी साक्षी देना महापातक के समान बताया है। साक्षी सत्य बोलें इसके लिये भी साक्षियों के समक्ष सत्य की प्रशंसा में विस्तार से वाक्य कहने का उल्लेख है (देखिये आगे साक्षी तथा झूंठे साक्षियों की निन्दा अन्य प्रकार से भी बहुत की गई है)। न्याय के संबंध में एक अन्य नियम यह भी है कि कहीं गलत निर्णय हो जाय तो सभासदों को तो दण्ड दिया ही जाय परन्तु, साथ ही साथ उस निर्णय पर पुनर्विचार भी किया जाय। शुक्र ने इस संबंध में विस्तार के साथ कहा है कि यदि कहीं भूल हुई हो, यदि सभासद अथवा प्राड्विवाक गड़बड़ कर दें अथवा अन्य किसी कारण से गलत निर्णय हुआ हो तो गलती करने वालों को दण्ड देने के अतिरिक्त उस निर्णय पर भी पुनर्विचार होना चाहिये।

न्याय में अल्प-व्यय—जहाँ तक न्याय में व्यय का प्रश्न है भारतीय न्याय-पद्धति में अपना पक्ष उपस्थित करते समय अथवा न्यायालय के समक्ष कोई प्रार्थना-पत्र देते समय फीस आदि का कोई उल्लेख नहीं है। केवल इतना ही कहा गया है कि अर्थ-संबंधी विवादों में निर्णय होने के पश्चात् राज्य को धन दिया जाय और यह धन वह दे जो न्याय में पराजित हो। यद्यपि उधार देने वाला यदि जीता भी तो उसे विवाद के लिये उपस्थित धन का कुछ अंश देना पड़ेगा। पहिले प्रकार का धन (पराजित व्यक्ति द्वारा दिया जाने वाला धन) तो दण्ड रूप है, केवल दूसरे प्रकार का धन ही फीस के रूप में कहा जा सकता है और वह इसलिये है कि वादी ने राज्य के प्रबन्ध का जो प्रयोग किया है उस प्रयोग के बदले में वह राज्य को **कुछ**

धन देता है परन्तु यह धन भी विवाद के प्रारम्भ में नहीं अपितु न्याय हो जाने पर दिया जाता है। यह तो धन-संबंधी विवादों का नियम हैं परन्तु अपराध संबंधी विवाद में तो किसी भी प्रकार की फीस बिल्कुल ही नहीं है केवल पराजित व्यक्ति को दण्ड देने का उल्लेख है।

भारतीय समाज और राज्य-व्यवस्थापकों ने विवादों को १८ अथवा २० भागों में बांटा है। यह २० भाग इस प्रकार है—(१) ऋणादान (२) निक्षेप अथवा उपनिधि, (३) अस्वामिविक्रय, (४) संभूय समुत्थान, (५) दत्तस्यानयाकर्म अथवा दत्ताप्रदानिक, (६) वेतनादान अथवा स्वाम्याधिकार और मृतकाधिकार (७) संविद व्यतिक्रम अथवा समस्यानपाकर्म, (८) क्रयविक्रयानुशय अथवा विक्रीतक्रीतानुशय अथवा क्रीतानुशय और विक्रीयासम्प्रदान, (९) स्वामिपालविवाद अथवा वास्तुक के अन्तर्गत विवीतक्षेयपथहिंसा, (१०) सीमाविवाद अथवा वास्तुक के अन्तर्गत गृहवास्तुक, वास्तुविक्रय, सीमाविवाद आदि, (११) विभाग अथवा दायविभाग, (१२) स्त्रीपुंधर्म अथवा स्त्रीपुंसयोग अथवा विवाहसंयुक्त (१३) द्यूत-समाह्वय, (१४) वाक्पारुष्य, (१५) दण्डपारुष्य, (१६) स्तेय, (१७) साहस, (१८) स्त्रीसंग्रहण अथवा कन्याप्रकर्म, (१९) अभ्युपेत्याशुश्रूष्य अथवा दासकल्प, (२०) प्रकीर्णक।

अपराध-संबंधी (Criminal) **तथा धन-संबंधी** (Civil) **विवादों में भेद**—जैसा उपरोक्त विवरण से पता चलता है भारतीय न्याय-व्यवस्था में अपराध-संधंधी (Criminal) और धन-संबंधी विवादों में भेद किया गया है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिये सबसे प्रथम तो इस बात का उल्लेख है कि राजा को अथवा राजा के कर्मचारियों को केवल छल और अपराधों के विवाद तथा राज्य-विरोधी अपराधों को छोड़कर, अन्य विवाद स्वयं नहीं प्रारम्भ करने चाहिये। इस नियम में अपराध-संबंधी विवाद तथा अन्य विवादों का स्पष्ट पृथक्करण है। याज्ञवल्क्य ने भी अर्थ-विवादों का (Civil) स्पष्ट उल्लेख किया है और इस प्रकार उन्हें अपराध-संबंधी विवादों से भिन्न किया है। मनुस्मृति में भी अपराध-संबंधी विवादों का पृथक और स्पष्ट उल्लेख आता है जहां कहा गया है कि "जिस राजा के पुर में चोर, परस्त्रीगामी, दुष्ट वचन बोलने वाला, साहसिक अथवा कठोर वचन बोलने वाला (विभिन्न प्रकार के अपराधी) नहीं है, वह इन्द्रलोक को जाता है। अपने राज्य में इन पाँचों का निग्रह करने पर राजा को सजातियों में (अन्य राजाओं में) साम्राज्य मिलता है तथा संसार में यश प्राप्त होता है। कौटिल्य ने भी यद्यपि तीसरे प्रकरण में वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस आदि का उल्लेख किया है, परन्तु यहाँ पर उसने अपराध-संबंधी ऐसे ही विवादों का उल्लेख किया है जिनके विषय में व्यक्ति स्वयं आवेदन करके न्याय पा सकता है, तथा ऐसे अन्य सभी अपराधों का, जिनको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये, चौथे प्रकरण में 'कण्टकशोधन' के नाम से उल्लेख किया है (यद्यपि इस प्रकरण में अन्य कुछ विषयों का भी समावेश है)।

इस प्रकार कौटिल्य ने व्यक्तियों के पारस्परिक विवाद तथा राज्य द्वारा उठाये जाने वाले विवादों में स्पष्ट रीति से भेद किया है तथा इसमें अपराध-संबंधी विवादों का और अर्थ-संबंधी विवादों का भी अन्तर बहुत कुछ मात्रा में स्पष्ट किया है क्योंकि राज्य द्वारा उठाये जाने वाले विवाद केवल अर्थ-संबंधी ही हैं। अपराध सम्बन्धी और अर्थ सम्बन्धी विवादों का अन्तर इस प्रकार से भी स्पष्ट होता है कि व्यवहार को जिन अठारह भागों में विभाजित किया गया है उनमें से ६ भाग (वाक्यारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण तथा द्यूतसमारुवय) तो अपराध-संबंधी हैं और शेष भाग अर्थ-संबंधी है। इन दोनों प्रकार के विवादों में इस प्रकार से भी भेद है कि यह आग्रह किया गया है कि साहस (डाका, हत्या आदि), स्तेय (चोरी), स्त्री-संग्रहण (पर-स्त्री संबंध, बलात्कार आदि), वाक्यारुष्य (गाली देना, हसी उड़ाना आदि), दण्डपारुष्य (मार-पीट) आदि के विवाद जिस समय उपस्थित हों उन्हें उसी समय सुनना चाहिये और तुरन्त ही उनका निर्णय करना चाहिये परन्तु अन्य विवादों में इतनी शीघ्रता से न्याय करना आवश्यक नहीं है यद्यपि यह भी नियम है कि राजा अन्य विवादों के निर्णय में भी विलम्ब न करें क्योंकि समय व्यतीत होने से धर्म का नाश करने वाला महान दोषी उत्पन्न होता है। निर्णय शीघ्र हो इसके लिये यह कहा गया है कि प्रतिवादी को यथाशीघ्र उत्तर देना चाहिये और यदि वह शीघ्र उत्तर न दे तो उसे दण्ड होना चाहिए तथा वादी को भी अपने साधन तुरन्त प्रस्तुत करने चाहिये अन्यथा वह भी दण्डनीय है (देखिये आगे)। अतः भारतीय न्याय में यह नियम था कि अपराध-संबंधी विवादों का तो तुरन्त निर्णय होना ही चाहिये परन्तु अन्य विवादों के निर्णय में भी देर नहीं लगनी चाहिये। अपराध-संबंधी विवादों और अन्य विवादों में यह भेद बता ही दिया गया है कि अपराध-संबंधी विवाद में वादी को कोई शुल्क नहीं देना पड़ता है, न अन्य कोई भी (टिकिट आदि का) व्यय करना पड़ता है और केवल पराजित व्यक्ति को दण्ड ही मिलता है परन्तु अर्थ-संबंधी विवाद में यदि वादी (ऋणी) जीत भी जाय तो भी उसे अपने धन का कुछ अंश राज्य को देना पड़ता है। एक अन्य भेद यह है कि यद्यपि अर्थ-संबंधी विवादों में व्यक्ति असमर्थ होने पर (काम में फंसे होने पर) किसी अन्य को अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता है परन्तु अपराध-संबंधी विवादों में यह नहीं किया जा सकता। एक भेद यह भी अर्थ-संबंधी तथा अपराध-संबंधी विवादों में है कि अर्थ-संबंधी विवादों में तो उन्हीं साक्षियों को लिया जायेगा जो वर्जित नहीं हैं परन्तु अपराध-संबंधी विवादों में कोई भी साक्षी स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि अपराध साधारणतया गुप्त रूप से होने के कारण उनमें जो भी साक्षी हों उन्हें साधारणतया स्वीकार करना आवश्यक ही हो जाता है अन्यथा बहुत बार ऐसे अपराधों में साक्षी ही नहीं मिलेगा (देखिये आगे 'साक्षी')। एक अन्य भेद यह भी है कि कुल, श्रेणी, गणों में न्यायालय मूल रीति से अर्थ-संबंधी विवाद सुनने के लिये है परन्तु अपराध-संबंधी विवादों का निर्णय मूलतया

राजकीय न्यायालयों द्वारा होने का ही नियम है। अर्थ-संबंधी विवाद में प्रतिवादी वादी के ऊपर कोई प्रत्याभियोग नहीं लगा सकता, परन्तु अपराध-संबंधी विवाद में इसकी अनुमति है। इन दोनों प्रकार के विवादों में अन्य भेद यह है कि अपराध-संबंधी विवादों में प्रतिवादी को तुरन्त ही उत्तर देना होगा अर्थात् उसे उत्तर देने के लिये कोई समय नहीं दिया जा सकता जबकि अर्थ-संबंधी विवादों में कुछ समय दिया जा सकता है; दूसरे अपराध-संबंधी विवादों में प्रतिवादी भी वादी के ऊपर प्रत्याभियोग लगा सकता है परन्तु अर्थ-संबंधी विवादों में यह वर्जित है।

विवाद देखने का क्रम—मुकदमें किस क्रम से देखे जांय इसके विषय में कहा गया है कि जिसको अधिक पीड़ा हो अथवा जिसका विवाद अधिक आवश्यक हो उसका विवाद पहिले देखा जाय अन्यथा वर्णों के क्रम से विवादों का निर्णय किया जाय। कौटिल्य ने यह तो कहा ही है परन्तु उसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि विवाद देखने का क्रम इस अनुसार रहना चाहिये। देवता (मन्दिर), आश्रम, पाखण्डी समुदाय, श्रोत्रिय, पशु, पुण्यस्थान, काल, वृद्ध, रोगी, जो दुर्दशाग्रस्त हों, अनाथ और स्त्रियाँ।

व्यवहार पद्धति

भारतीय न्याय-व्यवस्था में अपराध और धन-संबंधी विवादों में तो भेद है ही परन्तु निर्णय करने के कानून (Substantive Law) तथा 'व्यवहार' की पद्धति के नियमों (Adjective or Procedural Law) में भी भेद है। व्यवहार के जो अठारह भाग किये गये है (अष्टादश पाद) उनमें तो विभिन्न प्रकार के विवादों के निर्णय के नियम बताये गये हैं और इसके अतिरिक्त, व्यवहार की पद्धति भिन्न रूप से दी हुई है। यहाँ पर नीचे के वर्णन में विशेष रूप से शुक्र नीति में ही दी हुई व्यवहार पद्धति का वर्णन किया जायेगा। तथा जहां आवश्यक ही होगा वहीं पर अन्य स्थानों के सन्दर्भ दिये जायेंगे। व्यवहार का उद्देश्व यह बताया गया है कि जिसके द्वारा सत और असत का विचार करने के कारण प्रजा की धर्म में स्थापना हो और अर्थ की सिद्धि हो उसे व्यवहार कहते हैं। इसका अर्थ है कि व्यवहार के द्वारा लोगों की अर्थ सिद्धि होती है तथा प्रजा को धर्म में लगाया जाता है। इसलिये न्याय का करना व्यक्तियों के सुख और समाज के हित दोनों की ही दृष्टि से। लाभदायक है।

व्यवहार के योग्य व्यक्ति—व्यवहार करने का अधिकार सभी व्यक्तियों को नहीं है कौटिल्य ने कहा है कि "जो निराश्रय है, ऐसे पुत्र हैं जिनके पिता जीवित हैं। अथवा ऐसे पिता है जिनके पुत्र वास्तविक अधिकारी हैं, जो निष्कुल है, जो ऐसे छोटे भाई हैं जिनका अंश विभाजित नहीं हुआ है, जो स्त्रियां पतिमती अथवा पुत्रवती हैं, जो दास हैं, प्रतिनिधि है, महापातकी हैं, सन्यासी हैं, लगड़े, लूले, अन्धे आदि हैं, विपत्ति में फंसे हैं उनके द्वारा किये हुए व्यवहार (समझौते आदि) उचित नहीं है। इसी प्रकार क्रुद्ध, आर्त, मत्त, उन्मत्त और पकड़े हुओं के भी व्यवहार अमान्य है। याज्ञवल्क्य ने इस सूची में मत्त, उन्मत्त, आर्त,

व्यसनी, भयभीत, बालक, स्त्री के द्वारा किया हुए व्यवहार का उल्लेख कर बलात्कार से, भय से किये गये, रात्रि में घर के अन्दर तथा ग्राम के बाहर किये गये व्यवहारों को भी अमान्य किया है तथा मनु ने भी छल से तथा बल से किये गये व्यवहारों को अमान्य बताया है ।

विवाद का प्रारम्भ—न्याय के लिये राजा को मध्याह्न का समय बताया है और कहा है कि पूर्वान्ह में उस न्याय के लिये आवश्यक स्मृतियों को देखना चाहिये । राजा के (अथवा प्राड़विवाक के) समक्ष अर्थी (विवाद प्रस्तुत करने वाला) अपना विवाद लिखकर विनम्रता के साथ उपस्थिति करे । फिर राजा उस अर्थी से पूछकर उसके विवाद को ठीक प्रकार से सुन ले । राजा न तो स्वयं अपनी ओर से (राजा की ओर से) किसी अपराध को प्रारम्भ करे—छल अपराध अथवा राज्य के प्रति द्रोह छोड़कर और न वह किसी विवाद को दबाये । जो व्यक्ति विवाद उपस्थित करता है उसे 'वादी', 'अर्थी', 'आवेदक' अथवा 'अभियोक्ता' कहा जाता है तथा दूसरे पक्ष के व्यक्ति को 'प्रतिवादी', 'प्रत्यर्थी' अथवा 'अभियुक्त कहते हैं । जो विवाद उपस्थित किया जाता है उसे 'पक्ष', 'भाषा', 'आवेदन' अथवा 'पूर्वपक्ष' और जो उत्तर दिया जाता है उसे 'उत्तर, 'प्रतिपक्ष' अथवा 'उत्तरपक्ष' कहते हैं । विवाद उपस्थित होने के पश्चात 'सभ्यों' को चाहिये कि वे आवेदन पर पूरी प्रकार से विचार कर लें तथा उसमें जो आवश्यकता से अधिक बातें हों उन्हें हटा दें, और फिर विवाद पर अर्थी के हस्ताक्षर करा कर उस पर राजा की मुद्रा लगा दें । बिना वादी के पूर्वपक्ष के समाप्त हुए उत्तर प्रारम्भ नहीं होना चाहिये और जब वह पूर्वपक्ष समाप्त हो जाय तब उस वादी को रोक देना चाहिये । फिर वह वादी आसेध (injunction), राजा की आज्ञा से अथवा शपथ से प्रत्यर्थी को, जब उसे बुलाया जाय तब आने के लिये, आसेध कर दे अर्थात उस पर कोई काम करने अथवा न करने के लिये बन्धन लगा दे । यह आसेध (injunction) चार प्रकार का होता है, (१) स्थान का आसेध अर्थात् व्यक्ति पर यह बन्धन कि वह एक विशेष स्थान छोड़कर अन्यत्र कहीं न जाय, (२) काल का आसेध अर्थात यह बन्धन कि व्यक्ति किसी निश्चित समय पर किसी विशेष स्थान में उपस्थित हो, (३) प्रवास का आसेध अर्थात व्यक्ति बाहर प्रवास पर न जावे, तथा (४) कर्म का आसेध अर्थात व्यक्ति को यह आज्ञा हो कि अमुक कर्म करे अथवा अमुक कर्म न करे । इन आसेधों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति दण्डनीय है, परन्तु यदि कोइ व्यक्ति किसी अन्य पर अनुचित और अनावश्यक आसेध लगवाने का प्रयत्न करे तो उस पर भी दण्ड होना चाहिये ।

अभियुक्त की उपस्थिति—जिस व्यक्ति के विरुद्ध अभियोग लगाया जाता है उसको राजा अपनी मुद्रित आज्ञा से अथवा अपने पुरुष (कर्मचारी) से बुलवाये । परन्तु राजा को इन लोगों को न बुलाना चाहिये—असमर्थ, बालक, वृद्ध, काम में लगा हुआ, राज्य के कार्य से व्यस्त, मद्य पिये हुआ व्यक्ति, पागल, जड़, दुखी,

दुर्दशा में पड़ी हुई स्त्री, अच्छे कुल की अथवा प्रसूत गृह में पड़ी हुई युवती, अभियोग लगाने वाले से उच्च वर्ण की कन्या, जातियों में प्रमुख स्त्रियाँ, यज्ञ करने वाला, विवाह में लगा हुआ रोगी, विपत्ति में पड़ा हुआ गांवों के पालन में लगा हुआ ग्वाला, खेती में लगा हुआ किसान, शिल्पी, युद्ध में लगे हुए शस्त्रधारी, जिन्हें अभी व्यवहार का अधिकार प्राप्त हुआ है (अल्पवयस्क आदि) दूत दान देने के लिये प्रस्तुत, व्रतधारी आदि। इस सूची के अन्दर या तो वह लोग हैं जो विवादों में भाग लेने के असमर्थ हैं अथवा वह लोग हैं जो ऐसे आवश्यक कार्यों में व्यस्त है जिन्हें उन कार्यों को छोड़ना बहुत हानिकारक होगा अथवा युवती और अच्छे कुल की स्त्रियां हैं जिन्हें न्यायालय में उपस्थित करना उचित नहीं। परन्तु ऐसी स्त्रियों को जिनके आधीन सम्पूर्ण कुल हैं, अथवा जो व्याभिचारी और वेश्या हैं, जिनका कोई कुल नहीं हैं अथवा जो पतित हैं, उन्हें बुलाया जा सकता है। यदि बुलाये गये व्यक्ति किसी ऐसे स्थान पर फस गये हों जहाँ से वह निकल कर नहीं आ सकते तो इस विषय में उनका कोई अपराध नहीं मानना चाहिये परन्तु यदि कोई व्यक्ति अकारण ही न आये तो उस अपराध से अनुसार (जिसमें वह अभियुक्त है) दण्ड होना चाहिये। जो असमर्थ हो अथवा जो सज्जन हों उन्हें सवारी द्वारा बुलाना चाहिये।

प्रतिनिधि—जो मुकदमे के विषय में अनभिज्ञ हों अथवा जो अन्य कार्य में व्यस्त हों वह अपने स्थान में अपना कोई व्यवहार का ज्ञाता प्रतिनिधि नियुक्त कर दें और जो जड़ पागल, वृद्ध, स्त्री, बालक, रोगी और मूर्ख है उनके पूर्वपक्ष अथवा उत्तर पत्र के विषय में इनके पिता, माता, मित्र, भाई, संबंधी अथवा नियुक्त व्यक्ति इनका कार्य करें। नियुक्त व्यक्ति (प्रतिनिधि) जो कार्य करे वह उसी व्यक्ति का किया हुआ समझना चाहिये जिसकी ओर से वह कार्य किया जाता है और उसको विवाद के लिये उपस्थित धन का सोलहवां, बीसवां, चालीसवां अथवा इसका भी आधा भाग वेतन मिलना चाहिये। जितना अधिक धन विवाद के लिये उपस्थित हो, प्रतिनिधि को उतना ही कम प्रतिशत वेतन मिलना चाहिये और जहाँ पर कई व्यक्ति मिलकर एक प्रतिनिधि नियुक्त करे तो उसके वेतन की व्यवस्था भिन्न होनी चाहिये। नियुक्त व्यक्ति धर्मज्ञ (धर्म अर्थात् विधि का ज्ञाता) और व्यवहारज्ञ (व्यवहार की पद्धति जानने वाला) होना चाहिये। यदि यह नियुक्त व्यक्ति लोभ आदि से गलती करे अथवा दूसरे के हित की बात कहे अथवा इससे अधिक वेतन ले तो उसे दण्ड देना चाहिये। मनुष्य के मारने में, चोरी में, परस्त्री-संबंध में, अभक्ष्य में, कन्या-दूषण में, दण्ड-पारुष्य अथवा वाक्पारूष्य में, राज्यद्रोह में अथवा साहस (लूट, डाका आदि) में अर्थात अपराध संबंधी सभी विवादों में प्रतिनिधि नहीं किया जा सकता और स्वयं को ही विवाद करना आवश्यक है। इन नियमों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नियुक्त व्यक्ति वर्तमान काल के वकीलों की श्रेणी में नहीं आ सकते क्योंकि साधारणतया यह उन्हीं के द्वारा नियुक्त किये जा सकते हैं जो असमर्थ हैं अथवा कार्य-व्यस्त हैं। अन्य लोगो को प्रतिनिधि नियुक्ति करने का अधिकार नहीं

है। इसके विपरीत वर्तमान काल में तो यह नियम है कि समर्थ व्यक्ति भी अपनी ओर से वकील कर सकते हैं और वकीलों के साथ साथ मुकदमों के सुनने में, साधारणतया वादियों को भी उपस्थित रहना ही पड़ता है। अर्थात वर्तमान काल में वकील व्यक्ति को मुख्यतया कानूनी सहायता देने के लिये हैं जबकि भारतीय व्यवस्था में प्रतिनिधि की नियुक्ति केवल इसीलिये है कि वह व्यक्ति की असमर्थता में उसे सहायक हो। एक उत्तर यह भी है कि वर्तमान काल में अपराध संबंधी विवाद में भी वकील किया जा सकता है जबकि भारतीय पद्धति में ऐसे विवादों में प्रतिनिधि पूर्णतया वर्जित है क्योंकि ऐसे विषयों में तो व्यक्ति को स्वयं ही अपनी निर्दोषिता सिद्ध करना चाहिये, प्रतिनिधि के माध्यम से नहीं। इसके अतिरिक्त भारतीय व्यवस्था में किसी भी धर्मज्ञ तथा व्यवहारज्ञ व्यक्ति को प्रतिनिधि नियुक्त किया जा सकता है अर्थात् यद्यपि प्रतिनिधि के नाते कार्य करने के लिये विशेष ज्ञान की आवश्यकता है परन्तु क्योंकि सभी ब्राह्मण तथा अन्य व्यक्ति भी धर्मज्ञ और व्यवहारज्ञ हो सकते हैं और क्योंकि राज्य द्वारा ऐसे लोगों के पंजीकरण (registration) का कोई उल्लेख नहीं है, इसलिये वर्तमान काल के समान वकीलों के किसी सीमित वर्ग का उल्लेख, भारतीय व्यवस्था में नहीं है। फिर, जबकि धर्म और व्यवहार के नियम स्थायी रूप से निश्चित हैं और उनमें नित्य प्रति वृद्धि अथवा परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है वहाँ कानूनों की कोई दुरुहता न होने के कारण इससे वकीलों की कोई आवश्यकता भी नहीं उत्पन्न होती और यत्किंचित ही कोई व्यक्ति इस उद्देश्य से अपना प्रतिनिधि नियुक्त करेगा। इसलिये यह निश्चित है कि इन नियमों के अनुसार वकीलों का कोई वर्ग अथवा व्यवसाय होने का कोई प्रश्न नहीं उठता।

प्रतिभू (Sureties)—इन के द्वारा बुलाने पर जब पारस्परिक संघर्ष करने वाले वादी उपस्थित हो जांय तो राजा उनके यथायोग्य प्रतिभू (जमानतदार) नियुक्त करे जो यह आश्वासन दें कि वह वादी को आवश्यकतानुसार उपस्थित करेंगे यदि वादी धन नहीं देगा तो वह धन देगे, और जो यह उत्तरदायित्व लें कि जो धरोहर वादी के पास होगी वह भी वादी अवश्य देगा, वादी झूठ नहीं बोलेगा, तथा वह वादी जो कार्य नहीं करेगा उसे उसका प्रतिभू कर देगा। ऐसा आश्वासन देने वाले, बुद्धिमान, विश्वासी, विख्यात, धनी और आधीन प्रतिभू दोनों ओर से नियुक्त करने चाहिये और उनके द्वारा वादियों के ऊपर प्रतिबन्ध लगाकर फिर विवाद प्रारम्भ करना चाहिये।

व्यवहार के चार अंग हैं--(१) भाषा तथा पूर्वपक्ष, (२) उत्तर, (३) क्रिया अथवा साधन (प्रमाण उपस्थित करना), (४) निर्णय। चारों कार्य यथाशीघ्र समाप्त हो जाने चाहियें। इनमें से एक-एक पर क्रम से विचार करेंगे। जो विवाद उपस्थित किया जाता है अर्थात् जो पूर्वपक्ष है उसमें यह गुण आवश्यक है कि वह दोषों से मुक्त, सिद्ध करने योग्य सत्करणों पर आधारित, निश्चित और सांसारिक

दृष्टि से सिद्ध होने योग्य होना चाहिये। जो आवेदन प्रस्तुत होता है उसके दोष ये हैं—अन्यार्थ (अर्थात् जो अर्थ व्यक्त करने की इच्छा हो उससे भिन्न अर्थ देने वाला), अर्थहीन, जिसके प्रमाण न हों, जो धर्मविरुद्ध हों, जो ठीक से न लिखा हुआ हो (भाषा की दृष्टि से) तथा जो लेखन में त्रुटियों से भरा हुआ हो। निम्न प्रकार से विवादों को स्वीकार न करना चाहिए—अप्रसिद्ध (जिसे न किसी ने सुना हो न देखा हो); निराबाध (जैसे मुझे गूँगे ने श्राप दिया है अथवा वन्ध्या के पुत्र ने मारा है); निष्प्रयोजन (जैसे यह व्यक्ति मेरे घर के समीप अपने घर में किवाड़ बन्द कर जाता है); असाध्य (जैसे वन्ध्या के गर्भ रह गया); विरुद्धक (जैसे यह मृत व्यक्ति नहीं बोलता) और निरर्थ (जैसे मेरे दिये हुये दुःख और सुख में संसार दुःखी और सुखी रहता है)। पूर्वपक्ष लिखते समय विवाद का वर्ष, मास, पक्ष, दिन, वादियों के नाम, जाति, देश, ग्राम, गोत्र, कर्म तथा वादी, प्रतिवादी का सम्बन्ध भी लिखना चाहिए। यह पूर्वपक्ष प्रत्यार्थी के समक्ष लिखा जाना चाहिए। यदि अर्थी एक विवाद को उपस्थित कर दूसरा विवाद उपस्थित करता है तो उसे दण्ड होना चाहिए।

जब पूर्वपक्ष निश्चित हो जाय और उसमें क्या ग्रहण करने योग्य है और क्या ग्रहण करने योग्य नहीं है यह विचार कर लिया जाय तथा जब प्रतिज्ञा (प्रमाण) के लिये विषय उपस्थित होने वाला हो उस समय उत्तर ले लेना चाहिये। आवेदन का प्रतिवादी द्वारा दिया गया उत्तर (उस आवेदन का) सम्पूर्ण उत्तर होना चाहिए, जो असंदिग्ध (सन्देह रहित हो, व्याकुलता से न दिया गया हो साररूप हो, जिसमें व्याख्या की कोई आवश्यकता न हो तथा जो दोष रहित हो। जो उत्तर संदिग्ध, बहुत अल्प अथवा अधिक हो, जिसमें पक्ष के एक ही अंश का उत्तर हो अथवा जिसमें उचित बात का उत्तर न हो वह ठीक उत्तर नहीं है। उत्तर चार प्रकार का होता है—सत्य अथवा सम्प्रति पत्ति (अभियोग की स्वीकारोक्ति), मिथ्या अर्थात् अभियोग को अस्वीकार करना, प्रत्यवस्कन्दन अथवा कारण अर्थात् अपने उत्तर में अभियोग का कोई कारण बताना तथा पूर्व न्याय-विधि अथवा प्राङ्न्याय अर्थात् इस विषय में पहले न्याय हो चुका है। 'मिथ्या' उत्तर भी चार प्रकार का होता है—(१) 'यह मिथ्या है' (२) 'मैं इसके विषय में बिल्कुल नहीं जानता' (३) 'उस समय मैं वहाँ पर नहीं था' तथा (४) 'उस समय मैं पैदा नहीं हुआ था'। जो प्राङ्न्याय उत्तर होता है। वह तीन प्रकार से सिद्ध हो सकता है, जयपत्र से, सभासदों से, साक्षियों से। यह आवश्यक है कि पक्ष और उत्तर दोनों वादियों के समक्ष ही होने चाहियें। प्रतिवादी को उत्तर देने के लिये कुछ समय अवश्य देना चाहिये यद्यपि वादी को अपने प्रमाण उपस्थित करने के लिये कोई समय नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह पहले से तैयार होकर ही अपना विवाद उपस्थित करता है। वादी को उत्तर देने के लिए जितना समय दिया गया है, यदि वह उस समय के पश्चात भी उत्तर नहीं देता है तो उसे दण्ड मिलना चाहिए। प्रतिवादी को यह

समय केवल अर्थ-सम्बन्धी विवादों में दिया जा सकता है जब वह उत्तर के लिये उपस्थित हो; परन्तु यदि वह उत्तर के लिये उपस्थित ही न हो तो साम आदि उपायों से उत्तर लिया जाय और यदि उस प्रकार से भी उससे उत्तर न मिले तो उसे दण्ड दिया जाय। जब एक वादी ने दूसरे प्रतिवादी पर कोई अभियोग लगा दिया है उस समय प्रतिवादी पर दूसरा कोई अन्य अभियोग नहीं लगा सकता। इसी प्रकार से यदि किसी विवाद में एक वादी ने प्रतिवादी पर अभियोग लगाया है तो प्रतिवादी उसके उत्तर में कोई प्रत्यभियोग नहीं लगा सकता। परन्तु यह नियम अपराध सम्बन्धी विवादों के लिये नहीं है।

आवेदन अथवा उत्तर की हीनता (Dismissal of Plaint or Reply)—वादी और प्रतिवादी दोनों को ही कुछ विशेष कारणों से 'हीन' घोषित किया जा सकता है अर्थात् विवाद के प्रारम्भ में ही उन्हें हारा हुआ घोषित किया जा सकता है। जिनको हीन घोषित किया जा सकता है वे ये हैं—जो एक प्रकार का विवाद उपस्थित कर फिर उसे छोड़ दूसरा विवाद उपस्थित करना चाहता है; जिसका पूर्व कथन वाद के कथन से नहीं मिलता; जो दूसरे के ग्रहण करने के अयोग्य वाक्य को स्वीकार कर लेता है (अर्थात् ऐसे वाक्यों को जिससे उसके द्वारा कही हुई बात का खण्डन हो जाता है); जो अभियोग का स्थान बताने को कहकर फिर स्थान नहीं बताता; जो ऐसा स्थान बताता है जहाँ है ही नहीं, जो अभियोग का एक स्थान बताकर फिर बदल जाता है; जो प्रश्न पूछे जाने पर ठीक से उनका समाधान नहीं कर सकता; जो पहले साक्षियों को बुलाने की बात कहकर फिर उन्हें बुलाने की इच्छा नहीं करता; जो साक्षियों से बात करने के अयोग्य स्थान पर जाकर उनसे गुप्त रूप से बातचीत करता है; जो पूछे जाने पर कुछ नहीं बोलता अथवा जो बोलता है उसका ठीक से समर्थन नहीं कर सकता (उसका ठीक प्रमाण नहीं दे सकता); जो अभियोग के पूर्वोत्तर सन्दर्भ को जानता ही नहीं है; जो प्रश्न पूछने का कहकर फिर प्रश्न नहीं पूछता। जो व्यक्ति इस प्रकार से हीन सिद्ध हो जाता है उसे दण्ड भी दिये जाने का नियम है।

प्रमाण (Proofs)—पक्ष और उत्तर समाप्त हो जाने पर फिर व्यवहार का तीसरा अंश आरम्भ होता है अर्थात् अर्थी द्वारा प्रमाण का उपस्थित होना। व्यवहार के इस अंग को 'क्रिया' अथवा 'साधन' कहते हैं अर्थात् जो अभियोग है उसे सिद्ध करने का कार्य। यह साधन तुरन्त उपस्थित किये जाने चाहिये। एक विवाद में दोनों पक्षों को ही अपनी-अपनी बात सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं हैं। यदि 'मिथ्या' उत्तर है तो अर्थी अर्थात् अभियोक्ता को अपने साधन प्रस्तुत करने पड़ते हैं अर्थात् उसे अपना अभियोग सिद्ध करना पड़ता है, यदि उत्तर 'प्राङ्न्याय' है तो प्रत्यर्थी को अपनी बात (कि इस विषय पर पूर्व में न्याय हो चुका है) सिद्ध करनी पड़ेगी। इसका अर्थ यह कि जो अपनी ओर से कोई बात प्रस्तुत करेगा तो अपनी बात के पक्ष में प्रमाण देने होंगे। साधन दो प्रकार के होते है, मानुष और दैविक

जिसमें मानुषी साधन तो तीन होते हैं—लेख, भोग और साक्षी तथा दैविक साधनों को दिव्य कहते हैं जिसमें तुला, अग्नि, जल, विष आदि के द्वारा सत्य और असत्य का निर्णय होता है। इनके अतिरिक्त शपथ और युक्ति (circumstantial proof) भी दो अन्य साधन हैं।

विविध प्रकार के साधनों के प्रयोग के स्थान—इन साधनों के सम्बन्ध में यह नियम है कि उन्हें देखने में तनिक भी विलम्ब न करना चाहिये और अर्थी को चाहिये कि वह अपने साधन प्रत्यर्थी के समक्ष दिखावे। यदि वह इस प्रकार से साधन प्रत्यक्ष नहीं दिखा सकता तो ऐसे स्थान स्वीकार नहीं किये जाने चाहियें। इन साधनों में जो दोष हो वह विवाद करने वाले बता सकते हैं तथा यदि इन साधनों में कुछ ऐसे दोष हों जो प्रकट रीतियों से वादियों की समझ में न आयें तो सभासदों को साधनों के ऐसे दोष प्रकट करने चाहियें। यदि कोई व्यक्ति साधनों में गलत दोष बताता है तो उसे दण्ड होना चाहिये और इसी प्रकार जो झूठा साधन बताता है उसे भी दण्ड होना चाहिये। साधन दो प्रकार के होते हैं—सत्य का वर्णन करने वाले और छलपूर्ण। अतः इन साधनों का ठीक प्रकार से विचार कर तब निर्णय देना चाहिये। जो सभासद किसी साधन में गलत शंका करें उन्हें चोर के समान दण्ड देना चाहिये अर्थात् साधनों में गलत शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि उससे अनवस्था उत्पन्न होती है और संसार से धर्म का नाश होता है तथा व्यवहार भी समाप्त होता है। चार प्रकार के साधनों में (दिव्य, लेख, भोग, साक्षी) किसका कहाँ प्रयोग करना चाहिये यह भी बताया गया है। जहाँ किसी व्यक्ति के प्राण लेने का विवाद हो वहाँ साधन होने पर भी दिव्य का अवलम्बन करना चाहिये, यदि साधनों में कहीं छल प्रतीत हो तो उसे भी दिव्य द्वारा ठीक करना चाहिये, जहाँ अन्य साधन समान हों, जहाँ मानुष साधन उपलब्ध न हों, जहाँ कोई अभियोग वन में, निर्जन स्थान में, रात्रि में, घर के भीतर हुआ हो, अथवा जहाँ साहस का और व्याभिचार का विवाद हो वहाँ दिव्य का प्रयोग होना चाहिये। जहाँ साधन दूषित हो गये हों वहाँ उनका संशोधन दिव्य से करना चाहिये। जहाँ कोई व्यक्ति महापातकों के दोषी हों अथवा निक्षेपहरण का विवाद हो वहाँ साक्षियों के होने पर दिव्य के द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। जिनके ऊपर राजा शंका करे अथवा जिनका दस्यु लोग उल्लेख करें अथवा जो आत्मशुद्धि चाहें उन्हें भी दिव्य देना चाहिये। इससे यह स्पष्ट अर्थ निकलता है कि महापातक और निक्षेपहरण के पापों को छोड़कर अन्य स्थानों पर दिव्य का निर्णय के लिये तभी प्रयोग होना चाहिये जब मानुष साधन उपलब्ध न हों। इसके अतिरिक्त यह भी एक नियम है कि यदि एक व्यक्ति दैवी साधन उपस्थित करे और दूसरा व्यक्ति मानुषी साधन उपस्थित करे तो वहाँ दोनों की तुलना में मानुषी साधन को मान्यता देनी चाहिए तथा यदि किसी विवाद के कुछ अंश के सम्बन्ध में भी मानुषी साधन प्राप्त होते हैं तो उस सम्पूर्ण विवाद में मानुषी साधन को ही प्रमाण मानकर चलना चाहिये और पूर्ण विवाद के सम्बन्ध

में फिर दैवी साधनों का प्रयोग स्वीकार नहीं करना चाहिये। दान करने और न करने के विवाद में (दत्ताप्रदानिक) स्वामी-भृत्य के विवाद में (स्वामिपाल विवाद), विक्रियादान के विवादों में (विक्रियासम्प्रदान) और वस्तु मोल लेकर उसको धन न देने के सम्बन्ध में साक्षी प्रमाण हैं, लेख और भोग नहीं। विवाह (स्त्रीपुंधर्म), उत्सव, घूत के सम्बन्ध में विवाद होने पर साक्षी ही साधन हैं, वहाँ लेख और दिव्य कोई साधन नहीं है। द्वार, मार्ग तथा जल के प्रवाह में भोग ही महत्वपूर्ण है, दिव्य और साक्षी नहीं। स्थावर, कुल, श्रेणी, गणों के विवाद, लेख प्रमाण है दिव्य अथवा साक्षी नहीं। इसके अतिरिक्त यह नियम है कि यदि लिखित नष्ट हो जाय तो साक्षी और भोग से ही विचार करना चाहिये, यदि लेख के अतिरिक्त साक्षी भी न मिले तो केवल भोग के ही आधार पर निर्णय करे, लेख और भोग न मिले तो केवल साक्षी के आधार पर विचार करे तथा लेख के मिलने पर उसके आधार पर तो सदैव विचार करे। भोग, लेख अथवा साक्षी इनमें से केवल किसी एक के आधार पर ही तब तक विचार नहीं करना चाहिये जब तक बाध्य ही न हो जाये क्योंकि कुटिल व्यक्ति कुशलता से बनावटी लेख बना लेते हैं; स्नेह, लोभ, भय, क्रोध के आधार पर साक्षी भी झूठ बोल देते हैं; बल के अभिमान में लोग, वस्तु के चाहे वह स्वामी हों अथवा न हों उसका भोग कर लेते हैं—इसलिये इनमें से केवल एक से ही विवाद सिद्ध नहीं हो सकते। सबसे अन्त में यह नियम है कि जहाँ कोई लेख, भोग, साक्षी प्रमाण न हों तथा दिव्य का प्रयोग भी सम्भव न हो वहाँ राजा ही स्वयं निर्णय कर दे। परन्तु जहाँ कोई प्रमाण हों वहाँ उन प्रमाणों को छोड़कर अपनी इच्छानुसार राजा निर्णय न करे, नहीं तो वह पाप का भागी होता है।

लेख (Documents)—लेख के विषय में यह कहा गया है कि जो पीछे हुआ है उसके स्मरण के लिये लेख होते हैं क्योंकि समय व्यतीत होने पर मनुष्य की स्मृति में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। यह लिखित वर्ण, स्वर, चिन्ह और वाणी से मुक्त होता है और क्योंकि भूल जाना मनुष्य का परम धर्म है अतः लेख को ही निर्णायिक मानना चाहिये। लेख दो प्रकार का होता है—राजकीय और लौकिक अथवा जनपद। लौकिक लेख सात प्रकार के होते हैं—(१) भाग अथवा विभाग लेख अर्थात सम्पत्ति विभाग के लेख, (२) दान के लेख, (३) क्रय लेख अर्थात् वस्तु मोल लेने का लेख (जैसे मकान आदि), (४) आधीन लेख अथवा समधि लेख अर्थात् वस्तु रहन रखने के अथवा किसी व्यक्ति के पास देख-रेख के लिये वस्तु रहन रखने के लेख, (५) संविद अथवा स्थिति लेख अर्थात् किसी समूह के व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक व्यवहार के लिये बनाया हुआ लेख (Constitution अथवा Partnership), (६) दास लेख, (७) ऋण लेने का लेख अथवा उद्धार लेख। राजकीय लेख तीन प्रकार का होता है—शासन लेख अर्थात् आज्ञा देने वाला लेख (चाहे व्यक्ति को अथवा सभी लोगों को), ज्ञापन लेख अर्थात् सभी लोगों को किसी

विषय की सूचना देने वाला लेख तथा निर्णय लेख अर्थात् किसी विवाद का निर्णय देने वाला लेख। राजकीय लेख राजा के हस्ताक्षर से युक्त, मंत्रियों आदि की मुद्रा से युक्त तथा राजा की मुद्रा से युक्त होना चाहिये। लौकिक लेख में ऋतु, वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, समय, लेख लिखने का प्रदेश, विषय, स्थान, लेख से सम्बन्धित व्यक्तियों की जाति, आयु, आकृति, साध्य (व्यवहार में लाई गई सम्बन्धित वस्तु) का प्रमाण अथवा द्रव्य हो तो उसकी संख्या, लिखने वाले का नाम, राजा का नाम, साध्य (सम्बन्धित वस्तु) का नाम—ये सब क्रम से लिखे जाने चाहियें तथा पिता, पितामह, प्रपितामह के नाम भी क्रम से लिखे जाने चाहियें। याज्ञवल्क्य के अनुसार इसमें ऋणी (ऋण लेने वाले) का हस्ताक्षर अन्त में स्वहस्त से होना चाहिये और यह भी लिखना चाहिये कि "जो ऊपर लिखा है वह मुझे स्वीकार है।" इस लेख के जो साक्षी हों उन्हें भी अपने हाथ से अपने-अपने तथा पिताओं के नाम लिखने चाहिये। लेख दो प्रकार का होता है—अपने हाथ से लिखा हुआ तथा दूसरे के हाथ से लिखा हुआ। इसमें पहला तो बिना साक्षियों के भी प्रमाण होता है परन्तु दूसरे में साक्षी आवश्यक होना है। यदि लेख किसी दूर देश में रह जाय, पढ़ा न जाय, नष्ट हो जाय, मरोड़ दिया जाय, चोरी हो जाय, कट जाय, जल जाय, अथवा फट जाय तो दूसरा लेख तैयार करा लेना चाहिये। अप्रगल्भ मनुष्यों अथवा स्त्रियों द्वारा लिखा हुआ और अन्य पुरुषों से बलात्कार, छल, भय लोभ आदि से लिखाया हुआ लेख प्रमाण नहीं होता है। ऐसा लेख प्रमाण है जो देश के आचार के अनुकल हो, जो सब उचित लक्षणों से युक्त हो, जिसके अक्षर लुप्त न हों और ठीक क्रम से हों। यदि लेखक साक्षी अथवा दोनों पक्षों की मृत्यु हो जाय, तो लेख को उसी लेखक के तथा उन साक्षी और दोनों पक्षों के व्यक्तियों के हस्ताक्षर से मिलाकर उसे प्रमाणित मानना चाहिये।

भोग (Possession)—विवाद में उपस्थित करने के योग्य दूसरा साधन है भोग—अर्थात् किसी वस्तु का भोग भी उस व्यक्ति के अधिकार के लिये प्रमाण-स्वरूप है। परन्तु भोग को प्रमाण होने के लिये उसमें पाँच गुण होने चाहियें। उस भोग करने के पीछे भोग करने वाले का न्यायसिद्ध अधिकार होना चाहिये (अर्थात् वह भोग सागम-आगम सहित होना चाहिये)। वह भोग दीर्घकालीन होना चाहिये, उसमें बीच में व्यवधान नहीं होना चाहिये, उसके भोग किये जाने के सम्बन्ध में किसी दूसरे को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये तथा जिस व्यक्ति से उस वस्तु के सम्बन्ध में विवाद चल रहा हो उसकी आँखों के सामने ही उस वस्तु का भोग होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इन पाँचों बातों के होने पर तो व्यक्ति का उस वस्तु पर अधिकार निश्चित सिद्ध होता है परन्तु यदि इनमें से किसी एक बात की भी कमी हुई तो फिर उस व्यक्ति के अधिकार के विषय में शंका उत्पन्न हो सकती है और फिर इस पर विचार करना पड़ेगा और जाँच करनी पड़ेगी कि उस व्यक्ति का वास्तव में अधिकार है अथवा नहीं। इन पाँचों बातों

में आगम (अर्थात् भोग करने के न्यायपूर्ण अधिकार) का महत्व सबसे अधिक है। यद्यपि केवल आगम ही व्यक्ति का किसी वस्तु पर अधिकार सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नहीं है भोग भी कुछ अवश्य होना चाहिये परन्तु यदि बिना आगम के केवल भोग ही किया तो तीन पुरुष (पीढ़ी) तक वैसे भोग से आगम अधिक बलवान है। इसलिये यदि व्यक्ति केवल भोग ही बताये और आगम नहीं बताये तो उसे छल से भोग करने वाला मानकर चोर समझना चाहिये और इस प्रकार चाहे वह सैकड़ों वर्ष तक भी भोग करता रहा हो तो भी उस पापी को चोर के समान दण्ड देना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि किसी भी व्यक्ति को किसी वस्तु का तब तक भोग नहीं करना चाहिये जब तक उसका उस पर न्यायपूर्ण अधिकार न हो और यदि वह इस प्रकार भोग करता है तो वह दण्डनीय है यद्यपि तीन पीढ़ी तक भोग के पश्चात चौथी पीढ़ी में उस व्यक्ति का उस पर आगम (अधिकार) हो जाता है। जिस व्यक्ति ने आगम कराया हो और वह भोग न करता हो ऐसा व्यक्ति यदि विवाद में अभियुक्त हो तो वह अपनी वस्तु दूसरे से ले सकता है परन्तु उस व्यक्ति के पुत्र पौत्रादिकों को उस वस्तु को लेने के लिये अपना भोग भी सिद्ध करना पड़ेगा, परन्तु यदि दूसरा व्यक्ति अभियुक्त हो अर्थात् वह व्यक्ति अभियुक्त हो जो भोग करता हो, परन्तु जिसके पास आगम न हो तो ऐसी अवस्था में जो आगम रखने वाले के उत्तराधिकारी हैं वह भी उस वस्तु को प्राप्त कर सकते हैं और उस अभियुक्त को उस वस्तु पर अपना अधिकार सिद्ध करने के लिये उस वस्तु के रखने का आगम दिखाना पड़ेगा अन्यथा उस वस्तु को छोड़ना पड़ेगा। इसका अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति के पास किसी वस्तु का न्यायपूर्ण अधिकार है वह यदि उस वस्तु का भोग भी न करता हो तो भी इससे वह वस्तु लेने का अन्य कोई भी व्यक्ति अधिकारी नहीं है, परन्तु उसके उत्तराधिकारी उस वस्तु को तभी ले सकते हैं जब वह स्वयं चिन्ता कर उस वस्तु पर अपना अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे अन्यथा वह वस्तु उसे मिल जायेगी जो उसका भोग करता है। आगम का इतना महत्व है परन्तु फिर भी यदि व्यक्ति अपनी आँखों के सामने अपने धन का दस वर्ष तक तथा भूमि का बीस वर्ष तक उपभोग होते देखता है तो उसका आगम नष्ट होकर वह वस्तु भोगने वाले की हो जाती है। फिर भी किसी जड़ व्यक्ति, बालक, स्त्री, राजा अथवा श्रोत्रिय का धन, गिरवी रखी हुई वस्तु अथवा धरोहर अथवा गिनकर रखने को दी हुई वस्तु (धरोहर) इनके ऊपर दस अथवा बीस वर्ष के प्रयोग के पश्चात भी भोग करने वाले का अधिकार नहीं होता। किसी भी स्थिति में यदि व्यक्ति तीन पुरुष तक भोग करे तो उसके पश्चात चौथी पीढ़ी में भोग करने वाले का अधिकार हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति गिरवी धरोहर आदि का हरण (भोग) करे तो उसे दण्ड मिलना चाहिये।

साक्षी (Witnesses)—तीसरा साधन है—साक्षी। यह साधन बहुत महत्वपूर्ण है। जबकि लेखों का वर्णन याज्ञवल्क्य-स्मृति, शुक्रनीति तथा विष्णु धर्म-

सूत्र में ही किया गया है और भोग का वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीति तथा विष्णु धर्मसूत्र और थोड़ा सा वसिष्ठ धर्मसूत्र में किया है। परन्तु साक्षियों के संबंध में बहुत-से ग्रन्थों ने विस्तार के साथ उल्लेख किया है। 'साक्षी' शब्द का मूल अर्थ 'अक्ष' से संबंधित है अर्थात् जिसने स्वयं आंख से देखा हो। इसी कारण शुक्र ने कहा है कि वादियों के अतिरिक्त जो विवाद के संबंध में व्यक्तिगत ज्ञान रखता हो वह साक्षी है। जब दो व्यक्ति परस्पर विवाद करते हैं और उन दोनों के कर्तव्यों में जब सन्देह अथवा मतभेद रहता है तब उस विवाद में सत्य का निर्णय साक्षियों के आधार पर ही होता है। साक्षी वह होना चाहिये जिसने विवाद के विषय को स्वयं देखा, सुना अथवा अनुभव किया हो अर्थात जिसने उस विवाद के संबंध में दूसरों से सुन रखा हो, वह साक्षी नहीं हो सकता। विषय के संबंध में दूसरों से सुनने वाला केवल ऐसी ही अवस्था में साक्षी हो सकता है जबकि जो वास्तविक साक्षी है वह मर गया हो अथवा अन्य देश में चला गया हो। किसी भी विवाद में साधारणतया कम से कम तीन साक्षी होने चाहियें और साधारणतया एक व्यक्ति की साक्षी से किसी विवाद का निर्णय नहीं हो सकता परन्तु यदि कोई बहुत पवित्र, लोभ रहित व्यक्ति हो, जिसके सत्यवादी होने का सबने अनुभव किया है अथवा यदि दोनों वादी किसी एक ही व्यक्ति को साक्षी स्वीकार करें तो ऐसी अवस्था में एक अथवा दो व्यक्ति भी साक्षी हो सकते हैं। किसी गुप्त व्यवहार में भी एक देखनेवाला अथवा सुननेवाला साक्षी ही पर्याप्त है, गुप्तचर और राजकर्मचारियों को छोड़कर। साक्षियों की योग्यता के संबंध में बताया गया है कि वे कुलीन, अनिन्दित, अपने कर्म में लगे हुए हों, जिन्हें राजा का भय अथवा प्रीति न हो, पवित्र, सत्यवादी, धर्मिष्ठ, पुत्रवान गृहस्थी, धर्मवान, श्रुति-स्मृति द्वारा प्रतिपादित आचारों का पालन करने वाला, सरल, तपस्वी, दानशील होने चाहियें तथा ऐसे होने चाहियें जिनकी बुद्धि, स्मृति आदि बहुत काल तक अकुण्ठित रहती हो। इन योग्यताओं के अनुसार यह प्रतीत होता है कि ऐसे ही व्यक्ति साक्षी बनाये जाने चाहिये जो केवल सत्य ही बोलें तथा जो राजा से भय अथवा प्रीति न रखने वाले हों क्योंकि राज्यकर्त्ताओं के प्रभाव से कोई भी व्यक्ति झूठ बोल सकता है। साक्षियों के पुत्रवान और धनवान होने का भी आग्रह है क्योंकि ऐसी स्थिति में उन्हें झूठ बोलने में पुत्र की मृत्यु का अथवा धन नष्ट होने का भय उत्पन्न होगा। साधारणतया जिस वर्ण का विवाद हो उसी वर्ण के साक्षी होने चाहियें और स्त्रियों के विवादों में स्त्रियाँ ही साक्षी होनी चाहियें क्योंकि वह अधिक संपर्क में रहने के कारण तथा अपनी जातियों की रीति और प्रथाओं को जानने के कारण ठीक से साक्ष्य दे सकते है। ऐसे व्यक्तियों की भी सूचियां दी गई हैं जो साक्षी नहीं बनाये जा सकते। मनुस्मृति के अनुसार अर्थ-सम्बन्धी (जिनसे रुपये का लेना-देना हो), मित्र, सहायक, वैरी, जिनके दोष का पहले ज्ञान हो चुका है (अर्थात जिनके विषय में यह अनुभव हो गया है कि इनमें दोष है),

व्याधिग्रस्त, पापी, राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय, ब्रह्मचारी, सन्यासी, दास, दस्यु, निन्दित कर्म करने वाले वृद्ध, शिशु, एक ही व्यक्ति, अन्त्यज, जिसकी कोई इन्द्रिय न हो, दुखी, मद्यपी, पागल, भूख-प्यास से पीड़ित, थका हुआ कामातुर, क्रुद्ध और चोर इनको साक्षी नहीं बनना चाहिये। इस सूची से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उसमें या तो ऐसे व्यक्ति हैं जो चारित्रिक दोष के कारण अथवा शारीरिक कमी के कारण अथवा अन्य कारणों से ठीक से साक्ष्य देने में असमर्थ हैं, अथवा ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें अपने कार्य से हटाना हानिकारक होगा अथवा ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें साक्षी के रूप में उपस्थित करना उनके सम्मान के विरुद्ध है अथवा ऐसे लोग हैं जिनके साथ वादी प्रतिवादी का सम्बन्ध ऐसा है कि उनसे निष्पक्ष साक्ष्य की अपेक्षा नहीं की जा सकती। उपरोक्त लोगों को साक्षी न मानने का कारण बताते हुए शुक्रनीति में कहा है कि "बालक अज्ञान के कारण, स्त्री असत्यता के कारण, पापी पाप करने के अभ्यास के कारण, बान्धव स्नेह के कारण, शत्रु वैर निकालने के भाव के कारण, दूसरी जाति वाला तथा शठ अभिमान और लोभ के कारण भृत्य अपनी जीविका के कारण साक्षी होने योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार अर्थसंबंधी, विद्या-संबंधी (गुरु-शिष्य), रक्त संबंधी तथा योनि संबंधी (साले, श्वसुर, पत्नी आदि) भी। परन्तु जब अन्य साक्षी न मिलें तो स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु, दास, अथवा भृत्य को भी साक्षी मान लेना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि इनके अतिरिक्त जिन अन्य लोगों को वर्जित किया है (अर्थात शरीरिक दोष वाले, चारित्रिक दोष वाले तथा राजा आदि) वह तो किसी भी दशा में साक्षी हो ही नहीं सकते। साक्षियों का यह परीक्षण अर्थ संबंधी विवादों में तो आवश्यक है परन्तु अपराध-सम्बन्धी विवादों में अर्थात वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, साहस, स्तेय, स्त्री-सग्रहण में इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।

किसी पुण्य दिवस में प्रातःकाल दोनों वादियों के द्वारा साक्षियों को मान्यता होने के पश्चात तथा साक्षी को सदुपदेश देने के पश्चात अग्नि के समक्ष तथा जल के समीप साक्षी को अपनी सत्य साक्ष्य उपस्थित करनी चाहिये। अर्थात साक्षी की ऐसे वातावरण में साक्ष्य होनी चाहिये जिससे उसे यह समझ में आ जाय कि सत्य ही बोलना चाहिये। न्यायाधीश, को साक्षी को शपथ दिलानी चाहिये और उनसे इस प्रकार का आग्रह करना चाहिये कि वह सत्य बोले। इस आग्रह में सत्य बोलने की आवश्यकता, सत्य बोलने के लाभ, तथा असत्य बोलने से होने वाले दुष्परिणाम बताने चाहिये। साक्षी की शपथ के सम्बन्ध में बताया है कि ब्राह्मण से कहना चाहिये 'कहो', क्षत्रिय से कहना चाहिये 'सत्य बोलो', वैश्य को गौ, बजि और सुवर्ण की शपथ दिलानी चाहिये तथा शूद्र को सभी पापों की शपथ देनी चाहिये। मनु का यह भी कहना है कि इस विषय में गोपालक, वैश्य, कारीगर, नर, दास तथा ब्याज लेने वाले ब्राह्मणों के साथ शूद्रवत व्यवहार करना चाहिये। सत्य बोलने के लिये शपथ दिलाने के उपरोक्त नियम विभिन्न वर्णों की चरित्र-सम्पन्नता अर्थात

गुणोत्कर्षता को ध्यान में रखते हुए अर्थात जो जितना कम गुणवान है उससे उतना ही अधिक कड़ाई से सत्य बोलने का आग्रह किया जाता है तथा असत्य बोलने का परिणाम दिखाया जाता है। शुक्रनीति में साक्ष्य सम्बन्धी अन्य नियम भी हैं कि साक्ष्य के लेने में समय नहीं व्यतीत होना चाहिये। साक्षियों से अर्थी, प्रत्यर्थी के सामने तथा विवाद का जहाँ विचार हो रहा है वहाँ प्रत्यक्ष रीति से साक्ष्य लेनी चाहिये, परोक्ष रीति से नहीं। यदि कोई साक्षी होना न स्वीकार करे तो उसे साध्य के समान (जितने धन का विवाद है) दण्ड देना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति जानबूझ कर अपनी साक्ष्य नहीं देता अथवा कूट हो जाता है (फूट जाता है) तो उसे दण्ड देना चाहिये और जो साक्षियों को कूट बनाता है उन्हें भी दण्ड मिलना चाहिये। जिसको न साक्ष्य देने के लिये कहा है, न जिसे (वादियों ने) बुलाया हो, न जिसे (साक्ष्य देने की) आज्ञा दी हो, वह यदि साक्षी दे तो वह चाहे सत्य बोले अथवा असत्य, वह दण्डनीय है परन्तु जहाँ बिना नियुक्त किये हुए पुरुष ने भी कोई बात देखी अथवा सुनी हो वह पूछने पर जैसा देखा हो अथवा सुना हो वह बता सकता है। यदि साक्षियों में मतभेद हों तो जो अधिक साक्षी कहें वह बात माननी चाहिये, यदि दोनों पक्ष में बराबर साक्षी हों तो उनकी बात माननी चाहिये जो गुणवान हों और यदि दोनों ओर के साक्षी गुणवान हों तो जिस ओर अधिक गुणवान हों उनकी बात माननी चाहिये। यदि बहुत-से साक्षियों ने भिन्न भिन्न काल में उस विवाद के संबंध में अंशतः बातों का ज्ञान प्राप्त किया हो तो उनसे एक-एक कर पूछना चाहिये। साक्षियों से, जो वह स्वाभाविक रीति से कहें वह वचन ग्रहण करना चाहिये और उनके साक्ष्य देने पर उनसे बार-बार पूछना नहीं चाहिये। अर्थात आग्रह-पूर्वक इस बात का प्रयत्न नहीं करना चाहिये कि साक्षी कोई बात कहें क्योंकि इससे उनके द्वारा साक्ष्य में गलती हो जाने की संभावना है। जो झूठी साक्षी देता है उसे दण्ड तो तो होना ही चाहिये परन्तु इसके अतिरिक्त यह भी बताया है कि झूठी साक्षी देने वाला नरक भोगता है। यह भी नियम है कि साक्ष्य देने के सात दिन के अन्दर यदि किसी व्यक्ति को रोग, अग्नि अथवा संबंधी की मृत्यु की पीड़ा हो तो उसे भी झूंठा साक्षी समझकर तदनुसार दण्ड देना चाहिये। यदि किसी विवाद में यह सिद्ध हो जाय कि साक्षियों ने झूठ बोला तो उस विवाद को पुनः सुनना चाहिये।

युक्ति और शपथ—ऊपर बताये गये तीन साधनों के अतिरिक्त किसी विषय के निर्णय में युक्ति का अर्थात चिन्हों का (Circumstantial Evidence) भी उपयोग किया जा सकता है। जो बात तर्क पूर्ण हो, शास्त्र और शिष्टों के विरोध में न हो और जिससे अपराधी की स्वार्थ और योजना सिद्ध हो जाय, वह युक्ति है। वसिष्ठ का कहना है कि जो व्यक्ति शस्त्रधारी हो, जिसके घाव लगे हों, अथवा जिसके पास चुराई हुई सम्पत्ति हो उसे (अपराधी) घोषित कर देना चाहिये। मनुस्मृति तथा मत्स्यपुराण में भी कहा है कि चोरी के विषय में तब तक दण्ड नहीं देना चाहिये जब तक उसकी चोरी सिद्ध न हो जाय।

परन्तु यदि अपराधी के पास चोरी के साधन तथा चुराई हुई सम्पत्ति हो तो उसे चोर मानना चाहिए। कौटिल्य तथा याज्ञवल्क्य का कहना है कि यदि संभोग के कोई चिन्ह हों अथवा स्त्री के केश आदि ग्रहण करता हुआ कोई व्यक्ति दिखाई दे तो उसे स्त्री-संग्रहण का दोषी मानना चाहिये। अतः युक्ति के आधार पर व्यक्ति को अपराधी घोषित किया जा सकता है, परन्तु फिर भी कौटिल्य ने यह चेतावनी दी है कि किसी व्यक्ति की पूर्ण परीक्षा के पश्चात ही दण्ड देना चाहिये क्योंकि हो सकता है कि भाग्यवश यदि चोरों के मार्ग से अचोर भी जा रहा हो अथवा यदि किसी के वेश, वस्त्र, सामान चोर जैसे ही हों अथवा यदि वह चोरी के माल के समीप हो तो वह माण्डव्य के समान पकड़ा जा सकता है जिन्होंने क्लेश के भय से अचोर होने पर भी अपने आपको चोर स्वीकार कर लिया था। अतः सावधानी से व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिये। आपस्तम्ब ने भी आग्रह किया है कि सन्देह में किसी भी व्यक्ति को दण्ड न देना चाहिए। अनुमान के अतिरिक्त निर्णय का एक अन्य मार्ग शपथ भी है। परस्पर विवाद करने वालों में यदि साक्षी न हों तो राजा दोनों पक्षों से शपथ लेकर सत्य का निर्णय करे। बुद्धिमान व्यक्ति छोटे विषय में वृथा शपथ न लें। विष्णु धर्मसूत्र ने भी शपथों का उल्लेख किया है तथा याज्ञवल्क्य ने अनुचित अथवा झूठी शपथ लेने पर दण्ड कहा है।

दिव्य (Ordeals)—यदि उपरोक्त किन्हीं साधनों की उपलब्धि न हो और निर्णय के संबंध में शंका हो तो फिर निर्णय दिव्य (ordeals) के द्वारा करना चाहिये। ऊपर विस्तार के साथ बताया गया है कि कौन-सी अवस्था में केवल दिव्य द्वारा ही निर्णय करना संभव है तथा यह भी बताया गया है कि मानुष साधन यदि उपलब्ध हों तो उनकी तुलना में दिव्य साधनों को नहीं मानना चाहिये। दिव्य का उल्लेख पञ्चविंश (अथवा ताण्ड्य) ब्राह्मण में किया है जहाँ एक कथा बताई है कि वत्स को उसके सौतेले भाई ने कहा कि वह शूद्रा का पुत्र है। वत्स ने अपने को ब्राह्मण सिद्ध करने के लिये अग्नि में प्रवेश किया तथा उसके एक लोम को भी अग्नि ने स्पर्श न किया। छान्दोग्योपनिषद में भी अग्नि दिव्य का उल्लेख है तथा आपस्तम्ब का कहना है कि सन्देह में अनुमान से अथवा दिव्य के आधार पर विचार करना चाहिये और इस प्रकार विचार कर तब दण्ड देना चाहिये। मनु ने भी अग्नि और जल के दिव्य का उल्लेख किया है। दिव्यों के विषय में याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णुधर्मसूत्र, शुक्रनीति तथा अग्निपुराण ने विस्तार के साथ वर्णन किया है। दिव्य का उपयोग यह है कि उससे व्यक्ति भयभीत होकर सत्य बोल देता है तथा उससे आत्मशुद्धि होती है। इसलिये इस दिव्य को यदि कोई व्यक्ति अपने अहंकार से अथवा ज्ञान के अभिमान से नहीं मानेगा तो उसे चोर समझना चाहिये। साधारणतयः यह दिव्य अभियुक्त के लिये ही प्रयोग करने चाहिये परन्तु दोनों वादी परस्पर यह भी निश्चित कर सकते हैं कि उनमें से एक तो दिव्य लेगा और दूसरा पराजित होने पर अर्थदण्ड अथवा शरीरदण्ड स्वीकार करेगा। दिव्य कई

प्रकार के हैं। अग्नि का दिव्य वह है जिसमें व्यक्ति तपाये हुए लोहे के गोले को हाथ में लेकर चलता है परन्तु यदि उसके हाथ पर चिन्ह नहीं पड़ता, अथवा तपे हुए अंगारों पर सात पद चलता है, अथवा तप्त तेल में पड़े हुए मांशे भर लोहे को हाथ में उठा लेता है, अथवा तपे हुए लोहे के पत्र को जीभ से चाट लेता है परन्तु यदि इन सबका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो वह निर्दोष है, अन्यथा दोषी है। विप का दिव्य वह है जिसमें व्यक्ति विष खा लेता है अथवा हाथ से काला सांप पकड़ लेता है पर फिर भी यदि उससे कोई हानि नहीं होती तो वह निर्दोष है। तुला के दिव्य में व्यक्ति अपनी बराबर की किसी वस्तु को दूसरी बांट पर रखकर उसके साथ तुलता है। यदि वह व्यक्ति नीचे हो जाता है तो वह दोषी है और यदि शुद्ध होता है तो वह ऊपर हो जाता है। जल के दिव्य में यह नियम है कि संबंधित व्यक्ति को जल में डुबाये और फिर एक बाण मारकर किसी व्यक्ति से वह बाण मंगावे, यदि उस बाण के आने तक वह व्यक्ति जल में डूबा रहे और वह जीवित रहे तो वह शुद्ध है। इसके अतिरिक्त देवता की पूजा कर देवता के स्नान का जल पिलाना चाहिये। यदि इसके पश्चात् चौदह दिन तक भी उस व्यक्ति के संबंध में घोर उपद्रव न हो तो उसे शुद्ध जानना चाहिये (कोश दिव्य)। धर्म और अधर्म की मूर्तियाँ बनाकर उन्हें गोबर के दो गोलों में रखना चाहिये और फिर उन गोलों को वहाँ से हटाकर मिट्टी के एक बर्तन में रखना चाहिये। यदि व्यक्ति धर्मवाला गोला निकाले तो वह शुद्ध है अन्यथा अशुद्ध है (धर्माधर्म दिव्य)। इनमें जो पहले-पहले दिव्य वर्णित हैं वह बाद के दिव्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। स्त्री, बालक, वृद्ध, अन्धा, लूला, ब्राह्मण, और रोगी इन्हें तुला का दिव्य देना चाहिये, क्षत्रिय को अग्नि का, वैश्य को जल का तथा शूद्र को विष का दिव्य देना चाहिये। नृपद्रोह तथा महापातक के अभियोग में इन दिव्यों का अवश्य प्रयोग करना चाहिये तथा एक सहस्र पण के विवाद में अग्नि, विष, तुला और जल का दिव्य न होना चाहिये।

निर्णय—साधनों के विषय में विचार होने के पश्चात् सबसे अन्तिम बात शेष रहती है सिद्धि अथवा निर्णय के संबंध में। इसके विषय में यह कहा है कि जिसकी बात सत्य सिद्ध हो जाय और जिसे जयपत्र मिल जाय वह 'जयी' है। जिस संबंध में सभासदों ने निर्णय कर लिया हो तथा प्रतिवादी ने मान लिया हो उस विषय पर राजा वादी को जयपत्र दे दे अन्यथा उस मिथ्याभियोगी को राजा बहुत वर्ष तक बन्धन में डाल दे। निर्णय पर पुनर्विचार करने के संबंध में साधारणतया तो यह नियम है कि जो निर्णय हो गया हो उसे अपनी इच्छानुसार राजा को समाप्त नहीं करना चाहिये अर्थात साधारणतया किसी भी निर्णय को अन्तिम मानकर ही चलना चाहिये क्योंकि यदि निर्णयों में बार-बार परिवर्तन किया जाये तो फिर न तो न्याय ही शेष रह जायगा और न न्याय की स्थिरता ही रहेगी।

परन्तु यदि निर्णय में किसी कारण से भूल हुई हो तो उस पर पुनर्विचार किया जा सकता है। इस विषय में ऊपर विस्तार से बताया है कि किन अवस्थाओं में पुनर्निर्णय होना चाहिये (देखिये ऊपर निष्पक्ष न्याय)। याज्ञवल्क्य का यह भी कहना है कि यदि उचित न्याय होने पर पराजित व्यक्ति यह कहे कि वह पराजित नहीं हुआ उसके संबध में फिर से न्याय कर उसके पराजित होने पर उसे दुगुना दण्ड होना चाहिये। दूसरी ओर यह भी नियम है कि यदि निर्णय गलत हुआ है तो उस निर्णय पर पुनर्विचार होना ही चाहिये, साथ ही साथ सभ्यों तथा न्यायाधीश को दण्ड भी होना चाहिये।

दण्ड

निर्णय में जो व्यक्ति हार जाता है उसे, चाहे अर्थ संबंधी विवाद हों और चाहे अपराध-संबंधी विवाद हों, दण्ड मिलने का नियम है। इसके पीछे यह भावना है कि जिस व्यक्ति ने ऐसा काम किया हो जिससे समाज में अव्यवस्था हुई हो, और जिससे व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों में विक्षेप उत्पन्न हुआ हो उस व्यक्ति को दण्ड मिलना ही चाहिये। यदि हम अर्थसंबंधी विवादों को लें तो जिस व्यक्ति ने किसी दूसरे का देय धन नहीं दिया है, चाहे वह ऋण हो, अथवा वेतन हो अथवा धरोहर हो अथवा गिरवी हो अथवा किसी मोल ली वस्तु का मूल्य हो अथवा यदि किसी ने धन लेकर उसके बदले में उसे जो वस्तु देनी चाहिये अथवा सेवा करनी चाहिये वह वस्तु न देकर अथवा सेवा न कर उस अपने समझौते को पूरा नहीं किया है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि उसने ऐसा काम किया है जिससे पारस्परिक संबंधों में और समाज के व्यवस्थित जीवन में गड़बड़ी उत्पन्न हुई है। यही नियम उसके विषय में है जो नियम से अधिक व्याज लेता है अथवा मूल्य लेता है और इस प्रकार समाज में गड़-बड़ी करता है। इसलिये यह तो आवश्यक है ही कि विवाद के निर्णय के द्वारा जो गड़बड़ी हुई है उसे ठीक किया जाय परन्तु यह भी आवश्यक है कि जिसने गड़बड़ी की है उसे दण्ड भी दिया जाय। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति उपरोक्त सब विषयों में किसी पर झूठे आरोप लगाता है तो इसका अर्थ है कि उसने भी समाज-जीवन में गड़बड़ी उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। इसलिये उसके द्वारा उपस्थित विवाद तो अस्वीकृत होगा ही, परन्तु झूठा विवाद उपस्थित करने का उसे दण्ड भी दिया जायगा। इसी प्रकार अपराध संबंधी विवादों में यदि किसी व्यक्ति के विषय में यह सिद्ध हो जाय कि उसने अपराध किया तो वह तो दण्डनीय है ही क्योंकि उसने समाज की शान्ति को भंग किया तथा पारस्परिक वैमनस्य प्रारम्भ किया है, परन्तु यदि किसी व्यक्ति ने किसी दूसरे व्यक्ति पर अपराध का झूठा आरोप लगाया है तो वह भी दण्डनीय है क्योंकि उसके द्वारा भी कुछ न कुछ गड़बड़ हुई है। कौटिल्य, शुक्र तथा याज्ञवल्क्य तीनों का यह कहना है कि प्रत्येक विवाद में पराजित व्यक्ति को दण्ड मिलना चाहिये। कौटिल्य ने कहा है "पराजित पुरुष को देयधन का

पाँचवाँ भाग दण्ड दिया जाय। जो स्वयं विवाद उपस्थित करे और झूठा हो उसे दसवें भाग का दण्ड दिया जाय। कर्मचारियों के वेतन का आठवाँ भाग तथा दूसरे पक्ष के भोजन आदि का व्यय भी पराजित व्यक्ति से लिया जाय। शुक्र नीति में भी यही कहा है कि यदि प्रतिवादी उत्तर न दें तो उसे दण्ड दिया जाय अन्यथा मिथ्या अभियोग करने वाले अभियोगी को। इस नियम का याज्ञवल्क्य ने भी उल्लेख किया है तथा इसका व्यवहारिक प्रयोग मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य-स्मृति में विभिन्न विवादों का वर्णन करते समय किया है।

दण्ड के प्रकार—दण्ड कई प्रकार हो सकता है। शुक्रनीति में विस्तार के साथ दण्ड के प्रकार वर्णित हैं। इनमें भर्त्सना, अपमान करमा, नाश करना (व्यक्ति का सब कुछ नष्ट कर देना), बन्धन में डालना, मारना, द्रव्य-हरण करना, निर्वासन करना, अपराधी के ऊपर चिन्ह बनाना, बुरी सवारी पर चढ़ना (गधे आदि पर), अंग काटना तथा मृत्यु-दण्ड देना सम्मिलित हैं। इन सब दण्डों को छः श्रेणियों में बांटा गया है वाक्दण्ड अर्थात् उपहास, धिग्दण्ड अर्थात् भर्त्सना, अर्थदण्ड, बन्धन, शरीरदण्ड तथा वध इन दण्डों में धिग्दम्ड और वाक्दण्ड तो सभासद ही दे सकते हैं क्योंकि इनके द्वारा वास्तव में कोई दण्ड नहीं दिया जाता अपितु अपराधी को केवल कड़े शब्द कहकर भविष्य में अपराध से रोकने का प्रयत्न किया जाता है, जो कार्य सभासदों द्वारा संभव है ही। परन्तु क्योंकि निर्णयों को घोषित करने का कार्य राजा का है अतः अन्य दण्डों की घोषणा राजा द्वारा ही (अथवा उसके प्रतिनिधि द्वारा) हो सकती है। इन विविध प्रकार के दण्डों का क्रम इस प्रकार से वर्णित है, उपहास, धिक्कार, अर्थदण्ड, अवरोध, ताड़ना अर्थात् शरीरदण्ड और वधदण्ड। इन छः दण्डों में से भी वाक्दण्ड, धिग्दण्ड तथा बन्धन का उल्लेख विविध अपराधों के दण्ड निर्धारित करने वाले वर्णन में नहीं है। धर्मशास्त्रों ने तथा अर्थशास्त्रों ने जहाँ भिन्न-भिन्न अपराधों का वर्णन किया है और उनके दण्ड बताये हैं वहाँ अर्थदण्ड, शरीरदण्ड और वध का ही उल्लेख है तथा अग्निपुराण, कौटिल्य अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्य-स्मृति तथा मनुस्मृति में दण्डों के रूप में प्रमुख रीति से इन्हीं का उल्लेख किया गया है। वाग्दण्ड धिग्दण्ड तो वास्तव में उस व्यक्ति के ही लिये हैं जो साधारणतया अच्छा है, जो बिना दण्ड के ही ठीक हो सकता है तथा जिसने परिस्थिति के कारण अथवा संसर्ग के कारण अथवा भावावेश में अथवा परिणाम का बिना विचार किये कोई अपराध प्रारम्भिक रूप में किया है और इसीलिये विभिन्न अपराधों के दण्ड के रूप में उन्हें मानने का कोई कारण नहीं है।

बन्धन—जहाँ तक बन्धन का प्रश्न है बन्धन को भी अपराधों के दण्ड के रूप में उल्लेख न करने का यह कारण है कि भारतीय राजनीतिक विचारकों की यह धारणा थी कि साधारणतया अपराध के लिये बन्धन के दण्ड का प्रयोग नहीं करना चाहिये और जब किसी व्यक्ति को रोक रखने के लिये बन्धन में डालना ही बहुत

आवश्यक हो जाये तभी उसे बन्धन का दण्ड देना चाहिये। छोटे-मोटे अपराधों के लिये तो व्यक्ति को बन्धन में डालने का कोई लाभ नहीं है उसके लिये तो अर्थ-दण्ड पर्याप्त है और जो इतने निर्धन हों कि अर्थदण्ड नहीं दे सकते उनसे उसके बदले में काम लेकर अर्थदण्ड पूरा किया जा सकता है। छोटे अपराधों में अर्थदण्ड अन्य व्यक्तियों के समक्ष उदाहरण के रूप में भी पर्याप्त है। इसलिये बन्धन की आवश्यकता तो विशेष रूप से ऐसे बड़े अपराधों में ही तथा ऐसी अवस्था में ही उचित समझी जा सकती है जहाँ अपराध करने वाले व्यक्ति को समाज से इसीलिये अलग हटाना आवश्यक होता है जिससे वह समाज को हानि करने वाले अपराध को दुबारा न कर सके और इस बीच में वह ठीक भी हो जाये। फिर भी, बन्धन के द्वारा ऐसे गुरुतर अपराध करने वाले व्यक्ति को दुबारा अपराध करने से पूर्णतया तभी रोकना संभव है जब उसे स्थाई रूप से बन्धन में ही रखा जाय अर्थात् उसे आजीवन कारावास दिया जाय जो कि मृत्यु के ही सदृश है। इसके विपरीत यदि आजीवन कारावास न दिया तो फिर व्यक्ति तब तक तो शान्त रहेगा जब तक वह बन्धन में रहेगा परन्तु उसके बन्धन से मुक्त होते ही, क्योंकि उसका बन्धन का भी भय समाप्त हो जायगा, इसीलिये फिर उसे अपराध से रोकना बहुत दुष्कर हो जायगा। दूसरे, क्योंकि बन्धनागार, जहाँ विभिन्न अपराधी आकर एक साथ रहते हैं, मनुष्य की वृत्ति को सुधारने में सहायक नहीं होते अपितु मनुष्य को पतन की ओर ले जाने में ही अधिक सहायक होते हैं। इसलिये भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने विभिन्न अपराधों के दण्डों के वर्णन में बन्धन का लगभग उल्लेख ही नहीं किया है, फिर भी केवल ऐसे लोगों के लिये जो अर्थदण्ड न दे सके और इसके बदले के रूप में काम न कर सके और जिनके अपराध ऐसे भी भीषण नहीं हों कि उन्हें शरीर-क्लेश (अंग-भंग, निर्वासन आदि) अथवा वध-दण्ड दिया जा सके, उनके लिये, तथा ऐसे लोगों के लिये जिनको किसी प्रकार रोक रखना आवश्यक ही है जिनमें विशेष रूप से राज-द्वेष करने वाले लोग रखे जा सकते हैं, बन्धन की व्यवस्था की गई है। बन्धन के दण्ड का उल्लेख कई स्थानों पर है। बन्धनागार के विषय में मनु ने कहा है कि उसे राज-मार्ग में बनवाना चाहिये जिससे लोग पापियों को देख सकें। बन्धन का दण्ड उल्लेख करने के बाद भी कौटिल्य का आग्रह है कि एक दिन में अथवा पाँच दिन में बन्धनागार में काम कराकर, शरीर-दण्ड देकर, अर्थदण्ड लेकर, अथवा कृपा कर वैसे ही, उसमें रखे गये व्यक्तियों में से, जिन्हें संभव हों, उन्हें उसमें से हटा देना चाहिये जिसका अर्थ है कि यह प्रयत्न करना चाहिये कि बन्धनागार में कम से कम व्यक्ति रहें। बन्धनागार के सम्बन्ध में विस्तार से कौटिल्य ने नियम दिये हैं। बन्धनागार में स्त्री-पुरुषों का पृथक् स्थान होना चाहिये तथा उसमें गुप्त कक्ष भी होने चाहियें। बन्धनागर से नये देश के जीतने पर युवराज के अभिषेक में तथा पुत्र जन्म पर बन्धन में पड़े व्यक्तियों को छोड़ देना चाहिये और बाल, वृद्ध, रोगी और अनाथों को राजा के जन्म-दिवस पर और पूर्णमासी के दिन छोड़ देना चाहिये।

बन्धनागार में यदि कोई बन्दी का चलना, फिरना, सोना, खाना-पीना आदि रोके अथवा क्लेश दे अथवा उत्कोच मांगे (रिश्वत) अथवा बन्दी स्त्री के साथ कामाचार करे अथवा बन्दी को किसी प्रकार बन्धनागार से बाहर निकाल दे, तो उस कर्मचारी को दण्ड होना चाहिये। शुक्र ने कहा है कि आजीवन बन्धन का दण्ड तो वध-दण्ड के समान कम ही दिया जाना चाहिये और एक मास, तीन मास, छः मास अथवा वर्ष भर के बन्धन का ही दण्ड देना चाहिये। बन्धन में रखे गये व्यक्तियों से काम कराने का भी उल्लेख है। शुक्र ने इनके लिये मार्ग ठीक करने का काम बताया है। कौटिल्य ने कहा है कि जिनका अल्प अपराध हो, जो बालक, वृद्ध, रोगी, मत्त, उनमत्त, भूख-प्यास से पीड़ित, थके हुए, त्रस्त, अजीर्ण, रोगी, दुर्बल तथा गर्भिणी और प्रसूतिका स्त्रियाँ हों तथा जो ऐसी स्त्रियाँ हों जिनके बालक उत्पन्न हुए एक मास ही हुआ हो उनसे काम न कराना चाहिये।

वध-दण्ड—शेष दण्डों में जो सबसे बड़ा दण्ड है, वह है वध-दण्ड। इस वध-दण्ड के विषय में यह कहा है कि वध दण्ड अल्प कारण से नहीं देना चाहिये। वध-दण्ड देना चाहिये अथवा नहीं इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क देकर वध-दण्ड देने की आवश्यकता शान्तिपर्व के दो सौ सड़सठ वे अध्याय में बताई गई है। उसमें एक कथा है कि एक बार राजा द्युमत्सेन के राज्य में कुछ अपराधी जब वध-दण्ड के लिये ले जाये जा रहे थे तब उसके पुत्र सत्यवान ने राजा के पास जाकर कहा कि यद्यपि बहुत से कार्यों में ऊपर से अधर्म दिखाई देता है फिर भी वह अन्दर से धर्म-पूर्ण होते हैं परन्तु किसी का प्राण-हरण करना तो किसी का प्राणहरण करना तो किसी प्रकार धर्मपूर्ण नहीं कहा जा सकता। सत्यवान ने वध-दण्ड के विरूद्ध तर्क देते हुए कहा कि जब कुछ लोगों का वध होता है तो लोग उनपर निर्भर हैं वे भी निराश्रित हो नष्ट हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कि दुष्ट पुरुष यदि जीवित रहें तो उनकी आगे आने वाली सन्तान अच्छी निकल जाय, परन्तु उन व्यक्तियों को मारकर तो उनका वंशोच्छेद कर दिया जाता है। उसने अन्तिम तर्क के रूप में कहा कि अच्छी संगत में पड़कर बुरा व्यक्ति भी सुधर जाता है इसलिये वध दण्ड के योग्य लोगों को भी यदि अच्छी संगत में रखा तो वे सुधर जायेंगे। इसलिये उसका आग्रह था कि सब लोगों को ब्राह्मणों के आधीन कर देना चाहिये क्योंकि जब सब लोग ब्राह्मणों को धर्माचरण करता देखेंगे तो स्वय भी धार्मिक हो जायेंगे। इसलिये उसने यह प्रतिपादित की कि दण्ड का प्रयोग तो अवश्य होना चाहिये परन्तु वध-दण्ड न होना चाहिये। उसके उत्तर में उसके पिता ने बताया कि एक समय था जब धिग्दण्ड से काम चलता था, फिर कटुवचन कहने की आवश्यकता हुई परन्तु अपराध की प्रवृत्ति फिर इतनी बढ़ी कि अर्थदण्ड प्रारम्भ हुआ और फिर भी लोगों को मर्यादा के अन्दर रखना कठिन हो गया। अपराध की प्रवृत्ति फिर इतनी अधिक बढ़ गई है कि कुछ लोगों का सुधार तो किया ही नहीं जा सकता इसलिये उनके लिये वध-दण्ड ही उत्तम और आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार समाज के पतन के कारण वध-दण्ड

अनिवार्य ही है । **शरीर-दण्ड**—जहाँ तक शरीर-दण्ड का संबंध है उसके विषय में भी शान्तिपर्व में यह कहा है कि शरीर का अंग-भंग भी अल्प कारण से नहीं होना चाहिये । शरीर के दण्ड के अन्तर्गत अंग-भंग तो है ही परन्तु चिन्ह बना देना अथवा निर्वासन भी है । शरीर-दण्डों के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में किया गया है तथा कौटिल्य ने अठारह प्रकार के शरीर-दण्ड और मनु ने शरीर-दण्ड के दस स्थान बताये हैं। इन दोनों से हल्का अर्थ-दण्ड है जिसका प्रयोग अधिक किया जा सकता है। अर्थ-दण्ड तीन प्रकार का है जिसे प्रथम साहस, मध्यम साहस तथा उत्तम साहस कहा है । प्रथम साहस का दण्ड है २५० से २७० पण तक, मध्यम साहस का दण्ड है ५०० से ५४० पण तक तथा उत्तम साहस का दण्ड १००० से १०८० पण तक है । अर्थ-दण्ड के विषय में यह नियम कहा गया है कि धन के लोभ से कभी अर्थदण्ड अधिक नहीं लगाना चाहिये । इसके विषय में यह भी नियम है कि जो उसे न दे सके उससे काम कराकर उतना अर्थ-दण्ड पूरा कर लिया जाय और यदि निर्धन ब्राह्मण न दे सके तो उससे धीरे-धीरे वसूल कर लिया जाय । किस किस अपराध में इनमें से कौन-सा दण्ड देना चाहिये अर्थात कौन-से अपराधों के लिये वध-दण्ड बताया गया है, कौन से अपराधों के लिये शरीर-दण्ड का उल्लेख है तथा कौन-से अपराधों में अर्थ-दण्ड पर्याप्त है इसका विस्तृत वर्णन श्री कार्ण के History of Dharmasastra में दिया है परन्तु उसका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है ।

दण्ड-सम्बन्धी नियम—दण्ड के सम्बन्ध में और भी बहुत से नियम हैं । एक नियम तो यह है कि पहले अपराध का दण्ड कम होना चाहिये तथा यदि व्यक्ति दुवारा अपराध करे तो उसे प्रत्येक वार अधिकाधिक दण्ड होना चाहिए । यदि कई व्यक्ति एक को मिलकर एक व्यक्ति को मारें अथवा घायल करें तो उन्हें साधारण दण्ड का दुगुना दण्ड होना चाहिए । ब्राह्मण के सम्बन्ध में यह नियम है कि उसे वध-दण्ड अथवा अंग-भंग का दण्ड न दिया जाय क्योंकि ब्राह्मण को समाज के सामने आदर्श के रूप में रखा है और अतः ऐसे वर्ग में यदि कोइ दोषी भी हो तो भी ऐसी कोई बात होनी अनुचित है जिससे उस वर्ग के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो । यदि ऐसा हुआ तो समाज का जीवन आदर्श-विहीन हो जायेगा । ब्राह्मण को अन्य कौन-सा दण्ड दिया जाय इसका वर्णन गौतम धर्मसूत्र तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र में दिया हुआ है । दण्ड के सम्बन्ध में एक अन्य नियम यह है कि स्त्रियों को पुरुषों का आधा दण्ड देना चाहिये । एक नियम यह भी बताया गया है कि किसी व्यक्ति को दण्ड देने का कार्य अथवा अपने विरुद्ध किये गये अपराध का बदला लेने का कार्य स्वयं अपने हाथ में न लेना चाहिये और यदि वह स्वयं ही बदला ले तो उसे दण्ड मिलना चाहिये। दण्ड के संबंध में सबसे अन्तिम नियम यह है कि अपराध की गुरुता और लघुता देखकर, देश, काल देखकर अपराधी की शक्ति,

उसका धन और उसका कर्म देखकर, उसने कौन-सी बार अपराध किया है यह देखकर, अपराधी की आयु और विद्या देखकर उसे दण्ड देना चाहिये। कौटिल्य का कहना है कि तीर्थयात्री, तपस्वी, रोगी, भूखा, प्यासा, थका हुआ अन्य देश का, दण्ड से क्लान्त तथा निर्धन के ऊपर अनुग्रह करना चाहिये। शान्ति-पर्व में कहा है कि यदि राजा मनमाना न्याय करता है तो इस लोक में अयश तथा परलोक में नरक प्राप्त होता है। एक के अपराध का, राजा दूसरे को दण्ड न दे और अपराध का ठीक से विचार कर तब व्यक्ति को छोड़े अथवा दण्ड दे।

दण्ड के सिद्धान्त—अर्थशास्त्रों और धर्मशास्त्रों में दण्ड की जो व्यवस्था दी हुई है उससे दण्ड के भारतीय सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाते हैं। एक तो यह बात स्वीकार की गई कि व्यक्ति जो अपराध करते हैं उनमें से कुछ तो परिस्थितिवश करते हैं तथा कुछ अपनी आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों के कारण करते हैं। जब यह बताया गया है कि सभी बातों का अर्थात देश, काल आदि का विचार कर दण्ड देना चाहिये तो उसके पीछे यह भावना है कि कई बार मनुष्य परिस्थितिवश अपराध करता है (विश्वामित्र द्वारा चाण्डाल के कुत्ते का मांस चोरी कर खाना अथवा सप्तऋषियों द्वारा मृत व्यक्ति का मांस पका कर खाना) और उन परिस्थतियों का विचारकर ही दण्ड देना चाहिये, परन्तु जब यह कहा गया कि कुछ लोग दुष्ट होते हैं और यदि उनका दमन न किया जाय तो समाज में सुस्थिति ही नहीं रहती तो इसका अर्थ यह है कि कई मनुष्यों की प्रवृत्तियां ही बुरी होती हैं और उन्हें केवल दण्ड के द्वारा ही ठीक किया जा सकता है। इसलिये भारतीय विचारकों ने न तो केवल यही माना था कि मनुष्य केवल परिस्थिति के कारण ही अर्थात सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक अवस्था के आधार पर ही अपराध करता है और न उन्होंने यही स्वीकार किया था कि अपराध में परिस्थितियों का कोई हाथ होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त दण्ड के उद्देश्य भी उनकी व्यवस्था में स्पष्ट हो जाते हैं। भारतीय विचारकों ने सबसे पहले तो यह माना था कि समाज की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें मनुष्य को न तो अपराध करने की आवश्यकता हो और न उसकी प्रवृत्ति बने अर्थात व्यक्तियों की सभी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिये। इसके लिये उन्होंने ऐसी समाज-रचना प्रस्तुत की थी जिसमें सभी व्यक्तियों की आवश्यकता की यथासंभव पूर्ति हो सके और अन्त में राजा से आग्रह किया था कि वह इस बात का ध्यान दे कि उसके राज्य में कोई व्यक्ति भूखा न रहे अर्थात वह विभाग करके ही स्वयं उपभोग करे। दूसरे, उन्होंने यह माना था कि समाज का ऐसा वातावरण और आदर्श होना चाहिये जिससे व्यक्तियों की अपराध की ओर प्रवृत्ति ही न हो और उन्होंने अपनी समाज रचना के द्वारा वैसा वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न भी किया था। इसके अतिरिक्त एक बात यह आवश्यक समझी गई थी कि समाज के अतिरिक्त मनुष्य को भी इतना शुद्ध बनाया जाय कि वह स्वयं

अपराध के प्रति घृणा करे इसके लिये सभी नैतिक नियमों का आग्रह था, पाप-पुण्य की, स्वर्ग-नरक की, पुनर्जन्म और कर्म विधान की कल्पनायें थी तथा आश्रम-व्यवस्था और संस्कारों के द्वारा व्यक्ति को इस जीवन में क्रमशः शुद्ध करने का प्रयत्न था। सबसे अन्त में व्यक्ति को ठीक करने के लिये यदि उसको अपने अपराध करने पर पश्चाताप हो तो उसके लिये प्रायश्चित थे। इतनी सब व्यवस्था होने के पश्चात् भी अर्थात समाज की व्यवस्था ठीक होने पर तथा सुशासन होने पर और समाज में व्यक्तियों को चरित्रवान बनाये रखने वाला वातावरण होने पर भी यदि कोई व्यक्ति अपराध करे और प्रायश्चित न करे तो ऐसा माना गया था, कि वह अपनी आन्तरिक दुष्प्रवृत्ति के कारण ही अपराध करता है, जिस दुष्प्रवृत्ति को फिर समझाकर, ठीक करना सम्भव नहीं; उसे ठीक करने के लिये भी दण्ड ही देना पड़ेगा। इसलिये मनु तथा वसिष्ठ का कहना है कि अपराध करने वाले राजा द्वारा दण्ड पाकर पवित्र हो जाते हैं और पुण्यात्माओं के समान स्वर्ग जाते हैं। शुक्र ने भी इसी भाव को व्यक्त करने के लिये राजा के सम्बन्ध में कहा है "असज्जनों को तथा संसर्ग के कारण दूषित लोगों को राजा दण्ड देकर सदैव सन्मार्ग की शिक्षा दे।" इसलिये भारतीय विचारकों ने दण्ड को सुधारात्मक माना था, परन्तु, दण्ड को सुधारात्मक उन्होंने इसी रूप में माना था कि दण्ड के कारण लोग बुरे मार्ग से हट कर सन्मार्ग में आ जाते हैं (देखिये अध्याय ८—दण्ड वर्णन)। दण्ड को सुधारात्मक मानने के पीछे उनका यह भाव नहीं था कि अपराधियों को किसी विशेष स्थान पर रखकर उनके लिये सुधारात्मक विद्यालय प्रारम्भ किये जायें। जब उन्होंने सम्पूर्ण समाज की योजना ही सुधार विद्यालय के रूप में निर्माण की थी तब फिर उसके पश्चात् भी अपराध करने वालों के लिये अन्य किसी सुधार विद्यालय की न तो आवश्यकता थी और न लाभ, और ऐसा माना गया था कि ऐसे व्यक्तियों के सुधार का तो दण्ड ही एकमात्र साधन है। परन्तु दण्ड द्वारा अपराधी के सुधार के साथ-साथ यह भी उनकी धारणा थी कि दण्ड अन्य व्यक्तियों के सामने उदाहरण उपस्थित कर उन्हें भी ठीक मार्ग में रखने में सहायक होता है अर्थात् उन्होंने दण्ड को निवृत्तात्मक (Deterrent) भी माना था। दण्ड शब्द ही 'दम' से बना है। अतः लोगों को दमन करके रखना दण्ड के पीछे का एक मान है और इसलिये दण्ड के द्वारा लोगों की दुष्प्रवृत्तियाँ करने की धारणा भारतीय विचारकों की थी। दण्ड की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा था (जैसा अध्याय ८ में बताया गया है) कि दण्ड के भय से ही सब लोग अपनी मर्यादा में लगे रहते हैं अन्यथा ऐसा व्यक्ति मिलना कठिन है जो पाप न करे अर्थात दण्ड के द्वारा व्यक्ति अपराध करने से रोके जाते हैं। बन्धन के दण्ड का जहाँ वर्णन किया गया है उससे यह भी स्पष्ट हो ही गया होगा कि दण्ड का संरोधात्मक (Preventive) उपयोग भारतीय विचारकों ने बहुत अधिक स्वीकार नहीं किया था, यद्यपि उसे भी आवश्यक मान्यता दी थी। दण्ड के प्रतिशोधात्मक उपयोग का तो भारतीय विचारने का कहीं उल्लेख ही नहीं मिलता है

चाहे वह प्रतिशोध व्यक्ति ले अथवा समाज। यह नियम कि यदि निम्न वर्ग का व्यक्ति किसी ब्राह्मण के किसी अंग पर आघात करे तो आघातकारी का वही अंग काट लेना चाहिये, भी प्रतिशोधात्मक भावना पर आधारित नहीं है परन्तु उसके पीछे यही भाव है कि समाज के आदर्श व्यक्ति पर आघात करने का जो दुष्कर्म करता है उसे समुचित दण्ड अवश्य ही मिलना चाहिये जिससे फिर लोगों को ऐसे अपराध करने का साहस न हो। यहाँ भी मूल भाव निवृत्तात्मक ही अधिक है। वैसे जो जितने भी दण्ड होते हैं सभी कुछ अंशों में प्रतिशोधात्मक होते हैं। उतने ही अंश में भारतीय दण्ड नियम भी प्रतिशोधात्मक थे। व्यक्तियों द्वारा प्रतिशोध लेना वर्जित था ही (देखिये ऊपर) परन्तु समाज के द्वारा प्रतिशोध लिये जाने का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि जब यह धारणा थी कि समग्र समाज एक इकाई है तो कौन किसके विरुद्ध प्रतिशोध ले। इसलिये भारतीय दण्ड विधान में निवृत्तात्मक और सुधारात्मक भाव ही प्रमुख हैं जिससे मनुष्य धीरे-धीरे अपनी निम्न प्रवृत्तियाँ छोड़ दें और ऊपर उठने का प्रयत्न करे।

'मित्र' अथवा पर-राज्य सम्बन्ध

राजनीति में पर-राज्य सम्बन्धों का महत्व—पिछले अध्याय तक राज्य के आन्तरिक प्रशासन का वर्णन किया गया। राज्य को केवल आन्तरिक प्रशासन ही नहीं करना पड़ता, बल्कि प्रत्येक राज्य को अपने चारों ओर के सभी परकीय राज्यों से सम्बन्ध भी रखना पड़ता है चाहे वह मित्रता का हो, चाहे शत्रुता का हो, चाहे उदासीनता का हो। इस अन्तर्राज्य सम्बन्ध का भी भारतीय राजनीतिक विचार में 'मित्र' के शीर्षक में पूर्ण विवेचन किया गया है। प्रत्येक राज्य के लिए यह आवश्यक माना गया है कि उसके अन्य मित्र राज्य भी होने चाहियें क्योंकि जब विभिन्न राज्य अपनी अपनी सत्ता की वृद्धि का प्रयत्न करते हैं और जब राज्यों में अपनी वृद्धि के लिये प्रतियोगिता प्रारम्भ होती है उस समय जो राज्य अकेला रह जाता है अर्थात् जो राज्य मित्रविहीन होता है उस राज्य को बहुत कष्ट, कठिनाइयों तथा आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इसलिये भारतीय विचारकों ने इस बात का आग्रह किया कि प्रत्येक राज्य को यह चाहिये कि वह अपना मित्रों का मंडल अधिक से अधिक बड़ा बनाये और प्रयत्न करके अधिकांश राज्यों को अपने साथ रखने का प्रयत्न करे जिससे उसके ऊपर कोई राज्य हावी होने में समर्थ न हो सके तथा जिससे इस राज्य के स्वामी जब चाहें सुविधापूर्वक अन्य किसी भी आक्रमणकारी अथवा अधार्मिक राजा को वश में करने में समर्थ हो। राजनीति के भारतीय ग्रन्थों में पर-राज्य सम्बन्ध के विषय को बहुत महत्त्व दिया गया है और न्याय व्यवस्था के अर्थात् स्वदेश में शान्ति स्थापन के पश्चात् सबसे अधिक महत्त्व पर-राज्य सम्बन्ध का अर्थात बाह्य आक्रमण से सुरक्षा का है। न्याय व्यवस्था अर्थात व्यवहार के सम्बन्ध में तो मनुस्मृति के लगभग दो अध्याय याज्ञवल्क्य का पूरा एक अध्याय,

कौटिल्य के दो अधिकरण, अग्निपुराण के राजनीति अंश का पाँचवाँ भाग तथा शुक्रनीति का भी लगभग आठवाँ भाग है। परन्तु, इसके अतिरिक्त, पर-राज्य सम्बन्धों के विषय में मनुस्मृति में न्याय-व्यवस्था छोड़कर शेष राज्य-व्यवस्था का चौथाई भाग, कौटिलीय अर्थशास्त्र का चौथाई भाग, कामन्दकीय नीतिसार का चौथाई भाग, अग्निपुराण का पाँचवाँ भाग तथा शुक्रनीति का वीसवाँ भाग है।

'मण्डल' का सिद्धान्त—किसी राज्य को अपने पर-राज्य सम्बन्ध किस प्रकार चलाने चाहियें इसके सिद्धान्त का वर्णन मण्डल के नाम से किया गया है। मण्डल का सिद्धान्त यह है कि किसी भी राजा को, जो चाहता है कि अन्य राज्यों से उसका सम्बन्ध ठीक चले (जिसको "विजिगीपु" नाम से सम्बोधित किया है) यह प्रयत्न करना चाहिये कि यदि अन्य कोई राजा उसका विरोधी (शत्रु) हो अर्थात् यदि वह अन्य राजा इस राजा को नष्ट अथवा विजित करना चाहता है अथवा यदि यह विजिगीषु राजा अन्य किसी राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है तो यह विजिगीषु राजा इस प्रकार का प्रयत्न करे कि उस शत्रु राजा के जितने सहायक हों उन सब पर नियंत्रण कर सकने के लिये स्वयं भी उतने ही सहायकों का सम्पादन और उनकी व्यवस्था करे। इस प्रकार विजिगीषु राजा, उसका शत्रु इस विजिगीषु राजा का मित्र तथा अन्य सहायक, इसके शत्रु के अन्य सब सहायक तथा अन्य 'मध्यम' और उदासीन राजा, इन सब को मिलाकर भारतीय वर्णन के अनुसार मण्डल बनता है। इस मण्डल के अन्दर मूल रीति से चार राजा आते हैं—विजिगीषु, शत्रु, मध्यम और उदासीन और यदि इनमें भी मध्यम और उदासीन को एक ही समान समझा तो फिर उस मण्डल की मूल प्रकृतियाँ (elements) तीन ही हैं और उन प्रकृतियों के सम्बन्ध में योग्य योजना करना ही मण्डल का संचालन है। परन्तु, क्योंकि विजिगीषु राजा और उसका शत्रु ये दोनों अपनी-अपनी विजय के लिये सहायकों के सम्पादन का प्रयत्न करते हैं, इसलिये मण्डल के निर्माण, उसकी योजना और उसकी नीति का विचार करने में उपरोक्त चार के अतिरिक्त विजिगीषु के सहायकों तथा शत्रु के सहायकों का भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। इन सब सहायकों को मिलाकर साधारणतया मण्डल बारह प्रकृतियों का कहा गया है और जहाँ मण्डल का पूरा वर्णन है वहाँ इन बारह प्रकृतियों का ही उल्लेख है। इन बारह प्रकृतियों की योजना इस प्रकार है—विजिगीषु के ठीक बराबर उसका शत्रु है (अर्थात् या तो जो राजा 'विजिगीषु कहा गया है वह अपने बराबर के राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है अथवा बराबर का राजा इस राजा पर विजय प्राप्त करना चाहता है)। इसलिये शत्रु के रूप में साधारणतया बराबर के ही राजा का वर्णन किया गया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बराबर का राजा ही सदैव शत्रु होगा। अन्य कोई राजा भी शत्रु हो सकता है, फिर भी उसका वर्णन इसी रीति से किया है कि विजिगीषु के बाद उसका

शत्रु आता है। शत्रु के पश्चात् विजिगीपु के मित्र का और शत्रु के मित्र का स्थान है। इनके भी अनन्तर विजिगीपु के मित्र का मित्र तथा शत्रु के मित्र का मित्र ये दो आते हैं। इस प्रकार यह चार विजिगीपु और शत्रु के दो-दो अर्थात् कुल मिलाकर चार मित्रों की यह परम्परा है। यह तो मण्डल में वह राजा-गण हैं जो युद्ध में सामने आकर संघर्ष करते हैं। इसके अतिरिक्त यद्यपि अन्य इस प्रकार के राजा हो सकते हैं परन्तु वर्णन की सुविधा की दृष्टि से केवल इतने राजाओं का ही वर्णन किया गया है। सामने आकर संघर्ष करने वाले राजाओं के अतिरिक्त अन्य ऐसे राजा भी होते हैं, जो पीछे से इस विजिगीषु को तंग करें। इस प्रकार के राजा को 'पार्ष्णिग्राह' कहा गया है। इसलिये ऐसे राजा को रोक रखने के लिये विजिगीपु को भी सहायक राजा की आवश्यकता है। अतः जो इस 'पार्ष्णिग्राह' को रोकता है उसका नाम 'आक्रन्द' है तथा 'पार्ष्णिग्राह' का सहायक 'पार्ष्णिग्राह', 'आसार' और 'आक्रन्द' का सहायक 'आक्रन्दासार' है। पीछे से सहायता करने वाले चार राजाओं की यह परम्परा वर्णित है। इस प्रकार संघर्ष में जुटने वाले ये दस राजा हैं—विजिगीपु और शत्रु, इन दोनों के दो-दो सामने वाले सहायक तथा दो-दो पीछे वाले सहायक। इसके अतिरिक्त दो अन्य राजागण हैं—एक तो वह जो इन दोनों राजाओं अर्थात् विजिगीषु और शत्रु के समीप रहता है और इस कारण इन दोनों के संघर्ष में रुचि रखता है तथा जो इनमें से किसी को भी सहायता देने में समर्थ होने पर भी इनके संघर्ष में न पड़ कर अलग रहता है, या तो इन भावना से कि उसे संघर्ष में कूदने की कोई इच्छा ही नहीं है अथवा इसलिये कि वह अनुकूल अवसर देखता है कि जव संघर्ष में जिस ओर चाहे उस ओर कूद सके। यह राजा 'मध्यम' है। इसी प्रकार यदि कोई अन्य राजा जो स्वयं इनमें से किसी का भी साथ देने में समर्थ है परन्तु जो विजिगीषु और शत्रु राजाओं से इतनी दूर है कि उसको इनके संघर्ष में कोई रुचि नहीं है, वह राजा उदासीन है। इन दो राजाओं को लेकर बारह राजाओं का सम्पूर्ण मण्डल कहलाता है। जिसमें विजिगीषु, शत्रु, मित्र, शत्रु-मित्र, मित्र-मित्र, शत्रु-मित्र-मित्र 'पार्ष्णिग्राह', 'आक्रन्द' पार्ष्णिग्राहसार', आक्रान्दासार, मध्यम, उदासीन हैं। जव किसी भी राजा को अपने पर-राज्य सम्वन्धों का विचार करना पड़ता है तो उसे इस प्रकार के वारह राजाओं के मण्डल का ही विचार कर अपने पर-राज्य सम्वन्धों का संचालन करना चाहिए। इसका यह भाव नहीं कि किसी एक समय विभिन्न राजाओं के पारस्परिक सम्वन्धों में अथवा संघर्ष में वारह से अधिक अथवा कम राजा होते ही नहीं, परन्तु विचार की सुविधा की दृष्टि से तथा पर-राज्य सम्वन्धों का स्वरूप ठीक से समझने के लिये तथा उसका उचित विचार करने के लिये यह वारह राजाओं का मण्डल ही वताया गया है। (संदर्भ देखिये ऊपर के ही)। इन राजाओं में से प्रत्येक राजा की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं—मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और वल (सात प्रकृतियों में से शेष दो प्रकृति राजा तथा मित्र वारह के मण्डल में ही आ जाते हैं)। अतः वारह राजाओं

की सब प्रकृतियाँ मिलाकर साठ होती हैं। बारह राज्य और यह साठ प्रकृतियाँ कुल मिलाकर बहत्तर प्रकृतियों का भी मण्डल कहलाता है और जब राजा पर-राज्य सम्बन्धों में संघर्ष का अथवा विजय का विचार करता है उस समय उसे इन सभी बारह राजाओं का तथा उनकी इन सब प्रकृतियों—राष्ट्र, कोष, सेना, दुर्ग अर्थात् सुरक्षा-व्यवस्था और मन्त्री अर्थात् बुद्धिमान राजनीतिज्ञ का भी विचार करना उचित और आवश्यक है। इसलिये इन बहत्तर प्रकृतियों का भी राज्य के वर्णन में उल्लेख है। इस बारह अथवा बहत्तर प्रकृतियों के मण्डल का विचार करते हुए प्रत्येक राजा को ऐसी अपनी नीति इस प्रकार चलानी चाहिए कि जिससे अन्य कोई भी राजा चाहे वह मित्र हो अथवा शत्रु हो अथवा मध्यम आदि हो उससे अधिक बलशाली न हो सके अथवा उसे पीड़ित न कर सके और जिससे यह विजिगीषु इतना समर्थ हो जाये कि अन्य राजाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके। मनुस्मृति में कहा है "नीतिज्ञ राज्य सब उपायों का (साम, दान आदि का) इस प्रकार प्रयोग करे जिससे इसके मित्र, उदासीन और शत्रु अधिक न हो जायें। जिससे मित्र, उदासीन और शत्रु इसको पीड़ित न कर सकें, इस प्रकार सम्पूर्ण योजना करे। यह संक्षेप में नीति है।"कामन्दक ने यह बताया है कि राजा को मण्डल में अपनी नीति इस प्रकार संचालित करना चाहिए जिससे उसका प्रभाव बढ़े तथा जिससे मण्डल में उसके प्रति क्षोभ न उत्पन्न हो तथा सब प्रसन्न रहें। कौटिल्य का कहना है कि मण्डल में ठीक से विचार करने पर शत्रु को नष्ट किया जा सकता हैं (६।२।६५) चाहे वह बलवान ही क्यों न हो तथा महाभारत में भी कहा है कि राजा मण्डल ठीक से विचार कर योग्य उपाय कर सकता है।

चार उपाय—साम, दान, भेद, दण्ड, तथा उनका प्रयोग—इस मण्डल के अन्दर राजनीति का संचालन चार अथवा सात उपाय तथा छः गुणों के माध्यम से होता है। इनमें से हम इन उपायों और गुणों का क्रमशः विचार करेंगे। उपायों में साधारणतया चार प्रमुख उपायों का ही उल्लेख किया जाता है—साम, दान, दण्ड, भेद परन्तु इनके अतिरिक्त तीन और उपाय भी बताये जाते हैं। ये तीन उपाय हैं—माया, उपेक्षा, इन्द्रजाल अथवा छलपूर्ण वध। इन उपायों के ठीक से प्रयोग करने का आग्रह है क्योंकि इनके ठीक से प्रयोग करने पर राजा इच्छित सफलता प्राप्त कर सकता है क्योंकि उपायों का ठीक प्रयोग करने पर सर्प, हाथी और सिंह को भी वश में किया जा सकता है। उपाय करने पर भूमि के रहने वाले भी स्वर्ग में चले जाते हैं तथा उपाय से वज्र में भी छेद किया जा सकता है। कामन्दक ने कहा है कि यदि राजा उपायों का बिना प्रयोग किये आक्रमण करता है तो उसकी चेष्टा अन्धे के समान होती है। बुद्धिमानी के द्वारा उपाय का ठीक से प्रयोग करने पर उसके वश में लक्ष्मी आ जाती है और उपायों का विधिवत् प्रयोग करने से राजा को फल भी बहुत मिलते हैं। कौटिल्य ने भी इन उपायों के पृथक-पृथक प्रयोग के द्वारा अथवा

कभी किसी तथा फिर कभी अन्य किसी उपाय के प्रयोग द्वारा (विकल्प) अथवा इन सभी उपायों के सामूहिक प्रयोग के द्वारा विभिन्न प्रकृतियों (शत्रु, मित्र आदि) को साधने का कहा है। याज्ञवल्क्य ने चार उपायों का उल्लेख कर कहा है कि ये चार उपाय ठीक से प्रयोग होने पर सिद्धिदायक हैं (१।३४६)। इन उपायों का वर्णन शुक्रनीति, अग्नि पुराण, कामन्दकीय नीति सार तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में विस्तार से वर्णन है। साम उपाय दो प्रकार का बताया गया है– 'तथ्य' और 'अतथ्य' अर्थात् अन्य बातों का वर्णन कर अपने पक्ष में किसी को करने का प्रयत्न 'तथ्य' है और असत्य बात कहकर समझाना 'अतथ्य' है। इसमें यदि सज्जनों के साथ 'अतथ्य' साम का प्रयोग किया तो वे क्रुद्ध हो जाते हैं। अतः जो कुलीन हों, सरल हों, धर्मवान हों, जितेन्द्रिय हों, उनके साथ तथ्यपूर्ण साम का तथा जो राक्षस अर्थात् दुष्ट हैं उनके साथ अतथ्य साम का प्रयोग करना चाहिए। कामन्दक तथा अग्नि पुराण ने साम का प्रयोग पाँच ढग से बताया गया है—परस्पर उपकारों का कहना, पारस्परिक सम्बन्ध बताना, भविष्य में दोनों के समान हितों का उल्लेख करना, मीठी तथा सज्जनतापूर्ण वाणी बोलना और 'तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर स्वयं को अर्पण करना। कौटिल्य ने दूसरे की आवश्यक सहायता करना तथा उसको हानि पहुँचाने वाले को उसे अर्पण कर देना भी साम कहा है। कामन्दक ने साम के उदाहरण देते हुए बताया है कि साम के ही प्रयोग से देवता और दानवों ने रत्नों के लिए सागर का मन्थन कर रत्न प्राप्त किये थे तथा 'साम' का विरोध करने के कारण धृतराष्ट्र के पुत्र शीघ्र नष्ट हो गये। कामन्दक ने आलसी, विक्रम करने की आवश्यकता होने पर भी शान्तिपूर्ण उपायों की चेष्टा करने वाले, ज्ञान कम होने के कारण त्रस्त, निस्तेज, भयभीत, मूर्ख, स्त्री, बाल, धार्मिक, दुर्जन, जो मित्रता करने में अधिक विश्वास करते हैं और कल्याणपूर्ण बुद्धि रखते हैं उनके साथ साम उपाय के प्रयोग का अनुरोध किया है।

दान—जहाँ तक दान का प्रश्न है वहाँ कौटिल्य ने भूमि, द्रव्य, कन्या, और अभय के दान को दान कहा है। अग्नि पुराण ने दान को श्रेष्ठ उपाय बताया है क्योंकि ये दोनों लोक देने वाला है (दान करने से पुण्य भी होता है और 'दान' के प्रयोग से लोग प्रसन्न भी हो जाते हैं) और कहा है कि ऐसा कोई नहीं है जो दान से वश में नहीं आता। दान के प्रयोग से दूसरे संगठित लोगों में भी फूट डाली जा सकती है। दान के प्रयोग के उदाहरण दिये गये हैं—बलि द्वारा पृथ्वी का दान तथा वृषपर्वा द्वारा अपनी पुत्री का शुक्राचार्य की कन्या की दासी के रूप में दान। कामन्दक ने यह भी कहा है कि यदि किसी को वश में करना हो तो उसकी इच्छित वस्तु दे देनी चाहिये और आग्रह किया है कि साम और भेद का प्रयोग दान के साथ ही करना चाहिये क्योंकि दान के साथ प्रयोग करने से ही इन दोनों उपायों की भी सिद्धि होती है।

भेद—अग्नि पुराण में में भेद तीन प्रकार का बताया है, लोगों के बीच का स्नेह नष्ट करना, उन दोनों में एक दूसरे का भय उत्पन्न करना, अथवा उनमें से किसी को दूसरे की गुप्त बात बताने के लिये उद्यत करना। भेद को चार प्रकार से कराया जा सकता है, लोभी, अपमानित, क्रुद्ध तथा द्वेष करने वाले व्यक्ति को साध कर, और यह भेद का प्रयोग उनके द्वारा कराया जा सकता है जो दोनों पक्षों का वेतन ग्रहण करते हों। कामन्दक ने भेद के विषय के अन्य नियम भी बताये हैं कि भेद मंत्री, युवराज, पुरोहित आदि राज्य के श्रेष्ठ लोगों का ही करना चाहिये अथवा कुल वालों का भेद करना चाहिये। इस प्रकार उस व्यक्ति को फोड़ना चाहिये जो क्रोध करने तथा कृपा करने में असमर्थ हो और यह विचार कर लेना चाहिये कि वह व्यक्ति शठ है या भला है क्यों कि भला व्यक्ति अपनी कही हुई बात पूर्ण करता है और शठ व्यक्ति धोखा देता है। भेद के योग्य यह लोग बताये हैं– पूर्व सेनापति, नीच, समय व्यतीत करने के लिये अपने आश्रय में आया हुआ, जिस पर झूठा दोषारोपण किया गया हो, जो लक्ष्मी की इच्छा करता हो, जिसे बुलाकर फिर उसका सम्मान न किया गया हो, राजद्रोही, जिसका व्यवसाय नष्ट किया गया हो, जिससे अधिक कर लिया गया हो, रणप्रिय साहस के कार्य (वध आदि) करने वाला, स्वयं को महत्वपूर्ण समझने वाला, जिसका धर्म अथवा अर्थ अथवा काम नष्ट किया गया हो, क्रुद्ध, मानी, अपमानित, भयभीत, अपने दोष से त्रस्त, दूसरे का सान्त्वना दिया हुआ वैरी, अपने तुल्य व्यक्ति से निरादर किया हुआ और अपने असमान व्यक्ति के द्वारा अशक्त किया हुआ, अकारण अथवा सकारण बन्दी बनाया हुआ, अकारण त्रस्त किया गया, सम्मान के योग्य होने पर भी जिसका सम्मान न किया गया हो, जिसका द्रव्य अथवा स्त्री हरण कर ली गई हो, महाभोग की इच्छा रखने वाला, क्षीण (निर्धन, दुर्बल) किया गया, बन्धु, द्रव्य से अलग किया गया तथा बहिष्कृत, परकीय राजा के यहाँ रहने वाले, ऐसे व्यक्तियों पर भेद का प्रयोग करना चाहिये। बलवान से तो भेद का प्रयोग करना ही बुद्धिमानी बताया गया है। शुक्र ने भेद को सभी उपायों में सर्वश्रेष्ठ कहा है।

दण्ड—चार उपायों में सबसे अन्तिम उपाय दण्ड है और इसका प्रयोग सदैव अन्तिम अवस्था में ही करना चाहिये। श्री कृष्ण ने भी युधिष्ठिर से अपने दौत्य कर्म के पश्चात् कहा है कि उन्होंने कौरवों के साथ पहले साम का, फिर भेद का, फिर दान का प्रयोग किया और अब केवल दण्ड का ही उपाय शेष है। दण्ड के अन्तर्गत प्रकाश युद्ध, क्रूर युद्ध तथा छल से मारना सम्मिलित है और इसलिये दण्ड दो प्रकार का बताया है प्रकाश और अप्रकाश मारना, ग्रामों को अथवा अन्न आदि को नष्ट करना, आग लगाना प्रकट दण्ड है तथा विष, अग्नि तथा विभिन्न प्रकार के पुरूषों के द्वारा बध कराना, सज्जनों को दूषित करना, जल को विषपूर्ण करना यह अप्रकट दण्ड है। कामन्दक ने कहा है कि दुष्टों के साथ दण्ड का ही प्रयोग करना चाहिये तथा दण्ड का प्रयोग अपनी शक्ति देखकर करना चाहिये।

मनु ने साम और दण्ड को श्रेष्ठ उपाय बताया है। शुक्र ने बताया है कि इन चारों उपायों का प्रयोग मित्र के साथ और शत्रु के साथ किस प्रकार करना चाहिये। मित्र के विषय में साम यह है कि उससे कहा जाये कि 'तेरे समान मेरा और कोई सखा नहीं है। मेरे पास जो कुछ है वह सभी तेरा है।' यह कहना और जीवन को भी अर्पण करना मित्र के विषय में दान है। मित्र के समक्ष अन्य मित्र का गुण वर्णन करना उसके लिये भेद का प्रयोग है और यह कहना कि अब मैं तेरे साथ मित्रता नहीं रखूँगा उसके लिये दण्ड है। शत्रु के विषय में उससे यह कहना 'हम दोनों को अब एक दूसरे के अनिष्ट की चिन्ता न कर परस्पर सहायता करनी चाहिये' उसके लिये साम है; कर देना अथवा ग्रामों की एक वर्ष की आय प्रबल शत्रु को देना उसके लिये दान है। शत्रु साधन हीन करने के लिये प्रबल व्यक्ति का आश्रय ले उसके साथ हीन ढंग से रहना शत्रु के साथ भेद है तथा दस्युओं से शत्रु का पीड़न करना उसके धन-धान्य को नष्ट करना, उग्र बल से तथा भीषण नीति प्रयोग कर उसे हीन सिद्ध करना और युद्ध आने पर उससे न हटना तथा शत्रु को त्रास देना यह शत्रु के लिये दण्ड है। शुक्र ने यह भी बताया है कि किस व्यक्ति के साथ कौन-से उपाय का प्रयोग करना चाहिये। उसका कहना है कि क्रिया के भेद तथा व्यक्ति की पात्रता के अनुसार उपायों का भी भेद हो जाता है। शत्रु के लिये पहले साम का प्रयोग करना श्रेष्ठ है, फिर दान का, भेद का सदा ही प्रयोग किया जा सकता है और दण्ड का प्रयोग तो प्राण संशय में में ही करना चाहिये। प्रबल शत्रु के साथ केवल साम, दान का ही प्रयोग करना चाहिये, उसमें भेद, दण्ड का प्रयोग स्वयं के लिये ही अनिष्टकारक है। अधिक शत्रु के साथ साम, भेद का ही प्रयोग करना चाहिये, समान शत्रु के साथ भेद, दण्ड का प्रयोग करना चाहिये और जो हीन है उसको केवल दण्ड से ही ठीक करे। मित्र और अपनी प्रजा के साथ सदा साम, दान का ही प्रयोग होना चाहिये भेद, दण्ड का नहीं क्योंकि इससे राज्य का नाश होता है। शत्रु की प्रजा के साथ भेद और पीड़न (दण्ड) का प्रयोग करना चाहिये। इसी बात को संक्षेप में विष्णु धर्मसूत्र में कहा है कि शत्रु, मित्र, उदासीन, मध्यम के साथ इन चार उपायों का प्रयोग उनकी पात्रता के अनुसार तथा काल के अनुसार होना चाहिये। अग्नि पुराण में भी कहा है दण्ड का प्रयोग शत्रु के लिये करना चाहिये। जो मित्रता को प्रधान मानते हैं और कल्याण बुद्धि रखते हैं उन्हें साम से समझाना चाहिये, लोभी तथा निर्धन के साथ दान का प्रयोग करना चाहिये तथा शत्रु के मित्रों में भेद डालना चाहिये तथा इसके अतिरिक्त यह भी कहा है कि दण्ड का प्रयोग दुष्टों के साथ करना चाहिए; पुत्र, भाई आदि को साम से समझाना चाये; सेनापतियों, सैनिकों और जनपद निवासियों के साथ दान, भेद का प्रयोग करना चाहिये; सामन्त, वनचरों के प्रमुख और अपराधियों के साथ दण्ड, भेद का प्रयोग करना चाहिये, तथा माया, इन्द्रजाल का प्रयोग शत्रु में भय डालने के लिये होना चाहिये। इन चार प्रमुख उपायों के अतिरिक्त अन्य तीन उपायों में माया और इन्द्रजाल अप्राकृतिक उपाय हैं, जिनसे

शत्रु को भयभीत करा दिया जाय अथवा उसे धोखे में रख कर मार दिया जाय। इसके अतिरिक्त जब राजा को ऐसा दीखे कि विग्रह अथवा सन्धि दोनों उसके लिये अनर्थकारी हैं, साम, दान, दण्ड, भेद का प्रयोग संभव नही है तथा शत्रु भी हानि पहुँचाने में समर्थ नहीं है, ऐसे समय में उपेक्षा का प्रयोग करना चाहिये। उपेक्षा तीन प्रकार की बताई है। अन्याय होने पर, किसी के ऊपर कष्ट आने पर अथवा युद्ध होने पर उसके निवारण का प्रयत्न न करना यह तीन प्रकार की उपेक्षा है और इसके उदाहरण बताये हैं कि भीम द्वारा कीचक के मारे जाने पर भी विराट राजा की उपेक्षा (कष्ट में उपेक्षा) तथा भीम सेन द्वारा अपने भाई हिडिम्ब के मारे जाने पर भी उसकी बहिन हिडिम्बा की अपने स्वार्थ के कारण उपेक्षा (युद्ध मे उपेक्षा)।

षड्गुण-सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव—इन चार उपायों का प्रयोग तो सभी व्यक्तियों के अर्थात शत्रु, मित्र, अपने राज्य के दुष्ट तथा पर-राज्य की प्रजा के साथ हो सकता है, परन्तु शत्रु के साथ व्यवहार करने के लिये इन चार उपायों के अतिरिक्त छः गुणों का भी वर्णन किया गया है। यह छः गुण हैं—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव। इनका विस्तार से वर्णन मनुस्मृति, कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार (अध्याय ९,१०), शुक्रनीति तथा अग्निपुराण (अध्याय २४) में किया गया है और इनका उल्लेख याज्ञवल्क्य तथा शान्तिपर्व आदि में भी है। इन छः गुणों की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि कुछ शर्तो के आधार पर जब मेल हो जाता है तो वह सन्धि है, परस्पर एक दूसरे के अपकार में राजाओं का लग जाना विग्रह है, उपेक्षा कर बैठे रहना आसन है, अभ्युदय के लिये आक्रमण करना यान है, स्वयं को दूसरे के अर्पण कर देना संश्रय अथवा आश्रय हैं, किसी एक से सन्धि तथा दूसरे से विग्रह करना द्वैधीभाव है। सन्धि इस प्रकार की जानी चाहिये कि शत्रु भी मित्र हो जाय; विग्रह ऐसा होना चाहिये कि शत्रु अपने अधीन हो जाय; शत्रु का नाश हो जाय ऐसा यान होना चाहिये; अपनी रक्षा होती रहे तथा शत्रु का नाश होता रहे ऐसा आसन होना चाहिये; आश्रय इस प्रकार का होना चाहिये कि शत्रु दुर्बल राजा वह आश्रय पाकर बलवान हो जाये; तथा द्वैधीभाव ऐसा होना चाहिये कि अपनी सेना की ठीक से योजना संभव हो सके। यदि राजा यह समझे कि वह दूसरे से दुर्बल है और वह निश्चित रूप से थोड़े समय में वृद्धि को प्राप्त हो जायगा तो थोड़ी हानि सहकर भी वह सन्धि कर ले, परन्तु यदि वह अपने को अभ्युदयशील समझे अर्थात् यदि वह यह समझे कि उसकी सभी प्रकृतियाँ (कोष, सेना, मंत्री आदि) सन्तुष्ट है और वह स्वयं भी सम्पन्न है उस समय विग्रह करे। यदि वह समझे कि वह गुणों से पूर्णतया युक्त है अर्थात उसकी सेना हृष्ट (प्रसन्न) और पुष्ट है तथा शत्रु की सेना इसके विपरीत है, उस समय आक्रमण कर दे (यान)। परन्तु यदि वह यह समझे कि उसकी सेना और

उसके वाहन दुर्बल हैं और न तो वह अन्य को नष्ट करने में समर्थ है, न अन्य उसको नष्ट करने में समर्थ है उस समय वह शत्रुओं को धीरे-धीरे शान्त करता हुआ चुपचाप बैठा रहे (आसन)। यदि राजा शक्तिहीन हो और वह समझे कि वह शत्रु की सेना से नष्ट हो जायगा तो धार्मिक एवं बलवान राजा का तुरन्त आश्रय ग्रहण करे और उस राजा का, जो अपनी प्रकृतियों का और शत्रु की सेना का विग्रह करने में समर्थ हो उसकी सब प्रयत्नों से गुरु के समान सेवा करे। जब सहायता से कार्य साध्य होने वाला हो और शत्रु बलवान हो उस समय राजा द्वैधीभाव का व्यवहार करे। इसी बात को कौटिल्य ने विस्तार के साथ बढ़ाकर भी बताया है। मनुस्मृति में इन छहों गुणों का दो-दो प्रकार का प्रयोग बताया गया है—यथा स्वयं की इच्छा से विग्रह करना अथवा मित्र के लिये विग्रह करना। विग्रह के दो प्रकार हैं; अकेले चढ़ाई करना (यान) अथवा मित्र के साथ चढ़ाई करना। यान के दो प्रकार हैं; सेना का द्वैधीभाव (अर्थात् जब कुछ सेना दिखाने के लिये शान्त रखी जाय और कुछ को युद्ध के लिये तैयार किया जाय) अथवा राजा का स्वयं का द्वैधीभाव (अर्थात् एक ओर संधि की चर्चा और दूसरी ओर युद्ध का विचार) द्वैधीभाव के दो प्रकार हैं; और अपने स्वयं के लाभ के हेतु आश्रय लेना अथवा शत्रु की पीड़ा होने पर आश्रय लेना; संश्रय के दो प्रकार हैं। कौटिल्य ने इन छः गुणों की तुलना करते हुये बताया है कि सन्धि-विग्रह में सन्धि श्रेष्ठ है क्योंकि विग्रह में क्षय (जन् पशु का नाश), व्यय (धन तथा अन्य वस्तुओं का नाश), प्रवास तथा अन्य कष्ट होते हैं। यान और आसन की तुलना में आसन श्रेष्ठ है; और द्वैधीभाव तथा संश्रय की तुलना में द्वैधीभाव का प्रयोग करना चाहिये क्योंकि द्वैधीभाव से व्यक्ति स्वयं का उपकार करता है और संश्रय लेने पर व्यक्ति दूसरे का उपकार करता है।

षड्गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन—यद्यपि कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन छहों गुणों के विषय में बहुत अधिक लिखा है (अधिकरण ७), परन्तु इनका सबसे व्यवस्थित वर्णन कामन्दकीय नीतिसार में है और शुक्रनीति में तथा अग्नि पुराण में भी थोड़े बहुत नियम हैं। इस कारण ऊपर दिये गये नियमों के अतिरिक्त इन्हीं ग्रन्थों का तथा विशेष रूप से कामन्दकीय नीतिसार का वर्णन ही यहाँ दिया जाता है। कामन्दक ने सन्धि सोलह प्रकार की बताई है तथा इनमें से परस्परोपकार अथवा प्रतिकार सन्धि अर्थात् जित (सन्धि में दोनों एक दूसरे के उपकार की बात कहें जैसे राम-सुग्रीव की सन्धि), सम्बन्ध सन्धि अर्थात् सन्तान सन्धि (जिसमें कन्यादान दिया जाय), मैत्र सन्धि अथवा सगंत सन्धि (जिसमें परस्पर मित्रता का आश्वासन हो) तथा उपहार सन्धि, यह चार सन्धि श्रेष्ठ बताई गई हैं। कामन्दक ने बीस प्रकार के व्यक्ति गिनायें हैं जिनसे सन्धि, नहीं करनी चाहिये जिनमें बाल, वृद्ध दीर्घ रोगी, जाति बहिष्कृत, भयभीत, लोभी, जिसकी प्रकृतियां (सप्त प्रकृतियां) विरक्त

हैं, विषयी, जिसके मन्त्रियों में एकता नहीं है, देव ब्रम्ह्मणनिन्दक, दैव से आहत, भाग्य पर निर्भर रहने वाला, दुर्भिक्ष के कष्ट से पीड़ित, सेना के व्यसन से पीड़ित, अनुपयुक्त स्थान में रहने वाला, बहुत शत्रुओं से युक्त, काल का उचित ध्यान न रखने वाला तथा सत्य एवं धर्म का पालन न करने वाले हैं। इनसे सन्धि न करने का कारण भी विस्तार से बताया गया है। इन लोगों के साथ सन्धि न करने का कारण यह है कि इनके साथ सन्धि करने से स्वयं को उनसे कोई सहायता तो मिलती ही नहीं अपितु उन्हीं की सहायता के लिये प्रयत्न और परिश्रम करना पड़ता है तथा कभी-कभी उनसे अपनी हानि होने की आशंका भी रहती है। सन्धि सात प्रकार के व्यक्तियों से अवश्य कर लेनी चाहिये—सत्यवादी, आर्य, (जो प्राण जाने पर भी सन्धि नहीं छोड़ता), धार्मिक (उस पर सबका विश्वास तथा प्रजा का प्रेम रहता है), अनार्य, भ्रातृ, समूह से युक्त, बली तथा अनेक विजयी—क्योंकि इनसे सन्धि करने पर इनसे सन्धि पालन की तथा सहायता की आशा की जा सकती है। सन्धि करने के पश्चात् भी दूसरे राजा का विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि शत्रुता न करने की प्रतिज्ञा करके भी इन्द्र ने वृत्तासुर को मार डाला था।

विग्रह—विग्रह की परिभाषा यह है कि क्रोध से युक्त तथा क्रोध से सन्तप्त व्यक्तियों का परस्पर उपकार करना ही विग्रह है। कामन्दक ने विग्रह के कारण तथा विग्रह शान्त करने के ढंग बताये हैं। जो विग्रह राज्य, स्त्री, स्थान तथा देश के अपहरण से होता है वह उसे लौटाने से शान्त होता है, जो मद अर्थात् अहंकार के कारण विग्रह होता है वह युक्ति से शान्त होता है; जो देश के नष्ट होने पर विग्रह होता है, वह विग्रह शत्रु के देश को पीड़न करने से शान्त होता है; मित्र के साथ होने वाले विग्रह में व्यक्ति अपने प्राण का भी त्याग कर दे तब वह विग्रह शान्त होता है; ज्ञान और शक्ति के नष्ट होने से जो विग्रह होता है वह विग्रह उस ज्ञान अथवा शक्ति की पूर्ति करने से अथवा उपेक्षा का भाव ग्रहण करने से शान्त होता है; अपमान से उत्पन्न विग्रह सम्पूर्ण उपाय (समझाने) से अथवा उसे प्रणाम करने से शान्त होता है। निम्न प्रकार के विग्रह नहीं करने चाहिये जिसमें कम फल हो, कोई फल न हो, अथवा जिसका फल सन्दिग्ध हो, जो वर्तमान काल में दोषपूर्ण हो तथा भविष्य में निष्फल हो, जो अज्ञात बल के शत्रु द्वारा अथवा दुष्ट द्वारा किया गया हो, जो विग्रह दूसरों के लिये करना पड़े, स्त्री के लिये हो, दीर्घ काल वाला हो, ब्राह्मणों से हो, कुसमय में हो, बलवान मित्र द्वारा हो, वर्तमान काल में यद्यपि फल देने वाला हो परन्तु भविष्य के लिये निष्फल हो। कुलीन, सत्यवादी, उदार, वीर, स्थिर, कृतज्ञ, धैर्यवान, उत्साही, बहुत दान देने वाला, शरणागत वत्सल, व्यक्ति से यदि विग्रह किया जाये तो वह हानिकारक होता है क्योंकि ऐसा व्यक्ति पराजित नहीं हो सकता परन्तु जो असत्यवान, निष्ठुर, अकृतज्ञ हो, भयभीत हो, प्रमादी हो, आलसी हो, दुखी हो, वृथाभिमानी हो, दीर्घ सूत्री हो, ऐसा व्यक्ति विग्रह होने पर शीघ्र वश

से आ सकता है। सन्धि तथा विग्रह के तीन प्रमुख लाभ बताये गये हैं मित्र, धन तथा भूमि अर्थात् सन्धि, विग्रह आदि तभी करना चाहिये जब इन तीनों में से कोई लाभ प्राप्त होने वाला हो तथा मनु और याज्ञवल्क्य ने कहा है कि इनमें से मित्र का लाभ सबसे उत्तम होता है क्योंकि स्थिर मित्र पाकर दुर्बल राजा भी बलवान हो जाता है।

यान—यान पाँच प्रकार का होता है—विगृह्य यान, संधाययान, सम्भूययान, प्रसङ्गयान तथा उपेक्षायान। जो शत्रुओं के साथ स्वयं लड़कर तथा शत्रु के मित्रों के साथ अपने मित्रों को लड़ाकर चढ़ाई करता है वह विगृह्ययान है। जिसमें सामन्त तथा अन्य साथी राजाओं के साथ मिलकर चढ़ाई होती है वह सम्भूययान है। जब राजा अन्यत्र चढ़ाई की तैयारी कर अन्यत्र ही चढ़ाई करता है, वह प्रसङ्गयान है। जहाँ बलवान राजा के ऊपर आक्रमण कर विपरीत फल होने पर उस आक्रमण के प्रति उपेक्षा कर देता है वह उपेक्षायान है। जो राजा व्यसनी है अर्थात् स्त्री, मद्य, द्यूत आदि में आसक्त है वह यान के योग्य है। यान के ही समान आसन के भी भेद बताये हैं।

अन्य गुण—द्वैधी भाव तब होता है जब दो शत्रु आक्रमण करें तो दोनों में से किसी एक से सन्धि कर दूसरे से विग्रह किया जाय। दुर्ग अथवा किसी राजा का आश्रय लेना संश्रय है और उसके विषय में कहा है कि पहिले तो बलवान का, नहीं तो समान का, और यदि कई समान राजा हों तो उनमें जो सर्वश्रेष्ठ हो उसका और यदि समान राजा भी न मिले तो हीन राजाओं का आश्रय लेना चाहिये। इन सबके अभाव में अथवा विशेष परिस्थितियों में दुर्ग का भी आश्रय लिया जा सकता है।

दूत (Ambassador)—राजा इन उपायों का तथा गुणों का प्रयोग जिसके द्वारा करता है वह दूत है। दूत वह है जो अन्य शत्रु अथवा मित्र राजाओं के यहाँ जाकर अपने राजा का हित साधन करता है। याज्ञवल्क्य ने मंत्रणा सहित दूत भेजने का उल्लेख किया है तथा मनु ने दूत के विषय में कहा है कि सन्धि और विग्रह दूत के ही अधीन रहते हैं तथा दूत ही लोगों को मिलाता है अथवा मिले हुए लोगों को अलग करता है और दूत का कार्य करता है जिससे मनुष्यों में संघर्ष हो जाता है। दूत के तीन प्रकार बताये हैं—(१) निसृष्टार्थ अर्थात् अमात्य के गुणों से युक्त दूत जो अपनी इच्छानुसार अपना कार्य चला सकता है; (२) परिमितार्थ जो प्रथम की तुलना में तीन-चौथाई गुणों से युक्त है और जो जिस कार्य के लिये जाता है वही कार्य कर लौट आता है तथा (३) शासनहर, जो अमात्य के आधे गुणों से युक्त है तथा जो सन्देश होता है उसे केवल पहुँचाने का कार्य करता है। कौटिल्य तथा कामन्दक ने दूत के व्यवहार के भी बहुत से नियम बताये हैं अर्थात् प्रतिष्ठा के साथ दूत को यान, वाहन, पुरुष, सम्मान आदि लेकर पर-राज्य में रहना चाहिये। उसे पर-राज्य में उस राज्य की आज्ञा मिलने पर ही प्रवेश करना चाहिये। उसे सन्देश

को ठीक-ठीक कहना चाहिये चाहे उसमें प्राणों की बाधा ही हो। दूत को परकीय राजा का आन्तरिक भाव समझने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे अपनी बात स्पष्ट रीति से कहनी चाहिये चाहे उससे वह राजा जिसके यहाँ वह दूत होकर गया है अप्रसन्न ही क्यों न हो जाय। दूत को पर-राज्य में अपने बल का अभिमान नहीं करना चाहिये, अनुचित वाक्यों को सहन करना चाहिये, स्त्री-संसर्ग तथा मद्यपान नहीं करना चाहिये अन्यथा मन का आन्तरिक भाव प्रकट होने का भय होता है। उसे अकेले ही सोना चाहिये। दूत को यदि परकीय राजा अपने यहाँ रोकने का प्रयत्न करे तो दूत को विचार करना चाहिए कि वह राजा क्यों रोक रहा है—कहीं वह इस काल में अपनी त्रुटि पूरा करने का दोष दूर करने का प्रयत्न तो नहीं कर रहा है। यदि उसे ऐसा लगे तो उसे ठीक से विचार करना चाहिये कि वह वहाँ ठहरे अथवा न ठहरे; अथवा उसे वहाँ ठहर कर अपने राजा का हित पूर्ण करने का प्रयत्न चाहिये। दूत को साधारणतया परकीय राजा से पूछकर ही वह स्थान छोड़ना चाहिये परन्तु यदि उसे यह लगे कि वह राजा उसे मारने का अथवा बन्धन में डालने का प्रयत्न कर रहा है तो वहाँ से बच निकलना चाहिये। दूत को अपने राज्य के सम्बन्ध में कोई भी ज्ञान न देना चाहिये। अपने राजा का कुल, ऐश्वर्य, त्याग, उन्नति, सरलता, अक्षुद्रता तथा भद्रता बताने का प्रयत्न करना चाहिये तथा दोनों पक्षों का गुण कीर्तन करना चाहिये। दूत के गुण बताये गये हैं कि सर्वशास्त्र विशारद, इङ्गित, आकार, चेष्टा का ज्ञाता, पवित्र, दक्ष, कुलीन, अनुरागी, स्मृतिमान, देश काल का ज्ञाता, सुन्दर, निर्भय, बातचीत में चतुर दूत होना चाहिये। दूत के कार्य के विषय में बताया गया है कि सन्देश भेजना, सन्धि का पालन करना, मित्र संग्रह करना, शत्रु के व्यक्तियों को फोड़ना, मित्रों में भेद कराना, गूढ़ रीति से किसी का वध कराना, दूसरे राजा के बन्धु और रत्नों का अपहरण करना (अपने लाभ के लिये संग्रह करना), गुप्तचरों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना, अपने पक्ष के बन्दी लोगों को छुड़वाना तथा योग का (विभिन्न प्रयोगों का) आश्रय लेना यह दूत के कार्य हैं। इसके अतिरिक्त दूत का यह भी कार्य बताया है कि वह अन्तः पालों को तथा आटविकों को अपना मित्र बनाये और अपनी सेना के लाभ के लिये जल एवं स्थल मार्गों का ज्ञान प्राप्त करे, दूसरे राज्य के दुर्ग और राज्य की सब गुप्त बातें, कोष, मित्र और सेना का सब छिद्र जाने। वह यह भी जाने कि जहाँ वह गया है वहाँ कि प्रजा का राजा पर कितना प्रेम है। दूत के विषय में सबसे अन्तिम नियम यह है कि दूत अवध्य है और कौटिल्य ने तो यह इतने आग्रह के साथ कहा है कि चाण्डाल भी यदि दूत हो तो वह भी अवध्य है फिर ब्राह्मण का तो कहना ही क्या? शान्तिपर्व में दूत का वध भ्रूण हत्या के समान बताया है। रामायण में दूत के विषय में वध के स्थान पर अन्य कुछ प्रयोगों की अनुमति है यथा सिर मुँडवाना, कोड़े लगवाना आदि और उद्योगपर्व में कहा है कि यदि दूत उपयुक्त संदेश के अतिरिक्त अन्य बात कहे तो वह वध्य भी है।

शुक्र ने बहुत स्पष्ट रीति से यह कहा है कि सभी मित्र भी छिपे शत्रु ही होते हैं और कोई वास्तव में मित्र अथवा शत्रु नहीं है। शान्तिपर्व में इसे सिद्ध करने के लिये एक कथा दी गई है। उस कथा में विस्तार से बताया है कि न तो कोई शत्रु है और न मित्र—सामर्थ्य के ही आधार पर मित्र, शत्रु होते हैं। जो जब तक स्वार्थ देखता है तब तक साथ देता है, पीड़ा में साथ नहीं देता। वह तभी तक मित्र है जब तक कोई विपरीत बात नहीं होती। न किसी की मित्रता स्थिर है, न शत्रुता, स्वार्थ के ही आधार पर मित्र, शत्रु होते हैं। मित्र जो है वह समय आने पर शत्रु हो जाता है तथा शत्रु मित्र हो जाता है क्योंकि स्वार्थ बलवान है। मित्र हो चाहे शत्रु उनकी मति चलायमान होती है, अतः अविश्वस्त का विश्वास नहीं करना चाहिये तथा विश्वस्त का भी बहुत विश्वास न करना चाहिये। शत्रुता तथा मित्रता विशेष कारण से होती है इसलिए राजनीति में व्यवहार का यह भी एक नियम बताया गया है कि किसी का भी विश्वास नहीं करना चाहिये अर्थात् प्रत्येक से सभी समय सावधान रहना चाहिये। और अन्य मित्र इससे चौथाई, आधे अथवा तीन चौथाई हीन होते हैं। मित्रता एक प्रकार का स्वभाव, आयु, विद्या, जाति, एक से व्यसन, एक सी वृत्ति तथा साहचर्य से उत्पन्न हो जाती है, यदि इन बातों के साथ-साथ विनम्रता भी रहे। राजा को इस बात का प्रयत्न करना चाहिये कि वह मण्डल के राजाओं को अपना मित्र बनावे क्योंकि मित्र बनकर वह मण्डल को इसके हितकारी बनाने का प्रयत्न करते हैं तथा बहुत मित्र वाला राजा शत्रुओं को शीघ्र पराजित कर सकता है। इसीलिए क्रोध से अथवा मित्रों के साथ उनकी श्रेष्ठता के अनुसार व्यवहार न करने से अथवा मिथ्या अभियोग लगाकर अथवा उनसे अनुचित वचन कहकर अथवा उनके दोषों का उल्लेख कर मित्रों को नष्ट नहीं करना चाहिये। मित्र के गुण दोष की स्वयं परीक्षा करनी चाहिये तथा यदि मित्र में दोष

हों तो उसे त्यागना चाहिये, अपकार करने वाले और शत्रु का पक्षपात करने वाले मित्र को नष्ट कर देना चाहिये जैसे इन्द्र ने दैत्यों की ओर मिले हुए यज्ञकर्ता विश्वरूप को मार डाला था। यदि शत्रु भी हित करे तो उसे भी मित्र बना लेना चाहिये। शान्ति पर्व में यह भी आग्रह किया गया है कि मित्र की रक्षा में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये, इतना ही नहीं उत्तम मित्र की सब प्रकार से वृद्धि करनी चाहिये और उस पर पिता के समान विश्वास करना चाहिये। मित्र दो प्रकार के हैं—सहज अर्थात जो सम्बन्धी होने के कारण मित्र हैं और कृत्रिम अर्थात् जो धन जीवन आदि के कारण मित्र हैं। इसमें सहज के तीन अन्य प्रकार का मन्दक ने कृत्रिम के तीन प्रकार शांतिपर्व में बताये गये हैं। शुक्र ने भिन्न रीति से मित्र अथवा शत्रु का विभाजन करते हुए चार प्रकार के मित्र अथवा शत्रु बताये हैं—(१) जो उपकार अथवा अपकार में कर्ता हो, (२) जो उसे कराने वाले हों, (३) जिनकी उनमें अनुमति हो अथवा (४) जो उसमें सहायक हों। कर्ण पर्व में मित्रों का विभाजन एक मित्र आधार पर किया गया है कि उनकी मित्रता किस प्रकार प्राप्त की गई है और इस आधार पर मित्रों को सहज मित्र (सम्बन्ध के कारण), मीठे वचनों से प्राप्त मित्र, धन से प्राप्त मित्र तथा शक्ति के कारण होने वाले मित्र। कौटिल्य ने अन्य स्थान पर छः प्रकार के मित्र बताये हैं।

शत्रु—शत्रु के भी कामन्दक तथा अग्निपुराण ने सहज तथा कृत्रिम, दो प्रकार बताये हैं। कृत्रिम के अन्दर अग्निपुराण के अनुसार प्राकृत भी सम्मिलित है। कौटिल्य ने इन तीनों शत्रुओं का अलग-अलग उल्लेख किया है और बताया है कि जो दायभागी है वह सहज शत्रु है, जो बराबर में रहता है वह प्राकृत शत्रु है तथा अन्य शत्रु है। शत्रु से व्यवहार करने में दो भिन्न-भिन्न रूपों में विचार करना पड़ता है एक तो उस शत्रु से व्यवहार जो बलवान है। अतः इसे जीतने की इच्छा रखता है तथा दूसरें उस शत्रु से व्यवहार जिसे स्वयं जीतना हो। कौटिल्य ने इन दोनों का पृथक-पृथक वर्णन 'आगलीयसम्' (१२ अधिकरण) तथा 'दुर्गलम्भोपाय' (१३ अधिकरण) नाम के दो अधिकरणों में किया है। संक्षेप में इस व्यवहार को इस ढंग से कहा गया है कि जो राजा व्यसनों में फंसा है वह 'यातव्य' है उसको नष्ट कर देना चाहिये। जो राजा निराश्रित हैं अथवा उसका आश्रय दुर्बल है उसका उच्छेदन करना चाहिये (उच्छेदनीय) जो राजा इस प्रकार का नहीं है उसका कर्षण और पीड़न करना चाहिये। कर्षण का अर्थ है राजा का कोष, सेना नष्ट करना तथा पीड़न का अर्थ है अन्न, जल आदि से कष्ट पहुँचाना।

बलवान शत्रु के साथ व्यवहार—बलवान के साथ व्यवहार करने में यह नियम बताया गया है कि राजा को अपने से बलवान को न तो छोड़ना चाहिए, न उससे युद्ध करना चाहिए अपितु उसके साथ सन्धि कर लेनी चाहिये तथा इस सम्बन्ध

में एक उदाहरण दिया गया है कि छोटा सा बादल पवन के सामने कभी नहीं टिक पाता अथवा छेड़े जाने पर सिंह हाथी को भी मार देता है। जो बलवान के सामने झुककर और फिर समय पर पराक्रम करते हैं उनकी सम्पत्ति स्थिर रहती है। शान्तिपर्व में इस संदर्भ में दो कथायें दी हुई हैं। पहिली कथा में समुद्र और नदियों का सम्वाद है। समुद्र ने नदियों से पूछा कि यद्यपि वह नदियाँ अपने प्रवाह में शाखाओं वाले बड़े-बड़े वृक्षों को जड़ से उखाड़ लाती हैं, परन्तु वह बेंत के वृक्ष को क्यों नही उखाड़ कर लाती हैं ? क्या वह दुर्बल है, छोटा है, अथवा क्योंकि वह इन नदियों के तट पर उत्पन्न हुआ है इस कारण यह नदियाँ उस पर दया करके उसका नाश नहीं करती हैं ? गंगा ने सब नदियों की ओर से उत्तर दिया कि अन्य वृक्ष उद्धत हैं, वे झुकते नहीं हैं, परन्तु बेंत का वृक्ष पानी के वेग के आगे झुक जाता है। वह काल और समय का ज्ञाता है, सदा वश में आ जाता है तथा उद्धत नहीं है। यह कथा भीष्म ने युधिष्ठर के इस प्रश्न के उत्तर में कि 'साधन हीन और मित्र हीन होने पर अति बलवान राजा के साथ कैसे व्यवहार किया जाये' कही है और इस कथा के निष्कर्ष के रूप में युधिष्ठर को समझाया है कि "जो समर्थ बलवान शत्रु का वेग सहन नहीं करता वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। परन्तु जो बुद्धिमान अपना और शत्रु का सार, असार-बल वीर्य जान कर व्यवहार करता है उसका पराभव नहीं होता। इसी प्रकार जब विद्वान राजा शत्रु को अति बलवान समझे उस समय वह बेंत की सी वृत्ति अपनाकर उस शत्रु का आश्रय ले यही बुद्धिमत्ता का लक्षण है।" दूसरी कथा बेंत की विरोधी वृत्ति रखने वाले सेंभल के वृक्ष की है जिस वृक्ष के नीचे पशु, व्यापारी, तपस्वी आदि आकर सभी उसकी छाया का आश्रय लेते थे और इसीलिये उसने अभिमान में भरकर वायु से संघर्ष किया। जिस संघर्ष के परिणामस्वरूप उसको अपनी शाखा फूल पत्तों आदि से जिनके कारण वह दूसरों को आश्रय देता था, हाथ धोना पड़ा। ऐसे समय में अर्थात् बलवान से शत्रुता लेने पर दूसरा उपाय यह भी है कि दुर्बल राजा किसी बलवान राजा का अथवा किसी दुर्ग का आश्रय ले तथा यदि वह उत्साह शक्ति वाला हो तो शत्र से युद्ध भी करे। कौटिल्य ने बलवानों के तीन प्रकार बताये हैं धर्म-विजयी, लोभ-विजयी, तथा असुर-विजयी। इनमें से धर्म-विजयी तो अधिकतर मान लेने पर ही सन्तुष्ट हो जाता है और उसकी अधीनता स्वीकार कर लेने पर दूसरे राजा भी उसके भय से आक्रमण नहीं कर पाते इसलिये इससे अवश्य सन्धि कर लेनी चाहिये। दूसरा लोभ-विजयी होता है जो भूमि, धन लेकर सन्तुष्ट हो जाता है अतः उसके साथ भी सन्धि कर लेना उचित है। तीसरा असुर-विजयी तो पुत्र, स्त्री, प्राण तक भी हरण करने का प्रयत्न करता है। उसे भी भूमि, धन देकर शान्त करना चाहिये परन्तु फिर उसे नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। बलवान के साथ सन्धि कई प्रकार से हो सकती है। यदि बली राजा सेना लेकर सन्धि करे तो उसे रद्दी विद्रोह करने वाली तीक्ष्ण अथवा अपने गुप्तचरों से युक्त सेना देनी

चाहिये। यदि वह धन लेकर सन्धि करना चाहे तो उसे इतनी मूल्यवान वस्तु दे देनी चाहिये जिसे कोई मोल लेने वाला न मिले। यदि वह भूमि लेकर सन्धि करे तो उसे ऐसी भूमि देनी चाहिये जो सुविधा से लौटाई जा सके। जो वह वैसे भी न माने तो राजधानी छोड़ शेष सब उसे देकर सन्धि कर लेनी चाहिये। यदि वह राजा सन्धि के लिये प्रस्तुत न हो अथवा सन्धि पर स्थिर न रहे तो पहिले उसे समझाने का प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा उसके पक्ष के लोगों को अपने पक्ष में करने का, उन्हें उस राजा के विरुद्ध करने का तथा उस राजा को मरवाने का प्रयत्न करना चाहिये और उस राजा की प्रजा में विद्रोह कराना चाहिये। बलवान राजा से सन्धि करके भी उसका विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, फिर उसके प्रमुख पुरुषों से मेल कर अपने गुप्तचरों को वहाँ भेजकर, उसके देश में विभिन्न आपत्तियाँ उत्पन्न कर, उसको वश में कर तब उस पर अपना क्रोध दिखाना चाहिये। बलवान राजाओं के अतिरिक्त अन्य राजाओं का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ समान राजा के साथ भी सन्धि कर लेनी चाहिये क्योंकि (इनसे युद्ध में) विजय अनिश्चित रहती है और उसमें दोनों के नाश की संभावना रहती है जैसे बलशाली सुन्द और उपसुन्द परस्पर युद्ध कर नष्ट हो गये। परन्तु हीन राजा के साथ सन्धि नहीं करनी चाहिये क्योंकि वह अवसर पाकर स्वयं ही आक्रमण करने का प्रयत्न करेगा। कामन्दक ने तथा मनु ने धर्मवान और गुणवान शत्रु जीतने के लिये कठिन बताया है तथा दुर्गुण आलसी शत्रु जीतने के लिये सरल बताया है। कौटिल्य ने दुर्ग लम्भोपाय नामक प्रकरण में जिस राजा के ऊपर विजय प्राप्त करनी हो उसके ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये भी लगभग उन्हीं उपायों का प्रयोग बताया है जिन उपायों का ऊपर वर्णन किया गया है। शान्तिपर्व में भी यह उपाय संक्षेप में एक अध्याय में वर्णित है। इसके अतिरिक्त शान्तिपर्व में तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में यह भी विस्तार के साथ बताया गया है कि गणों को तथा संघों को किस प्रकार वश में करना चाहिए। राजनीति में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए यह शान्तिपर्व में, सम्पूर्ण कौटिलीय अर्थशास्त्र में, मनुस्मृति में तथा कामन्दकीय नीतिसार में बताया गया है, जिसका कुछ स्वरूप ऊपर के नियमों से पता चल जाता है। राजनीति में कुछ अनैतिक साधनों का वर्णन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने क्यों और किस सीमा तक मान्य किया यह बताया जा चुका है।

राजा से उद्योग और पुरुषार्थ का आग्रह, विजय का आदर्श तथा उसका कारण—राजनीति में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये यह भी शान्तिपर्व में बहुत अच्छी प्रकार से बताया गया है और उसको यहाँ उद्धृत करना भी आवश्यक है "राजा दण्ड को नित्य जगाता रहे, बल को नित्य प्रकट करता रहे, स्वयं छिद्र रहित हो, दूसरों के छिद्र देखकर उसमें प्रवेश करे। जब मूल नष्ट हो जाता है

तो उससे सब जीवन का ही नाश हो जाता है और वनस्पति का मूल नष्ट होने पर उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं। इसलिए बुद्धिमान राजा दूसरे पक्ष के मूल को ही नष्ट कर दे और फिर मूल के ही समान सहायकों को भी नष्ट कर दे। राजा अच्छी मंत्रणा रखे, बहुत विक्रमशील हो, अच्छी प्रकार से युद्ध करे तथा समय आने पर भाग भी जाये और आपत्ति आने पर कार्य करे, उसका विचार न करे। वाणी-मात्र से ही विनीत रहे परन्तु धार के समान पैना हो, प्रिय भाषण करे तथा काम, क्रोध छोड़ दे। शत्रु के साथ अवसर पर मिल जाये परन्तु सन्धि करके भी उसका विश्वास न करे और बुद्धिमान कार्य पूर्ण होने पर शीघ्र ही आक्रमण कर दे। मित्र रूप में रहने वाले शत्रु को सांत्वना दे परन्तु उससे सदा इस प्रकार भयभीत रहे जैसे घर के सर्प से। जो अपने समान बुद्धि वाला हो उसे अतीत की बातें (उपकार आदि) बताकर शान्त करे, कम बुद्धि वाले को भविष्य के लाभ बतला कर शान्त करे और बुद्धिमान को वर्तमान में लाभ देकर शान्त करे। जो अपना कल्याण चाहता हो वह हाथ जोड़कर, शपथ देकर, समझा कर, सिर झुका कर बोले तथा आँसू भी बहावे। जब तक उचित समय न हो तब तक शत्रु को कंधे पर रखे परन्तु समय आने पर उसे घड़े के समान पत्थर पर पटक दे। हे राजन्, आबनूस की लकड़ी के समान क्षण भर जले, परन्तु भूसा की आग के समान चिर-काल तक धुआँ न दे। अपने अर्थ की चिन्ता करने वाला राजा कृतघ्न के साथ अर्थ सम्बन्ध न करे क्योंकि वह अपनी आवश्यकता तक तो उपयोगी रहता है और आवश्यकता की पूर्ति होने पर अवमानना करता ह। इसलिए उसके सभी कार्यों को अधूरा रखे। राजा कोयल के समान दूसरों से अपना स्वार्थ पूर्ण करावे, वराह के समान शत्रु को उखाड़ फेंके, मेरु पर्वत के समान दृढ़ और अनुल्लंघनीय हो, नट के समान विविध रूप धारण करे तथा जो कल्याणकारी हो वह कार्य करे। अपनी उन्नति कर शत्रु के घर जावे और उसकी अकुशल होने पर भी उससे कुशल पूछे। आलसी, नपुंसक, अभिमानी, लोकापवाद से डरने वाले तथा खरगोशों के समान समय की प्रतिक्षा करने वाले अपना अर्थ-साधन नहीं कर पाते। ऐसा रहे कि स्वय का छिद्र शत्रु न जाने परन्तु स्वयं शत्रु का छिद्र जान ले और जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को छिपाए रखता है इसी प्रकार अपने छिद्र छिपाए रखे। बगुले के समान अपने हित की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये के समान शत्रु पर टूट पड़े और बाण के समान शत्रु के राज्य में घुस जाये। राजा मृग के समान चौकन्ना हो सोवे, अंधे बनने के अवसर पर अंधा बन जाय और बहरा होने के अवसर पर बधिरता का आश्रय ले। उचित देश, काल आने पर बुद्धिमान विक्रम प्रकट करे क्योंकि देश, काल व्यतीत हो जाने पर पराक्रम निष्फल हो जाता है। काल, अकाल का विचार कर स्वयं के बलाबल की सोचकर तथा परस्पर बल की तुलना कर अपनी योजना बनावें। जो दण्ड के द्वारा झुके हुए शत्रु को शिक्षा नहीं देता वह गर्भ धारण करने वाली खच्चरी के समान मर जाता है। यदि राजा

फूलवाला हो (बहुत अच्छा दिखे) तो फलरहित हो और फलवान हो तो दुष्प्राप्य हो। पहिले तो कुछ काल आशा दिलावे फिर इस आशा के पूर्ण करने में विघ्न डाल दे, विघ्न का कुछ निमित्त बतावे और उस निमित्त का भी हेतु बतावे। जब तक भय न आवे तब तक भयभीत के समान काम करे परन्तु जब देखले कि भय सिर पर आ गया है तो अभय व्यक्ति के समान प्रहार करे। वर्तमान काल में जो सुख मिलता है उसको छोड़ कर भावी सुख की आशा करना बुद्धिमानों के लिए नीतिपूर्ण नहीं है। शत्रु के साथ सन्धि करके जो उसका विश्वास कर सुख के साथ सोता है वह वृक्ष के अग्र भाग पर सोये हुए के समान है और उसे गिरने पर ही होश आता है। जो अविश्वस्त हों उनका विश्वास न करे और जो विश्वस्त हों उनका अति विश्वास न करे। विश्वास से भय उत्पन्न हो जाता है, अतः बिना परीक्षा किये विश्वास न करना चाहिए। शत्रु को कारण बताकर उसे विश्वास दिलाकर उसमें जब थोड़ी भी अस्थिरता आवे उस समय उस पर प्रहार कर दे। अवधान से, मौन से, गेरुए वस्त्रों से, जटाओं के धारण करने से राजा शत्रु को विश्वास दिलावे और फिर भेड़िये के समान उस पर टूट पड़े। चाहे पुत्र हो, अथवा भ्राता हो, अथवा पिता हो, अथवा मित्र हो परन्तु यदि वे स्वार्थ में विघ्न डालते हों तो कल्याण चाहने वाला व्यक्ति उन्हें नष्ट कर दे। दूसरे के मर्म पर आघात किये बिना, दारुण कर्म किये बिना, दूसरों को जाल में फँसाए बिना कोई भी बहुत लक्ष्मी नहीं प्राप्त कर सकता। यदि शत्रु करुणापूर्ण वाक्य बोले तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिए। और यदि पूर्व के अपकारी को मारा जाय तो उसमें दुख नहीं करना चाहिए। संग्रह (लोक संग्रह) तथा अनुग्रह के कार्य को द्वेषरहित होकर करना चाहिए और कल्याण करने वाले पुरुष को प्रयत्न पूर्वक दुष्टों का विग्रह भी करना चाहिए। प्रहार करते समय प्रिय बोलना चाहिए, प्रहार करके और भी प्रिय बोलना चाहिए तथा तलवार से सिर काटकर दुख मनाना और रोना चाहिए। कभी सूखा वैर न करे क्योंकि यह गाय के सींग खाने के समान अनर्थकारी है क्योंकि उसमें रस भी नहीं मिलता और दाँत भी टूटते हैं। ऋणशेष, अग्निशेष तथा शत्रुशेष बार-बार बढ़ते हैं इस कारण इनका शेष न छोड़ना चाहिए। वर्धमान ऋण, अपमान पाया हुआ शत्रु तथा उपेक्षित व्याधि तीव्र भय उत्पन्न करते हैं। राजा ठीक से काम करने वाला हो और सदा अप्रमत्त हो क्योंकि टूटा हुआ काँटा भी चिरकाल तक दुख देता है। मनुष्यों का वध करके, मार्ग नष्ट करके और अन्नागारों आदि का विनाश कर राजा पर राष्ट्र को नष्ट करे। वह गिद्ध दृष्टि रखे, दूरदर्शी हो, बगुले के समान ध्यानी हो, सिंह के समान पराक्रमी हो, कुत्ते के समान सदा सावधान हो, कौए के समान शंकितचित्त हो तथा साँप के समान आचरण वाला हो। शूर के सामने हाथ जोड़कर, भयभीत को भेद-प्रयोग से, लोभी को धन देकर तथा समान को विग्रह से, श्रेणी मुख्यों को भेद डालकर, अपने प्रिय लोगों को अनुनय से वश में करे। राजा समय पर कोमल बन जाये और जब तीक्ष्ण होने की

आवश्यकता हो तब तीक्ष्ण हो जाये। मृदुता से मृदुता को काटा जा सकता है तथा तीक्ष्णता को भी काटा जा सकता है। ऐसा कोई काम नहीं है जो मृदुता से संभव न हो। इसलिए तीक्ष्णता से भी मृदुता श्रेष्ठ है। जो समय पर मृदु हो जाता है, और समय पर तीक्ष्ण हो जाता हो वह अपना काम पूर्ण कर लेता है तथा शत्रु को भी वश में कर लेता है। बुद्धिमान के साथ वैर होने पर दूर रहता हुआ भी आश्वस्त न हो क्योंकि बुद्धिमान की दीर्घ बाहु पीड़ित होने पर पीड़ा देती है। वहाँ न तैरे जहाँ पार न जा सकता हो, उस वस्तु का हरण न करे जिसे शत्रु पुनः हरण कर ले। उसको न खोदे जिसका मूल नष्ट न कर दे और उसे न मारे जिसका सिर न गिरा दे।" यह समाप्त करने पर भीष्म कहते हैं कि "यह जो मैंने कहा है यह आपत्ति के लिए है और व्यक्ति इसका साधारणतया पालन न करे। दूसरों के द्वारा इन साधनों का प्रयोग करने पर किस प्रकार व्यवहार किया जाये यह मैंने तुम्हारे हित के लिये कहा है।" ऊपर जो उद्धरण किया गया है वह राजनीति का स्वरूप स्पष्ट करने वाला है और राजनीति में इस प्रकार का व्यवहार साधारणतया होता है इसलिए इससे बचना कठिन है। यह मानकर राजनीति में व्यवहार करने के लिए व्यवहारिक दृष्टि से इन नियमों का उल्लेख किया गया है। राजनीति के व्यवहार के नियम मनुस्मृति में भी संक्षेप में वर्णित हैं तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र तो इनसे भरा हुआ है। पिछले अध्याय मे यह बताया गया है कि इन अनैतिक दिखने वाले साधनों का प्रयोग क्यों और किस अवस्था में बताया गया है। इसी प्रकार के अन्य भी छोटे-मोटे नियम शान्तिपर्व में इस अध्याय में तथा अन्य अध्याय में, सम्पूर्ण कौटिलीय अर्थशास्त्र में, मनुस्मृति में तथा कामन्दकीय नीतिसार में भी बताये गये हैं।

राजनीति के उपरोक्त नियमों का वर्णन करने के साथ-साथ इस बात का भी राजनीति में आग्रह किया गया है कि राजा को सब उपायों का ठीक से प्रयोग कर उत्थान का प्रयत्न करना चाहिये। कामन्दक ने षड्गुणों का तथा मण्डल का वर्णन करने के पश्चात् यह बताया है कि नीति के साथ, पहिले से विचार कर, अपनी शक्ति देख कर, पूरे उपाय करके, अपनी बुद्धि का प्रयोग कर काम करना चाहिये तथा निष्फल, सन्दिग्ध फल वाला, बहुत क्लेशदायक और बहुत वैर बाँधने वाला कार्य न करना चाहिये और ऐसा ही कार्य करना चाहिये जो वर्तमान में तथा भविष्य में लाभदायक हो, हितकारी हो तथा जिस कार्य की निन्दा न हो। इसके पश्चात् राजा से उद्योग करने का आग्रह करते हुए कहा है कि "उपाय से तो मत्त हाथियों के भी मस्तक पर पैर रखा जा सकता है (उनके ऊपर सवारी की जा सकती है)। बुद्धिमान को कोई भी वस्तु असाध्य नहीं है। लोहा अभेद्य होता है परन्तु वह भी उपाय से गल जाता है। लोहा धार वाला होने पर भी कन्धे पर ले जाया जाता है और कन्धे को नहीं काटता परन्तु इच्छित फल देता है। संसार में यह प्रसिद्धि है कि जल से

अग्नि बुझ जाती है परन्तु उपाय द्वारा उसी अग्नि से जल सुखा दिया जाता है।" शुक्रनीति में भी षड्गुणों का वर्णन करने के पश्चात् यही उदाहरण दिये हैं और कहा है कि "अच्छे उपाय से तथा अच्छी योजना (मन्त्र) से तथा उद्यम से साधारण व्यक्तियों के भी कार्य सिद्ध होते हैं फिर राजाओं के क्यों नहीं हो सकते ? उद्योग से ही कार्य सिद्ध होते हैं केवल इच्छा मात्र से नहीं। सोते हुए सिंह के मुख में हाथ नहीं गिरते हैं।" मनुस्मृति में भी सम्पूर्ण राजनीति का वर्णन करने के पश्चात् कहा है कि "उपाय करने वाला राजा सभी उपायों का ठीक से प्रयोग कर अपनी अर्थ सिद्धि का प्रयत्न करे।" तथा यह भी कहा है कि राजा को दैव के आश्रित न होकर फल और लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। कौटिल्य का कहना है कि जो राजा एक दूसरे का (मण्डल) ध्यान रख कर छः गुणों का प्रयोग करता है वह बुद्धि की जंजीर से बँधे राजाओं से अपने इष्ट को प्राप्त करता है। याज्ञल्वक्य ने भी सम्पूर्ण राजनीति, चार उपाय तथा छः गुणों का वर्णन कर दैव की तुलना में पुरुषार्थ का महत्व बताया है। इसके अतिरिक्त नवें अध्याय में यह बताया ही गया है कि राजा के लिये भारतीय धर्मशास्त्रों और अर्थ-शास्त्रों में विजय का महत्व बताया गया है तथा जहाँ पर राज्य संबंधी कार्य का उल्लेख है वहाँ अभावात्मक रूप में परकीय आक्रमण से सुरक्षा का ही केवल विचार न कर स्पष्ट रीति से विजय का उल्लेख किया गया है। पीछे मण्डल के वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि 'विजिगपु' को ही केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण मण्डल की योजना की गई है। कामन्दक ने तो उद्योग द्वारा राजा के विजय के इस लक्ष्य को और भी स्पष्ट किया है। "उत्थान (उन्नति के प्रयत्न) के द्वारा राजा अपनी वृद्धि करे जैसे ईंधन डालने से अग्नि की वृद्धि की जाती है। दुर्बल व्यक्ति भी नित्य प्रयत्न करने से लक्ष्मी प्राप्त करता है। लक्ष्मी को दुष्ट स्त्री के समान अपने वीर्य से भोगने के लिये व्यक्ति सदैव व्यवसाय करने की इच्छा करे, नपुंसक के समान आचरण न करे। जो सदा उत्साही है तथा सिंह की वृत्ति धारण किये रहता है वह लक्ष्मी को दुर्विनीत स्त्री के समान बाल पकड़ कर वश में कर लेता है। किरीट और मणियों से सुशोभित शिरस्त्राण वाले उद्धत शत्रुओं के मस्तकों पर चरण रखे बिना व्यक्ति कल्याण प्राप्त नहीं करता। चित्र रूपी विशाल हाथी को प्रयत्न से प्रेरित कर वैरी रूपी वृक्षों की जड़ को उखाड़े बिना सुख कहाँ मिल सकता है ? जो ऊँचे-ऊँचे की इच्छा करता है वह महान् पद प्राप्त कर लेता है परन्तु जो गिरने की शंका करता है (प्रयत्न नहीं करता) वह नीचे ही नीचे गिरता है।" इन सभी बातों से स्पष्ट है कि भारतीय राजनैतिक विचार में राजा के सामने स्पष्ट रीति से विजय प्राप्त करने का आदर्श रखा गया था। विजय का यह आग्रह इसीलिये किया गया था जिससे समर्थ राजा सम्पूर्ण देश को एकछत्र साम्राज्य के आधीन लाकर सम्पूर्ण देश में अपनी सत्ता स्थापित कर सके और चक्रवर्तित्व तथा सार्वभौमत्व प्राप्त कर सके। भारतीय विचार में शौर्य्य दिखाना, विजय प्राप्त करना, सब लोगों को अपने वंश में करना, निन्दनीय आदर्श नहीं माने

गये थे, अपितु यह क्षत्रियों के लिये आवश्यक ही नहीं महान अनुकरणीय आदर्श थे। यह माना गया था कि यह तो असम्भव है कि राज्यों में स्वार्थ और महत्वाकांक्षा के ऊपर आधारित पारस्परिक संघर्ष नष्ट हो सकें तब इन संघर्षों को व्यक्ति और समाज के लाभ की दृष्टि से क्यों न प्रयोग किया जाय। अतः ऐसी स्थिति में पराजित न होकर अथवा दब कर दूसरे के वश में न होकर विजय प्राप्त करना ही श्रेष्ठ आदर्श के रूप में रखना उचित समझा गया था विशेष रूप से इसलिये कि इससे व्यक्ति के पौरुष और पुरुषार्थ का जागरण होता है, और, क्योंकि इससे देश को एकछत्र राज्य में लाने में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार विजय प्राप्त कर चक्रवर्तित्व का आदर्श भारतीय राज्य-व्यवस्था में सभी राजाओं के सामने रखा गया था।

यह चक्रवर्तित्व का अथवा सार्वभौमत्व का आदर्श सभी ग्रन्थों में मिलता है। ऋग्वेद में कहा है कि, "वसु, रुद्र, आदित्य (ये सब गण) मुझे सर्व श्रेष्ठ, दुर्धर्ष, बुद्धिमान और अधिराज बनावें तथा अथर्व वेद में इन्द्र के विषय में कहा है कि "इन्द्र विजयी हो, कभी पराजित न हो तथा राजाओं में अधिराज के रूप में शोभायमान हो।" तैत्तिरीय सँहिता में राजसूय यज्ञ के वर्णन में आधिपत्य का उल्लेख है; अथर्व वेद में राजा के एक एकराट होने की प्रार्थना है तथा ऐतरेव ब्राह्मण में कहा है कि जो राजा सभी राजाओं से श्रेष्ठ होना चाहता है, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी तक सार्वभौम और एकराट होना चाहता है, वह अपना ऐन्द्र महाभिषेक कराये। शतपथ ब्राह्मण में बताया है कि वृत्तासुर के वध के पूर्व जो इन्द्र था वह उसके वध के पश्चात् महेन्द्र हो गया, जैसे राजा विजय के पश्चात् महाराजा हो जाता है। साम विधान ब्राह्मण में राजाओं के चक्रवर्ती होने का तथा स्वराट् होने का उल्लेख है। कौटिल्य ने सम्पूर्ण देश को जीतने वाले चक्रवर्ती का उल्लेख किया है; शान्तिपर्व में भी पृथ्वी के ऊपर एकछत्र राज्य होने का उल्लेख है; तथा मत्स्य पुराण में सारे भारतवर्ष को जीतने वाले को सम्राट कहा है। सभापर्व में कहा है कि जो सम्राट होना चाहता है वह राजसूय यज्ञ करे। जिस एक के वश में यह जगत रहता है वही सम्राट है और यह सम्राट का पद बड़ी कठिनाई से प्राप्त हो सकता है यद्यपि राजा तो बहुत से होते हैं। अमरकोश में 'राज', पार्थिव, 'नृप', 'भूय', 'महीक्षित' शब्दों को एक ओर पर्यायवाची बताया है तथा "अधीश्वर" चक्रवर्ती और 'सार्वभोम', इन तीनों को अलग पर्यायवाची कहा है। शुक्रनीति में राजाओं की विभिन्न श्रेणियाँ बताई है। जो राजा एक लाख से तीन लाख तक प्रतिवर्ष आय प्राप्त करता है वह राजा 'सामन्त' है, तीन लाख से दस लाख तक आय वाला राजा 'मण्डलिक' है, दस से बीस लाख तक आय वाला राजा 'महाराजा' है, पचास लाख से एक करोड़ तक आय वाला राजा 'स्वराट्' है, और दस करोड़ तक आय वाला 'सम्राट' है, दस करोड़ से पचास करोड़ तक आयवालाराजा 'विराट' है और उससे आगे सप्तद्वीपा पृथ्वी जिसके वश में रहती है वह 'सार्वभौम' है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय राज्य-व्यवस्था में यह आग्रह

था कि प्रत्येक राजा इस बात का प्रयत्न करे कि वह अन्य सभी राजाओं को अपने वश में लाकर अपनी सत्ता सम्पूर्ण देश पर प्रस्थापित कर सके। भारतीय राज्य-व्यवस्था में पर राज्य सम्बन्धों का जितना भी वर्णन है—जिसमें मण्डल की व्यवस्था, चार उपाय और षड्गुणों का प्रयोग, शत्रु-मित्र तथा उदासीन राजाओं से व्यवहार तथा युद्ध की सम्पूर्ण योजना तथा राजनीति के छद्मपूर्ण उपायों का प्रयोग सम्मिलित है—उस सबके पीछे यही भावना है कि राजागण सम्पूर्ण राजनीति का इस प्रकार संचालन करें जिससे वह देश में अपनी यह सार्वभौम सत्ता प्रस्थापित कर सके। 'मण्डल' और 'चक्र' यह पर्यायवाची शब्द हैं और 'मण्डल' के माध्यम से विजिगीषु का अपनी सत्ता में वृद्धि करने का अर्थ है कि चक्रवर्तित्व प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। विजय प्राप्त कर चक्रवर्तित्व प्राप्त करना यह भारतीय राजनैतिक जीवन का सबसे बड़ा आदर्श है और अश्वमेध यज्ञ तथा राजसूय यज्ञ इसी आदर्श की पूर्ति के चिन्ह हैं।

परन्तु विजयी राजा का यह कर्त्तव्य नहीं माना गया था कि जिस राज्य पर वह विजय प्राप्त करे उस राज्य के राजपरिवार को नष्ट कर उस राज्य को अपने राज्य में सम्मिलित कर ले (annexation)। एकछत्र राज्य स्थापित करने का यह अर्थ नहीं था। उसका केवल इतना ही अर्थ था कि राजा अन्य राजाओं को केवल अपनी सत्ता स्वीकार करने वाला, तथा कर देने वाला बना ले। इसलिये इस बात का आग्रह किया गया है कि यदि जीते हुए राज्य का राजकुल हो ही नहीं तो उस पर राजा पूर्व राज्य के ही कुल के किसी व्यक्ति को नियुक्त कर दे। शुक्र का यह कहना है कि विजयी राजा पराजित राजा के पुत्र तथा स्त्री का पालन करे और उसके पुत्र को आधी तथा स्त्रियों को चौथाई जीविका दे। कौटिल्य ने विस्तार से नियम बताते हुए कहा है कि विजयी राज्य उपकारी राजा से शुद्ध हृदय से व्यवहार करे और उन्हें उनके उपकार के अनुसार संतुष्ट करे तथा उनके कष्टों में उनकी सहायता करे। परन्तु यदि कोई राज्य अपकार करे अर्थात् छल से व्यवहार करे तो उसे प्रकाश रीति से अथवा गुप्त रीति से मरवा दे। मरवाये हुए राजा के वंशजों को योग्यतानुसार नियुक्त करे और उसके पुत्र को राज्य पर बिठा दे। यह आग्रह किया गया है कि विजित राजा की भूमि, द्रव्य, स्त्री, पुत्र पर स्वयं अधिकार न करे। इस प्रकार व्यवहार करने पर उस विजित राजा के पुत्र, पौत्रादि भी अनुगामी होंगे परन्तु इसके विपरीत व्यवहार करने पर उससे अन्य राजा बिगड़-कर उसके नाश का प्रयत्न करने लगते हैं तथा स्वयं उसके व्यक्ति भी उद्विग्न हो शत्रु मण्डल से मिल जाते हैं। रामायण में सुग्रीव को वालि की मृत्यु के पश्चात् तथा रावण की मृत्यु के पश्चात् विभीषण को राज्य देना उसके उदाहरण हैं तथा महाभारत में भी पाण्डवों की दो बार दिग्विजय के वर्णन में यही बताया गया है कि पाण्डवों ने विजित राजाओं को अपना करदाता बनाया—उनके राज्य अपने राज्यों में नहीं मिलाये। इसके अतिरिक्त जीते हुए राज्य में किस प्रकार व्यवहार

किया जाय इसके भी नियम बताये गये हैं। सबसे प्रथम तो इस बात का आग्रह है कि विजित देश में वहीं के आचार आदि का पालन कराना चाहिये। यह भी कहा गया है कि उस राज्य का पालन इसी प्रकार करना चाहिये जैसे अपने राज्य का, वहाँ के प्रमुख पुरुषों का सत्कार करना चाहिये।' वहाँ के धर्म को नष्ट न करना चाहिये तथा उसे मान्यता देनी चाहिये और उनका हित करना चाहिये। इन सभी नियमों का अर्थ यह है कि विजयी राजा को विजित प्रदेश में राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद की स्थापना का प्रयत्न न करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर वहाँ के लोगों के मन में विद्रोह जागृत होता है, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संघर्ष का प्रारम्भ होता है तथा मानसिक विद्वेष भी उत्पन्न होता है। यदि इस प्रकार का संघर्ष तथा विद्रोह प्रजा में जागृत हो जाता है और वह राज्यकर्त्ताओं तक ही सीमित न रहकर सम्पूर्ण समाज को आक्रान्त कर लेता है तो विभिन्न राज्यों के लोगों के जीवनों के पारस्परिक विद्रोह, घृणा तथा अवमानना की भावना से दूषित कर उससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जो सभी राज्यों के लिये, सम्पूर्ण समाज और देश के व्यक्तियों और वहाँ की एकता के लिये घातक होती है। भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने संघर्ष का क्षेत्र केवल राजनीति तक सीमित रखा था और राजनीति में भी उसे इसीलिये स्थान दिया था क्योंकि वह अनिवार्य था—यद्यपि वहाँ भी सघर्ष केवल एक थोड़े से वर्ग (राज्यकर्त्ताओं) तक सीमित किया था और उसमें यह आग्रह था कि यह संघर्ष अन्तिम अवस्था में ही हो। उन्होंने जितना संघर्ष स्वीकार किया था उसके अन्दर भी उपयोगिता तथा श्रेष्ठ भावना भरकर उसके उदात्ती करण का प्रयत्न किया गया था परन्तु भारतीय विचारकों को यह बिल्कुल मान्य न था कि राजनीति का यह संघर्ष सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा मानसिक क्षेत्रों में पहुँच कर सम्पूर्ण जन-जीवन को विपाक्त कर दे। इसी कारण उस राजनैतिक संघर्ष को मान्यता देकर भी सम्पूर्ण समाज के अन्दर एकात्मकता निर्माण करने के लिये उन्होंने अन्य क्षेत्रों में वह संघर्ष रोक दिया था। इसी के कारण वह सम्पूर्ण देश में एकात्मकता निर्माण करने में समर्थ हो सके थे। कौटिल्य तथा शुक्र ने विजित राज्य के सम्बन्ध में जो अन्य नियम बताए हैं, वे हैं कि राज्य के अन्दर जो प्रथा धर्म के विरुद्ध हो अथवा कोष, सेना के लिए घातक हो, उन्हें न रहने दे तथा धर्मपूर्ण व्यवहार की स्थापना करे, जो चोर हो उन्हें इधर उधर बसादे, जो शत्रु द्वारा उपकृत हो उन्हें सीमा पर भिन्न-भिन्न स्थानों पर बसवा दे, जो अपकार करने में समर्थ हों उन्हें चुपचाप मरवा दे। जो दोष पहले राजा में रहे हों अथवा जिनसे प्रजा अपने विरुद्ध हो उन्हें हटाकर उनके स्थान पर गुणों का प्रदर्शन करे।

ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन से एक बात और भी स्पष्ट होती है और वह यह है कि भारतीय राज्य-व्यवस्था में बहुत से छोटे बड़े राज्यों का अस्तित्व स्वीकार किया गया था। यह अस्तित्व स्वीकार ही नहीं किया गया था अपितु जब यह कहा

गया था कि राजा विजित राज्य के राजा को ही उसके सिंहासन पर बिठा दे तो इसका अर्थ था कि इन राज्यों के अस्तित्व को नष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं था। इसके अतिरिक्त जब देश में राजाओं की विभिन्न श्रेणियाँ मानी थीं और जब देश में चक्रवर्तित्व की स्थापना का आग्रह किया था तब उसमें भी भारतीय विचारकों ने प्रच्छन्न रूप से यह स्वीकार किया था कि देश के अन्दर छोटे बड़े राज्य अवश्य होंगे। ऊपर के सम्पूर्ण विवेचन से भी यही सिद्ध होता है। इन छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व इसीलिये माना गया था कि इतने बड़े देश के प्रशासन में छोटी-छोटी इकाइयों के रूप में राज्य रहने पर शासन में सुव्यवस्था तथा दक्षता रहना सम्भव है। इसके पीछे यह भी भाव था कि जो भी राजा सर्वश्रेष्ठ होगा वह स्वयं अपने बुद्धि, पराक्रम, योग्यता तथा योजकता से सम्पूर्ण देश अथवा देश के अधिक से अधिक भाग पर अपनी सत्ता प्रस्थापित कर लेगा और इसलिये जो श्रेष्ठ राजा होगा वह स्वयं ही देश में राजनैतिक एकता प्रस्थापित कर सकेगा। और क्योंकि यह आवश्यक नहीं था कि एक ही राजपरिवार में सदैव सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति उत्पन्न हों इसलिये इस व्यवस्था के आधीन सम्पूर्ण देश के अन्दर सदैव ऐसे ही राजाओं की प्रभुसत्ता होगी जो अपने समय के सबसे योग्य शासक होंगे। देश में विभिन्न राज्य रहने से यह भी सम्भव था कि देश के विभिन्न भागों की अपनी अपनी विविधताओं और विशेषताओं का विकास हो सके। परन्तु यह स्थिति उस समय मान्य की गई थी जबकि सम्पूर्ण देश सांस्कृतिक एकता की भावना के आधार पर एकात्मता का अनुभव करता हो अन्यथा यह राजनैतिक विच्छिन्नता देश के लिये बहुत हानिकारक होगी। इसलिये सांस्कृतिक एकता स्थापित कर और उसकी पृष्ठभूमि में विभिन्न राज्यों की सत्ता स्वीकार की गई थी। सांस्कृतिक एकता रहते हुए देश के अन्दर विभिन्न राज्य रहने का एक लाभ यह भी था कि परकीय आक्रमणकारियों के आने पर अथवा उनका शासन यहाँ प्रस्थापित रहने पर देश के अन्दर कोई न कोई शासक उनका प्रतिकार करने के लिये अवश्य रहा अर्थात् उनका विरोध करने के लिये कोई न कोई राज्य-सत्ता अवश्य रही। इस प्रकार यद्यपि भारतीय समाज-व्यवस्थापकों ने विविध राज्यों को मान्य किया था परन्तु उन्होंने इसके कारण देश की एकात्मता में बाधा न आने दी थी। उस एकता के लिये उन्होंने अन्य मार्ग खोज निकाले थे जिनके द्वारा उन्होंने देश को एकसूत्रता में बाँधा था। उन्होंने यह विच्छिन्नता राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित थी और उसमें भी एकता लाने के लिये सार्वभौम सत्ता की स्थापना का सभी राजाओं से आग्रह किया था।

अतः भारतीय समाज-रचयिताओं ने अपनी निर्मित की हुई समाज-रचना के साथ मिली हुई, सुव्यवस्थित और सुयोजित राज्य-व्यवस्था भी तैयार की थी जिस में इस राज्य-व्यवस्था से रक्षित और वर्धित यह समाज-रचना व्यक्ति और समाज दोनों की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति करने में समर्थ हो सके तथा संसार के समक्ष एक सुगठित आदर्श जीवन का चित्र प्रस्तुत कर सके।

अध्याय ६

कोष और सेना

सप्तांगों की और आधुनिक कालीन राज्यों के तत्वों की तुलना

राज्य की आन्तरिक व्यवस्था और अन्तर्राज्य सम्बन्धों का वर्णन करने के पश्चात् राज्य के संबंध में अन्य भी कुछ महत्वपूर्ण विषय शेष रहते हैं और वे हैं—कोष तथा राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था (सेना)। यद्यपि वर्तमान काल के तत्वों के अथवा शासन के अंगों के वर्गीकरण में, इनमें से किसी का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु भारतीय राजनैतिक विचारकों ने इन्हें राज्य के अस्तित्व के तथा पोषण के लिये आवश्यक समझकर इनका उल्लेख किया है। उन्होंने यह माना कि यह भी राज्य के अस्तित्व के लिये उतने ही आवश्यक हैं जितनी कार्यपालिका (राजा और मंत्री) अथवा जितनी जनसंख्या और क्षेत्र (राष्ट्र) आवश्यक हैं। जैसा पीछे सप्तांग के वर्णन के समय बताया गया है और जैसा ऊपर के इस वर्णन से स्पष्ट है। भारतीय विचार में राज्य के अंगों का विवेचन, वर्तमानकालीन राज्य के तत्वों के तथा शासन के अंगों के विवेचन से भिन्न है। वर्तमान काल में पहिले तो राज्य के चार तत्व गिने गये हैं—भूमि, जनसंख्या, शासन तथा प्रभुसत्ता और फिर इन चार तत्वों में से शासन नामक तत्व के तीन अंग अथवा कार्य माने गये हैं—कार्यपालिका, विधायक मण्डल तथा न्यायपालिका। भारतीय विचार में यह दो प्रकार का वर्गीकरण नहीं पाया जाता। भारतीय विचार में शासन के भी उन सभी अंगों को जिन्हें भारतीय राज्य-प्रणाली के अनुसार शासन के लिये आवश्यक समझा गया है राज्य के ही अंगों के रूप में सम्मिलित किया है और उनका इसलिये कोई पृथक् वर्गीकरण नहीं मिलता। भारतीय विचारकों ने 'राष्ट्र' को तो राज्य का एक अंग स्वीकार किया ही है, जिसमें वर्तमानकालीन 'भूमि' अथवा 'क्षेत्र' और 'जनसंख्या' सम्मिलित है, परन्तु उन्होंने राज्य को प्रभुसत्तासम्पन्न न मानकर प्रभुसत्ता नामक तत्व का कोई उल्लेख नहीं किया है और राज्य के शासन को पांच अंगों में विभाजित कर उनका भी राज्य के ही अंग के रूप में उल्लेख किया है—राजा, मन्त्री, कोष, दुर्ग और सेना। उनका यह विचार था कि राज्य की रक्षा राज्य का एक प्रमुख कार्य है और यदि एक राज्य, चारों ओर अन्य राज्यों से घिरे होने के कारण, अपनी रक्षा की व्यवस्था नहीं करता तो वह एक दिन भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। इसलिये उन्होंने सुरक्षा के कार्य की दृष्टि से दुर्ग (पुर) और सेना को शासन के अतः राज्य के अंग के रूप में माना। कोष

भी राज्य के प्रशासन के लिये पूर्णतया अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना राज्य का एक क्षण भी कार्य चल ही नहीं। सकता इसलिये कोष को भी उन्होंने शासन (और इस कारण राज्य) के एक अंग के रूप में माना है । 'मन्त्री' राज्य की कार्यपालिका के रूप में कार्य करते है और 'राजा' के पास कार्यपालिका के अतिरिक्त न्यायपालिका पर नियन्त्रण का और आज्ञाएँ जारी करने का भी कार्य है । इसलिये शासन के इन दोनों भागों (कार्यपालिका और न्यायपालिका) के प्रतिनिधि के रूप में राजा और मन्त्री भी राज्य के दो अंग माने गये हैं। परन्तु क्योंकि मन्त्रियों के पास कार्यपालिका का और राजा के पास कार्यपालिका के अतिरिक्त न्याय-व्यवस्था का भी काम दिया गया है और क्योंकि विधान बनाने का कार्य राज्य के पास लगभग नहीं था इसलिये शासन का वर्गीकरण भारतीय विचारकों ने कार्यपालिका, न्यायपालिका और विधायक मण्डल के रूप में न कर राजा, मन्त्री आदि के रूप में ही किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि न्यायपालिका अथवा विधायक कार्य की कोई व्यवस्था ही न थी (इस सम्बन्ध में पीछे 'सभा' और 'परिषद' का वर्णन किया गया है) परन्तु भारतीय विचार में उन्हें राज्य का स्वतन्त्र अंग नहीं माना गया। शासन इन उपरोक्त पाँच अंगों और 'राष्ट्र' के अतिरिक्त भारतीय विचारकों ने राज्य का एक सातवाँ अंग माना है—'मित्र' । वर्तमान काल में राज्य के अन्तर्गत पर-राज्य सम्बन्ध को राज्य के एक स्वतंन्त्र कार्य का अस्तित्व नहीं दिया गया है, परन्तु भारतीय विचारकों ने इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण समझकर इसको भी एक स्वतन्त्र स्थान दिया ।

अभी तक हमने कार्यपालिका, विधायक कार्य और न्यायपालिका के रूप में राजा, मन्त्री, राष्ट्र तथा उसके अतिरिक्त 'परिषद' और 'सभा' का वर्णन किया है अर्थात् अभी तक वर्तमानकालीन शासन के विभाजन के अनुसार भारतीय राज्य-व्यवस्था का वर्णन किया है, अब राज्य के शेष अंगों का वर्णन किया जायेगा।

कोष

कोष का महत्व :

राज्य का शासन चलाने के लिये क्योंकि कोष की भी बहुत आवश्यकता है इसलिये कोष को राज्य का एक अंग माना गया है । इसके अतिरिक्त उसके महत्व का भी वर्णन किया गया है । शान्तिपर्व में कहा गया है कि हे कुन्तीपुत्र ! राजा अपने राज्य से चाहे पर-राज्य से, कोष का संचय करे । कोष से ही धर्म होता है और कोष से ही राज्य की जड़ जमती है । इसलिये कोष का संचय करना चाहिये, उसका सत्कार करना चाहिये (अपव्यय नहीं करना चाहिये) और उसका ठीक से पालन करना चाहिये (रक्षा करनी चाहिये और ठीक हिसाब रखना चाहिये) । कोष का संग्रह न तो पूर्ण पवित्रता से हो सकता है और न नृशंसता से ही । इसलिये मध्यमार्ग का अवलम्बन कर कोष का संचय करना चाहिये । जिसके पास सेन

नहीं है उसके पास कोष कहाँ से हो सकता है। बिना सेना के राज्य कहाँ रह सकता है और राजा के पास लक्ष्मी कहाँ रह सकती है। बड़े पुरुष के लिये लक्ष्मी की हानि मरण के समान है इसलिये राजा कोष, सेना और मित्र का वर्धन करे। जिस राजा के पास कोष नहीं होता उसकी लोग अवमानना करते हैं। वह (उसके दिये) थोड़े धन से सन्तुष्ट नहीं होते और कार्य में उत्साह प्रकट नहीं करते। लक्ष्मी के ही कारण राजा बहुत अधिक सत्कार प्राप्त करता है और लक्ष्मी ही उस के पापों को इस प्रकार ढकती है जैसे स्त्रियों को वस्त्र ढकते हैं।" कोष की आवश्यकता यह है कि उस पर ही राज्य का अस्तित्व निर्भर करता है और राज्य द्वारा जितने भी कार्य किये जाते हैं वे कोष पर ही आधारित रहते हैं। जब तक प्रजा राजा को कर देकर कोष-वृद्धि न करेगी तब तक यह अपेक्षा करना, कि राजा प्रजा की रक्षा कर सकेगा अथवा सहायता कर सकेगा, अनुचित है। अतः प्रजा के लिये यह आवश्यक है कि वह राजा को कर दे। मनु को राजा बनाने के सम्बन्ध में जो कथा शान्तिपर्व में तथा कौटिलय अर्थशास्त्र में दी हुई है उसमें यही बताया गया है कि प्रजा ने रक्षा करने के बदले में मनु को अपने धनोत्पादन का कुछ अंश देने का आश्वासन दिया।

कर सम्बन्धी नियम :

(१) **रक्षा के बदले में कर**—जहाँ प्रजा का कर देने का कर्त्तव्य है वहाँ यह भी आवश्यक है यदि राजा कर लेता है तो वह उस कर के बदले में प्रजा की रक्षा करे क्योंकि यदि राजाओं ने अथवा राज्यकर्त्ताओं ने प्रजा से कर लिया और कर लेकर प्रजा की रक्षा अथवा सहायता पर कम ध्यान दिया और बहुत अधिक धन स्वयं के उपभोग में व्यय किया तो प्रजा से वह कर लेना अनुचित है। इसीलिये कर अथवा शुल्क प्रजा द्वारा रक्षा के बदले में राज्य को दिया हुआ धन है जिसे 'वेतन' की संज्ञा दी गई है, जिसको लेने के कारण राजा प्रजा का दास हो जाता है।

(२) **व्यक्तिगत प्रयोग के लिये नहीं**—कोष राजा के व्यक्तिगत उपयोग के लिये नहीं है और जो राज्य-रक्षा, वेतन, सेना आदि के व्यय के पश्चात् शेष बचे उसे राजा को स्वयं अपने लिये व्यय करना चाहिये। यदि राजा ऐसा न कर प्रजा से कर लेता है, परन्तु उसकी रक्षा नहीं करता तो वह राजा चोर के समान है।

(३) **प्रत्येक को कर देना आवश्यक**—राजा प्रजा की आवश्यक सहायता कर सके इसके लिये प्रजा को कर देना चाहिये। परन्तु धन के रूप में कर प्रजा का वह भाग ही दे सकेगा जो धनोत्पादन के कार्य में लगा हो। शेष लोग जो स्वयं धनोत्पादन का कार्य नहीं करते वह धन के रूप में कर नहीं दे सकते, परन्तु क्योंकि रक्षा के बदले में प्रत्येक को कुछ न कुछ राज्य को देना अवश्य चाहिये, इसलिये जो केवल धर्मस्थापना अथवा आत्मोन्नति (आध्यात्मिक) के कार्य में व्यस्त हैं उन लोगों का पुण्य राजा को प्राप्त होता है और जो व्यक्ति शारीरिक अथवा कारीगरी के कार्य में लगे हुये हैं उन्हें श्रम के रूप में राज्य को कर देना चाहिये।

(४) **करों की निश्चितता और उसके कारण**—धन के रूप में अथवा शारीरिक श्रम के रूप में राज्य को जो कर लेना चाहिये वह भारतीय व्यवस्था के अन्तर्गत निश्चित है अर्थात् राजा इच्छानुसार कर नहीं लगा सकता अपितु जो कर शास्त्रों (धर्मशास्त्र अथवा अर्थशास्त्र) में बताये गये हैं वही कर राजा को लेना चाहिये और उससे अधिक राजा कर न ले। यह नियम इसलिये हैं कि भारतीय समाज-व्यवस्था के निर्माता समाज पर राजा को (अथवा राज्य को) असीमित अधिकार नहीं देना चाहते थे जिससे वह मनमाना काम कर और उच्छृंखल होकर स्वयं के हित और सुख-सुविधा के लिये प्रजा के ऊपर मनमाना अत्याचार कर सके। धन की सत्ता एक बहुत बड़ी सत्ता होती है और यदि राजा के अर्थात राज्यकर्त्ताओं के पास प्रबल राजनैतिक शक्ति के साथ-साथ, जो स्वयं ही मदकारक है, मनमाना धन लेने का भी अधिकार हो जायगा तो उनके लिये यह अधिक सरल हो जायगा कि वे कर्त्तव्य-भ्रष्ट होकर सुखोपभोग में लिप्त हो जायँ। परन्तु यदि धन लेने की मर्यादा रही और उनके पास सीमित धन रहा तो उनकी कर्त्तव्य-प्रवणता तुलनात्मक अधिक स्थिर रह सकती है। यह नियम इसलिये भी था कि प्रजा की सुख-सुविधा के लिये तथा प्रजा के धनोत्पादन के लिये (व्यापार के लिये) तथा सामाजिक जीवन के हित के लिये और दान आदि देने के लिये प्रजा के पास आवश्यक धन शेप रहना चाहिये और राज्य अपनी आवश्यकता बताकर अथवा बढ़ाकर प्रजा से धन का उतना अधिक अंश न ले ले जिससे प्रजा को कष्ट हो, कठिनाई हो अथवा उसे खलने लगे। इसका यह अर्थ नहीं कि धनिक लोग अपने ऐश्वर्य के लिये मनमाना व्यय कर सकते थे और उनका वह ऐश्वर्योभोग राज्य की अर्थात् समाज अथवा प्रजा की आवश्यकताओं से बढ़ कर था और इन करों को सीमित कर उन्हें राज्य से सुरक्षा प्रदान की गई थी। इसके विपरीत यह आग्रह था कि जो अपव्यय करते हैं उनसे सब धन छीन लेना चाहिये। कौटिल्य का यह कहना है कि जो मूलहर है अर्थात् धन को अनुचित रूप में व्यय करता है, जो तादात्विक है अर्थात् जो स्वयं पैदा करता है, उसका स्वयं ही उपभोग कर लेता है और जो कदर्य (कंजूस) हैं उनसे राज्य उनकी संपत्ति ले ले और यदि वे अपना वैसा ढंग छोड़ दे तभी उन्हें दें। शुक्र का भी यह कहना है कि मिथ्याचारी व्यक्ति का धन राजा हर ले। इसके अतिरिक्त असज्जनों से उनका सब धन छीन लेने का वर्णन कई स्थानों पर आया है और असज्जनों के अन्तर्गत वे धनिक भी हैं जो अपना धन केवल स्वार्थ के लिये उपभोग करते हैं, धर्मकृत्यों के लिये नहीं। यज्ञशील और देवस्व का धन नहीं हरण करना चाहिये। परन्तु निष्क्रिय लोगों का धन (जो धन का सदुपयोग नहीं करते) और दस्युओं का धन अपहरण करने के लिये है। प्रजा का धन या तो सेना (राज्य) के लिये होता है अथवा यज्ञ के लिये। जो औपधियाँ (वनस्पतियाँ) यज्ञ के अयोग्य होती हैं उन्हें लोग काटकर पकाने (जलाने) के काम लाते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपना धन देवता, पितर और मनुष्यों के काम में नहीं लाता उस धन को

धर्मज्ञाता लोग अनर्थक कहते हैं और हे राजन ! धार्मिक राजा उस धन का हरण कर ले और उससे ससार का रंजन करे उसमें कोई दुख नहीं है। जो राजा असज्जनों से धन लेकर सज्जनों को देता है और स्वयं को मर्यादित रखता है उस राजा को धर्मज्ञानी समझो।" ब्राह्मणों को भी जो कर से मुक्ति है वह केवल विद्वान, धर्मरत (श्रोत्रिय) ब्राह्मणों को ही है। इस सबका स्पष्ट अर्थ है कि राजा के ऊपर कर लगाने की यह मर्यादा इसलिये नहीं थी कि धनिक लोग अपने धन का मनमाना उपभोग कर ऐश्वर्य में मत्त रह सकें, परन्तु इसीलिये थी, कि राजा कोई भी कारण बताकर (वास्तविक अथवा अवास्तविक) प्रजा से इतना धन न ले ले कि प्रजा को अपना जीवन-यापन करना अथवा जीवन के अन्य आवश्यक काम करना ही कठिन हो जाय। करों के सम्बन्ध में मर्यादा रखने का यह भी कारण था कि भारतीय समाज निर्माताओं ने ऐसी समाज-व्यवस्था निर्माण की थी जिसमें समाज की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति समाज स्वयं ही कर सके अर्थात् समाज राज्य की सहायता पर अवलम्बित न होकर अधिकांश विषयों में आत्मनिर्भर रहे। उदाहरण के लिये शिक्षा में विद्यार्थियों और अध्यापकों का व्यय समाज के ऊपर ही डाल दिया गया था अथवा वर्णों और जाति व्यवस्था के द्वारा अपंग, निर्धन आदि लोगों की समस्या का सुलझाव उस जाति के ही द्वारा होता था अथवा इसका सिंचाई के साधन, मार्ग, वृक्ष, पुल आदि अन्य आवश्यकतायें स्वयं ग्रामीण निर्माण कर लें इसका आग्रह था अथवा धनिक या अन्य समर्थ लोग उन्हें पुरुषार्थ निर्माण करायें इस प्रकार का भाव निर्माण करने का प्रयत्न था अथवा इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें साधारणतया सभी लोग जीवन की अपनी अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और कोई भूखा न रहे (ब्राह्मणों के भरण-पोषण के लिये उन्हें दान देने का कर्त्तव्य, शूद्रों के लिये स्वामी का कर्त्तव्य कि वह उसका भरण-पोषण करें तथा अन्य वर्णशंकर जातियों को विभिन्न कार्यों का विभाजन जिसके द्वारा वह अपनी जीविका चला सकें)। इसके पश्चात् ऐसी बहुत कम आवश्यकतायें शेष रह जाती थीं जो राज्य द्वारा पूर्त या पूर्ण की जाँय। फिर भी शिक्षा में, आर्थिक जीवन में सहायता देने का अथवा असहाय लोगों को सहायता देने का कार्य अथवा यह देखने का कार्य कि राज्य में कोई भूखा न रहे, राज्य के लिये भी बताया गया था जिससे यदि कहीं ऐसी स्थिति हो कि इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं समाज के अन्दर से होना सम्भव न हो तो राज्य सहायता के लिये प्रस्तुत रहे और समाज के किसी कार्य में बाधा अथवा समाज के किसी व्यक्ति के जीवन में कोई कष्ट यथासम्भव उत्पन्न न हो। इसलिये उतनी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिये कर बताये गये थे। परन्तु राज्य को यह सब कार्य बताये जाने पर भी, समाज की आत्मनिर्भर स्थिति निर्माण होने के कारण, राज्य के पास व्यवहार में इतने अधिक उत्तरदायित्व न थे जितने वर्तमान काल में राज्यों के पास दिखाई देते हैं। वर्तमान काल में तो राज्य के पास समाज जीवन के सब अधिकार और उत्तरदायित्व

केन्द्रित हो गये हैं और समाज आत्मनिर्भर न होकर राज्य-निर्भर हो गया है और प्रत्येक बात के लिये राज्य की सहायता अपेक्षित रहती है। इस कारण वर्तमान काल के समान राज्य को उतने अधिक धन की और फलतः धन प्राप्त करने के नित्य नवीन साधन खोजने की आवश्यकता भी न थी और राज्य का काम इन सीमित करों के द्वारा चल जाना संभव था। फिर, यह भी विचार था कि यदि राज्य की व्यवस्था उत्तम रही तो राज्य में समृद्धि भी अधिक रहेगी और उस समृद्धि के फलस्वरूप व्यापार आदि पर अथवा कृषि पर लगाया जाने वाला कर स्वतः ही बढ़ेगा अर्थात राज्य की सुव्यवस्था जैसे-जैसे अधिक उत्तम होगी वैसे ही वैसे राज्य की आय भी उस व्यवस्था को ठीक रखने के लिये बढ़ेगी। यदि राज्य की व्यवस्था बिगड़ी तो राज्य की आय भी स्वतः ही कम होगी और फिर ऐसी स्थिति में कोई कारण भी नहीं कि राज्य को अथवा राज्यकर्त्ताओं को अधिक आय मिले क्योंकि दुर्व्यवस्था वाले राज्य में उस आय का सदुपयोग नहीं होगा, अपव्यय ही होगा। इन सब कारणों से भारतीय राज्य-व्यवस्था में राज्य की आय के साधन निश्चित और सीमित कर दिये गये थे और नया कर लगाना वर्जित कर दिया गया था।

कर के अन्य भारतीय सिद्धान्त—साथ-साथ यह भी बताया गया था कि प्रजा से इस प्रकार कर लेना चाहिये कि प्रजा को कष्ट न हो अथवा प्रजा की धन वृद्धि करने की शक्ति नष्ट हो जाय। शान्तिपर्व में बताया है कि "राजा युक्तिपूर्वक (बुद्धिमानी के साथ) कर ले, अयुक्तिपूर्वक न ले।" "यदि अधर्म से अथवा लोभ से धन प्राप्त करने की इच्छा करेगा और शास्त्रानुसार कर न लेगा तो उसके धर्म और अर्थ दोनों संदेहास्पद रहेंगे (अर्थात् उन्हें प्राप्त करने में संदेह रहेगा)। अर्थ और शास्त्र का सेवन करने वाला राजा धर्म और अर्थ से नष्ट नहीं होता परन्तु उससे (शास्त्र से) हटने पर उसका सब धन नष्ट हो जाता है। जो अर्थ का ही विचार करता है और मोह के कारण अशास्त्रीय कर लेकर प्रजा को पीड़ित करता है, वह राजा स्वयं अपनी हिंसा करता है। जो दूधवाला गाय के थनों को काट डालता है उसे दूध नहीं मिलता, इसी प्रकार जो निर्बुद्धिता से राज्य को पीड़ित करता है उसकी वृद्धि नहीं होती। जो गाय की ठीक से सेवा करता है उसे नित्य दूध प्राप्त होता है, इसी प्रकार जो राष्ट्र का पालन करता है वह उसका फल प्राप्त करता है।" जो उपाय करके राज्य को सुखी और सुरक्षित करता है उसकी नित्य और अतुल कोषवृद्धि होती है। यदि राजा पृथ्वी को सुरक्षित रखता है तो जिस प्रकार तृप्त रहने पर माता दूध देती है उसी प्रकार पृथ्वी भी अपनों को और दूसरों को नित्य धान्य और सुवर्ण दुहती है। हे राजन! तू मालाकार के समान हो और कोयले वाले के समान न हो इस युक्ति से राज्य का पालन करता हुआ तू उसे चिरकाल तक भोग सकेगा। राजा को सदा देख-भालकर कर लगाना चाहिए तृष्णा अपनी और दूसरे के मूल को नष्ट नहीं कर देना चाहिए। जो राजा इस प्रकार ऊपर से अच्छा दिखता हुआ भी प्रजा को चूस लेता है, उस अधिक खाने वाले (कर लेने वाले) राजा से

प्रजा द्वेष करती है। जिससे प्रजा द्वेष करती है उसका कल्याण कैसे हो सकता है? जो प्रजा का अप्रिय हो जाता है उसे किसी फल का लाभ प्राप्त नहीं होता। इसलिये बुद्धिमान राजा द्वारा राज्य को बछड़े के समान दुहा जाना चाहिये। यदि बछड़े में बल उत्पन्न हो जाता है तो हे भरतवंशी वह कष्ट करने में समर्थ होता है, परन्तु यदि उसे दूध नहीं मिलता तो वह काम नहीं करता। इसी प्रकार यदि राज्य को भी बहुत अधिक दुह लिया जाय तो वह बड़ा काम नहीं कर सकता।" अन्यत्र बहुत सा उदाहरण देते हुये कहा है "देश, काल, विचार और शक्ति देखकर प्रजा के हित में लगा रहने वाला राजा प्रजा का अनुशासन करे। जिसमें प्रजा अपने कल्याण का अनुभव करे, ऐसे सब कार्यों से राजा अपने राज्य में व्यवहार करे।"

जिस प्रकार भौंरा वृक्षों से मधु लेता है इसी प्रकार राजा भी राज्य को दुहे (अर्थात् धीरे-धीरे)। वह बछड़ों के समान दुहे जो स्तनों को काटता नहीं है (अर्थात् इसी प्रकार से राजा भी प्रजा के मूल को नष्ट न करे)। जोंक के समान राजा कोमलता के साथ राज्य को पिये और बाघिन के समान हो जो अपने पुत्र का हरण तो कर लेती है और जिसके दाँत उसके पुत्र को लगते तो हैं परन्तु पीड़ा नहीं देते। जिस प्रकार तीखे दाँतों वाला चूहा पैर को काटता है और उससे कटता भी है परन्तु तीक्ष्ण भी नहीं लगता, इसी प्रकार राजा राज्य को पिये। राजा थोड़ा थोड़ा कर लेकर फिर उसे बढ़ावे और उसे थोड़ा थोड़ा बढ़ाते हुये क्रमिक वृद्धि करे। जिस प्रकार पहले पशुओं को वश में करके फिर धीरे धीरे उन पर बोझ बढ़ाते हैं। पहिले मृदु हो फिर प्रयत्नपूर्वक पाश डाले क्योंकि जिस बछड़े पर एकदम पाश डाल दिया जाता है वह वश में नहीं होता है, उसी प्रकार प्रजा का यदि उचित रीति से भोग किया जाता है तो वह वश में रहती है। गलत स्थानों पर (उन व्यक्तियों पर जो बोझ न सह सकें) तथा गलत काल में कर न लगाया जाय। पहिले सान्त्वना देकर, फिर उचित काल देखकर और उचित ढग से कर लगाना चाहिये। यह मैं उपाय बताता हूँ यह में छल-कपट नहीं बता रहा हूँ। गलत उपाय से यदि वश में लाने का प्रयत्न किया जाता है तो घोड़े भी क्रुद्ध हो जाते हैं।" शान्तिपर्व में यह भी कहा है कि समाज का आय-व्यय देखकर फिर वृक्ष के समान उसमें से रस ले। यही उदाहरण देकर अन्यत्र भी समझाया गया है। मनु ने इसके अतिरिक्त कहा है कि, "जिस प्रकार सूर्य आठ मास तक अपनी किरणों से जल सोखता है उसी प्रकार सूर्य के समान राजा राज्य से नित्य कर ले।" कामन्दक का कहना है कि "जिस प्रकार योग्य व्यक्ति डालों की रक्षा काँटों की बाड़ी से करता है और फल लेने के लिये लकड़ी का प्रयोग करता है इसी प्रकार से इस संसार की रक्षा कर इसका भोग करना चाहिये। जिस प्रकार गौ को पालकर समय पर दुहते हैं और पुष्प फल की इच्छा करने वाले लता को सींचते और बढ़ाते हैं, इसी प्रकार राजा भी प्रजा को सींचकर, बढ़ाकर अर्थात् पालन कर उसे दुहे।"

ऊपर दिये गये सभी उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त उदाहरण यह बताने के लिये दिये गये थे कि कर किस प्रकार से लेना चाहिये। एक तो यह आग्रह था कि प्रजा की ठीक से रक्षा करते हुये तथा उसका पालन और संवर्धन करते हुये तब कर लेना चाहिये क्योंकि रक्षित और संवधित प्रजा अधिक कर देने में अधिक समर्थ होती है (कामन्दक के खेती की बाड़ी के, लता के, गौ के उदाहरण, शान्तिपर्व का बछड़े को दूध से पुष्ट कर काम लेने का उदाहरण)। फिर यह कहा गया है कि इतना अधिक कर नहीं लेना चाहिये कि प्रजा जिससे चुस जाय अर्थात् प्रजा के सब उपायों की जड़ ही नष्ट हो जाये जिससे राज्य की आर्थिक वृद्धि में बाधा पड़े और राज्य असमृद्ध होकर अधिक कर देने में असमर्थ हो जाये परन्तु इस प्रकार से कर लेना चाहिये जिससे प्रजा फिर से समृद्ध हो जाये और राज्य को सदैव अधिकाधिक कर मिल सके। इसके लिये राज्य को माली के समान होना आवश्यक बताया है जो खिले हुये पुष्पों को चुन लेता है तथा कलियों को आगे के लिये छोड़ देता है परन्तु *यह भी कहा है कि राजा कोयले वाले के समान न हो* जो सब जला डालता है। अतः यह कहा है कि समाज का आय-व्यय देखकर फिर कर लगाना चाहिये। यह भी बताया है कि कर इस प्रकार लगाने चाहियें जिससे प्रजा को पीड़ा न हो क्योंकि यदि प्रजा को कष्ट का अनुभव हुआ तो वह राज्य के विरुद्ध हो जायेगी। इसके लिये बाघिन का, चूहे द्वारा पैर काटने का और जोंक का उदाहरण दिया है। कर का यह भी एक नियम है कि कर प्रजा से धीरे-धीरे लेना चाहिये जिससे प्रजा प्रसन्नता के साथ तथा बिना कमी और कष्ट का अनुभव करते हुये कर दे और आवश्यकता पड़ने पर उसे धीरे-धीरे ही बढ़ाना चाहिये अन्यथा प्रजा रुष्ट हो जायेगी और विद्रोह भी कर सकेगी (पशु को धीरे-धीरे वश में कर धीरे-धीरे बोझ बढ़ाने का उदाहरण)। इन उद्धरणों में सबसे अन्तिम नियम यह है कि योग्य समय पर तथा उचित व्यक्तियों पर, जो कर का बोझ सहने में समर्थ हों, ठीक विधि से कर लेना चाहिये। इन सब नियमों के आधार पर संक्षेप में यह आग्रह किया गया है कि राजा को उचित और धर्मपूर्ण कर अथवा न्यायपूर्वक कर लेना चाहिये अथवा दूसरे शब्दों में राजा को अन्यायपूर्वक अथवा क्रूरता पूर्वक अथवा लोभ एवं तृष्णा की भावना से कर नहीं लेना चाहिये तथा कर इतने अधिक न लेने चाहियें कि राज्य के करों के कारण अथवा राज्यकर्त्ताओं के लोभ के कारण प्रजा अपना वैभव छिपा कर रखे। शुक्र ने राजा से अन्यायपूर्वक कोष संचय का निषेध करते हुए कहा है कि जो राजा अधर्मशील हो अर्थात् अधर्म से कोष संचय करे उसका सब धन हटा लेना चाहिए। इसलिए कर्मचारियों से भी इस बात का आग्रह है कि वे नियमित कर से अधिक कर न लें और प्रजा को धन लेकर लूटे नहीं। कौटिल्य ने प्रजा का धन लूटने वाले राज्य के वित्तीय अधिकारियों की तुलना की है और कहा है कि यद्यपि कोष की रक्षा करने वाला अधिकारी अर्थात् सन्निधाता प्रजा से प्राप्त वस्तुओं में (अन्न, रत्न आदि में) दोष निकाल प्रजा को कष्ट दे सकता है परन्तु जो

कर लेने वाला अधिकारी है (समाहर्ता) वह प्रजा से कर लेने में मनमानी करता है और इसलिये वह अधिक कष्टदायक है। प्रजा पर कर-भार आवश्यकता से अधिक न पड़े इसलिये कर का यह भी एक सिद्धान्त है कि किसी वस्तु पर कोई कर दुबारा न लिया जाये। कर का एक सिद्धान्त यह भी है कि आय से व्यय कम रहना चाहिये अर्थात् प्रतिवर्ष कुछ न कुछ बचत होनी चाहिये। शुक्र ने राज्य के व्यय का वर्णन करते हुये उसमें $\frac{1}{6}$ प्रतिवर्ष बचत करने का नियम दिया है और फिर बाद में कहा है कि "प्रजा-रक्षण करने में समर्थ राजा इस प्रकार कोष को धारण करे कि दण्ड, भू भाग और शुल्क के कोष में आये बिना भी वह बीस वर्ष तक अपने बल का ठीक से रक्षण कर सके।" कामन्दक ने कोष का यह गुण बताया है कि उसमें आय अधिक होनी चाहिये, व्यय कम तथा कौटिल्य ने कहा है कि कोष दीर्घकाल तक की आपत्ति सहन करने में समर्थ होना चाहिये। कौटिल्य ने अन्यत्र अनुग्रह (दान) और परिहार (ब्राह्मणों को बिना कर की भूमि के दान) के सम्बन्ध में कहा है कि वह देते समय राजा यह ध्यान रखे कि इनसे कोष पर बोझ न पड़े क्योंकि कोष कम हो जाने पर राजा प्रजा को कष्ट देता है।

वर्तमानकालीन कर के सिद्धान्तों से तुलना :

यह सब देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि भारतीय शासन-व्यवस्था में कर के कौन-कौन से वर्तमानकालीन सिद्धान्त मान्य थे। इन सब सिद्धान्तों से इतना स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचारकों को 'सुविधा का सिद्धान्त' (Canon of Convenience) मान्य था क्योंकि उनका यह आग्रह था कि व्यक्तियों का व्यय और उनकी आवश्यकता तथा देश और काल देखकर कर लगाया जाये। 'निश्चितता का सिद्धान्त' (Canon of Certainty) भारतीय विचार में केवल इसी सीमा तक ही मान्य नहीं था कि कर लगाने का समय और स्थान ही केवल निश्चित हो परन्तु इससे आगे बढ़कर इतनी अधिक निश्चितता थी कि आपत्ति काल छोड़ कर भी निश्चित थे। 'मितव्ययता का सिद्धान्त' (Canon of Economy) भारतीय विचारकों को मान्य था ही क्योंकि यह आग्रह था कि आय से व्यय कम होना चाहिये तथा 'लचीलेपन का सिद्धान्त' (Canon of Elasticity) भी इस दृष्टि से मान्य था कि (जैसा नीचे बताया जाएगा) अधिकांश कर ऐसे थे जिनमें देश की समृद्धि के साथ, स्वयमेव वृद्धि होती थी। 'समानता का सिद्धान्त' (Canon of Equality) इस सीमा तक मान्य था कि जो धनी नहीं थे,—ब्राह्मण, शारीरिक कर्म करने वाले, सन्यासी, आदि—उन्हें धन रूप में कर नहीं देना पड़ता था और धन के रूप में कर केवल उन्हीं लोगों से लिया जाता था जिनका प्रमुख कार्य था धनोपार्जन करना अर्थात् वैश्यों से। यह सब सिद्धान्त तो भारतीय विचारकों को मान्य थे ही परन्तु अन्य भी बहुत से कर सम्बन्धी सिद्धान्त भारतीय विचार में मान्य थे जिनका ऊपर उल्लेख कर दिया गया है।

कोष का महत्व होने के कारण यह आग्रह है कि राजा को कोष की वृद्धि का प्रयत्न करना चाहिये, उसकी चिन्ता करनी चाहिये और उसके लिये आवश्यक कर लेने चाहिये। अत्रिस्मृति में कोष की वृद्धि करना भी राजा का एक यज्ञ माना गया है और शान्तिपर्व में कहा है कि राजा को थोड़े भी धन का तिरस्कार नहीं करना चाहिये। कोष के महत्व के कारण, यह बताते समय कि राजा के अन्दर विभिन्न देवताओं के अंश हैं राजा को कुबेर के अंश से भी परिपूर्ण बताया गया है अर्थात् यह कहा गया है कि वह कुबेर के समान धन-संग्रह करने में कुशल हो। कोष के ही महत्व के कारण यह आवश्यक है कि राजा स्वयं प्रतिदिन कोष की देख-भाल करे और कोई व्यक्ति राजा का धन नष्ट न करे। कोष के महत्व के ही कारण राजा के अध्ययन में वार्त्ता को महत्व है क्योंकि वह वार्त्ता के द्वारा देश को समृद्ध कर राज्य की आय बढ़ाने में समर्थ हो सकता है।

विभिन्न कर :

कोष में धन लाने के प्रमुख और नियमित साधन हैं, भूमि की उपज का भाग (बलि), व्यापारियों से लिया गया शुल्क तथा अपराधियों से दण्ड प्राप्त धन। कौटिल्य ने इनमें से पहले दो का उल्लेख मनु की कथा के सम्बन्ध में किया है जहाँ बताया है कि प्रजा ने मनु को यह दोनों प्रकार के कर देना स्वीकार किया। इसमें दण्ड का इसीलिए उल्लेख नहीं हुआ कि यद्यपि वह राज्य की आय का साधन है परन्तु वह सम्पूर्ण प्रजा द्वारा राज्य को दिया जाने वाला कर नहीं है। मनु ने पाँच प्रकार के आय के साधनों का उल्लेख किया है परन्तु वे भी इन तीन के ही अन्तर्गत सम्मिलित किये जा सकते हैं। भूमि के कर के विषय में साधारणतया छठे भाग का उल्लेख आता है। परन्तु मनु और गौतम ने छठे भाग के अतिरिक्त आठवाँ और बारहवाँ भाग भी कहा है जिसका अर्थ है कि गेहूँ, जौ आदि अन्नों का, जो वसन्त ऋतु में उत्पन्न होते हैं उनका छठा भाग, शिम्बी धान्य या उन अन्नों का जो वर्षा ऋतु में उत्पन्न होते हैं आठवाँ भाग तथा जो भूमि ऊसर पड़ी है उसकी उपज का दसवाँ अथवा बारहवाँ भाग। मनु का यह भी कथन है कि आपत्तिकाल में राजा शुल्क का चौथा भाग ले। शुक्र ने भी किसानों से उनका लाभ देखकर तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ अथवा दसवाँ भाग कर लेने को कहा है परन्तु कौटिल्य तथा शुक्र दोनों का कहना है कि जिन खेतों को सिचाई की सुविधा हो उनसे अधिक कर लेना चाहिये, जैसे जिन खेतों की कूप, बावड़ी आदि से सिचाई होती है उनसे चौथा भाग लिया जाए, जिनकी अन्य अच्छे साधनों से सिंचाई होती है (नहर आदि से) उनसे तीसरा भाग लिया जाये। यदि कोई सिंचाई के साधनों का निर्माण कराये तो, कौटिल्य के अनुसार, बने हुये पर कुछ और बनवाने पर तीन वर्ष तक, टूटे-फूटे को ठीक कराने पर चार वर्ष तक और मकान निर्माण कराने पर पाँच वर्ष तक कर न लेना चाहिये और शुक्र के अनुसार उन पर तब तक कर न लगे जब तक वह अपने व्यय का दुगना भोग न कर लें। शुक्र ने यह भी कहा है कि

वह खेती श्रेष्ठ है जिसमें व्यय और राज्य को दिये भाग से दुगना लाभ हो अन्यथा खेती कष्टदायक है। शुक्र ने यह भी कहा है कि किसान को मोहर लगाकर उस कर की रसीद देनी चाहिये और ग्राम का सब कर नियत कर, एक धनिक से सब, प्रत्येक मास अथवा प्रत्येक ऋतु में ले लेना चाहिये तथा उस धनिक से उस भाग की जमानत भी ले लेनी चाहिये। अन्य वस्तुओं के विषय में मनु, गौतम, विष्णु, अग्निपुराण का कहना है कि राजा वृक्ष, मांस, मधु, घी, गन्ध, औषधि, रस, पुष्प, फल, मूल, पत्ते, शाक, तृण, चर्म, बाँस, मिट्टी के पात्र तथा पत्थर की वस्तुओं का छठा भाग कर ले और पशु तथा सोने (आय) का पचासवाँ भाग ले। कौटिल्य ने पशुओं की तथा, अन्य वस्तुओं की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ बनाकर उनमें से प्रत्येक के कर का अलग-अलग भाग निर्धारित किया है। इन वस्तुओं के कर के अतिरिक्त शुल्क के विषय में यह नियम है कि व्यापारियों का क्रय-विक्रय का मूल्य, मार्ग, भोजन और रक्षा का व्यय तथा व्यापारियों के जीवन की आवश्यकताओं को देखकर, व्यापारियों से शुल्क लेना चाहिये और शान्ति-पर्व में यही शिल्पियों के विषय में भी कहा है कि वस्तुओं की उत्पत्ति, दान-वृत्ति, कैसा काम है, यह सब देखकर उन पर कर लगाया जाय और राजा इस प्रकार कर लगाये जिससे प्रजा के कार्य में कठिनाई न आये और इसलिये काम और फल देखकर कर ही योजना करे। शुक्र ने उचित शब्दों में कहा है कि शुल्क इस प्रकार न हो कि मूलधन का नाश हो तथा लाभ का ध्यान रखकर शुल्क लेना चाहिये। इसलिये जिन्होंने कम मूल्य में अथवा समान मूल्य में वस्तु बेची हो, उस पर कोई शुल्क न लिया जाये। इस कारण कौटिल्य ने कर लेने वाले अधिकारी का यह कर्त्तव्य बताया है कि वह वस्तुओं का मूल्य, मार्ग व्यय, मार्ग के शुल्क, भाड़े आदि का हिसाब कर बचत निकाले। साधारणतया जो वस्तु राज्य में ही उत्पन्न होती है उस पर वीसवाँ भाग शुल्क लगना चाहिये, परन्तु बाहर से आने वाले कच्चे माल में, जैसा ऊपर कौटिल्य का कथन है, सारा व्यय आदि देखकर शुल्क लगाना उचित है। शुक्र ने लाभ का बत्तीसवाँ, वीसवाँ अथवा सोलहवाँ भाग शुल्क लेने को कहा है। जो व्यापारी कर न दें अथवा बढ़िया वस्तु को घटिया बताकर, अधिक वस्तु को कम बताकर अथवा गलत मूल्य बताकर अथवा चुँगी-घर को बचाकर सामान ले जायँ उनसे वस्तु के मूल्य का आठ गुना दण्ड लेना चाहिये। कौटिल्य ने यह भी बताया है कि प्रत्येक व्यापारी के पास एक मुद्रा रहनी चाहिए और उसके न रहने पर अथवा झूठी मुद्रा बनाने पर दण्ड दिया जाये। व्यापारियों के विषय में यह सूचना भी रहनी चाहिए कि व्यापारी कौन हैं, कहाँ के हैं, कहाँ से आये हैं, कितनी वस्तु है, वस्तु पर उचित मुद्रा है अथवा नहीं आदि। कौटिल्य का यह भी कहना है कि विवाह सम्बन्धी माल पर, कन्यादान के माल पर, यज्ञ, प्रसव, देवपूजा, उपनयन, गोदान और व्रत को निमित्त वस्तुओं पर कर न लगना चाहिये, परन्तु यदि कोई अन्य माल को इस निमित्त बतावे तो उस पर चोरी का दण्ड हो। व्यापार के लिये वर्जित वस्तुओं के लाने ले जाने पर भी दण्ड बताया गया है। कौटिल्य ने विभिन्न वस्तुओं की भी श्रेणियां करके

उनके शुल्क के नियम भी विस्तार से बताये है। भूमि का कर और वस्तुओं के शुल्क के अतिरिक्त राज्य की आय के साधनों के रूप में खानें हैं, जिनके विषय में मनु और कौटिल्य ने कहा है कि राज्य को उनका आधा भाग मिलना चाहिये। कौटिल्य का कहना है कि कोष खानों पर निर्भर है, जिससे राज्य के लिये खानों के महत्व का पता चलता है। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से छुट-पुट कर हैं, जैसे शुक्र ने मार्ग में चलने वालों से मार्ग का कर, दुकानदारों से बाजार कर, गृह की भूमि का कृषि की भूमि के अनुसार कर, व्याज पर कर आदि बताया है। कौटिल्य ने इस प्रकार के बहुत से करों का उल्लेख किया है जिन्हें विस्तार से देने की कोई आवश्यकता नही है। करों के ही अन्तर्गत इस नियम को भी गिना जा सकता है कि कारीगर, शिल्पी, शूद्र तथा अन्य काम करने वालों से राजा प्रतिमास कुछ काम करा ले परन्तु काम कराने के दिन उन्हें भोजन देना होगा। करों से कुछ लोग मुक्त हैं और उनके अन्दर आते हैं श्रोत्रिय, स्त्री, बालक, विद्यार्थी, सन्यासी अथवा यती, शूद्र, अन्धे, बहरे, गूंगे, रोगी, अपंग तथा ७० वर्ष से ऊपर के वृद्ध। इनमें से यद्यपि अन्य लोगों को तो इसलिये कर देने की आवश्यकता नहीं है कि या तो वह इसके लिए असमर्थ हैं (अपंग अथवा स्त्री, बालक आदि) अथवा धनोपार्जन का कोई कार्य नहीं करते (विद्यार्थी एवं सन्यासी) परन्तु, क्योंकि श्रोत्रिय को कुछ धनार्जन अवश्य होता है फिर भी उसे करमुक्त करने का बार-बार आग्रह इसलिये किया गया है कि उनके लिये निर्धनता का जीवन व्यतीत करने का विधान है। अतः उनसे भी कर लेने का नियम बनाना उनके निर्धन जीवन पर और अधिक आघात करना होगा। इसलिये बहुत अच्छे ब्राह्मणों से भी कर न लेने का नियम है। वह नियम इतना कड़ा है कि उनसे आपत्ति में भी कर न लेना चाहिये। कौटिल्य ने यहाँ तक कहा है कि राजा वेदपाठी का अन्न तो छुये ही नहीं अर्थात् भूमि भाग तो ले ही नहीं परन्तु यदि श्रोत्रिय खेती करने में असमर्थ हो तो राजकीय अधिकारी उसकी खेती करा दें तथा यदि किसान के प्रमाद से कुछ अन्न व्यर्थ गया हो तो उसे दण्ड दे और उस खेती की रक्षा करें।

आपत्तिकालीन कोष-संग्रह :

राज्य की आय के यह वैसे साधन हैं जो साधारण अवस्था में राज्य को प्राप्त होते हैं परन्तु आपत्तिकाल में राजा अन्य प्रकार से भी धन ले सकता है। मनु का संदर्भ ऊपर दिया ही गया है कि आपत्तिकाल में राजा भूमि कर षष्ठांश के स्थान पर चतुर्थांश ले सकता है। शुक्र ने भी कहा है कि "जब शत्रु के विनाश के लिये राजा सेना की रक्षा में उद्यत हो उस समय प्रजा से विशेष रूप से दण्ड, शुल्क आदि के द्वारा धन ले। आपत्तिकाल में धनिकों को, केवल उनकी जीविका देकर, उनका सब धन ले ले और आपत्ति समाप्त होने पर वह धन व्याज सहित लौटा दे, अन्यथा राज्य, प्रजा, कोष और नृप ये सब नष्ट हो जाते हैं। इसी आशय का उल्लेख शान्तिपर्व में है जहाँ बताया है कि जब आपत्ति उत्पन्न हो जाय उस समय राजा

शत्रुओं का भय प्रजा के सामने स्पष्ट कर उनसे कहे कि शत्रु लोग दस्युओं के साथ मिलकर अपने स्वयं के नाश के लिये राज्य को कष्ट पहुँचाना चाहते हैं और यद्यपि वह शत्रु स्वयं ही नष्ट हो जायेंगे जैसे बाँस के पेड़ में लगने वाले फल। परन्तु फिर भी राज्य की रक्षा करनी आवश्यक है और उस रक्षा के लिये धन चाहिये जो धनी लोग ही दे सकते हैं। यह धन तो बाद में लौटा दिया जायेगा, परन्तु शत्रु यदि धन लूटकर ले गया तो वह धन लौटाकर नहीं देगा। यद्यपि यह धन स्त्री-पुत्रों के लिये एकत्रित किया गया है परन्तु यदि यह आपत्ति टालने में सहायता नहीं दी गई तो धन तो रहेगा ही नहीं साथ ही स्त्री-पुत्र भी नहीं रहेंगे। बाद के एक अन्य अध्याय में भी इसी संबंध में युधिष्ठर ने प्रश्न किया है कि, "जिसके मित्र नष्ट हो गये हैं, बहुत से शत्रु हों, राजा की सेना नष्ट हो जाये तथा कोष क्षीण हो जाये अर्थात् जब आपत्तिकाल हो उस समय राजा क्या करे ?" भीष्म कहते हैं "आपत्तिकाल के धन-संग्रह के ढंग के विषय में शंका नहीं करनी चाहिए। समर्थ अवस्था में अन्य धर्म है तथा आपत्तिकाल का धर्म अन्य है। यद्यपि कोष से धर्म श्रेष्ठ है परन्तु अपनी वृत्ति (जीविका) चलाना धर्म से भी श्रेष्ठ है। इसीलिए आपत्ति में अधर्म भी धर्म ही रहता है और उसमें कोई अधर्म नहीं है, ऐसा श्रेष्ठ व्यक्तियों का कहना है। इसलिए ऐसे समय में अपने और दूसरे के धर्म की चिन्ता न करके सब उपायों से अपना उद्धार करना चाहिए। क्षत्रिय का कार्य प्रजा की रक्षा है, अतः वह कार्य किसी भी विधि से करना चाहिए और इसमें किसी को भी दुःख देना अनुचित नहीं है तथा ऐसे समय अयोग्य उपाय करने ही पड़ते हैं। कोष के नष्ट होने पर सेना का भी नाश हो जाता है, इसलिए आपत्तिकाल में राजा को इस प्रकार कोषवृद्धि करनी चाहिए जैसे कोई निर्जल स्थान में से जल निकाल लेता है और ठीक समय आने पर फिर प्रजा का अनुग्रह करना चाहिए। उस समय क्षत्रिय को भीख माँग कर, अन्याय कर, दूसरे का अन्न लूटकर भी आजीविका चलानी चाहिए तथा यदि इस कार्य में कोई बाधक हों तो उन्हें भी नष्ट करना चाहिए जैसे यज्ञ का स्तूप (खम्भा) बनाने के लिए एक वृक्ष काटते समय उस वृक्ष को काटने में बाधा डालने वाले वृक्षों को भी काट दिया जाता है।"

कौटिल्य ने आपत्तिकालीन धन-संग्रह के बहुत से उपाय बताये हैं जिनमें छद्मपूर्ण उपाय भी हैं। वे उपाय ये हैं—समाहर्ता ऐसे समय में प्रजा से भिक्षा माँगे और उसमें योग पुरुष (गुप्तचर) पहिले अधिक धन दान दे जिससे कि अधिक धन एकत्रित हो सके। लोगों को छत्र, आभूषण, पगड़ी आदि सत्कार के चिन्ह देकर उनसे अधिक धन लिया जावे। पाखण्डी संघों का तथा श्रोत्रियों के काम में न आने वाले मन्दिरों के द्रव्य को भी किसी उपाय से ले लिया जाय। रात में किसी मन्दिर की स्थापना करके फिर वहाँ मेला लगाकर उस मन्दिर में पूजा के रूप में चढ़ाया गया धन इकट्ठा किया जाय। किसी वृक्ष में कोई राक्षस बना दिया जाय जो मनुष्य

की भेंट माँगे और उसकी शान्ति के लिये धन एकत्रित किया जाय। नाग देवता को कहीं प्रकट कर उनकी भेंट चढ़वाई जाय और उसमें छेद करवा दिया जाय जिससे सब धन उसमें भरता चला जाय। कोई व्यापारी गुप्तचर अन्य लोगों के साथ व्यापार प्रारम्भ कर दे और जब उसके पास बहुत धन एकत्रित हो जाय तो उसकी चोरी हो गई, ऐसा प्रसिद्ध कर दिया जाय। कुलीन स्त्रियों के वेश में रहने वाली व्यभिचारिणी स्त्रियाँ धनिकों को मोहित कर उनके घर में रहें। तब राजा उन्हें वहाँ पकड़ ले तथा उन धनिकों का वहाँ धन छीन ले। राजा के प्रति द्वेष रखने वाले लोगों को विष देने आदि के अपराध में बन्दी बनाकर उनका धन छीन लिया जाये। सुवर्ण बनाने के बहाने लोगों से धन एकत्रित किया जाय। किसी व्यक्ति के यहाँ अभिषेक की सामग्री रख दी जाय और फिर उस पर राजद्रोह का अपराध लगाकर उसका धन छीन लिया जाय। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि यह सब उपाय साधारण अवस्था के लिये नहीं है, केवल आपत्तिकाल के लिये हैं और इनके संबंध में भी कौटिल्य का कहना है कि इन उपायों को दुष्टों और अधार्मिकों पर ही प्रयुक्त करना चाहिये, अन्य लोगों पर नहीं।

कोष का हिसाब :

कोष का हिसाब रखने का भी बहुत आग्रह है। शुक्र ने हिसाब रखने की विधि बताई है। इसमें बताया है कि हिसाब इस प्रकार लिखा जाना चाहिये कि वह बिल्कुल ठीक हो, न कम हो, न अधिक। आय-व्यय के विभिन्न भेद करके लिखना चाहिये जैसे लौटने वाला व्यय, न लौटने वाला व्यय आदि; हिसाब में आय, व्यय का कारण, उनका प्रमाण (रसीद आदि), संबंध (वस्तु की दर आदि) भी लिखा जाय; वाम भाग में आय लिखें, दक्षिण भाग में व्यय; आय पहिले लिखें, व्यय बाद में; सब आय-व्यय का नीचे जोड़ करें। कौटिल्य ने बताया है कि तीन सौ चौवन दिन का एक वर्ष समझा जाय जिसकी समाप्ति आषाढ़ मास में हो, जिस समय सब अधिकारियों को मुख्य कार्यालय में आकर हिसाब लगा लेना चाहिये तथा उन अधिकारियों पर जो धन शेष निकले वह उनसे ले लेना चाहिये। यदि किसी अधिकारी के हिसाब में गड़बड़ हो, वह नियत समय पर हिसाब न लाय अथवा हिसाब देने में बहाना बताय तो उसे दण्ड दिया जाय और यदि उसने भूल की है तो वह भूल उसके पास से भरवाई जाय। प्रतिदिन, पाँच दिन, एक पक्ष, मास, चतुर्मास तथा संवत्सर में हिसाब मिला लेना चाहिये। जो कर्मचारी हिसाब गलत लिखे अथवा गबन करे उन्हें दण्ड देना चाहिये।

सुरक्षा

दुर्ग :

कोष के अतिरिक्त दूसरी प्रमुख आवश्यकता है, बाह्य आक्रमण से रक्षा की। रक्षा के लिये दो बातें आवश्यक हैं—दुर्ग (Fortifications) तथा सेना (जिसमें आयुध भी सम्मिलित हैं)। दुर्ग का महत्व पीछे बताया ही गया है कि उससे जन-

समाज, राज्य और धन की रक्षा होती है। आपत्ति के समय में यह दुर्ग आश्रय का काम देते हैं। दुर्ग साधारणतया छः प्रकार के बताये गये हैं। धन्वदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वार्क्षदुर्ग, नृदुर्ग और गिरिदुर्ग। धन्वदुर्ग वह है जिसके चारों ओर जल का अभाव हो; महीदुर्ग अथवा ऐरिण दुर्ग वह है जो काँटे-पत्थर और दुर्गम भागों से घिरा हुआ हो (कौटिल्य ने इन दोनों दुर्गों को एक ही प्रकार का दुर्ग माना है); जल-दुर्ग वह है जो किसी टापू पर बसा हुआ हो अथवा जिसके चारों ओर बहुत गहरी खाई खुदी हो (शुक्र ने यह दुर्ग दो प्रकारों में विभाजित किया है); वार्क्षदुर्ग अथवा वनदुर्ग वह है जो चारों ओर काँटों से अथवा काँटेदार झाड़ियों से घिरा हुआ हो; गिरिदुर्ग वह है जो गुहा में अथवा पर्वत पर बसा हुआ है और सैन्यदुर्ग वह है जिसमें व्यूह को जानने वाले बहुत से वीर हों अर्थात् व्यूह रचना में सज्जित सेना ही सैन्य दुर्ग है। कौटिल्य ने ऐरिण दुर्ग और धन्वदुर्ग को एक में सम्मिलित कर तथा सैन्य दुर्ग का उल्लेख न कर (क्योंकि सेना का पृथक् वर्णन किया ही गया है) चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख किया है तथा कामन्दक ने सैन्य दुर्ग को छोड़कर शेष पाँच दुर्ग बताये हैं। शुक्र ने जलदुर्ग को दो में विभाजित किया है—जो द्वीप के रूप में बसा हो और जो चारों ओर खाई से घिरा हुआ हो। इसी प्रकार शुक्र ने धन्वदुर्ग व महीदुर्ग के भी दो के स्थान पर तीन प्रकार बताये हैं (जबकि कौटिल्य ने एक ही प्रकार); धन्वदुर्ग अर्थात् ऊसर अथवा मरु भूमि में बसा हुआ दुर्ग; ऐरिण दुर्ग अर्थात् काँटे-पत्थरों आदि से घिरा हुआ तथा पारिघ दुर्ग अर्थात् ईंट-पत्थर, मिट्टी आदि की दीवालों से घिरा हुआ। सैन्य दुर्ग को भी शुक्र ने दो में विभाजित किया है—सैन्य दुर्ग तथा सहाय दुर्ग, जिसमें सहाय दुर्ग का अर्थ है चारों ओर से सहायता करने वाले वीर-बांधव। इस प्रकार शुक्र ने विभिन्न प्रकार के दुर्गों के उपविभाग करके नौ प्रकार के, कौटिल्य ने दो प्रकार के दुर्गों को एक में मिलाकर तथा सैन्य दुर्ग को दुर्ग की श्रेणी में न रखकर चार प्रकार के और कामन्दक ने भी सैन्य दुर्ग का उल्लेख न कर पाँच प्रकार के दुर्ग बताये हैं। इन सभी दुर्गों में गिरिदुर्ग सबसे श्रेष्ठ बताया है क्योंकि धन्वदुर्ग में मृग (पशु); महीदुर्ग में चूहे; जलदुर्ग में जलचरी, मत्स्य, मगर आदि; वार्क्षदुर्ग में बंदर तंग करते हैं। शुक्र ने इन दुर्गों की क्रम से श्रेष्ठता बतायी है कि गिरिदुर्ग सबसे श्रेष्ठ है और उसके पश्चात् क्रमशः जलदुर्ग (टापू पर बसा हुआ), धन्व (मरुभूमि का) दुर्ग, वनदुर्ग, पारिघ (ऊँची दीवारों से घिरा) दुर्ग, ऐरिण (काँटे, पत्थर आदि दुर्गम मार्गों से घिरा) दुर्ग तथा परिखा (खाई से घिरा) दुर्ग हैं। इनमें सबसे अधिक महत्व मनुष्य दुर्ग का बताया है। नृदुर्ग के विषय में कहा है कि जिसके पास सैन्य दुर्ग ठीक से रहता है उसके वश में पृथ्वी रहती है और उसे जीतना लगभग असंभव होता है, क्योंकि अन्य सब दुर्ग सैन्य दुर्ग के साधन के रूप में होते हैं और यदि सैन्य दुर्ग न रहा तो अन्य सब दुर्ग निष्फल होते हैं और केवल बन्धन रूप होते हैं। दुर्ग के अन्दर विभिन्न प्रकार की आवश्यक वस्तुओं के संग्रह का भी वर्णन किया गया है, जिनमें शस्त्र, अन्न, जल, धन, औषधि, कारीगर आदि

निश्चित; नक्षत्रों और ग्रहों के उदय, अस्त का ज्ञान रखने वाला; दिशाओं का और देश के मार्गों का ज्ञाता; क्षुधा, पिपासा, श्रम, त्रास, शीत, वात, उष्ण, वृष्टि, भय, ग्लानि से अप्रभावित; सत्पुरुषों को अभय देने वाला; दूसरों की सेना का भेद न करने वाला; दूसरों द्वारा दुःसाध्य; अपने हित का निश्चय रखने वाला; अपनी सेना के भय, स्थिति और प्रतिबन्ध का लक्षण जानने वाला; छावनी की रक्षा करने वाला; सैनिकों के कर्म का ज्ञान रखने वाला; गुप्तचर और दूत के कार्यों को जानने वाला; निष्पक्ष; राजा के अर्थ में तत्पर इत्यादि लक्षणों से युक्त सेनापति बनाना चाहिये।" इस वर्णन में सेनापति के कार्य, उसकी योग्यता और उसके गुण सभी बातें वर्णित हैं।

युद्ध, अन्तिम साधन—सेना के साथ-साथ युद्ध के विषय में भी धर्मशास्त्रों और विशेष रूप से अर्थशास्त्रों में विस्तार के साथ वर्णन है। युद्ध की व्याख्या यह है कि जब दो राजाओं में शत्रुभाव हो गया हो और जब दोनों स्वयं को संचल कर अस्त्रादि के द्वारा स्वार्थ-सिद्धि का प्रयत्न करते हैं, तो वह प्रयत्न युद्ध है। युद्ध के विषय में सबसे पहला यह नियम है कि शत्रु से यथासंभव सन्धि करने का प्रयत्न करना चाहिए, युद्ध तो अन्तिम अवस्था की ही बात होनी चाहिये क्योंकि साधारण शत्रु भी युद्ध को जीवन-मरण का प्रश्न समझकर सब कुछ दांव पर लगाकर युद्ध करता है तो विजय सन्देहास्पद रहती है। शान्तिपर्व में कहा है कि, 'पहिले तो साम के द्वारा प्रयत्न करना चाहिए और फिर बाद में युद्ध करना चाहिये। हे भरत ! युद्ध में जो विजय मिलती है, वह अधम है, क्योकि ऐसा विचार है कि वह अचानक अर्थात् दैवेच्छा से मिलती है। जिस प्रकार पानी का महावेग नहीं रोका जा सकता और त्रस्त मृगों के टोले को भागने से नहीं रोका जा सकता, उसी प्रकार नष्ट हुई बड़ी सेना को भी भागने से नहीं रोका जा सकता। मृगों की टोली के ही समान युद्ध की इच्छा रखने वाली महान सेना के भी भग्न होने पर विद्वान लोग भी अकारण भागने लगते है। यदि (शत्रु की सेना के) पचास वीर भी जो परस्पर एक दूसरे पर विश्वास रखते हों, प्रसन्न-चित्त होकर, निश्चित मन होकर तथा प्राण छोड़कर लड़ते हों तो वह दूसरी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कर डालते हैं। यदि पाँच, छः या सात कष्ट सहिष्णु, कुलीन और सबों के द्वारा सम्मानित लोग लड़ने का निश्चय कर लेते हैं तो वही विजय पा लेते हैं। इसलिये जहाँ तक सम्भव हो आक्रमण का विचार नहीं करना चाहिये तथा पहिले साम, दाम और भेद का ही प्रयत्न करना चाहिये। युद्ध तो सबसे बाद में कहा है।"

युद्ध करने योग्य अवस्था—यदि अन्त में ऐसा ही दिखे कि युद्ध करना ही पड़ेगा तो विजिगीषु राजा द्वारा अपने और शत्रु के बलाबल, शक्ति, देश, काल, यात्रा-काल,

बल समुत्थान का, बाद का क्षय, व्यय, लाभ और आपत्ति को जानकर तथा यह समझकर कि उसका विशेष बल है, फिर आक्रमण करना चाहिये अन्यथा 'आसन' अर्थात् शान्ति की स्थिति में ही रहना उचित है। इसका अर्थ यह है कि यदि विजिगीषु को ऐसा दिखे कि उसकी शक्ति और परिस्थिति दूसरे राजा से अच्छी है तभी वह युद्ध छेड़े और जब तक यह ठीक से देख न ले कि स्वयं अधिक बलवान है, तब तक आक्रमण न करे। इसके अतिरिक्त यदि दूसरा राजा कठिनाइयों में फंसा हुआ हो तब भी आक्रमण अथवा युद्ध प्रारम्भ किया जा सकता है परन्तु वह भी तभी जब कि आक्रमणकारी राजा स्वयं किसी बाह्य अथवा आन्तरिक आपत्ति में न फंसा हो। युद्ध करने में इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि अधिक क्षय व्यय न हो। मनुष्य और पशुओं के नष्ट होने को क्षय तथा धन और धान्य के नाश को व्यय कहते हैं। शुक्र का इसके अतिरिक्त यह भी कहना है कि स्त्री, ब्राह्मण की विपत्ति और गौ के विनाश में अर्थात् जब धर्म नष्ट हो रहा है उस समय अवश्य युद्ध करना चाहिये और उससे विमुख न होना चाहिये। इसके आगे आक्रमण के काल का विचार किया गया है।

युद्ध का काल—युद्ध अथवा आक्रमण करने के पूर्व राजा को इस बात का ध्यान कर लेना चाहिये कि उसके ऊपर कोई आन्तरिक अथवा बाह्य संकट अथवा बाधा न हो। इसमें से पुरोहित, अमात्य, राजकुमार, कुल के लोग तथा सेनापति द्वारा उठाई गई आपत्ति आन्तरिक है तथा अन्तपाल (दुर्गों के रक्षक), आटविक (वनवासी सरदार) तथा सीमा-रक्षकों द्वारा उत्पन्न आपत्ति बाह्य आपत्ति है। इनके द्वारा उत्पन्न आपत्तियों को राजा साम से, भेद से (इनमें पारस्परिक संघर्ष करा कर) शान्त करे, परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि ये लोग शत्रु से न मिल जायें। कौटिल्य ने उन अशान्तियों को शान्त करने का ढंग विस्तार से वर्णन किया है। केवल अपनी ही आपत्तियों का शान्त करना पर्याप्त नहीं है, विजिगीषु को यह भी चाहिये कि अपनी आपत्तियों को नष्ट करते हुए भी वह शत्रु के सहायकों में, अन्य लोगों में तथा सेना में भेद उत्पन्न करे। कामन्दक ने फूट डालने की दृष्टि से मार्ग में पड़ने वाले दुर्गपाल, अन्तपाल तथा आटविकों का भी उल्लेख किया है और साथ-साथ यह भी चेतावनी दी है कि शत्रु के जिन लोगों को राजा अपनी ओर मिलाये उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखे तथा उनसे खानपान न करे। शत्रु के कार्य वाले राजाओं को सामादि उपायों से किस प्रकार फोड़ना चाहिये इसका वर्णन भी कौटिल्य ने किया है—यथा धार्मिक राजा की कुल जाति, विद्या की स्तुति कर, शत्रु के पूर्वजों के अपकारों का तथा अपने पूर्वजों के उपकारों का उल्लेख कर, उसके साथ साम का प्रयोग करें, लोभी निर्बल राजा के साथ दान का प्रयोग करें आदि। इन सब बातों के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि राजा गुप्तचरों द्वारा शत्रु के छिद्र को जाने उसकी सब बातों का (सेना,

शस्त्र, वाहन, योजना आदि) पता रखे, परन्तु अपनी बातों का पता शत्रु को न होने दे।

धर्म युद्ध के नियम—युद्ध दो प्रकार के बताये गये हैं—धर्म युद्ध या प्रकाश युद्ध और कूट युद्ध। इनके लिये नियम यह बताया है कि जब देश, काल अनुकूल हों अर्थात् जब विजिगीषु के पास पर्याप्त साधन हों और वह शत्रु पक्ष में भेद डाल चुका हो उस समय प्रकाश युद्ध करना चाहिये। अन्यथा कूट युद्ध करना चाहिये। धर्म युद्ध वह है जिसमें देश और काल निश्चित कर लिया हो। धर्म युद्ध के नियम भी विभिन्न ग्रन्थों में वर्णित हैं। यहां पर इनमें से शांतिपर्व में दिये हुए धर्म नियम तथा उन नियमों के अनुसार चलने का आग्रह उद्धृत किया जाता है। "जो मोक्ष में मन लगाये हों, भाग रहे हों तथा भोजन आदि करते हों, पागल हो गये हों, घबड़ा गये हों, घायल हो गये हों, शरण में आये हों, जिन्होंने धर्म-कृत्य प्रारम्भ किये हों, घास आदि लाने का काम करते हों, जो द्वार पाल हों, सेना के कर्मचारी हों, चाकर हों, व्यापारी हों, सोये हों, प्यासे हों, थके हों और सेना से अलग हो गये हों, उन्हें न मारा जाय। वृद्ध, बालक, स्त्री, सेना के पीछे रहने वाले लोग तथा जो मुँह में तिनका दबाकर कहे, 'मैं तुम्हारा दास हूँ,' उन्हें भी न मारें"। "जो कवच न पहने हो उसके साथ रण में युद्ध न करें तथा एक व्यक्ति एक ही के साथ युद्ध करे और यह कह कर युद्ध करे कि 'तुम बाण छोड़ो मैं भी छोड़ता हूँ।' यदि दूसरा योद्धा सन्नद्ध होकर आये तो स्वयं भी सन्नद्ध होकर युद्ध करे, यदि दूसरा सेना के साथ आये तो स्वयं भी सेना के साथ उसका आह्वान करे, यदि शत्रु कपट अथवा कूट युद्ध करे तो उसके साथ भी कूट युद्ध करे और यदि वह धर्म युद्ध करे तो उसके साथ स्वयं भी धर्म युद्ध करे। रथी के समक्ष अश्व पर युद्ध न करे, परन्तु रथी हो रथी के साथ युद्ध करे। जो आपत्ति में पड़ा हो, भयभीत हो तथा जीता हुआ हो उसके साथ भी युद्ध न करे। घोर विष-बुझे तथा कर्णी बाणों से न लड़े, यह असज्जनों के शस्त्र हैं, सीधी-सादी लड़ाई करे तथा युद्ध करने वालों पर क्रोध न करे। जो निष्प्राण हों, घायल हों, जिसका शस्त्र टूट गया हो, जो आपत्ति में हो, जिसके धनुष की डोरी टूट गई हो, जिसका वाहन मर गया हो उसके ऊपर भी प्रहार न करे। जो चिकित्सा के योग्य हो उसे अपने राज्य अथवा गढ़ में ले जाकर चिकित्सा करावे तथा जब उसके घाव ठीक हो जायँ तो उसे मुक्त कर दे। यही सनातन धर्म है और स्वायम्भुव मनु के अनुसार इसी धर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिये। शत्रु के साथ युद्ध करता हुआ राजा कूट शस्त्रों से, विष बुझे शस्त्रों से, कर्णी के आकार के बाणों से अथवा अग्नि से जलते हुए शस्त्रों से प्रहार न करे। जो कहीं खड़ा हो, चढ़ा हुआ हो, नपुंसक हो, हाथ जोड़े हो, जिनके बाल बिखरे हों, बैठा हो, मैं तुम्हारा ही हूँ यह कहता हो, सोया हो, कवचरहित हो, नग्न हो, शस्त्ररहित हो, युद्ध देखता हो, दूसरे से लड़ता हो, आपत्ति में पड़ा हो, दुखी हो, बहुत घायल हो, भयभीत हो, युद्ध से भागा हुआ हो, इन्हें भी सज्जनों के धर्म का स्मरण कर न मारे।"

इसके अतिरिक्त वृद्ध, बालक, स्त्री, कर्मचारी, द्वारपाल जो मोक्ष में मन लगाए हों उन्हें भी। धर्म युद्ध के यह नियम ऐसे हैं जो वर्तमान कालीन युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय नियमों से (Geneva तथा Hague Convention से) किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। इन नियमों के बनाने के साथ-साथ इस बात का भी आग्रह किया गया है कि युद्ध धर्म पूर्वक ही लड़ा जाय। "सज्जनों का यह धर्म है कि सज्जनों से धर्म युद्ध ही करें उनके धर्म का नाश न करें। जो अधर्म से युद्ध करता है वह क्षत्रिय धर्मसँकर है।" वह पापी स्वयं ही अपने को नष्ट कर लेता है। ऐसा कर्म असज्जनों का है। परन्तु असज्जनों को भी सज्जनता के साथ जीतना चाहिये। धर्म के द्वारा मृत्यु भी श्रेयस्कर है परन्तु पापकर्म द्वारा विजय नहीं। हे राजन्! किया हुआ अधर्म गौ के समान तुरन्त फल नहीं देता है परन्तु वह धीरे-धीरे जड़-शाखाओं को जलाकर भस्मीभूत कर देता है। राजा अधर्म से पृथ्वी जीतने की इच्छा न करे। अधर्म से पृथ्वी जीतकर कौन राजा सन्तुष्ट होगा? अधर्मपूर्ण विजय शीघ्र नष्ट होने वाली तथा अस्वर्गकर है तथा वह राजा और प्रजा दोनों को नष्ट कर देती है।

कूट युद्ध—परन्तु जैसा बताया गया है, केवल धर्म युद्ध ही नहीं कभी-कभी कूट युद्ध भी करना पड़ता है। शुक्रनीति ने धर्म युद्ध के उपरोक्त नियम बताने के पश्चात् कहा है कि "ये युद्ध धर्म युद्ध के हैं परन्तु कूट युद्ध में ये नियम नहीं है। बलवान शत्रु का नाश करने के लिये कूट युद्ध के समान अन्य नहीं है। राम, कृष्ण, इन्द्र आदि ने भी पहिले कूट युद्ध का आदर किया और कूट युद्ध से ही बालि, कालियावन तथा नमुचि को मारा है।" कूट युद्ध किन-किन प्रकारों से लड़ा जा सकता है इसका बहुत विस्तृत वर्णन भी कौटिल्य तथा कामन्दक ने किया है परन्तु उसको यहाँ विस्तार से बताना अनावश्यक है।

तीन शक्तियाँ—युद्ध करने के लिये राजा को तीन प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। वे शक्ति हैं—**मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति** और **उत्साह शक्ति**। इन शक्तियों से सम्पन्न राजा ही विजयी हो सकता है। इनकी परिभाषा कौटिल्य तथा कामन्दक ने इस प्रकार की है कि ज्ञान का बल अर्थात् नीति का उचित प्रयोग मन्त्र-शक्ति है, कोष और सेना का बल प्रभुशक्ति है तथा राजा के अन्दर शौर्य-बल उत्साह शक्ति है। अग्निपुराण में मंत्रशक्ति को इन तीनों शक्तियों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है और कौटिल्य भी विस्तार के साथ यह सिद्ध करता हुआ कहता है कि यद्यपि राजा के अन्दर बल, विक्रम की बहुत आवश्यकता है क्योंकि यदि राजा स्वयं शूरवीर और बलवान रहा तो उसके कारण थोड़ी सेना से भी वह विजय प्राप्त कर सकता है और यदि, इन गुणों से राजा विहीन रहा तो उसके प्रभावशाली होने पर भी उसका नाश हो जाता है, परन्तु राजा के व्यक्तिगत बल, विक्रम से राजा के पास सेना और कोष रहना (प्रभुशक्ति) अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि वह इन्हीं के कारण अन्य राजाओं और

सम्मिलित हैं। दुर्ग का किस प्रकार निर्माण होना चाहिये, जिससे उसकी पूरी सुरक्षा रहे, इसका सम्पूर्ण वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र में दिया हुआ है।

सेना का महत्व और प्रकार :

राज्य की रक्षा के लिये दुर्ग के अतिरिक्त दूसरा साधन है दण्ड, बल अर्थात् सेना। 'दण्ड' अर्थात् सेना के विषय में मनु ने कहा है जो अप्राप्त है उसको दण्ड के द्वारा प्राप्त करने की राजा इच्छा करे और यह भी कहा है कि जो सदैव अपनी सेना को तैयार रखता है उससे जगत कांपता है। इसलिये वह सभी प्राणियों को दण्ड से वश में रखे। शुक्र ने कहा है "सेना के विना न राज्य है, न धन है, न पराक्रम। सभी लोग बलवानों के वश में रहते हैं और दुर्बलों के शत्रु रहते हैं। जब यह बात साधारण व्यक्तियों के विषय में ठीक है तो राजाओं के विषय में क्यों न होगी ?" अतः शुक्र ने आग्रह किया है "बल (सेना) ही शत्रुओं को नित्य पराजय करने का परम साधन है। इसलिये अमोघ बल का राजा प्रयत्नपूर्वक सम्पादन करे।" शुक्र ने सेना की व्याख्या भी की है, "शस्त्रास्त्रों से युक्त तथा मनुष्यों के गणों से बनी हुई सेना होती है" और फिर आगे सेना के प्रकार बताते हुए कहा है कि "सेना बल दो प्रकार का होता है—स्वीय और मैत्र (मित्र का)। फिर और भी दो प्रकार के भेद होते हैं—मौल, साद्यस्क; सार, असार; अशिक्षित, शिक्षित; गुल्मीभूत, प्रगुल्मक; दत्तास्त्र, स्वशस्त्रास्त्र; स्ववाहि, दत्तवाहन। सौजन्य अर्थात् प्रेम से जिसका साधन किया जाता है वह 'मैत्र' है, तथा जिसमें भृत्य पले हुए हों वह 'स्वीय' है; जो बहुत दिनों से (पूर्वजों से) चली आती है वह मौल है, अन्य साद्यस्क है; जो युद्ध की इच्छा रखे वह 'सार' है इसके विपरीत 'असार' है; जो व्यूह में कुशल है वह 'शिक्षित' है, शेष 'अशिक्षित' है; जो राज्य के अधिकारियों से संचालित हो वह 'गुल्मीभूत' है, जो स्वयं ही अपना संचालन करती है वह 'गुल्मक' है; जिसको स्वयं राजा ने अस्त्र आदि दिये हों वह 'दत्तास्त्र' हैं और अपने ही शस्त्रों को धारण करने वाली 'स्वशस्त्रास्त्र' है; इसी प्रकार से 'स्ववाहि' और 'दत्तवाहन' है। इसके आगे शुक्र ने सेना के अन्य भेद भी बताये हैं, भृत्य और शत्रु बल"। सेना के उपरोक्त प्रकारों के ही समान परन्तु अधिक व्यवस्थित रीति से कौटिल्य, कामन्दक तथा अग्निपुराण ने सेना के छः प्रकार बताये हैं—मौल, भृत अथवा भृतक अथवा भृत्य, श्रेणी, मित्र, अमित्र और अटवी अथवा आटविक। इनमें से मौल, भृत, मित्र, शत्रु और आटविक सेना का तो शुक्र ने स्पष्ट उल्लेख किया ही है तथा जिसे शुक्र ने स्वतन्त्र 'गुल्मक' सेना कहा है वही कौटिल्य आदि का श्रेणी बल है। मौल सेना वह है जो पैतृक सेना है, भृत सेना वह है जो वेतन पर रखी जाती है, श्रेणी सेना वह है जिसे शुक्र ने गुल्मक कहा है अर्थात् जो किसी राज्य अधिकारी के आधीन नहीं है परन्तु जो स्वयं अपना संचालन करती है, मित्र सेना का अर्थ है मित्र राजा की सेना, शत्रु सेना वह है जिसे शत्रु ने छोड़ दिया हो अथवा जिसे भेद द्वारा अपनी ओर फोड़ लिया हो, अटवी सेना का

अर्थ है उन किरात आदि वनवासियों की सेना जो राजा ने अपने आधीन कर ली हो। इनमें से पहिले कही गई सेनाएँ बाद को कही गई सेनाओं से अधिक श्रेष्ठ हैं। मौल सेना पैतृक होने के कारण राजा के प्रति प्रेम रखती है, उसका सम्मान करती है, उसके साथ दुख और नाश सहने में तत्पर रहती है और उसके ही समान विचार करती है, इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है। भृतक सेना वृत्ति (वेतन) के कारण राजा के वश में रहती है तथा शीघ्र और निरन्तर प्रयोग के लिये प्रस्तुत रहती है इस कारण उसका द्वितीय स्थान है। एक ही देश का होने के कारण तथा एक ही हित और लाभ, एक ही आचार-विचार और एक-सा ही संघर्ष और प्रेम होने के कारण श्रेणी बल शेष तीन प्रकार की सेनाओं से श्रेष्ठ है। आवश्यकता होने पर प्राप्त होने के कारण तथा सभी देश, काल में एक-सा ही स्वार्थ होने के कारण मित्र बल शत्रु बल और अटवी बल से श्रेष्ठ है। सुसंस्कृत (आर्य) होने के कारण और जंगलीपन न होने के कारण शत्रु बल अटवी बल से श्रेष्ठ है परन्तु इन दोनों प्रकार की सेनाओं में लूटमार की प्रवृत्ति होने के कारण तथा लूटमार न हो सकने पर राजा के लिये इनसे भी अधिक संकट उपस्थित हो जाता है। सेना के विभिन्न प्रकारों में किस प्रकार की सेना का कब कहाँ प्रयोग किया जाना चाहिये, यह विस्तार के साथ कौटिल्य और कामन्दक ने वर्णन किया है। शुक्र ने संक्षेप में इतना ही कहा है कि साद्यस्क (जो मौल नहीं है), अशिक्षित और असार (जिसे युद्ध की इच्छा नहीं है) सेना की युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में योजना होनी चाहिये क्योंकि "जो बहुत बल वाला भी कायर व्यक्ति है वह युद्ध में टिक नहीं सकता और अल्प बल वाला शूर भी युद्ध में जीतने में समर्थ है, इसलिये युद्ध में मौल, शिक्षित और सार सेना को लगाना चाहिये क्योंकि मौल सेना प्राणों का भय होने पर भी स्वामी को नहीं छोड़ती।"

सेना का संगठन :

सेना में साधारणतया क्षत्रियों का ही होना अच्छा माना गया है, परन्तु सेना के अन्दर अन्य वर्णों के लोगों का रखना भी वर्जित नहीं है। सेना का संगठन महाभारत में तथा वैजयन्ती नामक कोष में इस प्रकार वर्णित है—एक रथ, एक गज, तीन अश्व तथा पाँच पैदलों की एक पत्ति होती है, तीन पत्ति का एक सेनामुख, तीन सेनामुख का एक गुल्म, तीन गुल्म का नाम गण, तीन गण की एक वाहिनी, तीन वाहिनियों का एक पृतन, तीन पृतनों की एक चमू, तीन चमू की एक अनीकिनी और तीन अनीकिनी की एक अक्षौहिणी होती है। शुक्र ने सेना के भिन्न-भिन्न अंगों के छोटे अधिकारियों का और उनके कार्यो का उल्लेख किया है। पांच अथवा छः पैदलों का अधिकारी है पत्तिपाल, तीस का अधिकारी है गौल्मिक, सौ सैनिकों का शतानीक है जिसके साथ अनुशतिक सेनानी रहता है। इसी प्रकार सहस्र और दस सहस्र सैनिकों में भी अधिपति रहने चाहियें। पत्तिपाल का काम है

कि वह रात्रि में सैनिकों का पहरा बदले, सेनानी का कार्य है कि सैनिकों की कार्य पर योजना करे, शतानीक वह है जो युद्ध भूमि में युद्ध करना जाने, इस कारण सैनिकों को प्रातः और सायं व्यूह का अभ्यास कराये, अनुशतिक शतानीक का सहकारी है। जो सैनिकों के पहरे की देख-रेख करे वह गौलिमक है। इसके अतिरिक्त बीस गज और बीस अश्व के अधिपतियों को नायक कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक लेखक भी शतानीक के साथ बताया गया है जो यह जानता है कि कितने सैनिक हैं, उनको क्या वेतन मिलता है, वे कितने-कितने पुराने हैं और कौन से सैनिक कहाँ गये हैं। शुक्र ने यह भी बताया है कि सेना के इन विभिन्न अंगों का क्या अनुपात रहना चाहिये और कहा है कि पैदल अधिक होने चाहिएँ। अश्व मध्यम तथा गज अल्प होने चाहियें। सेना के विभिन्न प्रकारों में किस प्रकार की सेना का कब कहाँ प्रयोग किया जाना चाहिये यह विस्तार के साथ कौटिल्य तथा कामन्दक ने वर्णन किया है। शुक्र ने संक्षेप में इतना ही कहा है कि साधारण (जो मौल नहीं है), अशिक्षित और असार (जिसे युद्ध की इच्छा नहीं है) सेना की युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में योजना नहीं करनी चाहिये क्योंकि जो बहुत बल वाला भी कायर व्यक्ति है वह युद्ध में टिक नहीं सकता और अल्प बल वाला शत्रु भी युद्ध में लड़ने में समर्थ है। इसलिये सेना में मौल, शिक्षित और सार सेना को लगाना चाहिए। मौल सेना प्राण का भय होने पर भी स्वामी को नहीं छोड़ती। शुक्र ने यह भी कहा है कि शत्रु सेना को या तो अपनी सेना से पृथक् काम में लगाना चाहिए अथवा युद्ध में पहिले ही लगा देना चाहिये तथा मित्र सेना को पृष्ठ भाग में अथवा पार्श्व भाग में रखा जाये।

सेना-सम्बन्धी नियम :

शुक्र ने सेना-सम्बन्धी बहुत से उपयोगी नियम बताये हैं। सेना, कठोर वचन कहने से, कड़ा दण्ड देने से, वेतन में ह्रास होने से, नित्य प्रवास से, युद्ध में विमुख हो जाती है अर्थात् सेना में भेद पड़ जाता है और जिसकी सेना का मन भिन्न हो जाता है उसकी विजय कहाँ हो सकती है। अतः राजा को यह तो चिन्ता करनी ही चाहिए कि उसकी अपनी सेना में भेद न पड़े, परन्तु राजा को कुटिलता से तथा दान से, शत्रु की सेना में भेद उत्पन्न करने का तुरन्त प्रयत्न करना चाहिये। शुक्र ने यह भी कहा है कि राजा को, अच्छा वेतन देकर, अपनी सेना को बढ़ाने का यत्न करना चाहिये। जो सेना पुत्र के समान पाली हुई, दान-मान से वर्धित तथा युद्ध की सामग्रियों से सजग हो वह सेना विजय देने वाली होती है। सेना की योजना राज्य में सौ सौ योजना (४०० मील) की दूरी पर करनी चाहिये, इसी से राज्य का रक्षण हो सकता है। सैनिकों को धन-दण्ड से शिक्षा नहीं देनी चाहिये, ताड़ना से देनी चाहिये। अन्य नियम हैं कि सैनिकों को सदा ग्राम के बाहर पर ग्राम के समीप में ही टिकावे, ग्रामवासियों का और सैनिकों का लेन-देन का व्यवहार न होने दे; सेना को एक वर्ष तक एक स्थान में न टिकावें; सहस्रों सैनिक क्षणमात्र में

ही तैयार हो जायँ, ऐसी उन्हें आज्ञा देकर रखें; सैनिकों को प्रति आठवें दिन उनके नियम फिर से सुना दें कि वह भीषण क्रोध, आततायीपन, राज्य के कार्य में विलम्ब, राजा के अनिष्ट की उपेक्षा, स्वधर्म का परित्याग तथा शत्रु के लोगों के साथ बात-चीत करना छोड़ दे, राजा की आज्ञा के बिना कभी ग्राम में प्रवेश न करें, अपने अधिकारियों के अपराधों को कभी न बतावें, अपने शस्त्र, अस्त्र और वस्त्रों को सदैव उज्ज्वल रखें, जो इन नियमों को भंग करेंगे उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया जायगा; सैनिकों के साथ राजा नित्य व्यूह का अभ्यास करे तथा सैनिकों की प्रतिदिन प्रातः और सायं गिनती की जाय।

सेनापति :

सेनापति के गुणों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त कौटिल्य तथा शुक्र ने सेना के विभिन्न अंगों (रथ, अश्व, गज, पैदल) के अध्यक्षों के भी गुणों और कार्यों का वर्णन किया है। यहाँ पर सेनापति के विषय में ही बताना पर्याप्त होगा। सेनापति के वर्ण के विषय में यह कहा है कि ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही हो और यदि क्षत्रिय न मिले तभी ब्राह्मण को सेनापति बनाया जाये तथा अन्य वर्ण का अथवा कायर सेनापति नहीं होना चाहिए। कामन्दक ने इनका सबसे अधिक विस्तृत वर्णन किया है और उन्हीं का यहाँ उल्लेख किया जाता है, "कुलीन; देश को तथा मंत्र को भली प्रकार जानने वाला; मंत्रियों द्वारा स्वीकृत; दण्ड नीति का उचित प्रयोग करने वाला; अध्ययनशील; सतोगुणी; शौर्य, क्षमा, स्थिरता, माधुर्य आदि गुणों से समन्वित; अर्थ का योग्य चिन्तन करने वाला; प्रभाव और उत्साह से युक्त; अप-अनुजीवियों (सैनिकों) की आजीविका की योग्य व्यवस्था करने वाला; मित्र के समान उदार; बहुत से स्वजन और बान्धवों से युक्त; व्यावहारिक; अक्षुद्र; पुरवासियों और प्रजा के साथ रहने वाला; अकारण वैर न करने वाला; निर्मल मन वाला; श्रुति के अनुसार कर्म करने वाला; अल्प शत्रु वाला; बहुत विद्वान्, स्वस्थ; शस्त्र, व्यायाम, युद्धयोग आदि का अभ्यासी; शूर, त्यागी; काल का ज्ञाता; कल्याणपूर्ण आकृति वाला; स्वयं के पराक्रम पर निर्भर; गज, अश्व, रथ के कार्य और युद्ध में शिक्षित; श्रम सहन करने वाला; खड्ग-युद्ध में विशारद; युद्ध में शीघ्रता के साथ घूमने वाला; युद्ध भूमि के विभाग का ज्ञाता; सिंह के समान गुप्त विक्रमवाला; आलस्यहीन; तन्द्रारहित; सहनशील; अनुद्धत; हाथी, अश्व, रथ, शस्त्र के लक्षणों को ठीक से जानने वाला; कब आक्रमण करना, कब स्थिर रहना इसके विवेक का ज्ञाता; कृतज्ञ; धर्म-कर्म करने वाला; कुशल; कुशल अनुयायियों से युक्त; युद्ध की सभी क्रिया जानने वाला; शक्तिशाली; कर्म करने में तत्पर; अश्व, मनुष्य, हाथियों के स्वभाव को समझने वाला, उनके नामों को जानने वाला, उनका योग्य नियोजन करने वाला; देश, भाषा, स्वभाव और लिपियों का ज्ञाता; दृढ़ स्मृति वाला; रात्रि की व्यवस्था में कुशल; अपने ज्ञान के विषय में

वीरपुरुषों को अपनी ओर कर सकता है तथा धन-धान्य सम्पन्न हो सकता है। कौटिल्य का कहना है कि प्रभुशक्ति के आधार पर ही स्त्री, बालक, पंगु और अन्धे राजाओं ने उत्साही राजाओं को भी जीत लिया है। परन्तु, यद्यपि उत्साह-शक्ति और प्रभुशक्ति में प्रभुशक्ति का महत्व है और बिना सेना तथा कोष के योग्य रीति से अपनी योजना (मन्त्र) को सफल करना कठिन है फिर भी प्रभुशक्ति और मन्त्र-शक्ति में मन्त्रशक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि जो राजा बुद्धि और शास्त्र रूपी आँखों से करता है वह राजा साम, दान, दण्ड, भेद का योग्य प्रयोग कर अपनी सब योजनाएँ, अन्य साधनों की कमी में भी, सफल बना सकता है।

राजा को युद्ध करना आवश्यक- युद्ध करना चाहिये कि नहीं यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। भारतीय विचार में आवश्यकता पड़ने पर तथा धर्म वृद्धि के लिये युद्ध करना बुरा नहीं माना गया है। महाभारत में जब युधिष्ठर भीष्म से कहते हैं कि "क्षत्रिय के धर्म से बढ़कर अन्य पापी कोई दूसरा धर्म नहीं है, क्योंकि आक्रमण और युद्ध के द्वारा राजा बहुत से व्यक्तियों का संहार करता है" तब उसके उत्तर में भीष्म कहते हैं कि "पापियों का निग्रह करने से और सज्जनों का संग्रह करने से तथा यज्ञ और दान से राजा निष्पाप और पवित्र हो जाते हैं। विजय की इच्छा रखने वाले राजा मनुष्यों को कष्ट देते हैं, परन्तु फिर विजय पाकर वह प्रजा की वृद्धि करते हैं। वे दान, यज्ञ और तप के बल से सब पापों का नाश कर देते हैं और प्राणियों पर अनुग्रह कर अपने पुण्य में वृद्धि करते हैं। जिस प्रकार खेत को स्वच्छ करने वाला (किसान) खेत स्वच्छ करने में घास और इसी प्रकार के हानिकारक वृक्षों को नाश कर फेंक देता है परन्तु फिर भी धान्य नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार शस्त्र को छोड़ने वाला राजा अनेक वधयोग्य लोगों को मारता है परन्तु इससे मनुष्यों की जो रक्षा होती है वही उसकी निष्कृति है।" इसी के अगले अध्याय में भीष्म ने एक कथा बताई है कि राजा अम्बरीष जब स्वर्ग में गया तो उसने देखा कि उसका सेनापति सुदेव इन्द्र के साथ बैठा है तथा क्रमशः देवरूप होकर ऊपर ही ऊपर चढ़ता चला गया है। अम्बरीष ने इन्द्र से कहा कि उसने राज-धर्म, ब्रह्मचारी धर्म, ग्रहस्थ-धर्म, क्षत्रिय धर्म सबका पालन किया है और सुदेव ने न तो यज्ञ कर देवताओं को तृप्त किया है और न दान देकर ब्राह्मणों को तृप्त किया है फिर यह कैसे आगे बढ़ गया? इन्द्र ने उत्तर दिया कि इस सुदेव ने संग्राम यज्ञ नामक एक बड़ा यज्ञ किया। इस यज्ञ का फल उसे मिलता है जो युद्ध में आगे बढ़कर लड़ता है। अम्बरीष ने तत्पश्चात् इस यज्ञ का वर्णन पूछा और इन्द्र ने रणयज्ञ का फिर वर्णन किया कि इसमें हाथी ऋत्विज हैं, घोड़े अध्वर्यु हैं, शत्रु का मांस हवि है, रुधिर घी है। इसी प्रकार रणयज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और अन्त में कहा है कि जो इस रण रूपी यज्ञ को करता है, वह इन्द्र लोक प्राप्त करता है, परन्तु जो उसमें से भयभीत हो कर भाग निकलता है वह नरक प्राप्त करता है। यह तो युद्ध के वर्णन के प्रारम्भ में ही बताया गया है कि युद्ध करना अन्तिम साधन के

रूप में बताया गया है, परन्तु जब आवश्यकता हो तब युद्ध करना ही श्रेयस्कर है और फिर युद्ध से विमुख नहीं होना चाहिये। मनुस्मृति में कहा है "यदि समबल वाला, अधिक बल वाला अथवा कम बल वाला राजा किसी प्रजापालक राजा को युद्ध के लिये निमन्त्रण दे तो क्षात्र धर्म का स्मरण कर वह राजा युद्ध से न हटे। युद्ध से न हटना, प्रजा का पालन तथा ब्राह्मणों की सेवा राजा के लिये परम श्रेयस्कर हैं। आह्वान किये जाने पर एक दूसरे का हनन करते हुए, यथाशक्ति युद्ध करते हुए तथा परा ङ्मुख न होने वाले राजा स्वर्ग जाते हैं।" भारतीय विचार में शौर्य, साहस और वीरता की बहुत प्रशंसा की गई है और उसके साथ-साथ यह आवश्यक माना गया है कि धर्म के लिये सदैव युद्ध करना ही चाहिये। इस दृष्टि से युद्ध को बहुत आवश्यक और महत्वपूर्ण माना गया है और इसीलिये युद्ध से भागने की बहुत निन्दा की गई है। इतना ही नहीं यह आवश्यक माना गया है कि क्षत्रिय को धर्म के लिये सदैव संघर्ष-तत्पर रहना चाहिये और क्षत्रिय जिसका काम ही समाज की रक्षा करना है वह, कहीं अपने काम से निवृत्त न हो जाय तथा सुख, आनन्द और संघर्ष हीन जीवन व्यतीत करने की इच्छा न करने लगे। इसलिये क्षत्रिय की रोग से घर पर मृत्यु होने की बहुत निन्दा की गई है और कहा गया है कि क्षत्रिय को तो सदैव युद्ध में ही मरना चाहिये। वही उसके लिये स्वर्गदायक है। यह बताया गया है कि दो व्यक्ति सूर्य मण्डल का भेदन करते हैं—योग युक्त संन्यासी तथा संग्राम में मरने वाला वीर अर्थात् क्षत्रिय धर्म-रक्षण और दुर्बल-रक्षण के कार्य में सदैव सिद्ध रहे इसलिये रण से न भागने का तथा युद्ध के लिये सदैव तत्पर रहने का आग्रह किया गया है। समाज में अथवा संसार में सदैव ऐसे व्यक्ति रहते हैं जो दूसरों को प्राण देते हैं तथा अधर्मपूर्ण कृत्य के द्वारा धर्मनाश करते हैं। अतः यदि क्षत्रिय को अपना कार्य ठीक से करना है तो उसे संघर्ष के लिए सदैव तत्पर रहना ही पड़ेगा।

—:o:—

परिशिष्ट १

बौद्ध और जैन ग्रंथों में राज्य की उत्पत्ति का वर्णन

राज्य की उत्पत्ति का और उसी के साथ वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का वर्णन बौद्ध ग्रंथों में भी दिया हुआ है। बौद्ध ग्रंथों में भी महाभारत के समान यही वर्णन है कि धीरे-धीरे मनुष्य का पतन होने लगा, उसमें दुर्गुण आने लगे। उसी के कारण राज्य का तथा साथ-साथ वर्ण-व्यवस्था का निर्माण हुआ। राज्य की उत्पत्ति का वर्णन सर्वप्रथम दीघ निकाय के अग्गञ्ज सुत्तन्त में मिलता है। इस वर्णन में पहले सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख है जिसमें बताया है कि वनस्पति तथा खाद्यान्न का निर्माण होने के कारण जीवों ने जब इनका उपभोग किया तब उनमें स्त्री-पुरुष के भेद का निर्माण हुआ। परिणामस्वरूप काम का संचार हुआ। काम से प्रेरित इन प्राणियों के कुटुम्ब बनने लगे और उन कुटुम्बों के द्वारा धन का संग्रह प्रारम्भ हो गया। तत्पश्चात् इस कारण खेतों का बँटवारा तथा उनकी सीमाओं का निर्धारण भी हुआ। परन्तु सम्पत्ति के निर्माण के साथ अन्य दोष भी आये। एक लोभी व्यक्ति अपने खेत की रक्षा करते हुए चोरी से दूसरे के खेत का भी उपयोग करने लगा। तब दूसरे व्यक्ति उसे पकड़कर उसके इस कार्य की निन्दा करते हैं तथा उससे इस बात का आश्वासन ले लेते हैं कि वह ऐसा फिर नहीं करेगा। पर जब वह बार-बार ऐसा करता है तब अन्य लोग उसे मारते हैं। इस प्रकार चार दुर्गुणों का उदय होता है—चोरी, निन्दा, मिथ्या वचन तथा हिंसा। समाज के सब व्यक्ति मिलकर इन चार दुर्गुणों के कारण एक ऐसे व्यक्ति को चुनने का निर्णय करते हैं जो क्रोध करने की आवश्यकता होने पर क्रोध करेगा, जो धिक्कार होने योग्य बात पर धिक्कार करेगा तथा जो बहिष्कृत किये जाने योग्य हैं उन्हें बहिष्कृत करेगा अर्थात् जिसे समाज में गड़बड़ी करने वालों को दण्ड देने का अधिकार होगा। यह कार्य करने के लिए इस व्यक्ति को यह लोग अपने-अपने धान्य का एक भाग देंगे। वह इस कार्य के लिए अपने में से सबसे योग्य सुन्दर व्यक्ति को चुनते हैं और यह व्यक्ति उपरोक्त शर्तों पर इस कार्य को स्वीकार कर लेता है। उसको 'महासम्मत' (सब व्यक्तियों की सम्मति से चुना गया), 'खत्तिय (क्षत्रिय) तथा 'राजा' (जो धर्मानुसार सबका रंजन करता हो) पुकारा जाता है।

बुद्ध ने यहाँ इसी के साथ-साथ वर्णों की उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। महासम्मत की नियुक्ति से क्षत्रियों के मंडल (वर्ग) का प्रारम्भ हुआ। परन्तु कुछ

लोग मनुष्यों में पाप उत्पन्न होने से पीड़ित होकर चिन्तन करने के लिए वनों में चले गये तथा कुछ अन्य ग्रामों और नगरों की सीमा पर रहकर ग्रंथ लिखने लगे। ये लोग ब्राह्मण, झायक (ध्यान करने वाले), अज्झायक (अध्यापक) कहलाये। अन्य लोग जो विभिन्न व्यवस्थाओं में निपुण हो गये वह वैश्य कहलाये। कुछ अन्य लोग जो शिकार तथा अन्य निम्न प्रकार के उद्योगों से जीविका चलाने लगे वह शूद्र कहलाये। बुद्ध का कहना था कि इन सबकी उत्पत्ति इनके लोगों से ही हुई थी अर्थात् यह वर्ण जन्मानुसार थे तथा इन सब वर्णों का निर्माण धर्मानुसार हुआ उसके प्रतिकूल पद्धति से नहीं। अन्त में वह कहते हैं कि जिसने एक अर्हत के रूप में अपने सब दुर्गुणों को दूर कर लिया तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया वह धर्म के आधार पर मनुष्यों में प्रमुख है, क्योंकि इस लोक और परलोक दोनों में मनुष्य धर्म को सर्वोच्च मानते हैं।

राज्य की उत्पत्ति के इस वर्णन की एक अन्य दृष्टि से भी महाभारत के वर्णन के साथ समानता है। वह यह कि बुद्ध के द्वारा राज्य-उत्पत्ति के वर्णन में भी महाभारत के समान प्रजा राजा को कर देना स्वीकार करती है। वर्ण-व्यवस्था के वर्णन में भी बुद्ध ने उस व्यवस्था का केवल औचित्य ही नहीं स्वीकार किया है, अपितु वर्ण-व्यवस्था का जो स्वरूप वर्णित किया है वह धर्मशास्त्रों के ही समान है। इसके द्वारा ब्राह्मण की भी यहाँ किसी प्रकार की निन्दा नहीं है अपितु नैतिक दृष्टि से उनकी श्रेष्ठता ही प्रदर्शित की गई है। सबसे अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् के समान धर्म को इन सब वर्णों से ऊपर तथा एक प्रकार से राजा का भी नियंत्रक माना गया है।

इसी प्रकार के वर्णन महावस्तु, सरस्वतीवाद शाखा के विनय तथा अभिधर्म अंशों में, वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' तथा बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्ग' में प्राप्त होते हैं। इन सबमें ऊपर वर्णित कथा बहुत अल्प अंतरों के साथ दी हुई है। उदाहरण के लिए महावस्तु में राजा की नियुक्ति के बाद कहा है कि जो अपने राष्ट्र की सुरक्षा करता है वह पुर तथा जनपद के लिए पिता होता है। अभिधर्मकोश में कहा कि लोगों ने राजा को उत्पादन का १/६ अंश देना स्वीकार किया। सरस्वतीवाद की अभिधर्म शाखा में नियुक्त किये गये राजा को खत्तिय के स्थान पर क्षेत्रपति कहा है। इसी ग्रंथ में और महावस्तु में राज्य के निर्माण के बाद समाज-व्यवस्था की उत्पत्ति का कोई उल्लेख नहीं है।

जैन ग्रंथों में भी मनुष्य के पतन के साथ राज्य की उत्पत्ति जोड़ी गई है तथा राज्य की उत्पत्ति के साथ ही समाज-व्यवस्था की उत्पत्ति भी बताई है। स्वाभाविक है कि जैन ग्रन्थों के वर्णन बौद्ध ग्रन्थों से थोड़े भिन्न हैं। यद्यपि दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों में यही है कि प्रजा ने एक व्यक्ति को राजा मान्य किया परन्तु जहाँ बौद्ध ग्रन्थों में है कि समाज के लोगों ने सबसे श्रेष्ठ

व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक राजा चुना ,वहीं जैन ग्रन्थों में यह है कि प्रजा ने एक दूसरे व्यक्ति के परामर्श से एक श्रेष्ठ व्यक्ति को राजा बनाया। जैन ग्रन्थों में यह भी है कि प्रजा द्वारा चुने जाने के पश्चात् इस श्रेष्ठ व्यक्ति का देवताओं ने राजा के रूप में अभिषेक किया। दोनों प्रकार के ग्रन्थो के मुख्य सिद्धान्तों में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, केवल जैन ग्रन्थों ने यह स्पष्ट रूप से दिग्दर्शित कर दिया है कि प्रजा द्वारा नियुक्ति तथा देवताओं द्वारा नियुक्ति में कोई अन्तर नहीं है अर्थात् राज्य की दैवी उत्पत्ति तथा सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति में कोई भेद नहीं है।

राज्य की उत्पत्ति का जैन विचार द्वारा दिया गया वर्णन आदिपुराण में मिलता है। आदिपुराण में जिनसेन ने कहा है कि सृष्टि में छः युग होते हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा, दुःषमा-दुःषमा। प्रथम युग में मनुष्यों की आयु अधिक थी, शरीरों में परिपूर्णता थी, जीवन, में पवित्रता थी, उन्हें परिपूर्ण सुख था तथा वे कल्पवृक्ष से आवश्यकताएँ पूरी कर लेते थे। धीरे-धीरे कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण होती गयी। इसके कारण व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष होने लगा। पाँचवे और छठे मनु ने इन वृक्षों का विभिन्न व्यक्तियों में विभाजन किया। मनुष्यों में पतन होने के कारण पहले पाँच मनुओं ने 'हा' का (हाकार), दूसरे पाँच ने 'मा' का (माकार), तथा तीसरे पाँच ने 'धिक्' (धिक्कार) का दण्ड निर्धारित किया। चौहदवें मनु नाभि के काल में जब कल्पवृक्ष का अस्तित्व बिल्कुल समाप्त हो गया तथा लोग क्षुधा से पीड़ित हो गये तब उन्होंने नाभि का आश्रय लिया। नाभि ने उन्हें वृषभ के पास जाने का परामर्श दिया। वृषभ ने तब विभिन्न व्यवसायों का तथा तीन वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का निर्माण किया। जब व्यक्तियों के व्यवसाय निश्चित हो गये तब देवताओं ने आकर वृषभ का अधिराज के रूप में अभिषेक किया। क्षत्रियों का निर्माण दोनों हाथों में शस्त्र लेकर किया गया क्योंकि उनका काम था कि वह हाथों में शस्त्र लेकर समाज की रक्षा करें, वैश्यों का निर्माण जंघाओं द्वारा यात्रा करने का मार्ग बनाकर किया गया क्योंकि वैश्यों को अपनी जीविका के लिए जल और थल से यात्रा करनी पड़ती है तथा शूद्रों का निर्माण पैरों से हुआ क्योंकि उनका व्यवसाय उच्च वर्णों की सेवा करना है। वृषभ ने अनुलोम पद्धति से इन वर्णों का विवाह निश्चित कर दिया तथा यह भी निश्चित कर दिया कि इन वर्णों के द्वारा अपने व्यवसाय का पालन न करने पर इन्हें राजा द्वारा दण्डित किया जायेगा। वृषभ ने विभिन्न अपराधों के दण्ड के लिए हा, मा (मत करो) तथा धिक्कार के दंडों की व्यवस्था की। वृषभ के पुत्र भरत के समय में ब्राह्मणों का निर्माण हुआ। जो अपने वृतों का पालन करने में दृढ़ थे, उन्हें यज्ञोपवीत का अधिकार दिया गया तथा दान, स्वाध्याय, तप, संयम, इज्या (यज्ञ) तथा वार्त्ता के छः कर्त्तव्य उनके लिए निर्धारित किये गये। साथ ही अपराधों की वृद्धि के कारण समाज में बंधन, मृत्यु तथा अन्य शारीरिक दण्ड प्रारम्भ हुए।

हेमचन्द्र के आदीश्वरचरित में भी थोड़े परिवर्तन के साथ यही वर्णन है। उसमें यह वताया है कि प्रथम (उन्नत) काल के सुषमा-दु:षमा (तीसरे) युग में जम्बूद्वीप में गंगा और सिन्धु के बीच में विमलवाहन नाम का श्रेष्ठ पुरुष हुआ। कल्पवृक्षों की क्षमता में कमी आने के कारण लोगों में सम्पत्ति तथा चोरी का भाव भी उत्पन्न हुआ जिसके कारण लोगों ने विमलवाहन को अपना प्रमुख नियुक्त किया। नीति के सिद्धान्तों के अनुसार विमलवाहन ने कल्पवृक्ष का लोगों में बँटवारा किया तथा जो इस बँटवारे का उल्लंघन करे उसके लिए 'हाकार' का पारस्परिक दण्ड निर्धारित किया। विमलवाहन से चौथे पुरुष के काल में 'माकार' तथा छठे पुरुष के काल में 'धिक्कार' के दंड भी लागू हुए। सातवीं पीढ़ी में नाभि हुए जिनके समय में क्रोध तथा अन्य दुर्गुणों का जन्म हुआ तथा लोग इन तीन दण्डों की भी उपेक्षा करने लगे। ऐसे समय में नाभि के पुत्र ऋषभ ने उन लोगों को एक राजा नियुक्त करने का परामर्श दिया जो लोगों को अपराध करने पर दण्ड देगा। नाभि के परामर्श पर लोगों ने ऋषभ को राजा बनाया तथा पूर्व दिशा के देवता ने ऋषभ का अभिषेक किया। ऋषभ ने मन्त्रियों की, सेना के चार अंगों की, दण्डधरों की, चार उपायों (साम, दान, दण्ड, भेद) की विवादों के तय करने की पद्धति की, दण्डनीति की तथा विविध प्रकार के दण्डों की स्थापना की। इसके पश्चात् आदिपुराण की तुलना मे थोड़े परिवर्तित रूप में समाज-व्यवस्था की स्थापना का वर्णन है जिसमें ऋषभ के काल में विभिन्न वर्गों के तथा भरत के काल में ब्राह्मणों के वर्ग के प्रारम्भ होने का उल्लेख है।

—: ० :—

परिशिष्ट २

वैदिक अभिषेक-पद्धति का संवैधानिक महत्व

वैदिक साहित्य में राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण यज्ञ हैं—राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध, पुरुषमेध। अथर्ववेदीय वैतानसूत्र में यह चार यज्ञ क्षत्रिय के अथवा राजकीय यज्ञ माने गये हैं तथा महाभारत में व्यास ने युधिष्ठिर के समक्ष इन्हीं चार यज्ञों का सुझाव प्रस्तुत किया। इसमें अश्वमेध और सर्वमेध अभिषिक्त राजाओं द्वारा किये जाने वाले ऐसे यज्ञ हैं जिनके द्वारा वे अपना सार्वभौम राज्य प्रस्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरण के लिए युधिष्ठिर का राजा के नाते प्रथम अभिषेक राजसूय यज्ञ द्वारा होता है तथा वह महाभारत युद्ध के पश्चात् अश्वमेध यज्ञ द्वारा दिग्विजय करते हैं। रामचन्द्र जी का अश्वमेध यज्ञ भी उनकी राजा के नाते प्रतिष्ठापना के पश्चात् होता है। इसके अतिरिक्त वाजपेय यज्ञ है, यद्यपि वह पुरोहित के अभिषेक की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ऐन्द्र महाभिषेक तथा पुनरभिषेक का भी उल्लेख आता है। इन सब अभिषेक यज्ञों का विस्तृत वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में है जो श्रौत यज्ञों का वर्णन करने वाले कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं।

इनमें राजा के अभिषेक का यज्ञ राजसूय है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'यज्ञ एवं राजसूयम्। राजा वै राजसूयेष्टाव भवति।' वाराह श्रौतसूत्र के अनुसार 'यज्ञो राजसूयः', कात्यायन श्रौतसूत्र में है 'यज्ञो राजसूयोऽ निष्ठितो वाजपेयेने' तथा लाट्यायन श्रौतसूत्र में दिया है 'राजा राजसूयेन यजेत्'। कात्यायन श्रौतसूत्र की देव की टीका में मानव श्रौतसूत्र का उद्धरण है। 'राजा राज्यकामो राजसूयेन यजेत्'। इस यज्ञ को तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण में 'वरुणसव' भी कहा है। शांखायन श्रौतसूत्र में बताया है कि वरुण ने आधिपत्य प्राप्त करने के लिए राजसूय किया तथा जो स्वयं चाहता है वह भी यही यज्ञ करे। इस यज्ञ का बहुत संवैधानिक महत्व भी है। व्यवहार में भारत में राजाओं का अभिषेक इन्हीं पद्धतियों से होता रहा है तथा पुराणों में और बाद के राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थों में भी ऐसी ही अभिषेक-पद्धतियों का वर्णन आता है।

राजसूय का वर्णन मुख्य रीति से यजुर्वेद में तथा उस वेद के ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में आता है—शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता, शतपथ ब्राह्मण

तथा कात्यायन श्रौतसूत्र में तथा कृष्ण यजुर्वेद की काठक, मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय संहिताओं में, तैत्तिरीय ब्राह्मण में तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में। सामवेद के पञ्चविंश ब्राह्मण और कई अन्य श्रौतसूत्रों में यथा लाट्यायन श्रौतसूत्र (सामवेद), वैतानसूत्र (अथर्ववेद) तथा ऋगवेद के बौधायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र तथा शांखायन श्रौतसूत्र में भी राजसूय का वर्णन है।

इस यज्ञ को तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में 'वरुणसव' भी कहा है। शांखायन श्रौतसूत्र में बताया है कि वरुण ने आधिपत्य प्राप्त करने के लिए राजसूय यज्ञ किया तथा जो स्वयं यह (आधिपत्य) चाहता है वह भी यही यज्ञ करे।

राजसूय का मुख्य अंग अभिषेक है जिसे 'अभिषेचनीय' कहा परन्तु इसके पूर्व तथा पश्चात् भी कुछ कृत्य हैं। अभिषेचनीय के पूर्व का महत्वपूर्ण कृत्य है 'रत्न-हवि'। जिस व्यक्ति का राजा के नाते अभिषेक होना है वह इस कृत्य में प्रमुख व्यक्तियों के घर जाकर उन्हें कुछ भेंट देता है। इन व्यक्तियों की सूचियाँ विभिन्न ग्रन्थों में मिलती हैं। इन सूचियों में ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), महिषी (प्रमुख रानी), परिवृक्ति (परित्यक्ता रानी), सेनानी (योद्धा अथवा सेनापति), सूत (इतिहास-पाठक अथवा सारथि), ग्रामणी, क्षत्री संग्रहीतृ (कोषाध्यक्ष), भागदुंघ (कर एकत्रित करने वाला) तथा अक्षवाप (राज्य कार्यालय प्रमुख) का उल्लेख लगभग सभी में है, यद्यपि नामों का यह क्रम तैत्तिरीय संहिता का है। काठक संहिता की सूची में कुछ परिवर्तन है। सेनानी के पश्चात् संग्रहीतृ तथा क्षत्री को रखकर सूत और ग्रामणी (जिसे यहाँ वैश्यग्रामणी कहा है) को उनके पश्चात् रखा है तथा सबसे अन्त में गोव्यच का अतिरिक्त उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता की सूची काठक संहिता की सूची के समान है। केवल भागदुह और अक्षवाप के बीच में तक्षन और रथकार के नाम और जोड़े गये हैं तथा 'गोव्यच' को 'गोविकर्त' सज्ञा दी गयी है। इस प्रकार मैत्रायणी संहिता की सूची में तैत्तिरीय संहिता की सूची से तीन नाम अधिक हैं। शतपथ ब्राह्मण की सूची में सेनानी का उल्लेख सबसे पहले है तथा पुरोहित को, जो संभवतः ब्राह्मण के स्थान पर है, दूसरे स्थान पर रखा गया है। सेनानी का नाम पहले रखने के कारण राजन्य का उल्लेख बिल्कुल नहीं है तथा परिवृक्ति का भी नहीं है। अन्त में अक्षवाप के पश्चात् गोनिकर्तन (गोनिकर्त अथवा गोव्यच) तथा पालागल के नाम हैं अर्थात इस सूची में तैत्तिरीय संहिता की तुलना में दो नामों का तथा कुछ क्रमों का परिवर्तन है। तैत्तिरीय संहिता की तुलना में तैत्तिरीय ब्राह्मण की सूची में महिषी और परिवृक्ति के बीच में है तथा अक्षवाप और भागदुह का परस्पर परिवर्तित क्रम है। इस प्रकार तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण की सूचियों में ग्यारह-ग्यारह, काठक संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण की सूचियों में बारह-बारह तथा

मैत्रायणीय संहिता की सूची में चौदह नाम हैं। पंचविंश ब्राह्मण में आठ 'वीरों' की सूची है जिसमें राजा का भाई, पुत्र, पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्री और संग्रहीतृ आते हैं। यह सूची इन्हीं रत्नों की सूची के समान है तथा जैसा नीचे बताया जायेगा इनका कार्य तथा महत्व भी लगभग वैसा ही है।

इन सूचियों में केवल शतपथ ब्राह्मण की रत्नों की सूची में ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित का नाम द्वितीय स्थान पर कर दिया गया है यद्यपि ऐसा ही पंचविंश ब्राह्मण की आठ वीरों की सूची में है परन्तु अन्य सब सूचियों में उसका उल्लेख सबसे पहले है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण अथवा पुरोहित का राज्य में बहुत महत्व है और उसे प्रमुख स्थान है। परन्तु जिन ग्रन्थों में लौकिक दृष्टि से राज्य का विचार किया है उन्होंने क्षत्रियों के प्रतिनिधि के रूप में राजा के भाई तथा पुत्र अथवा राज्य की रक्षा करने वाले सेनानी (जो उस सूची में राजन्य अर्थात् क्षत्रिय वर्ग का प्रतिनिधि भी है) को प्रथम स्थान दिया है तथा तत्पश्चात् पुरोहित को। पुरोहित के अतिरिक्त राजा की रानियों का भी महत्व है और उनमें सबसे महत्वपूर्ण स्थान है राजा की प्रमुख रानी अर्थात् महिषी का परन्तु उसकी परित्यक्ता रानी अर्थात् परिवृक्ति का भी महत्व है और ऐसा लगता है कि यह दोनों मिलकर सभी रानियों के प्रतिनिधि के रूप में रखी गयी है यद्यपि शतपथ ब्राह्मण में केवल महिषी को ही सभी रानियों का प्रतिनिधित्व दिया गया प्रतीत होता है तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक तीसरे प्रकार की रानी वावाता का भी उल्लेख है। इसका अर्थ यह है कि राज्य के प्रशासन में रानी का भी महत्व है क्योंकि सम्भवतः वह भी राज्य के संरक्षण, पोषण और संवर्धन में राजा की प्रमुख सहायकों में से है तथा राज्य-कार्य में उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं माना गया प्रतीत होता है।

यद्यपि इन सभी सूचियों में ब्राह्मण का उल्लेख है, केवल शतपथ ब्राह्मण में उसके स्थान पर पुरोहित है। पुरोहित राज्य में एक प्रमुख स्थान रखने वाला अथवा एक प्रकार से एक प्रमुख अधिकारी ही नहीं है, परन्तु वह ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि भी है और जैसा शतपथ ब्राह्मण की सूची से स्पष्ट होता है उसका महत्व ब्राह्मण के नाते है क्योंकि भारतीय विचार में क्षत्रिय (राजा) को मार्ग पर रखने का तथा मार्ग पर लाने का काम ब्राह्मण का है (देखिये पीछे)। परन्तु ब्राह्मण वर्ग के प्रतिनिधि के अतिरिक्त सब सूचियों में क्षत्रिय वर्ग के प्रतिनिधि के रूप राजन्य है, यद्यपि शतपथ ब्राह्मण की सूची में सेनानी, राज्य के अधिकारी होने के अतिरिक्त, क्षत्रिय वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी प्रतीत होता है। ग्रामणी अर्थात् ग्राम अथवा नगर का प्रमुख जिसे काठक तथा मैत्रायणी संहिताओं की सूचियों में स्पष्ट रूप से वैश्य ग्रामणी कहा है वैश्य वर्ग का प्रतिनिधि है। इनमें से मैत्रायणी संहिता की सूची में तक्षन (बढ़ई) और रथकार (रथनिर्माता) तथा शतपथ ब्राह्मण की सूची में पालागल (संदेशवाहक) शूद्र वर्ग के प्रतिनिधि हैं

तथा इन सूचियों में क्षत्री (शूद्र पिता तथा क्षत्रिया माँ से उत्पन्न) वर्णसंकर जातियों का (सम्भवतः इसका कार्य द्वारपाल का है) तथा अन्य सूचियों में सम्भवतः शूद्र जाति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार इन सूचियों में राज्य के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व ही केवल नहीं है राजा को उनका विश्वास प्राप्त करना भी आवश्यक बताया गया है। एक प्रकार से उनकी सहमति राजा के अभिषेक के लिये आवश्यक है तथा राजा के कार्य में ये सब उसके सहायक भी हैं। जैसा पीछे बताया गया है महाभारत में भी अमात्यों में सभी वर्णों के अमात्य नियुक्त होने का उल्लेख किया गया है।

वर्णों के इन प्रतिनिधियों के अतिरिक्त रत्नों अथवा वीरों की सूची में राज्य के कुछ अधिकारी आते हैं। इनमें सर्वप्रथम है सेनानी। इसका अर्थ है कि राज्य की बाह्य सुरक्षा बहुत महत्वपूर्ण है। परन्तु जैसा पीछे बताया गया, भारतीय विचार में इस तथ्य का उल्लेख राज्य की सुरक्षा के रूप में उतनी मात्रा में नहीं है, जिस मात्रा में उसका उल्लेख राजा द्वारा विजिगीषु के नाते चक्रवर्तित्व प्राप्त करने के अथवा सार्वभौम बनने के प्रयत्न के रूप में है। यह ठीक है कि पंचविंश ब्राह्मण की आठ वीरों की सूची में सेनानी नहीं है परन्तु वह सम्भवतः इसलिए कि राजा का भाई अथवा युवराज दोनों ही सेनापतित्व का काम कर सकते हैं। परन्तु राज्य के अन्य अधिकारियों की तुलना में सेनानी के सर्वप्रथम उल्लेख से यह निष्कर्ष निकालना भी ठीक नहीं होगा कि भारतीय पद्धति के राज्य में आन्तरिक प्रशासन की तुलना में बाह्य संघर्ष का अधिक महत्व है क्योंकि दोनों का अपना महत्व है और यद्यपि, बाह्य संघर्ष की दृष्टि से इस सूची में केवल सेनानी का ही नाम आया है परन्तु आन्तरिक प्रशासन की दृष्टि से कई अधिकारियों का उल्लेख किया गया है। इनमें अक्षवाप का अर्थ कि वह द्यूत पर नियन्त्रण करने वाला अधिकारी है, ठीक नहीं लगता और यह सम्भव है कि वह अक्षपटल (राज्य-कार्यालय) का, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण है राज्य के आय-व्यय का हिसाब, प्रमुख हो सकता है। संग्रहीतृ कोश का अधिकारी तथा भागदुघ राज्य की आय एकत्रित करने वाला अधिकारी प्रतीत होता है। ग्रामणी का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह पुर अर्थात राजधानी का प्रमुख हो तथा सूत सम्भवतः राज्य का इतिहास-कार है, जिसको कौटिल्य ने पौराणिक भी कहा है, रथकार नहीं। यदि उसे रथकार माना जाये तो उस स्थिति में क्षत्री के समान उसे वर्णसंकर जातियों का प्रतिनिधि मानना उचित होगा क्योंकि वह क्षत्रिय पिता तथा ब्राह्मण माता से उत्पन्न हुआ बताया गया है। इन सब अधिकारियों के विषय में श्री काशी प्रसाद जायसवाल द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। गोविकर्त का सम्बन्ध पशुओं से है तथा क्षत्री भी राज्य का एक छोटा अधिकारी है (सम्भवतः द्वारपाल) यद्यपि इनके विषय में स्पष्ट रूप से कुछ कहना कठिन है।

रत्न-हवि के कर्म में, जैसा बताया गया, राजा इन सब लोगों के यहाँ जाकर कुछ भेंट देता है। इस कृत्य के पीछे का भाव कई श्रौत ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कहना है कि ये रत्न राज्य के प्रदाता (देने वाले) भी हैं और पादाता (लेने वाले) भी। अत ये इसको राज्य प्रदान करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में, इनमें से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् उल्लेख कर कहा है कि वह राजा का एक रत्न है, राजा का अभिषेक उसके निमित्त अर्थात् उसके कार्यो को सुचालित करने के लिये हुआ है और वह (राजा) उसे अपना आज्ञापालक अनुयायी बना लेता है। इन दोनों उद्धरणों में इन रत्नों का राज्य में स्थान स्पष्ट किया गया है, परन्तु इनका राज्य के लिये क्या उपयोग है इसका वर्णन मैत्रायणी संहिता में किया गया है जहाँ इन रत्नों को क्षत्र (शासन-सत्ता) के अंग के रूप में बताया गया है तथा कहा है कि जिस राज्य के (ये) रत्न तेजस्वी होते हैं वह राज्य भी वैसा ही होता है। पंचविंश ब्राह्मण में इन दोनों प्रकार के उद्धरणों को मिलाकर उन आठ वीरों के सम्बन्ध में कहा है कि उन्हीं के बीच में राजा अभिषित होता है तथा ये राज्य का पोषण करते हैं। इन सब उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि राजा की नियुक्ति और अभिषेक में इनका स्वर बहुत महत्वपूर्ण है तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इनमें संभवत: राजा को नियंत्रित करने की तथा यदि बिल्कुल अनिवार्य हो तो राजा को हटा सकने की भी क्षमता है। इसलिए राजा अपने अभिषेक में पहले इनकी सहमति लेकर इनको अपना अनुयायी बना लेता है। इन्हीं के द्वारा राज्य का पोषण होता है तथा इसलिये इनके शक्तिशाली होने पर ही राज्य की शक्ति निर्भर है।

राजा की नियुक्ति भारतीय राज्य-पद्धति में बहुत कुछ प्रजा अर्थात् उसके प्रमुख व्यक्तियों की सहमति पर निर्भर है। यह केवल अभिषेक-पद्धति के अंग से ही नहीं सिद्ध होता अथर्ववेद के कुछ मंत्रों से भी ज्ञात होता है तथा बाद के रामायण, महाभारत आदि के वर्णनों से भी यह पता चलता है। अथर्ववेद के दो सूक्तों में है "तुम प्रसन्नतापूर्वक हमारे बीच में आते हो। तुम ध्रुव, अविचलित रहो। सभी विश (जन) तुम्हारी इच्छा करते हैं, तुम राज्य से भ्रष्ट न होओ। तुम पर्वत के समान अविचलित रहकर नीचे न आओ।" एक अन्य मंत्र में है "विश तुम्हे राज्य के लिए चुनते हैं; ये पाँचों विस्तृत दिशाऐं भी। तुम राज्य के ककुद (उच्च स्थान) पर विराजमान होओ तथा उग्र रूप से प्राकृतिक सम्पत्ति का वितरण करो।" एक तीसरे स्थान पर 'राज्यकर्त्ताओं' (राजा की नियुक्ति करने वालों) का वर्णन है और उनमें रथकार, कर्मकार, सूत तथा ग्रामणी और अन्य (साधारण) जनों का उल्लेख है। श्री जायसवाल का कहना है कि राजसूय यज्ञ के ये रत्न अथर्ववेद के इन राजकर्ताओं का एक विकसित रूप है।

इन प्रमुख व्यक्तियों का सम्मान करने के पश्चात् राजा भूमि से भी अनुमति लेता है, अत: पृथिवी को 'अनुमति' नाम से पुकारा गया है।

अभिषेक के पूर्व के ये दो कर्म हैं। तत्पश्चात् राजसूय का प्रमुख अंग 'अभिषेचनीय' प्रारम्भ होता है। अभिषेचनीय में प्रारम्भ में कुछ देवताओं को हवि दी जाती है तथा उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे राजा को कुछ गुणों से युक्त करें। सवितृ (सूर्य) से कि वह राजा को शक्ति (energy) दे, गार्हपत्य अग्नि से कि वह राजा को गृहस्थ के योग्य गुण प्रदान करे, सोम से वनों का संरक्षण करने की शक्ति देने की, वृहस्पति से वाक्-कौशल तथा इन्द्र से राज्य करने की योग्यता देने की, रुद्र से पशुओं की रक्षा की शक्ति प्रदान करने की, मित्र से सत्य (के लिए आग्रह) की, तथा वरुण से धर्म-संरक्षण की भावना की प्रार्थना की गयी है। इसका स्पष्टीकरण करते हुये शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि इन्द्र ज्येष्ठ उसे ज्येष्ठ्य (सबके ऊपर वरीयता) प्रदान करता है तथा वरुण उसे धर्मपति बनाता है। 'यही परमता है कि जो वह धर्मपति है क्योंकि जो परमता प्राप्त करता है सब उसी के पास धर्म के लिये जाते हैं।' इससे कई निष्कर्ष निकलते हैं। राजा को धर्म के अनुसार शासन करने का कर्त्तव्य है और क्योंकि लोग उस के पास धर्म के लिये जाते हैं अतः न्याय प्रदान करने का भी उसका कर्त्तव्य है। धर्म लागू करने के लिये राजा को 'परमता' प्राप्त है क्योंकि इसके बिना धर्म स्थापित करना संभव नहीं, परन्तु यह (परमता) इसीलिये है कि वह धर्म स्थापित करे, स्वेच्छापूर्ण कार्य अथवा मनमानी शासन के लिए नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद के ग्रन्थों में देवताओं को हवि देने के पश्चात् यजमान (यज्ञकर्त्ता) घोषणा करता है कि यह राज्य प्रदान कर दिया गया है। राजा की लौकिक (रत्न-हवि में) और दैवी उत्पत्ति (देव-हवि में) का यह अद्भुत सम्मिश्रण है। तत्पश्चात् पुरोहित प्रार्थना करता है कि राजा को अत्यन्त शीघ्र कुछ अन्य लाभ भी प्राप्त हो। अमित्रम्, असपत्रम् (प्रतियोगियों का अभाव अथवा उनका विनाश), ज्येष्ठ्य, आधिपत्य तथा जानराज्य (जनता के ऊपर शासन)। सबसे अन्त में पुरोहित यह कहकर यजमान (यज्ञ करने वाले) राजा को उपस्थित जनता के समक्ष प्रस्तुत करता है कि "यह तुम्हारा राजा है, हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।" यह कथन अभिषेक के लिये पवित्र जलों को तैयार करने के समय तथा राजा के अभिषेक के समय भी दुहराया जाता है। यहाँ जो शब्दावली प्रयुक्त की गयी है उसका यह अनुवाद भी किया जा सकता है कि "यह तुम्हारा राजा है, यह हम ब्राह्मणों का राजा सोम है" परन्तु यह अनुवाद इस कारण उपयुक्त नहीं प्रतीत होता कि शतपथ ब्राह्मण में इस वाक्य के पश्चात् कहा है कि यह "इससे वह सबको खाये जाने योग्य बनाता है, केवल ब्राह्मण को (वह) बचाता है अतः ब्राह्मण खाये जाने योग्य नहीं है।" ऐसा ही उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में एक अन्य स्थान पर है जब राजा पुरोहितों को सब भूमि का दान करता है तो उसमें ब्राह्मणों की भूमि सम्मिलित नहीं की जाती है। अतः उपरोक्त कथन का यह अर्थ तो है ही कि राजा को ब्राह्मणों की सम्पत्ति ले लेने का अथवा उसके अपहरण का अधिकार नहीं है (इस बात को वेद तथा अन्य सभी प्रकार के ग्रन्थों में भी कहा गया है) परन्तु इसका यह अर्थ भी है कि ब्राह्मण

(अर्थात् विद्वान ब्राह्मण-श्रोत्रिय) राज्य के करों से मुक्त हैं। राजसूय में सोम को ब्राह्मणों का राजा कहने के विषय में जो स्पष्टीकरण है उससे यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस कथन के पीछे यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मण पूरी प्रकार से राज्य के अधिकार से मुक्त है। इसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि केवल आर्थिक दृष्टि से ही राज्य उन पर कोई उत्तरदायित्व नहीं डाल सकता, क्योंकि संभवतः जैसा बाद के ग्रंथों में कहा गया है, उनके द्वारा किये गये पुण्य का एक अंश राजा को प्राप्त होता है।

देवों को हवि देने के पश्चात् अभिषेक के लिए जलों का संग्रह होता है। अभी तक राजा के अभिषेक के लिए राज्य के रत्नों से पृथ्वी से तथा देवताओं से अनुमति ली गयी है। अब सम्पूर्ण देश के भागों से जो जल एकत्रित किया जाता है—सरस्वती, गंगा आदि नदियों से, समुद्र से तथा एक छोटे पोखरे से भी—उसके द्वारा यह प्रकट किया गया है कि राज्य में छोटे-बड़े सबका अपना महत्त्व है और केवल कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों की सहमति से ही राज्य नहीं चल सकता, सर्वसाधारण की सहमति चाहिये। प्रत्येक स्थान (नदी आदि) से जल लेते हुए कहा जाता है "हे स्वराज में स्थित रहने वाले (स्वाधीन), राष्ट्र को प्रदान करने वाले, अमुक-अमुक व्यक्ति को राष्ट्र प्रदान करो।" पोखरे के जल लेने के विषय में तैत्तिरीय संहिता में स्पष्टीकरण दिया हुआ है कि उसका जल जनता को स्थिर (राजा के प्रति स्थिर भक्ति रखने वाला) और अनतिक्रमणीय (राजा के विरुद्ध विद्रोह न करने वाला) बनाता है। संभवतः इसी कारण कि यह गुण स्वयं उस जल स्रोत में विद्यमान है। इस कर्म का यह महत्व भी है कि सभी नदियों का जल लेने से सम्पूर्ण देश की एकता प्रतिविम्बित होती है तथा यह भाव भी प्रकट होता है कि यद्यपि यह राज्य चाहे देश के एक छोटे भाग में हो परन्तु उस राज्य को भी सम्पूर्ण देश के हित का ध्यान रखकर चलना चाहिये। इन विभिन्न स्थानों का जल लेने का स्पष्टीकरण देते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि इस प्रकार राजा जनता का स्वामी तथा सन्तति हो जाता है। यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि यह जल सम्पूर्ण जनसमाज के प्रतिनिधि के रूप में है और राजा का उदय जनता के बीच से और उसकी इच्छा के आधार पर हुआ है। अब जनता का वह व्यक्ति स्वामी हो गया है यद्यपि वह स्वामी है परन्तु क्योंकि उसका जनता से जन्म हुआ है अतः इसके पीछे यह स्पष्ट भाव है कि वह जनता की इच्छानुसार और धर्मपूर्वक शासन करे। यह सिद्धान्त शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र भी वर्णित है। एक स्थान पर कहा गया है कि क्षत्र विश से उत्पन्न हुआ है तथा दूसरे स्थान पर कहा गया है कि ब्रह्म और क्षत्र विश के ऊपर अधिष्ठित हैं (अर्थात् विश पर शासन करते हैं)।

जलों के एकत्रीकरण के पश्चात् पुरोहित बारह देवताओं को पार्थ हवि प्रदान करता है। इसका नाम पार्थ हवि राजा पृथु के नाम पर है जो पृथ्वी का

पहला श्रेष्ठ शासक माना गया तथा जिसके नाम से भूमि को पृथ्वी कहा गया है। इस हवि के विषय में स्पष्टीकरण करते समय शतपथ ब्राह्मण और वाजसनेयि संहिता में इन देवताओं में से बृहस्पति और सोम को ब्रह्म (आध्यात्मिक तेज) और क्षत्र (शूरता आदि) का प्रतीक बताकर कहा गया है कि इस प्रकार पुरोहित यज्ञकर्त्ता को ब्रह्म और क्षत्र से अभिसिंचित करता है।

अभिषेक दो बार होता है प्रथम बार राज्य के विभिन्न वर्गों द्वारा द्वितीय बार सिंहासन पर चढ़ने के पूर्व पुरोहित द्वारा। प्रथम कार्य के समय राजा सिंह की खाल पर खड़ा होता है और चार व्यक्ति उसका जल से सिंचन करते हैं—ब्राह्मण, स्व, राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्य। कृष्ण यजुर्वेद में नाम है—अध्वर्यु अथवा ब्राह्मण, राजन्य अथवा क्षत्रिय अथवा भ्रातृव्य, वैश्य और जन्य अथवा जन्यमित्र। इन लोगों को राजा से क्या प्राप्त होता है इसके विषय में मैत्रायणी संहिता शतपथ ब्राह्मण तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में बताया गया है कि ब्राह्मण से ब्रह्मतेज राजन्य से पोषण अथवा शक्ति और अन्न, वैश्य से समृद्धि तथा जन्यमित्र से समर्थन अथवा मित्र प्राप्त होते हैं। शतपथ का 'स्व' कृष्ण यजुर्वेद के जन्यमित्र का पर्यायवाची लगता है। पुरोहित इसके पश्चात् यजमान को एक धनुष देता है और उससे कहता है कि जो सामने है उसका संरक्षण करो। यह धनुष देते समय पुरोहित कहता है कि राजा दो प्रकार से इन्द्र के समान है—क्षत्रिय होने के नाते तथा यजमान होने के नाते। इस कृत्य से यह बात स्वीकार की गयी है, संरक्षण का कार्य क्षत्रिय का है और क्षत्रिय के हाथ में राज्य का उत्तरदायित्व होना चाहिए। इस समय यजमान विभिन्न प्रकार के वेष भी धारण करता है और यह वेष शिशु की अवस्था से लेकर वरिष्ठ आयु तक के प्रतीक हैं जिसका अर्थ यह है कि अब राजा धीरे-धीरे बड़ा होकर उत्तरदायी व्यक्ति हो गया है, अतः अनुत्तरदायित्वपूर्ण ढग से व्यवहार न करना चाहिये। इस क्रिया के पश्चात् सभी व्यक्तियों गृहपति, अग्नि, इन्द्र, धृतव्रत (व्रत को धारण करने वाले), मित्रावरुण, पूषा, द्यावा पृथ्वी, अदिति आदि के समक्ष उस व्यक्ति के राजा होने की घोषणा की जाती है। ये सब देवगण प्रतिकात्मक बताये गये हैं, अग्नि ब्राह्मणों का प्रतीक है, इन्द्र क्षत्रियों का, पूषन पशुजगत का। इस घोषणा के पश्चात् यह बताया जाता है कि ये सब ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उस राजा के अभिषेक को स्वीकृति प्रदान करते हैं। अतः उनसे अनुमति पाने के कारण अब वह व्यक्ति अभिषिक्त है।

इसके पश्चात् राजा से सिंहासन पर चढ़ने के लिये कहा जाता है अर्थात् उसे अब चारों दिशाओं पर आरोहित होना है जिसका अर्थ है कि उसे सभी दिशाओं का प्रभुत्व प्राप्त है। परन्तु यह माना जाता है कि राजा ने सिंहासन पर चढ़ने के पूर्व ही व्रत धारण कर लिया है अर्थात् उचित कार्य करने का निश्चय किया है।

इस समय राजा के लिये 'धृतव्रत' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि राजा धृतव्रत है। इस कारण न तो वह सब कुछ (मनमानी) कह सकता है न सब कुछ कर सकता है, जो साधु (उचित) है वही बोलेगा और वैसा ही करेगा। साथ-साथ यह भी कहा गया है, यह तथा श्रोत्रिय दो मनुष्यों में धृतव्रत हैं। राजा ने कौन-सा व्रत लिया है इसका कुछ उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण में है जहाँ राजा को 'सत्यसव' (सत्य अर्थात् उचित यज्ञ करने वाला) सत्यधर्मा (सत्य धर्म को धारण करने अथवा पालन कराने वाला) सत्यानृते वरुणः (सत्य और झूँठ में वरुण के समान न्यायकर्त्ता) सत्य राजा (सत्य का पालन करने वाला) जिस सिंहासन पर राजा को आरोहित होना है वह सिंह का चर्म बिछा हुआ लकड़ी का सिंहासन है। इस समय ब्रह्म, क्षत्र और विश से भी राजा का संरक्षण करने का आग्रह है तथा शूद्र के स्थान पर वाजसनेयि संहिता में फल (संभवत. कर्मफल) और वर्चस् (तेज), तैत्तिरीय संहिता में बल (शक्ति) और वर्चस्, मैत्रायणी संहिता में पुष्ट (बल अथवा समृद्धि) और फल तथा काठक संहिता में पुष्ट और वर्चस् का उल्लेख किया गया है।

राजा सिंहासन पर चढ़ता है, उसके पूर्व एक सोने की तश्तरी से जिसमें सौ अथवा नौ छिद्र हों, पुरोहित द्वारा उसका पवित्र जल से अभिषेक किया जाता है। उस समय पुरोहित कहता है "सोम की महिमा से, अग्नि के प्रकाश से, सूर्य के वर्चस् से, इन्द्र की शक्ति (इंद्रियों) से, मैं तुम्हारा अभिषेक करता हूँ। क्षत्रों के प्रमुख क्षत्रपति के रूप में तुम उनके प्रमुख संरक्षक बनो। हे देवो। महान क्षत्र के लिये महान ज्येष्ठ्य के लिये, महान जनराज्य के लिये, इन्द्र की शक्ति (इन्द्रिय) के लिये इस व्यक्ति को, जो अमुक पुरुष और स्त्री का पुत्र है और अमुक समाज का है, प्रतियोगियों से विहीन करो तथा इसकी वृद्धि करो।"

तीन पग के चढ़ने के पश्चात् राजा लकड़ी के सिंहासन पर आसीन होता है जिसे 'आसन्दी' कहा है। उस समय उससे कहा जाता है "यह राष्ट्र तेरा है। तुम इसके नियंत्रक (यन्ता) तथा नियामक (यमन) हो। तुम ध्रुव बनो। (राज्य को) धारण करने वाले होओ। (यह राज्य) तुम्हें कृषि के लिये, श्रेय (कल्याण) के लिये, समृद्धि के लिये, पोषण के लिये (दिया गया) है।" यह भी कहा गया है कि यह कहने के साथ-साथ राजा को राज्य-सत्ता प्राप्त होती है। सबसे अन्त में इसमें भी यह जोड़ा गया है कि "यह (राज्य) तुझे भलाई के लिये दिया गया है, (साधवे त्वा)।" ऊपर के कथन से एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि राजा का कार्य राज्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करने का है, तथा दूसरे, राजा की नियुक्ति उसके अपने महत्त्व तथा सत्ता के लिये नहीं है अपितु कुछ निश्चित उद्देश्यों के लिये है।

इसके साथ ही अभिषेचनीय की मुख्य क्रिया समाप्त हो जाती है। फिर राजा सिंहासन से उतर कर रथ पर थोड़ी दूर जाता है। यह एक प्रकार से राजा के अभिषेक के समय का जुलूस है। लौट कर वह पुनः सिंहासन पर बैठता है। "उस समय उसकी पीठ पर दण्ड से धीरे से प्रहार किया जाता है। उस पर दण्ड से प्रहार करके दण्ड वध को आगे बढ़ाया जाता है जिसके कारण राजा भी दण्डनीय है, जिससे उसे दण्ड वध की ओर ले जाते हैं।" अतः भारतीय विचार में राजा भी दण्ड के ऊपर नहीं है और मनुस्मृति में कहा भी गया है कि उसी अपराध के लिये राजा पर साधारण व्यक्ति से सहस्त्रगुना दण्ड होना चाहिये।

अभिषेक के बाद सिंहासन पर आसीन राजा, रत्नों से घिरा हुआ बैठता है। फिर सर्वप्रथम राजा पृथ्वी की वन्दना करता है, "माता पृथ्वी। मुझे आहत न करो, न मैं तुम्हें (करूँ)" अर्थात् राजा पृथ्वी का (और उस पर स्थित समाज का) ठीक से पोषण करे और पृथ्वी राजा के प्रति सद्भाव रखे तथा विरोध कर उसे च्युत न करे। इसके पश्चात् राजा पाँच पुरोहितों अथवा ब्राह्मणों को एक-एक कर सम्बोधित करता है 'हे ब्राह्मण' और हर बार उसको बीच में ही टोक कर ब्राह्मण (अथवा पुरोहित) उत्तर देता है, "तुम ब्राह्मण हो" और फिर राजा को सवितृ (सूर्य), वरुण, इन्द्र, रुद्र आदि भी कहा जाता है"। इसका अर्थ है कि ब्राह्मण वर्ग भी राजा की राज्य में सर्वश्रेष्ठ सत्ता स्वीकार करते हैं क्योंकि संभवतः वह उक्त देवताओं का प्रतिरूप है।

इसके पश्चात् यज्ञ की खड्ग विभिन्न रत्नों द्वारा एक दूसरे को दी जाती है। सबसे पहले अध्वर्यु अर्थात् ब्राह्मण पुरोहित राजा को देता है और राजा अपने भाई अथवा पुत्र को देता है। तत्पश्चात् शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार वह सूत, ग्रामणी आदि को क्रमशः दी जाती है, परन्तु कृष्ण यजुर्वेद के अनुसार राजा का पुत्र अथवा मित्र राज्य के पुरोहित को देता है और फिर क्रमशः वह अन्य रत्नों को दी जाती है। राजा प्रत्येक से कहता है 'मे रध्य' जिसके दो अर्थ है कि 'इसके द्वारा मेरे लिए राज्य करो' अथवा 'इससे मेरी सेवा करो'। इसका अभिप्राय है कि यह रत्न राज्य में राजा के सहयोगी भी हैं तथा राजा का आज्ञापालन तथा उसका हित भी करते हैं'। इस खड्ग-हस्तान्तरण की क्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि इस यज्ञीय खड्ग को जो व्यक्ति दूसरे को देता है वह उस दूसरे व्यक्ति को अपने से दुर्बल बनाता है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में खड्ग एक दूसरे को देने का जो क्रम दिया है वह इन व्यक्तियों के तुलनात्मक महत्त्व को प्रकट करने वाला है। यह लोग यह खड्ग एक दूसरे को इस प्रकार से क्यों देते हैं, इसके स्पष्टीकरण में कहा है कि यह इसलिए किया जाता है जिससे विभिन्न वर्गों का क्रम ठीक रहे और उसके विषय में कोई भ्रम न हो यहाँ पर ब्राह्मणों और राजा के संबंध के विषय में भी उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि "जो राजा

ब्राह्मण से दुर्बल होता है (अर्थात् ब्राह्मणों का आधिपत्य स्वीकार करता है) वह शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली होता है", क्योंकि हस्तान्तर के इस क्रम में सबसे पहला स्थान अध्वर्यु का है अर्थात् वह राजा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। कृष्ण यजुर्वेद में अवश्य ब्राह्मण अध्वर्यु पहले आता है और स्थायी पुरोहित का नाम बाद में है, परन्तु यहाँ भी ब्राह्मण अध्वर्यु का स्थान राजा से पहले है और राज्य के स्थायी पुरोहित का स्थान यद्यपि राजा के पश्चात् है, फिर भी वह अन्य रत्नों से पहले है।

सबसे अन्त में राज्य के एक साधारण व्यक्ति की गौ को जीतने के लिए इन सभी रत्नों के समक्ष पांसे का खेल होता है और उस खेल में प्रतीक के रूप में राजा इस गौ को जीत लेता है जिसमें अन्य लोग इसके साक्षी हैं। इसका अर्थ यह है कि राजा का सर्वसाधारण समाज पर (गौ के स्वामी के नाते) प्रभुत्व स्थापित हो गया है और अन्य सब लोग इसे स्वीकार करते हैं।

राजसूय के अभिषेक के उपरोक्त वर्णन से कुछ निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथमतः राजा के अभिषेक में प्रमुख व्यक्तियों की सहमति तो आवश्यक है ही साथ ही जनता की भी। दूसरे, राजा के लिए सहायकों की आवश्यकता है तथा राजा का और इनका पारस्परिक सहयोग भी होना चाहिए। तीसरे, राजा की नियुक्ति उसके अपने लाभ के लिए नहीं समाज अथवा राज्य के कल्याण के लिए है। चौथे, राजा की 'परमता' धर्म की स्थापना के लिए है। पाँचवें, राज्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान राजा का है परन्तु उसे ब्राह्मण की प्रमुखता भी स्वीकार करनी चाहिए और इसके साथ ही ब्राह्मण की कर से मुक्ति भी होनी चाहिए। छठे, राजा भी दण्डनीय है, दण्ड से ऊपर नहीं। सातवें, राज्य का उद्देश्य समाज की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति दोनों है। आठवें, राजा को केवल आन्तरिक सहयोग की ही आवश्यकता नहीं है, बाह्य मित्र भी होने चाहिए। नवें, सभी नदियों आदि का, समुद्र तथा पोखर का जल लेने का अभिप्राय है कि राजा को सम्पूर्ण देश तथा सभी वर्गों को एक मानकर चलना चाहिए।

अभिषेक-पद्धति के संदर्भ में यह विचार करना निरर्थक-सा ही है कि राजा की स्थापना लौकिक है अथवा दैवी, क्योंकि इस पद्धति में दोनों ही बातों का सम्मिश्रण है। राजा अभिषेक की सहमति प्रमुख व्यक्तियों तथा समाज से भी लेता है और देवताओं से भी। इस विषय में भी मतभेद होने का कोई कारण नहीं है कि राज्य में प्रमुखता राजा को है अथवा ब्राह्मणों को, क्योंकि दोनों का अपना-अपना महत्व है। राज्य राजा को करना है अतः मुख्य उत्तरदायित्व उसका है और उसकी आज्ञा का पालन सबको करना चाहिए—ब्राह्मणों को भी। परन्तु, फिर भी, ब्राह्मणों के मार्गदर्शन में चलना ही उसके कार्य में हितकारक होगा।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों के सम्बन्ध में यह तथ्य ऐतरेय ब्राह्मण के अभिषेक-वर्णन से भी स्पष्ट होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में अभिषेक यज्ञ के प्रारम्भ तथा अन्त में कहा गया है "ब्रह्म मेरी क्षत्र से रक्षा करे तथा क्षत्र मेरी ब्रह्म से रक्षा करे"। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है "यज्ञ का जो आश्रय लेता है वह ब्रह्म का आश्रय लेता है तथा तब ब्रह्म प्रसन्न होकर उसकी क्षत्र से रक्षा करता है" तथा "जो राजत्व का आश्रय लेता है वह क्षत्र का आश्रय लेता है और क्षत्र प्रसन्न होकर उसकी ब्रह्म से रक्षा करता है।" एक अन्य स्थान पर पहले तो यह कहा है कि "ब्रह्म क्षत्र से पूर्व है" फिर कहा है "क्षत्र ब्रह्म पर आधारित है और ब्रह्म क्षत्र पर।" इन दोनों वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों दोनों में अधिकारों का विभाजन है जिससे दोनों में से कोई भी समाज पर अत्याचार न कर सकें (एक-दूसरे से समाज अथवा व्यक्तियों की रक्षा करें)। इस अधिकार-विभाजन के कारण दोनों को एक-दूसरे का सहयोग भी आवश्यक है। फिर भी दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो 'ब्रह्म क्षत्र से पूर्व है'।

एक अन्य स्थान पर चारों वर्णों के कार्यों की तुलनात्मक विवेचना इसी दृष्टि से की गयी है। यहाँ यह स्थापित करने का प्रयत्न है कि राज्य क्षत्रिय ही ठीक से कर सकता है। अन्य वर्णों के अपने-अपने पृथक् कार्य और अपने-अपने पृथक् गुण हैं जिससे वह राज्य करने के अयोग्य हैं। इस कारण क्षत्रिय से कहा गया है कि यज्ञ में वह अपने लिए निर्दिष्ट भोजन ही करे, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के लिए निर्दिष्ट भोज्य अर्थात् सोम, दधि अथवा जल न ले क्योंकि ऐसा करने पर उसकी सन्तति ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र के समान होगी तथा दूसरी और तीसरी पीढ़ी ब्राह्मण, शूद्र अथवा वैश्य ही हो जायेगी। तत्पश्चात् ब्राह्मण के विषय में वर्णन किया है कि वह दान लेने वाला, (सोम) पान करने वाला, जीविका खोजने वाला तथा इच्छानुसार हटाया जा सकने वाला है। वैश्य को अन्य को कर देने वाला, अन्य द्वारा खाये जाने योग्य तथा इच्छानुसार आधीन किये जाने योग्य, तथा शूद्र को अन्य द्वारा भेजे जा सकने वाला, इच्छानुसार उठा दिये जाने वाला तथा इच्छानुसार दण्ड दिये जा सकने वाला बताया गया है। इस वर्णन में यह अर्थ खोजना ठीक नहीं कि ब्राह्मण को क्षत्रिय से हीन स्थान दिया गया है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि ब्राह्मण राज्य करने के योग्य नहीं है। क्योंकि वह आत्म-तुष्ट है और इसलिए निर्धन है। शतपथ ब्राह्मण में भी यही बात अधिक स्पष्ट रूप से कही गयी है कि "ब्राह्मण के लिए राज्य नहीं है।"

ऐतरेय ब्राह्मण में दो अभिषेक यज्ञों का वर्णन है—पुनरभिषेक और ऐन्द्र-महाभिषेक। पुनरभिषेक के वर्णन से भी ब्राह्मण का महत्व स्पष्ट होता है। इस यज्ञ में पहले सब कृत्यों का वर्णन है जैसे जलों का संग्रह, सिंहासन पर आसीन होना, अभिषेक, सिंहासन आदि से उतरना आदि। फिर सिंहासन से उतरने के पश्चात्

यजमान तीन बार कहता है—'ब्राह्मणे नमः (ब्रह्म को नमस्कार)।" इसके स्पष्टीकरण में कहा गया है कि इसके द्वारा क्षत्र ब्रह्म के प्रभाव में (अथवा आधीन) आ जाता है।

जब राजा सिंहासन पर आसीन होता है उस समय कहा जाता है कि वह राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य (दुबारा), महाराज्य, आधिपत्य, स्वावश्य, अतिष्ठा के लिए वह सिंहासन पर आसीन हुआ है। इस बात को ऐन्द्र महाभिषेक के वर्णन में और विस्तार के साथ बताया गया है। ऐन्द्र महाभिषेक में भी उन्हीं सब कृत्यों का वर्णन है जैसा अभिषेक के अन्य यज्ञों में। केवल इसमें यह और बताया गया है कि इन्द्र का भी देवताओं द्वारा इसी प्रकार अभिषेक हुआ था। इस यज्ञ में भी राजा जब सिंहासन पर चढ़ता है उस समय वही वर्णन है कि वह राज्य, साम्राज्य...आदि के लिए सिंहासन पर आरोहित हुआ है। यहाँ साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, राज्य, महाराज्य के विषय में यह भी कहा गया है कि यह अन्य राज्यों को अपने में सम्मिलित कर आधिपत्य स्थापित करने वाली राज्य-पद्धतियाँ हैं। परन्तु उसके साथ-साथ यह भी बताया है, विभिन्न देवता राजा को विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार के शासनों के लिये अभिषिक्त करते हैं—वसुगण पूर्व दिशा में साम्राज्य के लिये, रुद्रगण दक्षिण में भौज्य के लिए, आदित्यगण पश्चिम में स्वाराज्य के लिए, सर्वेदेवा उत्तर में वैराज्य के लिए तथा मरुद्गण और अंगिरस्गण ऊपर की दिशा में पारमेष्ठ्य के लिए तथा साध्यगण आदि मध्य में राज्य के लिए और फिर कहा है कि पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा मध्य दिशाओं में शासकों का अभिषेक क्रमशः साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य के लिए होता है। इसमें साधारणतया राजाओं के अभिषेक का वर्णन है परन्तु वैराज्य पद्धति में जनपदों के अभिषेक का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में भी वरुण के अभिषेक के सन्दर्भ में बताया गया है कि वसुओं ने उसका अभिषेक राज्य के लिए; रुद्रों ने वैराज्य के लिये, आदित्यों ने स्वाराज्य के लिये, सर्वेदेवों ने साम्राज्य के लिये, मरुतों ने सर्ववश्य के लिए तथा साध्य और आप्त्यों ने पारमेष्ठ्य के लिये किया है। इसमें देवताओं तथा राज्य के स्वरूपों का परिवर्तित क्रम है दिशाओं के क्रम में परिवर्तन है अथवा नहीं कहना कठिन है। यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं में महिषी (अथवा राज्ञी), विराट्, सम्राट्, स्वराट् तथा अधिपति अथवा अधिपत्नी को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊपर की दिशाओं के साथ जोड़ा गया है। यह विभिन्न पद्धतियाँ निश्चित रूप से किस बात की द्योतक हैं इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। इनके विषय में निश्चित कुछ कहना बहुत कठिन हैं। इसके साथ ही इस स्थल पर राजा के 'सार्वभौम' होने का भी उल्लेख है जिसका अर्थ बताया गया है "एक ओर से दूसरे अन्त तक के सभी मनुष्यों का, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का एकमात्र राजा।" इससे निष्कर्ष निकलता है ऐन्द्र महाभिषेक की पद्धति मुख्यतया इन्द्र के समान सार्वभौम राजाओं के लिए है।

ऐन्द्र महाभिषेक में एक और महत्व की बात आती है। विभिन्न दिशाओं के शासकों का विभिन्न प्रकार की राज्य पद्धतियों में अभिषेक का वर्णन करने के पश्चात् तथा सार्वभौम राज्य का उल्लेख करने के पूर्व, अभिषिक्त राजा द्वारा ली गयी शपथ वर्णित है। यह शपथ विभिन्न राज्य-पद्धतियों में अभिषिक्त सभी शासकों के लिये हैं। यहाँ कहा गया है "इस ऐन्द्र महाभिषेक के द्वारा क्षत्रिय का, शपथ दिलाकर (अथवा उसको दुष्परिणाम का भय दिलाकर—'शापयित्वा') अभिषेक करें। वह (क्षत्रिय अथवा राजा) श्रद्धा के साथ कहे 'जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है, और उस रात्रि को जब मेरी मृत्यु हो, इन दोनों के बीच में जो मेरा इष्टापूर्त (इष्ट अर्थात् यज्ञादि, पूर्त अर्थात् समाज-कल्याणकारी कृत्य यथा अन्न, जल, आश्रय, दान आदि) (सद्) लोक, सुकार्य, आयु, सन्तति है वह तुम मुझ से ले लो, यदि मैं द्रोह करूँ।" इस शपथ से कई निष्कर्ष निकलते हैं। प्रथमतः यह शपथ श्रद्धा के साथ लेनी है। दूसरे, यह शपथ केवल साधारण राजाओं के लिये ही नहीं है सभी राजाओं के लिये (सार्वभौम) है। तीसरे यद्यपि यह शपथ पुरोहित के समक्ष है परन्तु द्रोह करने के पीछे भाव यह है कि यदि वह व्यक्ति राजा के नाते, जिस पद के लिए उसका अभिषेक हो रहा है, अपने कर्त्तव्यों को पूरा न करे तो उसे इस शपथ में वर्णित दुष्परिणाम भोगने पड़े। चौथे, इन दुष्परिणामों में भौतिक, आध्यात्मिक तथा लौकिक और परलौकिक सभी प्रकार के परिणाम हैं। पांचवें, अभिषिक्त राजा एक प्रकार से यह भी कहता है कि यदि वह अपने कर्त्तव्यों का पालन न करे तो पुरोहित उसकी आयु भी ले सकता हैं। इसमें राजा को तत्कालीन दण्डित करने का (शारीरिक रूप से) अभिप्राय है अथवा नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता परन्तु उसका हल्का संकेत अवश्य है। इसके अतिरिक्त यह तो कहना कठिन है कि प्रजा को भी राजा को हटाने का अधिकार है अथवा नहीं परन्तु प्रजा के प्रतिनिधि के नाते प्रमुख व्यक्तियों को यह अधिकार अवश्य है। महाभारत में भी ऐसी ही प्रतिज्ञा का वर्णन है जो पृथु अपने अभिषेक के समय लेता है। "मन, कर्म और वाणी से (श्रद्धापूर्वक) यह प्रतिज्ञा लो। इस भूमि को ब्रह्मवत् मानकर मैं इसका पालन करूँगा। यहाँ (राज्य में) जो दण्डनीति के अविरोधी, नीतियुक्त धर्म है उसका मैं बिना शंका के पालन करूँगा तथा स्वेच्छापूर्ण कार्य न करूँगा।" प्रतिज्ञाएँ दोनों एक सी हैं। परन्तु दूसरी प्रतिज्ञा में प्रतिज्ञा पालन न करने वाले दुष्परिणामों का उल्लेख नहीं है, यद्यपि पृथु यह प्रतिज्ञा तब लेता है जब मनमानी तथा अधर्मपूर्ण व्यवहार करने वाले वेन राजा को ऋषि मार डालते हैं तथा फिर पृथु को राजा बनाते हैं। अतः इस प्रतिज्ञा के पीछे भी प्रतिज्ञा पालन न करने का दुष्परिणाम निहित है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए पृथु की प्रतिज्ञा करने वाले के पश्चात् प्रजा 'एवमस्तु' भी कहती है अर्थात् प्रजा भी यह मान्य करती है कि राजा को प्रतिज्ञा का पालन करना आवश्यक है और वह प्रतिज्ञा करने के कारण ही वह राजा हुआ है। पृथु ने इस प्रतिज्ञा

के अनुसार व्यवहार कर प्रजा का रंजन किया अतः वह राजा कहलाया अर्थात् शासक के लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग भी इसी कारण हुआ।

इस अभिषेक-यज्ञ के विषय में जो ध्यान देने योग्य सबसे अन्तिम बात है वह यह है कि राजा के लिये प्रयुक्त विशेषणों में 'जनता को खाने वाला', 'ब्राह्मणों का रक्षक', 'धर्म का रक्षक' है। इनमें से पहले विशेषण से तो यह बात स्पष्ट होती है कि राज्य को कर लेने का अधिकार है तथा दूसरे दो विशेषणों के द्वारा भारतीय विचार के अनुसार राज्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। जैसा पीछे बताया गया है भारतीय विचार के अनुसार राज्य धर्म का संरक्षक और उसे लागू करने वाला है अर्थात् धर्मराज्य है। पीछे इस धर्मराज्य का विस्तृत विवेचन कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया गया है। यहाँ राजा को धर्म का रक्षक उसी अर्थ में कहा गया है अर्थात् न्याय प्रदान करने वाला, जनता के सुख, समृद्धि और आध्यात्मिक उन्नति की चिन्ता रखने वाला भारतीय समाज-व्यवस्था को लागू करने वाला तथा नियमों के अनुसार शासन करने वाला। उसी रूप में राजा ब्राह्मणों का संरक्षक है क्योंकि ब्राह्मण धर्म के नियामक तथा आध्यात्मिक जीवन के प्रेरक माने गये हैं और उनको संरक्षण प्रदान करने का अर्थ है समाज के उन्नत जीवन के निर्माण के अर्थात् धर्म के लिए सहायक होना।

वाजपेय यज्ञ ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा वृद्धि के लिए किया जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार राजसूय 'वरुणसव' है और वाजपेय 'सम्राटसव' तथा शतपथ ब्राह्मण में बहुत स्पष्ट रूप से कहा है कि राजसूय के द्वारा व्यक्ति राजा होता है तथा वाजपेय के द्वारा सम्राट। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी अभिषेक-पद्धति का वर्णन है। राजा को पौरुष के प्रतीक सिंह की खाल पर बिठाया जाता है और उसका पवित्र जल से, जिसमें भौतिक समृद्धि के चिन्ह के रूप में जौ तथा उसके साथ जो दूर्वा (पवित्रता अथवा कठिनाई का प्रतिबिम्बन करने वाला) मिला होता है उससे अभिषेक किया जाता है। इसी दृष्टि से अन्त में उसका घी और दुग्ध से अभिषेक होता है। विजय प्राप्त करने की भावना प्रदर्शित करने के लिए राजा एक रथ पर आरूढ़ होता है जिसके चारों पहियों का स्पर्श किया जाता है। पृथ्वी (जिसका नाम अनुमति है) तथा स्वर्ग (धावा) से प्रार्थना की जाती है कि वह अभिषेक को सहमति प्रदान करे। राजा फिर सूर्य की ओर देखता है और फिर राजा की ओर जिसका अर्थ है कि राजा सूर्य के समान प्रकाशमान होगा और प्रजा को प्रकाश देगा।

समविधान ब्राह्मण द्वारा दी गयी अभिषेक-पद्धतियों में सभी पवित्र नदियों के जल (सम्पूर्ण देश के प्रतीक) में चावल, जौ, माष तथा दही, शहद, पुष्प तथा स्वर्ण जो विभिन्न प्रकार की समृद्धियों को दिग्दर्शित करते हैं, मिलाये जाते हैं और राजा का उससे अभिषेक किया जाता है। राजा के सिंहासन पर सिंह की

खाल बिछी होती है तथा जीवित गायों के सींगों को खोखला कर उसके द्वारा अभिषेक होता है। यदि राजा को पृथ्वी पर एक छत्र साम्राज्य बनाना है तथा यदि यह इच्छा है कि उसका मण्डल शत्रु के आधीन न हो तो यह बताया है कि अभिषेक के समय एकवृष-सूक्त का पाठ किया जाये। यह भी कहा है कि अभिषेक कराने वाले पुरोहित को राजा एक सर्वश्रेष्ठ ग्राम, सौ दासियाँ तथा एक सहस्त्र गौ प्रदान करे तथा उसका अनुगामी हो। बौधायन गृह्यसूत्र की पद्धति थोड़े परिवर्तनों के साथ इसी प्रकार की हैं। मुख्य अन्तर यह है कि बौधायन गृह्यसूत्र में श्रीसूक्त के द्वारा लक्ष्मी की पूजा भी बतायी गयी है क्योंकि वह राजा की समृद्धि है।

महापुराणों में अभिषेक-पद्धति अग्निपुराण में दी गई है। अग्निपुराण की पद्धति का कुछ विवरण पीछे दिया गया है।

—:०:—

संप्रभुत्ता

पीछे इस बात का विस्तार से विवेचन किया गया है कि भारतीय विचार में राज्य को संप्रभु नहीं माना गया। राजसूय यज्ञ में 'देव-हवि' की पद्धति में यह कहा गया है कि राजा को 'परमता' प्राप्त हुई क्योंकि वह 'वर्मपति' है। यह भी कहा गया है कि राजा को '[illegible]' बनाया गया है (सर्वप्रथम स्थान दिया गया)। क्या इसका यह अर्थ है कि राज्य को पश्चिमी अर्थों में संप्रभु माना गया है ? इस बात को समझने की आवश्यकता है। राजा को 'परमता' प्राप्त होने का अर्थ है कि उसे राज्य में सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त है अर्थात् राज्य की सम्पूर्ण शक्ति उसके आदेशानुसार प्रयुक्त होती है। दूसरे शब्दों में, राजा 'दण्ड प्रयोग करने' का अधिकारी है चाहे बाह्यदृष्टि से, चाहे आन्तरिक दृष्टि से। परन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि राजा के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है अथवा वह जैसा चाहे कर सकता है। जैसा अभिषेक-यज्ञों के वर्णन से स्पष्ट होगा राजा ब्राह्मणों द्वारा नियन्त्रित है तथा राजा को वर्मानुसार और निश्चित प्रतिज्ञा के अनुसार शासन करना है। इसके अतिरिक्त इस वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुरूप ही राज्य का सारा कार्य चलना है (देखिए सभी वर्णों के प्रतिनिधियों की अभिषेक के लिए सहमति, ब्राह्मण का प्रमुख स्थान तथा उसकी कर से मुक्ति तथा ऐतरेय ब्राह्मण में विभिन्न वर्णों के पृथक्-पृथक् कार्यों और सुविधा-असुविधाओं का उल्लेख)। अतः राजा को यहाँ जो 'धर्मपति' कहा है वह इसी अर्थ में कि वह वर्म को प्रतिष्ठापित करने वाला है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह समाज-जीवन के नियमों अथवा व्यक्तिगत आचारों में मनचाहा परिवर्तन कर सकता है। बहुत-से-बहुत वह इतना ही कर सकता है कि यदि कहीं धर्म स्पष्ट न हो तो इसकी व्यवस्था करे कि वह स्पष्ट किया जाये अथवा तत्कालीन आवश्यकता के लिये कोई आदेश लागू करे। इसके अतिरिक्त 'धर्मपति' होने के पीछे यह भाव भी है कि वह न्याय करता है और इसीलिये कहा है कि लोग 'धर्म के लिये उसके पास आते हैं'। इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि राज्य के पास कार्यपालिका शक्ति है तथा न्याय करने का अधिकार है। परन्तु राज्य को मूल रीति से विधि-निर्माण का अधिकार नहीं दिया गया है, जो कि आधुनिक काल में संप्रभुत्ता का सबसे मुख लक्षण माना गया है। इन दोनों कार्यों (न्याय तथा कार्यपालिका शक्ति के योग) में भी उसे ब्राह्मणों की (धर्म का स्पष्टीकरण करने वाले होने के कारण),

धर्म (व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के नियम) तथा समाज-व्यवस्था की सर्वोच्चता स्वीकार करनी है तथा कुछ निश्चित तथा प्रतिष्ठित आदर्शों के अनुकूल शासन करना है। ऐसा न करने पर उसके दुष्परिणाम स्वीकार करने को भी प्रस्तुत रहना है तथा राजा दण्डनीय भी माना गया है। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों में भी उसके अधिकार उसके सहायकों (रत्न अथवा मन्त्रीगण) और न्यायकर्त्ताओं (सभा) तथा प्रजा के प्रतिनिधियों की इच्छा (समिति तथा पुर और जनपदवासी) द्वारा सीमित हैं। परमता का इतना अर्थ अवश्य हो सकता हैं कि क्योंकि राजा का राज्य शासन में प्रमुख उत्तरदायित्व है अतः यदि आवश्यक समझे तो वह अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व पर निर्णय ले सकता है, परन्तु साधरणतया उसे इन वर्गों की इच्छाओं का पालन करना है। 'ज्येष्ठ्य' शब्द के पीछे भी यही भाव प्रतीत होता है।

—: ० :—

परिशिष्ट ४

वैदिक जनतंत्र

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में मुख्य रूप से दो संस्थाओं का वर्णन अता है—सभा और समिति। इन दोनों संस्थाओं का नाम अथर्ववेद में चार स्थानों पर एक साथ आया हैं तथा चारों स्थानों पर सभा का उल्लेख पहले है तथा समिति का बाद में। इसके अतिरिक्त समिति का वर्णन ऋग्वेद के उन अंशों में बताया जाता है जो बाद के अंश है तथा सभा का उल्लेख ऋग्वेद के प्रारंभिक अंशों में भी मिलता है तथा बाद के भी। विद्वानों ने इसका निष्कर्ष यह निकाला है कि समिति की तुलना में सभा अधिक पुरानी संस्था है परन्तु एक स्थान पर अथर्ववेद में दोनों को प्रजापति की पुत्रियाँ बताया गया है जिसका अर्थ यह है कि अथर्ववेद के काल तक यह दोनों संस्थाएँ इतनी प्राचीन हो गई हैं कि उस समय तक उनके जन्म का स्मरण भी समाप्त हो गया।

इन दोनों संस्थाओं में राजा की नियुक्ति में सहमति प्रकट करने का कार्य समिति के पास बताया गया है। उसके विषय में यह वर्णन है कि सम्पूर्ण जन राजा का निर्वाचन करते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समिति सम्पूर्ण नागरिकों की सभा थी। परन्तु छान्दोग्य उपनिषद में पांचालों की समिति का वर्णन है जहाँ दार्शनिक प्रश्नों पर भी विवाद होता है जिसमें सभी नागरिकों का उपस्थित रहना संभव नहीं। इस कारण समिति में सभी नागरिकों का सदस्य होना स्पष्ट रूप से सिद्ध नहीं होता। यह सम्भावना अधिक है कि समिति के सदस्य सम्पूर्ण जन की ओर से राजा की नियुक्ति स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में आया है 'ये संग्रामा समितयः'। इसमें एकत्रित समिति के लिये 'संग्राम' शब्द का प्रयोग किया गया है और इससे लगता है कि समिति में ग्रामों का एकीकरण है। यर्वजुद की तैत्तिरीय संहिता में भी कहा गया है 'संग्रामें संयन्ते समय काम' : अर्थात् समय (समझौते) की इच्छा रखने वाले ग्राम एकत्रित होते हैं। हो सकता है कि समिति में प्रतिनिधित्व ग्रामों के अनुसार होता हो।

राजा के समिति में जाने का तथा उसकी कार्यवाही में भाग लेने का भी वर्णन हैं क्योंकि ऋग्वेद में हैं 'समिति में जाते हुए एक सच्चे राजा के समान' (राजा ने सत्यः समितो रियानः)। छान्दोग्य उपनिषद में भी यह बताया गया है कि जब श्वेतकेतु आरुणेय गौतम पांचालों की समिति में जाता है उस समय राजा प्रवहण जैवल वहाँ उपस्थित हैं।

समिति के कार्यों में एक कार्य राजा की नियुक्ति की स्वीकृति अथवा उसका पुनर्निर्वाचन है। अथर्ववेद में एक स्थान पर है 'ध्रुव और अच्युत (बिना डिगे) रह कर तुम शत्रुओं का विनाश करो और शत्रुओं को पदः दलित करो। सभी दिशाएँ हृदय से तुम्हारा सम्मान करती हैं और यह समिति तुम्हें चुनती है।' राजा की नियुक्ति में सहमति के अतिरिक्त राज्य के कार्यों पर विचार करना भी समिति का कार्य प्रतीत होता हैं। ऋग्वेद में प्रार्थना है कि हमारी एक समिति, एक समान मन्त्र (मंत्रणा), समान व्रत (कार्य करने का दृढ निश्चय) हों तथा सबका चित्त एक साथ हो। लगभग ऐसी ही प्रार्थना अथर्ववेद में हैं। इससे लगता है कि समिति का मंत्रणा करने का कार्य था परन्तु छान्दोग्य उपनिषद में समिति के अन्दर बौद्धिक प्रश्नों पर विचार होता हुआ भी बताया गया हैं। श्वेतकेतु के पाञ्चालों की समिति में जाने पर राजा प्रवहण जैवल उससे दार्शनिक प्रश्न पूछता है।

राजा का समिति में केवल जाना ही आवश्यक नहीं है, समिति का महत्व राजा के लिये बहुत अधिक है। ऋग्वेद के अनुसार जैसे एक बैल के लिये जंगल है, सोमरस के लिये घड़ा है, पुरोहित के लिये यजमान है उसी प्रकार राजा के लिये समिति है अर्थात् राजा का अस्तित्व समिति पर आधारित है। इस कारण राज्याभिषेक के पश्चात पुरोहित एक मंत्र का उच्चारण करता है जिसमें वह कहता है कि राजा अपने सिंहासन पर प्रस्थापित हो तथा समिति उसके प्रति भक्ति रखे। अथर्ववेद के एक सूक्त में उस राजा का वर्णन आया है जो ब्राह्मण की गौ का हरण करता है। उसमें अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी कहा है कि समिति उस राजा के पक्ष में नहीं होती तथा उसको अपना कार्य कराने के लिये मित्र नहीं प्राप्त होता अर्थात् समिति का सहयोग राजा के लिये बहुत महत्वपूर्ण है।

समिति के इस महत्व के ही कारण वक्तागण यह भी प्रार्थना करते हैं कि एकत्रित समिति में वे अच्छा बोलें जिसका अर्थ यह है कि समिति के लोग उनके वक्तव्य से प्रसन्न और प्रभावित हों। पारस्कर गृह्य सूत्र में एक वैदिक उद्धरण है जिसमें वक्ता की यह इच्छा बताई गई है कि वह समिति में बहुत श्रेष्ठ सिद्ध हो तथा उसका प्रतिवाद न किया जा सके। इस कारण अथर्ववेद में यह प्रार्थना हैं कि प्रार्थना करने वाले से विवाद में शत्रु न जीते तथा उसके विरोध में विवाद करने वालों का विवादनष्ट हो तथा वह रीति विहीन हो जायें और प्रार्थना करने वाला विवाद में श्रेष्ठ सिद्ध हो। एक ओर जहाँ वक्ता समिति में स्वयं के प्रभाव की तथा विरोधियों के पराजय की प्रार्थना करता है वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रार्थना है कि विचार, विवाद और प्रस्ताव एक मत निर्माण करने वाले हों तथा सब में परस्पर सहमति हो।

समिति का अन्तिम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद में हैं। छान्दोग्य उपनिषद ईसा से पूर्व सातवीं शताब्दी का बताया गया है। इस कारण यह प्रतीत होता है कि समिति का अस्तित्व उस समय तक था। छान्दोग्य उपनिषद में 'समिति'

और 'परिषद' को पर्यायवाची माना है क्योंकि श्वेतकेतु के पाञ्चालों की समिति में जाने का उल्लेख इस प्रकार है "पञ्चालानां समिति मेयाया, पञ्चालानां परिषद याजगाम्"। इसके आधार पर श्री काशीप्रसाद जायसवाल का निष्कर्ष है कि बाद में समिति का 'परिषद' के नाम से अस्तित्व रहा। वह यह भी कहते हैं कि पारस्कर गृह्य सूत्र में 'परिषद' और उसके 'ईषान' (अध्यक्ष) का उल्लेख भी इसी समिति के लिये है। बाद के साहित्य (धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति आदि) में परिषद वह संस्था है जो धर्म के विवादारपद प्रश्नों के विषय में निर्णय देती है। उसमें त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद), निरुक्त (वेदों का अर्थ करने वाला ग्रन्थ) तथा धर्मशास्त्र के ज्ञाता, नैयायिक तथा तार्किक और प्रथम तीन आश्रमों के व्यक्ति सदस्य बताये गये हैं। इस प्रकार धर्म के ज्ञाता तथा समाज जीवन के विविध अंगों के प्रतिनिधि इसमें एकत्रित होकर भारतीय राज्य पद्धति में जो भी विधायक कार्य था वह करते थे। हो सकता है कि वैदिक काल की समिति के पास भी विधायक कार्य रहा हो।

समिति के अतिरिक्त दूसरी संस्था है—सभा। 'सभा' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में कई अर्थों में हुआ है यथा एक सभाभवन (हॉल), एक घर, द्यूतगृह, राजदरबार। परन्तु इसका उल्लेख वैधानिक सभा के रूप में भी दिखाई देता है। जहाँ समिति में सम्पूर्ण जनसमाज का प्रतिनिधित्व प्रतीत होता है वहाँ सभा में कुछ मुख्य व्यक्तियों की सदस्यता दिखाई देती है। जैसा बताया गया समिति और सभा प्रजापति की दो दुहितायें बताई गई हैं। "प्रजापति की दोनों दुहितायें सभा और समिति मिलकर मेरी सहायता करें। जिसके साथ मैं कार्य करूँ वह मेरे साथ सहयोग करे। हे पितृगण! मैं एकत्रित लोगों के समक्ष रुचिकर बोलूँ।" अतः समिति और सभा साथ-साथ कार्य करने वाली दो संस्थायें हैं। श्री जायसवाल ने सभा की एक परिभाषा उद्धृत की है (सह धर्मेण सङ्भिवी भातीति सभा) जिसका अर्थ है कि "एक साथ धर्म में सहयोग के द्वारा जो प्रकाशित है वह सभा है।" सभा के सदस्य बहुत आदरणीय भी माने गये हैं। यजुर्वेद में है "नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च।" ऊपर जिस मंत्र का अर्थ दिया गया है जिसमें सभा को प्रजापति की दुहिता बताया गया है, उस मन्त्र में 'पितृगण' शब्द है। वेदों का प्रमुख भाष्यकार सायण उस शब्द की व्याख्या करता हुआ कहता है कि पितृगण का अर्थ है 'राज्य को पालन करने वाले' अथवा 'पितरों के समान सभासदगण'। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'सभेयविप्र' शब्द आया है जिसका अर्थ है वे विप्र अथवा विद्वान जो सभा के सदस्य होते थे। ऊपर बताये गये सभी तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि सभा के सदस्यों का बहुत महत्व माना जाता था और सभा का एक प्रमुख भी होता था जिसे यजुर्वेद में सभापति कहा गया है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सभा सम्बन्धी अन्य उल्लेख भी आये हैं। एक स्थान पर प्रार्थना करने वाले ऐसे पुत्रों की प्रार्थना करते हैं जिन्हें सभा तथा यज्ञ में

प्रमुखता प्राप्त हो। एक अन्य स्थान पर यह बताया है कि सभासदों को यशस् ने महत्व प्रदान किया। एक स्थान पर सभा में जाने वाली स्त्री का वर्णन है (योषा सभावती)। परन्तु वहाँ 'सभा' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है यह कहना कठिन है।

सभा का एक ही महत्वपूर्ण कार्य स्पष्ट होता है और बाद की स्मृतियों में भी 'सभा' शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है उससे भी उसी की पुष्टि होती है—वह कार्य है न्याय करना। अथर्व-वेद के उस सूक्त में जिसमें सभा तथा समिति को प्रजापति की दुहिताएँ कहा गया है, अगले मन्त्रों में कहा है "हे सभा हम तेरा नाम जानते हैं, तेरा नाम नरिष्टा है, वे जो कोई भी सभासद हैं मेरे ही अनुसार बोलें" तथा अगले मंत्र में प्रार्थना करने वाला अपनी सफलता की तथा अपने कथन द्वारा अन्य लोगों को प्रसन्न कर सकने की प्रार्थना करता है। यहाँ सभा के लिये 'नरिष्टा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सायण ने 'नरिष्टा' की व्याख्या की है "जहाँ बहुत लोग मिलकर एक वाक्य कहते हैं जो दूसरों द्वारा उल्लंघनीय नहीं है अतः अनुल्लंघनीय होने के कारण वह नरिष्टा है"। इसका अर्थ है कि सभा में कुछ सम्मिलित निर्णय होता था जिसका किसी प्रकार उल्लंघन नहीं हो सकता था। निर्णय अनुल्लंघनीय होने की यह बात ही यहाँ महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद में यह भी कहा है कि जो सभा से यशपूर्ण होकर लौटता है उससे मित्र प्रसन्न होते हैं तथा वह व्यक्ति 'किल्विष' (दोष) से मुक्त होता है। शुक्ल यजुर्वेद में पुरुषमेध में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की बलि विभिन्न कार्यों के लिये दी जाती है। 'सभाचर' की बलि 'धर्म' के निमित्त दी जाती है (धर्माय सभाचरम्) अर्थात सभाचर का कार्य है धर्म अर्थात निष्पक्ष न्याय के लिये समर्पित होना। जातकों में भी कहा है कि वह सभा नहीं है जहाँ सत्पुरुष (सन्त) नहीं हैं और वह संत नहीं है जो धर्म नहीं बोलते।' अर्थववेद में एक स्थान पर प्राणियों को उनके कर्म के अनुसार फल देने वाले अर्थात् न्याय करने वाले यम के सभासदों का भी उल्लेख है। इस सबसे यह स्पष्ट लगता है कि सभा का प्रमुख कार्य धर्मपूर्वक न्याय करना है।

'विदथ' नाम की एक संस्था का वर्णन भी ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में आता है, परन्तु इसके विभिन्न उल्लेखों से ऐसा नहीं लगता कि उसका कोई राजकीय अथवा संवैधानिक महत्व है। वह धार्मिक कृत्यों के लिये लोगों का एकत्रीकरण है, चाहे वह एकत्रीकरण परिवार में हो अथवा समाज के किसी वृहत्तर समूह में।

—:०:—

परिशिष्ट ५

प्राचीन भारत के गणतंत्र

प्राचीन भारत में गणराज्यों का अथवा संघ राज्यों का उल्लेख पाणिनि के अष्टाध्यायी में, कौटिलीय अर्थशास्त्र में' ग्रीक लेखकों के वर्णन में तथा बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। भण्डारकर ने ऋग्वेद के तथा अथर्ववेद के दो-तीन उद्धरणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि उस समय भी संभवतः गणतन्त्र थे, पर उनका यह भी कहना है कि केवल इन्हीं तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निश्चित रूप से नहीं निकाला जा सकता। इसके आधार पर विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि ये गणतन्त्र ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुए तथा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक जीवित रहे। मौर्य साम्राज्य के पश्चात् इनकी स्थिति दुर्बल ही होती गयी। इनमें से बहुत थोड़े गणराज्यों का अस्तित्व ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी तक भी दिखायी देता है, परन्तु अधिकांश का उल्लेख नहीं मिलता और कुछ के विषय में तो यह कहना भी कठिन है कि वे गणराज्य भी बने रहे अथवा नहीं।

महाभारत के इतिहास में जिस गणतन्त्र का वर्णन मिलता है वह है अन्धक वृष्णि संघ। इस अंधक वृष्णि संघ का उल्लेख पाणिनि में भी प्राप्त होता है तथा कौटिल्य भी वृष्णि संघ का सन्दर्भ देता है। इनके कुछ सिक्के भी मिले हैं जिन पर 'वृष्णि राजन्य गणस्य' लिखा है। महाभारत में एक स्थान पर नारद से परामर्श में श्रीकृष्ण संकर्षण, गद, प्रद्युम्न, आहुक, अक्रूर, उग्रसेन का उल्लेख करते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि उस राज्य में कई व्यक्तियों का महत्व था। वह यह भी कहते हैं कि आहुक और अक्रूर दोनों बड़े प्रभावी हैं क्योंकि उनका पक्ष में रहना अथवा विपक्ष में जाना दोनों कष्टकर हैं। श्रीकृष्ण न एक की विजय की इच्छा कर सकते हैं, न दूसरे के पराजय की। इसका अर्थ यह है कि वह आहुक और अक्रूर के दो दलों का वर्णन करते हैं। पाणिनि के सन्दर्भ से प्रतीत होता है कि अन्धक वृष्णियों में दो राजन्य हैं तथा वह तदनुसार उन राजन्यों का उल्लेख करने के व्याकरणात्मक नियम का वर्णन करता है। ऐसे दो-दो राजन्यों के समूह का उल्लेख उदाहरण के रूप में कात्यायन और पतन्जलि के व्याकरण ग्रन्थों में है जैसे अक्रूर और वासुदेव, शिवि और वासुदेव, श्वाफल्क और चैत्रक, अक्रूर और आहुक आदि। इन विविध नामों से यह प्रकट होता है कि दो वर्गों के दो प्रतिनिधि निर्वाचित होते थे जो इन वर्गों के प्रतिनिधि के रूप में शासन कार्य सम्भालते थे।

बौद्ध ग्रन्थों में इन संघ राज्यों का उल्लेख महापरिनिब्बान सुत्तन्त में प्राप्त होता है। उसमें शाक्य, लिच्छिवि, विदेह, मल्ल आदि गणराज्यों का उल्लेख आया है।

बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित गणराज्यों में प्रमुख हैं शाक्य और लिच्छवि। शाक्य गणराज्य एक प्रकार का कुलीनतन्त्र प्रकट होता है। जातकों तथा त्रिपिटकों में दी गयी बहुत-सी घटनाओं के आधार पर यह प्रतीत होता है कि एक संस्थागार था जिसमे सभवतः श्रेष्ठ वर्ग के सब लोग एकत्रित होते थे। मज्झिम निकाय तथा संयुक्त निकाय की घटनाओं में एक नये सस्थागार के निर्माण का वर्णन है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग बुद्ध के प्रवचन में किया गया था। इस सस्थागार में बैठकर शाक्यगण विविध विषयों पर विचार करते थे। यथा कौशल के राजा ने जब एक शाक्य कन्या से विवाह का प्रस्ताव किया तब उस पर शाक्यों ने सम्मिलित रूप से विचार किया। उन्होंने संभवतः अपने को श्रेष्ठ समझने के कारण एक दासी कन्या को राजा के साथ विवाह करने के लिए भेज दिया। जब इस कन्या का पुत्र कपिलवस्तु आया तब उससे भी वे संस्थागार में ही मिले। अम्बट्ठ नाम का एक तरुण ब्राह्मण जब कपिलवस्तु में आता है तब वह छोटे बड़े शाक्यों को संस्थागार में बैठे हुये पाता है। शाक्य लोग विविध प्रश्नों का विचार साथ मिलकर करते हैं तथा साथ मिलकर अपने कार्य करते हैं जैसे वह कर मिलकर बुद्ध का स्वागत करते हैं अथवा बुद्ध का भाषण सुनते हैं। इसके अतिरिक्त शाक्यों के राज्य में राजकुलों के होने का उल्लेख है जिनके कम आयु के लोगों को राजकुमार कहा गया है। बुद्ध का भाई देवदत्त एक कथा में इस बात पर दुःख प्रकट करता है कि उसको राजकुलों द्वारा त्याग दिया गया है। अंगुत्तर निकाय में दो स्थान पर कुल ज्येष्ठों को दिये जाने वाले सम्मान का वर्णन है। शाक्यों के २५० राजकुमारों के बुद्ध के साथ जाने का उल्लेख एक जातक कथा में आता है। इससे स्पष्ट होता है कि उनमें कुछ कुल थे जिन्हें राजकुल का स्थान प्राप्त था तथा संभवतः इन्हीं के सदस्य संस्थागार में विचार करते थे और अन्य कार्यवाही सम्पन्न करते थे। एक कथा में उपराजाओं का उल्लेख है। इनमें एक राजा का भी वर्णन आता है। एक समय बुद्ध के पिता शुद्धोदन का राजा के रूप में वर्णन है जब कि अन्य स्थान पर उसका वर्णन एक साधारण नागरिक के रूप में आया है। एक दूसरे स्थान पर बुद्ध के सम्बन्ध के एक भाई भद्दिय का राजा के रूप में उल्लेख है। इससे लगता है कि यह शाक्य कुछ काल के लिये अपने में से किसी को प्रमुख शासक निर्वाचित करते होंगे तथा संभवतः शेष सब प्रमुखों को उपराजा माना जाता है क्योंकि वह सब उपराजा एक अन्य राज्य से संघर्ष करते हैं, इसलिये उनकी संख्या केवल दो-चार नहीं हो सकती।

लिच्छवि गणतन्त्र भी एक प्रकार का कुलीनतन्त्र है। जातकों के अनुसार उसमें ७,७०७ राजा थे तथा वही (अथवा उतने ही) उपराजा सेनापति तथा भण्डागारिक थे। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने इसका यह अर्थ लिया है वहाँ ७,७०७

प्रमुख परिवार थे तथा इन्हीं में से ये उपरोक्त चार अधिकारी होते थे। इतनी बड़ी संख्या में सेनापतियों, भाण्डागारिकों आदि का एक संघ-शासन में भी होना सम्भव नहीं है। अतः श्री जायसवाल का निष्कर्ष ठीक प्रतीत होता है। महापरिनिब्बान सुत्त पर बुद्धघोष की टीका में भी एक राजा, एक उपराजा आदि होने का उल्लेख मिलता है। इनके राज्य का केन्द्र वैशाली नगरी में. था जहाँ तीन स्कन्ध थे। महावस्तु के अनुसार वैशालीयों की तथा अन्य बाहर के लोगों की जन-संख्या मिलाकर १,६८,००० थी। ललित विस्तर नामक ग्रन्थ में भी इनका गणतन्त्र होना एक दूसरे प्रकार से वर्णित है। उसमें कहा गया है कि इनमें उच्च, मध्य, वृद्ध, ज्येष्ठ का भाव नहीं है। प्रत्येक यह मानता है कि "मैं राजा हूँ, मैं राजा हूँ"। कोई किसी का अनुयायी नहीं है। अट्ठकथा नामक ग्रन्थ में केवल उपरोक्त प्रथम तीन अधिकारियों का ही उल्लेख नहीं है, उसके साथ-साथ यह भी वर्णन है कि जब यह प्रमुख लोग संस्थागार में आते थे तब घण्टा बजता था। इसमें राजनीतिक प्रश्नों का विचार होता ही था। महावस्तु में लिच्छवि गण की एक सभा का उल्लेख है जिसमें एक महत्वपूर्ण व्यक्ति (महत्तक) को वैशाली के लिच्छवियों की ओर से (वैशालकानां लिच्छविनां वचनेन) एक सन्देश देने के लिए दूत नियुक्त किया गया। लिच्छवियों में जो आदेश जारी होते थे वे गण के नाम से होते थे तथा मूलसरस्वतीवाद शाखा के ग्रन्थ चीवरवस्तु के अनुसार उन पर सेनापति का हस्ताक्षर होता था।

अट्ठकथा में लिच्छवियों की न्यायिक पद्धति का भी वर्णन है। उसमें चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख है—१-विनिच्चय महामात्त (विनिश्चयमहामात्र), २-वोहारिक (व्यावहारिक) ३-सुत्तधर (सूत्रधर) तथा ४-अण्ट कुलक। इनमें से प्रत्येक के द्वारा किये हुये निर्णय पर आगे के न्यायालय को भी पुनः विचार करने का अधिकार था। यदि नीचे के न्यायालय ने किसी व्यक्ति को निर्दोष पाया तो वह वहीं मुक्त हो जाता था, अन्यथा वह आगे के न्यायालय में दण्ड के लिये भेजा जाता था। एक ऐसी भी पुस्तिका का उल्लेख है जिसमें सभी किये गये अपराधों का तथा दिये जाने वाले दण्ड का वर्णन है (पवेनि पत्थक)। अपराध पर विचार सेनापति, उप-राजा तथा राजा द्वारा भी होता था और अन्त में दण्ड देने का आदेश राजा द्वारा होता था। पुस्तक में दिये गये वर्णन के आधार पर यह निर्णय करना कठिन है कि प्रत्येक न्यायालय के निर्णय पर आगे कितने न्यायालयों द्वारा पुनर्विचार होता था। इतना इसके आधार पर निश्चित कहा जा सकता है कि किसी अपराधी को मुक्त करना सरल था परन्तु दण्ड देना उतना सरल नहीं था, क्योंकि दण्ड देने पर आगे के न्यायालयों द्वारा भी विचार होता था।

बुद्ध के समय में विदेह और लिच्छावियों के एक संयुक्त संघ का उल्लेख है जिसे वज्जि अथवा 'संवज्जि' कहा गया है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार पाणिनि में वर्णित व्रजि यही है। जैन ग्रन्थ कल्पसूत्र के अनुसार लिच्छावियों का

मल्लों के साथ भी संयुक्त संघ था । इस संयुक्त संघ में १८ व्यक्तियों की एक परिषद थी, जिसमें ६ लिच्छवि तथा ६ मल्लकि सदस्य थे । इस संयुक्त संघ की कोशल राज्य के साथ मित्रता तथा मगध के साथ शत्रुता बतायी गयी है ।

इसके अतिरिक्त ग्रीक लेखकों ने सिकन्दर के सम्पर्क में आने वाले कुछ गणतन्त्रों का उल्लेख किया है । मेगेस्थनीज अपने वर्णन में दो स्थानों पर कहता है कि राज्य दो प्रकार के है, एक तो वह जहां राजा शासन करते हैं और दूसरे वह जहाँ जनता आत्मशासित है । कुछ राज्यों के लिये वह यह भी कहता है कि वहाँ तीन बार गणतांत्रिक शासन की स्थापना हुई तथा तीन बार राजतन्त्र की । एरियन का भी कहना है कि डायनोसस से सेण्ड्रकोटोस (चन्द्रगुप्त) तक भारतीयों के अनुसार १५० राजा हुये तथा ६,०४२ वर्ष का काल व्यतीत हुआ है तथा इस बीच में तीन बार गणतन्त्र की स्थापना हुई है । डायोडोरस का सिकन्दर के सम्पर्क में आने वाले राज्यों के विषय में कहना है कि 'अन्त में कई पीढ़ियों के पश्चात् संप्रभुत्व (राजतंत्र) भँग कर दिये गये तथा नगरों (राज्यों) में जनतांत्रिक शासनों की स्थापना हुई ।" सिकन्दर के आक्रमण तक 'अधिकांश नगरों ने जनतांत्रिक शासन प्रणाली अपना ली यद्यपि कुछ ने राजतंत्रिक पद्धति बनाये रखी ।" ऐसे गणतन्त्र में ग्रीक लोग कैथियनों का उल्लेख करते हैं जिनमें सबसे सुन्दर व्यक्ति राजा चुना जाता था । इनको डॉ० जौली तथा श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने कठ क्षेत्र के निवासी माना है । ग्रीक लेखक हिफेसिस नदी (सम्भवत: व्यास) के उस पार एक राज्य का उल्लेख करते है "जाहुत उर्वर था तथा जिसके निवासी अच्छे कृषक और युद्ध में साहसी थे तथा आन्तरिक प्रशासन की एक श्रेष्ठ पद्धति के अन्तर्गत रहते थे क्योंकि जनसमुदाय कुलीनतन्त्र द्वारा शासित था जिसमें शासक अपनी सत्ता का प्रयोग न्याय तथा संयम से करते थे ।" उनके राज्य में ५,००० व्यक्ति परिषद के सदस्य थे जिनमें से प्रत्येक को राज्य को एक-एक हाथी देना पड़ता था । श्री जायसवाल के अनुसार यह राज्यसंभवत: यौधेयों का था । यौधेयों के दो प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं—एक प्रकार के सिक्के 'गण' के नाम से हैं तथा दूसरे 'मंत्रधर' (अर्थात् कार्यपालिका) तथा गण के नाम से (देखिये वर्णन आगे) । एक अन्य गणतांत्रिक राज्य जिसका वर्णन यूनानियों ने किया है, शैव्यों का है जिनके विषय में कहा है कि "उनमें कोई राजा नहीं था तथा नागरिकों के हाथ में ही सर्वोच्च पद थे । ओक्सीड्रकाई, जिन्हें क्षुद्रक माना गया तथा मल्लोई, जिन्हें मालव गण समझा गया है, सम्भवत: एक संयुक्त संघ के रूप में थे क्योंकि यूनानी लेखकों के अनुसार इन दोनों राज्यों ने मिलकर सिकन्दर के पास सौ दूत भेजे तथा उन्हें अपनी" स्वतन्त्रता, जिसे उन्होंने युगों से अक्षुण्ण बनाये रखा था" पर अभिमान था । सिकन्दर ने उनका वहुत सम्मान किया । क्षुद्रकों की ओर से उनके प्रान्तीय शासक तथा नगरों के प्रमुख नागरिक आये "जिन्हें सन्धि करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था" तथा मल्लोई प्रतिनिधियों ने कहा कि "उन्हें दूसरों की तुलना में अपनी स्वतन्त्रा तथा स्वशासन के प्रति अधिक प्रेम है तथा

उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता डायोनिसियस के समय से बनाये रखी है" इन दोनों की संयुक्त सेना का उल्लेख पतञ्जलि तथा कात्यायन ने भी किया है। यह राज्य हाइडेस्पीज अर्थात् झेलम नदी के किनारे थे। एक और राज्य जिसका उल्लेख यूनानियों ने किया है, सम्वस्तई अथवा अबस्तेनोई है, जिसे अम्बष्ठों का राज्य माना गया है। वे भारत में वीरता में किसी से कम नहीं थे तथा उनका शासन जनतांत्रिक था। उनकी सेना में ६,००० पैदल, ६,००० अश्वारोही तथा ५०० रथी थे और उन्होंने तीन सेनापति साहस तथा सैनिक कुशलता के आधार पर निर्वाचित किये थे। उनके पास प्रमुख नागरिक दूत बनकर सिकन्दर के पास आये थे तथा यूनानी लेखकों का कहना है कि उन्होंने अपने "वृद्धों का परामर्श मानकर' युद्ध न करने का निर्णय लिया था। म्यूजिकेनी नाम के राज्य का भी ग्रीक लेखकों ने उल्लेख किया है। यूनानी लेखकों के अनुसार सिकन्दर तथा उसके मित्रों ने इस राज्य के संविधान तथा विधियों की प्रशंसा की। वह लोग किसी भी कला तथा युद्ध आदि के अतिशय अनुसरण को दोषपूर्ण मानते थे। वहाँ के नागरिकों का भोजन सामूहिक पद्धति से होता था तथा वह दासता को स्वीकार नहीं करते थे। पटल नाम के एक अन्य राज्य का भी उल्लेख है जिसका संविधान यूनानी लेखकों ने स्पार्टा के समान बताया है क्योंकि यहाँ युद्ध का सेनापतित्व दो कुलों के दो आनुवंशिक राजाओं के हाथ में था यद्यपि "एक वृद्ध परिषद पूरे राज्य पर संप्रभुसत्ता के आधार पर शासन करती थी।" इस प्रकार ग्रीक लोगों के वर्णन में कुलीनतन्त्रात्मक तथा जनतन्त्रात्मक, दोनों प्रकार के राज्यों का वर्णन आता है। अन्य भी कुछ राज्यों को गणतन्त्र के रूप में समझा गया है, परन्तु उनके विषय में कुछ स्पष्ट कह सकना कठिन है जैसे अगसिनें तथा जेथोई जिनको अग्रश्रेणी तथा क्षत्रिय का अपभ्रंश मानकर कौटिल्य के 'श्रेणी' तथा क्षत्रिय' नामक वार्ता-शस्त्रोपजीवी संघ के समान श्री जायसवाल ने माना है।

गणतन्त्रों का उल्लेख अशोक के काल में भी मिला है। अशोक के एक शिलालेख में सात राज्यों को 'अराज-विषय' के अन्तर्गत बताया है। वे हैं योन, कम्वोज, नभिक तथा नभि-पंक्ति भोज, पितिनिक, आन्ध्र और पारद। यह सम्भव है कि यह सब गणतन्त्र हों जो एक क्षेत्र में स्थित हैं और जिनको अशोक ने एक 'विषय' में संघटित कर दिया हो। यौधेय गण की कुछ मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जो शुंग काल की हैं। एक प्रकार की मुद्राओं पर एक ओर एक हाथी तथा बैल का चित्र है तथा दूसरी ओर 'यौधेयानाम्' (यौधेयों का) लिखा है। दूसरे प्रकार की मुद्राओं में एक ओर एक योद्धा का चित्र है जो हाथ में भाला लिये है तथा दूसरी ओर लिखा है 'यौधेयगणस्य जय'। इसी प्रकार विजयगढ़ शिलालेख भी यौधेयगण के महाराज महासेनापति के नाम से है। होशियारपुर जिले से यौधेयगण का 'लक्षण' (अंकित चिन्ह) प्राप्त हुआ है। उस पर लिखा है "यौधेयानां जय मन्त्रधराणाम्"। इसका अर्थ है कि यौधेयों के शासकों में एक व्यक्ति प्रमुख होता था तथा कुछ अन्य लोग मंत्रधर

के नाम से जाने जाते थे। ईसा के पश्चात् द्वितीय शताब्दी में रुद्रदामन यौधेयों का उल्लेख करता है। रुद्रदामन के जूनागढ़ लेख (ईसा पश्चात् १५० संवतसर) तक यौधेय गण का उल्लेख आता है। उस में वह कहता है कि उसने यौधेयों का उच्छेद किया जो बहुत अभिमानी तथा उद्धत हो गये थे क्योंकि उनमें सभी क्षत्रियों को 'वीर' की उपाधि से सम्बोधित किया जाता था। यौधेयों के अतिरिक्त मालवगण की भी बहुत-सी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिन पर 'मालवगणस्य' अथवा 'मालवानां जय' (मालवों की जय) अथवा 'मालवकृण जय' (ग्रामतरू में मालवों की जय) लिखा है। एक अभिलेख में मालवगण द्वारा चलाये गये संवत्सर का उल्लेख कृत संवत्सर के नाम से किया गया है। (श्री मालवगणाम्राते प्रशस्ते कृतसंज्ञके)। वृष्णि गण की मुद्रा भी ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के अक्षरों में प्राप्त हुई है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसवी संवत्सर के कुछ समय बाद तक भी कुछ गणतन्त्र जीवित रहे तथा सम्भवतः गुप्त काल में इनकी समाप्ति हो गयी। गुप्तों का उदय लिच्छवियों के सहयोग से बताया गया है। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्त के विजय-प्रशास्ति में मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक आभीर आदि का उल्लेख है पर उसके पश्चात् गणतन्त्रों का वर्णन नहीं आता। इसका अर्थ है कि ईसा के पश्चात् चौथी शताब्दी तक गणतन्त्रों का अस्तित्व रहा परन्तु उसके पश्चात् उनका वर्णन नहीं मिलता, यद्यपि वराहमिहिर 'बृहत्संहिता' में, जो ईसा के पश्चात् छठी शताब्दी की बतायी जाती है, दक्षिण भारत में गणराज्यों का उल्लेख करता है तथा मालव, शिणि आदि के गण पुंगवों अर्थात गण प्रमुखों की भी चर्चा करता है।

ऊपर बताये गये गणतंत्रों के अतिरिक्त अन्य भी गणतंत्र थे जिनका पाणिनि, कौटिल्य तथा ग्रीक लेखकों ने उल्लेख किया है परन्तु उनकी राज्य-व्यवस्था के विषय में विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। इन गणतंत्रों में वृक, दामनि त्रिगर्तषष्ठ, यौधेय, पार्श्व आदि हैं। इनमें से त्रिगर्तषष्ठ के छः राज्यों के नाम काशिका में दिये हैं। कौण्डेपरथ, दाण्डकि, कौष्टकि, जालमानि, ब्रह्मगुप्त, जानकि। इन सबको आयुधजीवि संघ कहा गया है। कौटिल्य ने राजशब्दोपजीवी संघ में लिच्छविक, वृजिका, मल्लक के अतिरिक्त मद्र, कुकर, कुरु, पान्चालों का तथा वार्ताशस्त्रोपजीवी संघों में काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी का नाम दिया है।

इन संघों में जो प्रतिनिधि सभाएँ थीं उनकी कार्यपद्धति का अनुमान बौद्ध संघ की कार्यपद्धति से लगाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ को इन राजनीतिक संघों की पद्धति पर ढालने का प्रयत्न किया है। दीघ निकाय के महापरिनिब्बान सुत्त में वर्णन आता है कि मगध के राजा की वज्जि संघ पर आक्रमण करने की इच्छा थी। उसने अपने मंत्री को बुद्ध भगवान का मत जानने के लिए भेजा। जब मंत्री ने बुद्ध से प्रश्न किया तो बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द को सम्बोधित करते हुए कहा कि "आनन्द ! क्या तुमने सुना है

कि वज्जि लोग पूर्ण सभा का बहुधा आयोजन करते हैं।" आनन्द ने स्वीकारात्मक उत्तर दिया। तब बुद्ध ने मगध के मंत्री को भी सुनाते हुए वज्जियों की सफलता के कारण बताये। "आनन्द! जब तक वज्जि लोग अपनी पूर्ण सभाओं का बहुधा आयोजन करते रहेंगे, जब तक वे सहयोगपूर्वक (एक मन होकर) मिलते रहेंगे······ (सभा करते रहेंगे) और कार्य सम्पूर्ण करते रहेंगे तथा वज्जि कार्यों को एक मन होकर करते रहेंगे, जब तक वह ऐसी विधियों को प्रस्थापित नहीं करेंगे जो अभी तक नहीं थीं तथा उन (विधियों) को भंग नहीं करेंगे जो अभी तक प्रस्थापित थीं और वज्जियों की प्राचीन काल में प्रस्थापित संस्थाओं के अनुसार कार्य करेंगे, जब तक वह वज्जि वृद्धों का सम्मान आदर, प्रतिष्ठा तथा उनका पोषण करेंगे तथा उनके (वृद्धों के) वचनों के अनुसार चलना अपना कर्त्तव्य समझेंगे, जब तक उनके यहाँ बलपूर्वक किसी स्त्री अथवा कन्या को रोका नहीं रखा जायेगा, अथवा उनका अपहरण नहीं होगा, जब तक वह वज्जि चैत्यों (धर्मस्थान) का सम्मान आदर, प्रतिष्ठा तथा उनका पोषण करते रहेंगे, जब तक उनके यहाँ अर्हतों का उचित संरक्षण तथा पोषण होगा तब तक आशा करनी चाहिये कि वज्जियों का पतन नहीं होगा वह अधिक समृद्ध ही होंगें।"

इस प्रकार बुद्ध ने उन सब शर्तों का वर्णन किया है जो किसी संघ को समृद्धिशाली बनाये रखती हैं तथा उसका पतन नहीं होने देतीं।

जब मगध का मंत्री चला गया तो बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ की बैठक बुलायी और जिन शब्दों में उसने वज्जि संघ की समृद्धि के लिये आवश्यक बातों का वर्णन किया था लगभग उन्हीं शब्दों में उन्होंने बौद्ध संघ की समृद्धि की तथा उसके पतन न होने की शर्तों का वर्णन किया। "जब तक भिक्खु (भिक्षु) अपनी पूर्ण सभाओं का आयोजन और बहुधा आयोजन करते रहेंगे; जब तक वे सहयोगपूर्वक मिलते रहेंगे और सहयोगपूर्वक अपने कार्य समाप्त करते रहेंगे तथा सहयोगपूर्वक संघ के प्रति कर्त्तव्यों को पूर्ण करते रहेंगे; जब तक भिक्खु ऐसे नियम प्रस्थापित नहीं करेंगे जो अभी तक नहीं थे तथा उन नियमों को भंग नहीं करेंगे जो अभी तक प्रस्थापित हैं तथा संघ के जो नियम निर्दिष्ट हैं उनके अनुसार कार्य करेंगे; जब तक (भिक्खु) बन्धु संघ वृद्धों, संघ के पालकों तथा संघ के नेताओं का सम्मान आदर, प्रतिष्ठा तथा उनका पोषण करेंगे तथा उनके वचनों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझेंगे; जब तक (भिक्खु) बन्धु उस वासना के प्रभाव में नहीं पड़ेगें, जब तक (भिक्खु) बन्धु एकान्तिक जीवन में आनन्द अनुभव करेंगें, जब तक (भिक्खु) बन्धु इस प्रकार अपने तन को नियंत्रित करेंगे तब तक भिक्खुओं की उन्नति ही होगी उनके पतन की आशा नहीं करनी चाहियें।"

इसका अर्थ यह है कि बुद्ध राजकीय संघों को और अपने धार्मिक संघ को समान मानते थे और उनके धार्मिक संघ में जो पद्धतियाँ थीं वह संभवतः वैसी ही थीं जैसी राजकीय संघ में।

दो और घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि बौद्ध संघ की कार्यपद्धति कुछ मात्रा में वैसी ही थी ही जैसी राजनीतिक सभाओं की। मूलसरस्वती वाद शाखा के एक ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन है कि एक बार कोशल के राजा ने शाक्य राजधानी को घेर लिया तथा शाक्यों के पास एक दूत भेजा जिसमें उसने कहा कि उसे शाक्यों के प्रति कोई विद्वेष नहीं है। उसने यह भी कहा कि अब शाक्यों की पराजय भी निश्चित है। अतः उसने शाक्यों से नगर के द्वार खोलने के लिये कहा। तब शाक्यों ने निश्चित किया कि वे सम्मिलित होकर विचार करेंगे कि वे द्वार खोले अथवा नहीं। जब वे एकत्रित हुए तब उसमें से कुछ ने द्वार खोलने का परामर्श दिया तथा कुछ ने इसका विरोध किया। अतः उन्होंने फिर बहुमत से निर्णय लेने और इसके लिए मतदान करने का विचार किया। यह बहुमत तथा मतदान का विचार भी बौद्ध संघ में मिलता है। चीवरवस्तु नामक ग्रन्थ में एक नये सेनापति के निर्वाचन की घटना वर्णित है। लिच्छवियों के सेनापति खण्ड की मृत्यु हो गयी तब उसके उत्तराधिकारी के निर्वाचन के लिये वैशाली में गण की एक सभा हुई। कुछ ने खण्ड के बड़े पुत्र गोप का नाम प्रस्तावित किया तथा कुछ ने क्रोधी गोप की तुलना में उसके छोटे विनम्र पुत्र सिंह का नाम सुझाया। अन्त में सर्वसम्मति से सिंह को सेनापति निर्वाचित किया गया। इस घटना में पहली घटना के ही समान विचार करने की पद्धति वर्णित है। केवल इसमें बहुमत के स्थान पर सर्वसम्मति से निर्णय लिया गया।

जातकों में भी दो कथाऐं आती हैं, एक कथा में बताया है कि एक नगर में राजा का स्थान रिक्त हो गया। अतः सभी मंत्रियों तथा नागरों (नगर-निवासियों) ने एकछन्द के द्वारा अपने राजा को निर्वाचित किया। क्योंकि बौद्ध संघ में भी मतदान के लिए 'छन्द' शब्द आया है अतः इससे भी ऐसा लगता है कि बौद्ध संघ की कार्यपद्धति राजनीतिक कार्यपद्धति के समान थी। जातकों की दूसरी कथा में पक्षियों द्वारा अपने राजा के निर्वाचन की घटना है। एक पक्षी ने उल्लू को राजा के पद के लिए प्रस्तावित किया तथा प्रस्ताव को दो बार दुहराया परन्तु प्रस्ताव के तीसरे बार दुहराये जाने के पूर्व सभा के एक सदस्य ने प्रस्ताव का विरोध किया। उसने यह भी माँग की कि उसे अपने मत के समर्थन में भाषण करने की अनुमति दी जाये। सभा ने उसे इस शर्त पर अनुमति दी कि वह अपना विरोध धर्म और अर्थ के आधार पर करेगा। विरोध करने वाले के भाषण के पश्चात् उसका विरोध स्वीकृत हो गया तथा हंस को राजा चुना गया। यद्यपि यह कथा पक्षियों के सम्बन्ध में है, परन्तु गणतंत्र की राजनीतिक कार्यपद्धति को प्रतिबिम्बित करती है। प्रस्ताव का तीन बार दुहराया जाना तथा तब तक उसका विरोध न होने पर उसका स्वीकृत हो जाना बौद्ध संघ की कार्यपद्धति में है।

इसके अतिरिक्त उस समय के गणतंत्र तथा बौद्ध संघ समकालीन थे। अतः इससे यही निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि बौद्ध संघ की कार्यपद्धति राजनीतिक

संघों की कार्यपद्धति के समान थी। इसलिए बौद्ध संघ की कार्यपद्धति के वर्णन से राजनीतिक कार्यपद्धति की कल्पना हो सकती है। वह कार्यपद्धति स्पष्ट रूप से निर्धारित थी तथा उसकी अपनी विशिष्ट शब्दावली थी। सभा में बैठने की समुचित व्यवस्था थी तथा उसके लिए एक विशेष अधिकारी नियुक्त होता था जिसे आसन-पञ्ञापक (प्रज्ञापक) कहा जाता था। चुल्लवग्ग में बौद्ध संघ की वैशाली की बैठक के वर्णन में आया है कि दस वर्ष के भिक्खु अजित को आसनपञ्ञापक नियुक्त किया गया।

विचार का प्रारम्भ किसी प्रस्ताव से होता था जिसको 'ञप्ति' (ज्ञाप्ति) नाम दिया गया है। जो निर्णय संघ द्वारा लिया जाता था उसे 'प्रतिज्ञा' कहा है। चुल्लवग्ग में इसके उदाहरण हैं। पहला उदाहरण बुद्ध के सामने का है। बुद्ध के निर्देश पर प्रस्ताव किया गया था। प्रस्तावक ने कहा "आदरणीय संघ मेरी बात सुने। इस भिक्खु उवाल से एक अपराध के लिए संघ में पूछे जाने पर वह पहले मना करता है, फिर स्वीकार करता है, स्वीकार कर फिर मना कर देता है, प्रत्यारोप लगाता है तथा जानते हुए भी झूँठ बोलता है। यदि संघ को इस समय यह उचित लगे तो वह भिक्खु उवाल के विरुद्ध तास पापियस्सिका कम्म (दण्ड) पूरित करे। यह ञप्ति है। आदरणीय लोगों में जो उवाल के विरुद्ध तस्स पापियस्सिका कम्म पूरित करने के लिये सहमत हो वह चुप रहे जो इसे स्वीकार नहीं करता वह बोले।" इसी प्रस्ताव को तीन बार दुहराया गया तथा विरोध न होने पर यह स्वीकृत कर लिया गया। बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध संघ की राजगृह की सभा में इसी पद्धति से एक अन्य प्रस्ताव रखे जाने का उल्लेख है। यदि प्रस्ताव (ञप्ति) एक बार रखा जाता था तो उसके लिये शब्द 'ञत्ति दुतिय' था तथा यदि उसे चार बार रखा जाता था तो उसे 'ञत्ति चतुर्थ्य', कहा जाता था। प्रस्ताव का निर्णय (प्रतिज्ञा) सभा के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए शब्द था 'कम्मवाचा'। यदि ञत्ति अथवा कम्मवाचा निर्धारित बार न प्रस्तावित किया जाये तो वह कार्य महावग्ग के अनुसार अमान्य माना जाता था।

भिक्खुओं की सभा में कुछ अल्पतम संख्या का उपस्थित रहना आवश्यक था। महावग्ग के अनुसार स्थानीय छोटी बैठकों में यह संख्या अल्पतम बीस थी तथा महावग्ग के अनुसार यदि कोई कार्य नियमित पद्धति से तथा अल्पतम संख्या के अभाव में हो तो वह कार्य अमान्य तथा लागू करने के अयोग्य माना जाता था। एक सदस्य के पास यह अल्पतम संख्या उपस्थित कराने का कार्य रहता था जिसे महावग्ग में 'गणपूरक' कहा है। मत को 'छन्द' कहा जाता था। 'छन्द' का शाब्दिक अर्थ है 'इच्छा' अर्थात् मतदान स्वेच्छापूर्वक होता था। उन लोगों का भी मत एकत्रित किया जाता था जो मत देने के अधिकारी हों परन्तु किसी कारण अनुपस्थित हों। ऐसा न करने पर प्रस्ताव अनियमित घोषित किया जा सकता

था। "हे भिक्खुगण ! यदि एक ञात्तिदुतिय कार्य में मत देने के अधिकारी सभी भिक्खु उपस्थित न हों तथा यदि उन लोगों का, जिन्हें अपना छन्द घोषित करना है, छन्द प्रस्तुत न किया हो और यदि उपस्थित भिक्खु विरोध करें तो वह कार्य एक अपूर्ण संघ द्वारा किया हुआ होगा।"

यदि संघ में किसी प्रस्ताव के विषय में सर्वसम्मति हो तो उस प्रस्ताव पर मत नहीं लिये जाते थे, परन्तु यदि मतभेद हो तो 'बहुतर' द्वारा निर्णय होता था। इस पद्धति को पाली भाषा में कहा गया है 'ये भूय्यसिकम्' (येभूयसीयकम्) अर्थात् 'जो भूय (अधिक) है (वह) पद्धति'। मतपत्रों के लिए शब्द था 'शलाका', मतदान के लिये 'शलाकाग्रहण' तथा संघ द्वारा मत एकत्रित करने वाले व्यक्ति के लिए 'शलाकाग्राहक'। चुल्लवग्ग में है "वह भिक्खु शलाकाग्राहक नियुक्त होगा जिसमें पाँच गुण हों—जो पक्षपातपूर्ण न हो, जो द्वेषपूर्ण न हो, जो मूर्ख न हो, जो भीरु न हो तथा जो यह समझता हो कि कौन से (मत) लिये गये हैं, कौन से नहीं···। उस शलाकाग्राहक भिक्खु के द्वारा शलाका एकत्रित की जायेंगी और धम्म तथा बहुतर भिक्खु जैसा कहेंगे तदनुसार उस विषय में निर्णय होगा।" इसके आगे मतदान की तीन प्रकार की पद्धति वर्णित है—गुप्त पद्धति जिसे 'गूल्हकम' कहा है, चुपचाप मत बताने को 'सकण्ण-जप्पकम्' कहा है तथा प्रकट पद्धति जिसे 'विवटकम्' कहा है। गुप्त पद्धति का वर्णन भी दिया गया है कि जब कोई भिक्खु मतदान के लिये आता है उसे जिस पक्ष में वह मत देगा उस ओर के लिए निर्दिष्ट रंग की शलाका लेने को कहा जाता है तथा उसे बताया जाता है कि वह इसे किसी को न दिखाये। कभी-कभी जब व्यर्थ के भाषण होते थे और उन भाषणों से कोई निश्चित बात नहीं प्रकट होती थी तब वह प्रश्न कुछ व्यक्तियों को सौंप दिया जाता था। इसे वर्तमान काल की समिति पद्धति के समान माना जाता था। इस प्रकार के निर्णय के लिये नियुक्त होने वाले भिक्खुओं से नियुक्ति के पहले पूछ लिया जाता था। चुल्लवग्ग के अनुसार कोई समझदार और योग्य भिक्खु संघ के समक्ष प्रस्ताव करता था "आदरणीय संघ मेरी बात सुने। जब इस प्रश्न की जाँच हो रही थी उस समय हम में निरर्थक भाषण हुआ तथा कोई भी कथन स्पष्ट नहीं था। यदि संघ को इस समय उचित लगे तो संघ इन-इन (नाम) भिक्खुओं को उब्बाहिका (समिति) के लिए नियुक्त करे। यह ञत्ति है···। हे भिक्खुगण यदि ये भिक्खु समिति में इस प्रश्न को न सुलझा सकें तो उन्हें चाहिये कि वे संघ को मामला (पुनः) सौंप दें।" चुल्लवग्ग में इसी प्रकार की एक अन्य घटना का उल्लेख है जिसमें भिक्खु रेवत के प्रस्ताव पर दो द्वासों (निवासों) के चार-चार अर्थात् आठ भिक्खुओं को एक प्रश्न सौंप दिया गया। इस पद्धति का नाम 'सम्मुख-विनय' दिया गया है। "हे भिक्खुगण ! यदि जिन भिक्खुओं को प्रश्न सौंपा गया है वह प्रश्न को सुलझा देते हैं तो वह प्रश्न निर्णीत माना जायेगा। किस प्रकार से वह निर्णीत होगा ? सम्मुख-विनय के

द्वारा। (इसमें) धम्म का भी प्रतिनिधित्व होता है, और उस व्यक्ति का भी प्रतिनिधित्व होता है।"

चुल्लवग्ग के अनुसार यदि कोई सदस्य विवाद में अपने को नियंत्रित नहीं रखता था और भाषण में अपनी ही बातों में परस्पर विरोध तथा कलह प्रवृत्ति आदि प्रकट करता था तो वह निन्दा की कार्यवाही का भागी होता था।

एक प्रश्न का निर्णय हो जाने के पश्चात् उस पर पुनर्विचार नहीं हो सकता था। यदि कोई निर्णय किसी अपूर्ण सभा द्वारा लिया जाता था तो पूर्ण सभा द्वारा भी उसके निर्णय के विषय में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त यदि किसी विषय पर कोई निर्णय ले लिया जाता था और यदि कोई वादी उस प्रश्न को फिर उठाना चाहता था तो यह भी एक पचित्तिय (अपराध) माना जाता था।

अतः प्राचीन भारत में कम से कम ईसा पूर्व छठी शताब्दी से कुछ काल तक गणराज्य थे और इन गणराज्यों की एक निश्चित कार्यपद्धति भी थी जिसकी अपनी विशिष्ट शब्दावली थी।

—: ० :—

परिशिष्ट ६

सम्पत्ति

पीछे कर के जिन सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, वह व्यक्ति के सम्पत्ति के अधिकार द्वारा सीमित है। जैसा बताया गया राजा मनमाने कर नहीं लगा सकता और उसको इस बात का विचार कर कर लगाने चाहिएँ कि उससे असन्तोष उत्पन्न न हो, उसके कारण व्यक्ति अपना धन छिपाकर न रखें, उससे इतना बोझा न पड़े जिससे साधारणतया व्यक्तियों का आर्थिक जीवन कठिनाईपूर्ण हो जाये तथा जिसके कारण उत्पादकों तथा आर्थिक कार्य में लगे लोगों की समाज को समृद्ध बनाने की क्षमता न समाप्त हो जाये। दूसरी ओर सम्पत्ति के अधिकार की भी सीमाएँ हैं।

सम्पत्ति के अधिकार की सम्पूर्ण भारतीय विचार में मान्यता इतनी स्वाभाविक है कि उसके विषय में किसी प्रकार की शंका अथवा आपत्ति की बात ही कहीं उठायी नहीं गयी है। वेदों में व्यक्तियों की देवताओं से विविध सूक्तों में प्रार्थनाएँ दिखायी देती हैं कि वह उन्हें सम्पत्ति दें, पशु दें तथा कहीं-कहीं घर और अन्न देने की भी प्रार्थनाएँ हैं। गौतम धर्म सूत्र में स्वामित्व अथवा स्वत्व के पाँच ऐसे साधन बताये हैं जो सभी व्यक्तियों के लिए समान हैं—रिक्थ, क्रय, संविभाग, परिग्रह तथा अधिगम। मिताक्षरा में इनका स्पष्टीकरण किया गया है। अप्रतिबन्धित दाय अर्थात् उत्तराधिकार रिक्थ हैं। किसी वस्तु को मोल लेना क्रय है। प्रतिबन्ध सहित उत्तराधिकार संविभाग है। किसी वस्तु को, जो पहले किसी की नहीं थी, प्राप्त कर लेना परिग्रह है तथा निधि (गढ़ा हुआ धन) आदि प्राप्त कर लेना अधिगम है। अप्रतिबन्धित और प्रतिबन्धित उत्तराधिकार में अन्तर यह है कि अप्रतिबन्धित उत्तराधिकार वह है जिसमें किसी प्रकार का विभाजन न हो और जो सम्पूर्ण एक को अथवा सम्मिलित रूप से कइयों को प्राप्त हो और प्रतिबन्धित उत्तराधिकार वह है जिसमें प्रत्येक के उत्तराधिकार की सीमाएँ हैं कि इस व्यक्ति को इतना भाग अथवा ये वस्तुएँ ही प्राप्त होंगी। इसके अतिरिक्त गौतम के अनुसार ब्राह्मणों के लिए दान, क्षत्रियों के लिए विजय, वैश्य के लिए कृषि तथा शूद्र के लिए सेवा स्वामित्व के अन्य साधन हैं। वसिष्ठ ने भी स्वामित्व के आठ साधनों का वर्णन किया है। मनु ने कहा है कि विद्या धन, मित्रों से भेंट में प्राप्त वस्तुएँ, विवाह तथा मधुपर्क के समय प्राप्त वस्तुएँ और एक व्यक्ति जो बिना पैतृक सम्पत्ति की सहायता लिए स्वयं परिश्रम से धन अर्जित करता है वह व्यक्ति की निजी

सम्पत्ति है जिसका पैतृक सम्पत्ति के साथ विभाजन नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने इन सब का उल्लेख करने के अतिरिक्त उस पैतृक सम्पत्ति को भी इसी श्रेणी में उल्लेख किया है, जिसे व्यक्ति ने अपने प्रयत्नों से पुनः प्राप्त कर ली है। यह सब उद्धरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि भारतीय विचार सम्पत्ति का व्यक्तिगत अधिकार स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त स्मृतियों तथा अर्थशास्त्र के व्यवहार अंश में भी जो व्यवहारपाद दिये हुए हैं उसमें ऋणादान (ऋण की वापसी), उपनिधि अथवा निक्षेप (धरोहर), अस्वामी विक्रय (स्वामित्व के अधिकार के बिना किसी वस्तु का विक्रय करना), सम्भूय समुत्थान (साझेदारी), स्तेय (चोरी) तथा दाय-विभाग (सम्पत्ति के उत्तराधिकार का विभाजन) व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की पुष्टि करते हैं।

सम्पत्ति का अधिकार इससे भी प्रमाणित है कि राज्य को कर एक सीमा तक ही लगाना चाहिए जिससे व्यक्तियों की सम्पत्ति पर अनावश्यक तथा हानि-कारक अतिक्रमण न हो (देखिए अध्याय १२)। सम्पत्ति का अधिकार केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं स्त्रियों को जो कुछ उनके पिता तथा पति के घर से अथवा अन्य लोगों से प्राप्त हुआ है वह उनकी सम्पत्ति है जिसे स्त्रीधन कहा गया है। इस बात का विस्तार से वर्णन मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, स्मृति तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र में है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के कई प्रकार बताये गये हैं। सम्पत्ति का एक साधारण विभाजन है स्थावर और जंगम सम्पत्ति। जो सम्पत्ति स्थिर है जैसे भूमि, गृह आदि वह स्थावर सम्पत्ति है, जो सम्पत्ति चल है अर्थात् जिसका स्थान परिवर्तित हो सकता है वह जंगम सम्पत्ति है। एक दूसरा विभाजन सम्पत्ति का है, जिसमें सम्पत्ति तीन प्रकार की बतायी गयी है: भू, निबन्ध तथा द्रव्य। इसमें भू और द्रव्य तो स्थावर तथा जंगम सम्पत्ति के ही दूसरे नाम प्रतीत होते हैं। निबन्ध का अर्थ है किसी व्यक्ति, परिवार, मन्दिर आदि को एक निश्चित अवधि के पश्चात् नियमित रूप से (मासिक, वार्षिक आदि) धन अथवा वस्तु के रूप में प्राप्त होने वाली आय, चाहे वह राज्य से प्राप्त हो अथवा ग्राम से अथवा जाति समूह से अथवा किसी कुल से। सम्पत्ति का एक तीसरा विभाजन है संयुक्त सम्पत्ति तथा पृथक् सम्पत्ति। एक कुटुम्ब के सदस्यों की जो सम्मिलित सम्पत्ति है वह संयुक्त सम्पत्ति है, एक व्यक्ति की जो अपनी सम्पत्ति है जिसमें किसी का भाग नहीं है वह पृथक् सम्पत्ति है। संयुक्त सम्पत्ति में अविभाजित पैतृक सम्पत्ति होती है तथा इस सम्पत्ति के माध्यम से अर्जित अन्य सम्पत्ति भी अथवा यदि व्यक्तियों ने पृथक्-पृथक् रूप से सम्पत्ति अर्जित की हो और उसे इस संयुक्त सम्पत्ति में मिला दिया हो तो वह भी संयुक्त सम्पत्ति होती है। पृथक् सम्पत्ति में पिता, पितामह तथा प्रपितामह के अतिरिक्त अन्य लोगों से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति, इन लोगों ने यदि स्वेच्छा से किसी को अपनी

सम्पत्ति का कुछ भाग प्रेमपूर्वक दे दिया है, पैतृक सम्पत्ति का वह भाग जिसका इस प्रकार विभाजन हो गया हो कि इसमें अब एक व्यक्ति को छोड़कर किसी का भी अंश नहीं है (पुत्र आदि का भी) तथा अपने प्रयत्न से अर्जित सम्पत्ति।

मनुस्मृति में इस बात का वर्णन करते हुए कि पुरुष को पर स्त्री से संबंध नहीं रखना चाहिए क्योंकि स्त्री एक बार जिसकी हो गयी उसी की रहती है, यह कहा गया है कि खेत उसका होता है जिसने उसके ऊपर से वृक्षों को साफ किया है तथा हिरन उसका होता है जिसका तीर उसे पहले लगा। यहाँ मनुस्मृति ने इस बात का वर्णन किया है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ होगा और यह वर्णन लॉक के उस सिद्धान्त के अनुरूप है कि सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु में अपना परिश्रम मिलाने के ऊपर निर्भर करता है। भारतीय विचार में इस बात को स्वीकार किया गया है कि यह सम्पत्ति का भाव प्रारम्भ में (संभवत: सतयुग में) नहीं था तथा यह भाव बाद में उत्पन्न हुआ। विभिन्न स्थानों पर बताया गया है कि उस युग में न राज्य था, न यज्ञ थे, न वर्ण थे, न विवाह था, न कृषि थी। महाभारत में उस अवस्था का वर्णन ऐसी राज्य विहीन अवस्था के रूप में किया गया है जहाँ सब लोग धर्म के द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा करते थे। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा करते हुए वह थक गये अर्थात् ऐसा करते रहने में उन्हें कष्ट का अनुभव होने लगा और इस कारण वह मोहग्रस्त हो गये। तत्पश्चात् उनमें लोभ आ गया और वह उन सभी वस्तुओं को जो उनके पास नहीं थीं, प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। ऐसा ही वर्णन मत्स्य और वायु पुराणों में भी आता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव जीवन के कुछ समय बाद आयी और उसी के साथ समाज-व्यवस्था, विवाह आदि की उत्पत्ति हुई। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि संपत्तिविहीन अवस्था तभी संभव है और समाज में बिना संपत्ति के सुव्यवस्था का बने रहना अर्थात् वस्तुओं के बिना किसी मोह के सब लोग एक-दूसरे की आवश्यकता पर वस्तुएँ एक दूसरे को देते रहें, अपने कार्य के अनुरूप पाने की आशा के बिना अपना-अपना कार्य सुचारु रूप से करते रहें तभी हो सकता है जबकि सभी लोगों के द्वारा धर्म का स्वत: पालन किया जाता हो। जब धर्म पालन में त्रुटि होने लगती है और ऐसा लगता है धर्म स्थापना के लिए समाज-व्यवस्था तथा राज्य-व्यवस्था आदि की आवश्यकता है तब उसी के समय पृथक्-पृथक् वस्तुओं का प्रत्येक का पृथक् स्वामित्व निर्दिष्ट होने अर्थात् व्यक्तिगत संपत्ति की मान्यता की तथा संपत्ति के संबंधों के नियमन करने की आवश्यकता भी प्रतीत होती है।

सम्पत्ति का स्वामित्व बाद में आया हो केवल इतना ही नहीं उसी के साथ-साथ सम्पत्ति की रक्षा के लिए राज्य की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई। अराजक अवस्था के वर्णनों में यह प्रमुख अंग है कि राज्य के बिना सम्पत्ति सुरक्षित नहीं

रहती। मनुस्मृति ने परमात्मा द्वारा राजा की निर्मिति बताने के पश्चात् कहा है कि यदि राजा दण्ड का प्रयोग न करे तो "किसी का भी स्वामित्व न हो और श्रेष्ठ तथा निकृष्ट का भेद न रहे"। रामायण में अराजक अवस्था के वर्णन मे बताया गया है कि 'अराजकता में धन नहीं रहता।' अराजक जनपद में धनवान सुरक्षित नहीं रहते तथा कृषि और गोरक्षा पर जीवित रहने वाले (वैश्य) द्वार खोलकर नहीं सो सकते। अराजक जनपद में व्यापार की बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर दूरगामी वणिक् कुशलतापूर्वक नहीं जा पाते।...अराजक जनपद में अपनी कही जाने वाली कोई वस्तु नहीं होती। इसी प्रकार के वर्णन महाभारत में हैं। जिस देश में अराजकता है वहाँ धन पर तथा पत्नी पर अधिकार नहीं रहता। अराजकता में पापी दूसरे का धन हरण कर प्रसन्न रहता है परन्तु जब दूसरे इसका भी धन ले लेते हैं तब वह राजा के होने की इच्छा करने लगता है। उसमें पापी भी कभी कुशलपूर्वक नहीं रह सकता। एक का धन दो लोग और उन दो का अन्य बहुत लोग। उसमें जो दास नहीं है वह दास बना लिया जाता है तथा स्त्रियों का बलपूर्वक हरण होता है। बौद्ध ग्रन्थों में भी यही बताया है कि सम्पत्ति का उदय हुआ तथा उसी के साथ राज्य की आवश्यकता उत्पन्न हुई। दीघ निकाय के अग्गञ्ज सुत्तन्त में बुद्ध ने सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम बताते हुए कहा है कि जब पुन: सृष्टि का निर्माण होता है तब जीव अपने पूर्व गुणों के साथ जन्म लेते हैं। प्रारम्भ में मानसी सृष्टि होती है परन्तु जब पृथ्वी उत्पन्न होती है और वह लोभवश उसका उपभोग करने लगते हैं तब से उनके द्वारा शरीर-धारण प्रारम्भ हो जाता है। इनमें से कुछ के शरीर सुन्दर तथा कुछ के शरीर कुरूप होते हैं। जब अभिमान के कारण सुन्दर व्यक्ति कुरूपों से घृणा करने लगते हैं तब वनस्पति का जन्म होता है तथा अन्त में स्वयं उत्पन्न होने वाला चावल पैदा होने लगता है। यह खाने से शरीर का स्वरूप और स्पष्ट होता है, लिंगभेद उत्पन्न होता है तथा पुरुषों और स्त्रियों में काम का संचार होता है। काम के आधीन यह व्यक्ति कुटुम्बों का निर्माण करते हैं तथा चावल इकट्ठा करके रखना प्रारम्भ करते हैं। इस सबके कारण स्वयं उत्पन्न होने वाला चावल उगना बन्द हो जाता है और फिर सब लोग एकत्र होकर चावल के खेतों का बँटवारा तथा उनकी सीमाओं का निर्माण करते हैं। इस सम्पत्ति की रक्षा के लिए राज्य का निर्माण हुआ। अत: भारतीय विचार के अनुसार राज्य की स्थापना और उसके अस्तित्व का एक प्रमुख कारण सम्पत्ति की सुरक्षा ही है। इसके अतिरिक्त पीछे बताया ही गया है कि राज्य का एक प्रमुख कारण सम्पत्ति की सुरक्षा ही है। इसके अतिरिक्त पीछे बताया ही गया है कि राज्य का कार्य प्रजारक्षण है और उस रक्षण के अन्तर्गत सम्पत्ति की रक्षा भी एक प्रमुख कार्य है, यद्यपि यह भी पीछे करों का वर्णन करते समय बताया है कि यह सम्पत्ति की रक्षा इसलिए की कि धनवान व्यक्ति सम्पत्ति का मनमाना प्रयोग करें।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय विचार में सम्पत्ति के अधिकार भी सीमाएँ हैं। सबसे प्रथम सीमा यह है कि सम्पत्ति का यह स्वामित्व जीवन के एक चतुर्थ भाग के लिए ही स्वीकृत है अर्थात् केवल गृहस्थाश्रम में व्यक्ति सम्पत्ति रख

सकता है। अन्य तीनों आश्रमों में व्यक्ति अपने पास केवल आवश्यकता की कुछ वस्तुएँ ही रखेगा। सम्पत्ति के उपभोग पर भी कुछ सीमाएँ हैं। पीछे करों के वर्णन में यह बताया ही है कि सम्पत्ति सत्कार्य के लिए ही प्रयोग होनी चाहिए केवल स्वार्थ अथवा उस कार्य के लिए नहीं, अन्यथा राज्य को सम्पत्ति छीनने का अधिकार है .जैसा बताया गया है केवल यज्ञशेष का उपभोग करने का आग्रह है अर्थात् गृहस्था व्यक्तित पंच महायज्ञ में पशु पक्षियों, अतिथियों; देवताओं, और पितरों का पोषण करने के पश्चात् अन्यआश्रमों के व्यक्तियों को भोजन देकर जो शेष बचे उसी का उपभोग करे। गीता में कहा है "देवताओं द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है वह चोर ही है। यज्ञशेष अन्न को खाने वाले श्रेष्ठ सब पापों से मुक्त हो जाते है।" इसका अर्थ यह है कि ऐसा न हो कि पहले स्वयं उपभोग कर तब जो बचे वह दूसरों को दे, अपितु दूसरों को देकर जो बचे वह अपने लिए रखे। नारदपुराण में इस प्रकार भी कहा गया है कि धन की श्रेष्ठ गति है दान तथा दान के पश्चात् उपभोग आता है यह इस प्रकार भी कहा गया है कि जिनका धन यज्ञार्थ नहीं है वह राज्य ले सकता है। मनुस्मृति का भी कहना है कि जिस राजा को धन की आवश्यकता है वह यज्ञ न करने वालों तथा दस्युओं से ले ले तथा जो यज्ञ नहीं करते हैं उनकी सम्पत्ति असुरों की सम्पत्ति ही है, अतः यह ली जा सकती है। महाभारत में कई स्थान पर राजा द्वारा यज्ञ न करने वाले, निष्क्रिय, देव-पितर-मनुष्यों के लिए व्यय न करने वाले, असज्जन तथा दस्युओं का धन हरण करने की बात कही स्थानों पर की गयी है। स्त्री के द्वारा स्त्रीधन प्रयोग की सीमाएँ हैं। मनुस्मृति के अनुसार स्त्री बिना पति की आज्ञा के अपने धन का व्यय न करें कौटिल्य के अनुसार जब पति प्रवास पर जाये उस समय स्त्री द्वारा स्त्रीधन को अपने, पुत्र तथा पुत्रवधू के पोषण के लिए प्रयोग करने में दोष नहीं है अर्थात् अन्य अवस्थाओं में स्त्री पति की अनुमति से ही अपना धन व्यय कर सकती है, स्वेच्छानुसार नहीं। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार सम्पत्ति राज्य के लिए निर्दिष्ट आर्थिक कार्यों द्वारा भी सीमित है। जैसा राज्य के कार्यों के विवरण में बताया गया राज्य को उस व्यक्ति से भूमि ले लेने का अधिकार था जो उसे न जोते। राज्य को व्यापारियों प्रारा बेची जाने वाली वस्तुओं के मूल्य निर्धारित करने का अधिकार था तथा व्यापारियों पर अन्य प्रकार के नियन्त्रण भी थे। राज्य द्वारा अन्य उद्योगों तथा व्यवसायों पर भी नियन्त्रण रखने का अधिकार इस प्रकार था कि वह जनता के हित के विपरीत कार्य न करें।

सम्पत्ति के अधिकार के विषय में सबसे अन्तिम महत्वपूर्ण विषय यह है कि भूमि पर स्वामित्व राजा का था अथवा व्यक्तियों का। यह विवाद यूरोपीय विद्वानों की इस धारणा के आधार पर प्रारम्भ हुआ कि भारतवर्ष में भी प्राचीनकाल में भूमि-व्यवस्था की fendal पद्धति थी। यह विवाद मनुस्मृति के इस श्लोक पर आधारित है कि "पुरानी निधियों तथा भूमि में स्थित धातुओं का आधा भाग राजा (का) उसके रक्षा करने के कारण (है) क्योंकि वही भूमि का अधिपति है।" इसके

अतिरिक्त कौटिल्य के टीकाकार भट्टस्वामी ने एक श्लोक उधृद्त किया है जिसमें यह कहा गया कि "शास्त्रज्ञों के अनुसार राजा भूमि तथा जल का स्वामी है।" इसी आधार पर ब्यूहलर, विन्सेन्ट स्मिथ आदि विद्वानों ने उपरोक्त मत प्रतिपादित किया। परन्तु अन्य विद्वान इस मत का विरोध करते हैं। श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने इस विषय में मीमांसाकारों का विवेचन दिया है। जैमिनी के एक सूत्र में कहा है 'न भूमि स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" जिसका सन्दर्भ यह है कि विश्वजित् यज्ञ में जब राजा अपनी सब सम्पत्ति किसी को दान करता है तो उसके अन्तर्गत वह सम्पूर्ण भूमि नहीं दे सकता क्योंकि यह सब की है। भूमि (का राजा द्वारा हस्तान्तरण) नहीं है क्योंकि वह समान रूप से सबकी है। "शबर स्वामी ने भी जैमिनी के मीमांसासूत्र के भाष्य में स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि राजा उसी भूमि का हस्तान्तरण कर सकता है जो उसकी है, अन्यथा वह अन्य प्रजाजनों की भूमि का भी हस्तान्तरण कर देगा। उसका रक्षा करने के कारण कर लेने मात्र का अधिकार है। श्री जायसवाल महोदय ने कोलबुक का उद्धरण दिया है जो इस विषय को स्पष्ट करता है। (विविध लेख भाग--पृ. ३२०-२१)। "छठवें भाग में एक पर्याप्त महत्व के प्रश्न की विवेचना की गयी है, जिसमें भारत में भूमि की सम्पत्ति का महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है। कुछ यज्ञों में जैसे विश्वजित् यज्ञ, यज्ञकर्त्ता से जिसके हित के लिए यज्ञ किया गया है, उसे पुरोहित को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दान करने के लिए कहा गया है। यह पूर्वपक्ष (प्रश्न उठाया गया) है कि क्या संप्रभु सभी भूमि, जिसमें गोचरभूमि, सड़कें तथा तालाबों और पोखरों आदि भी सम्मिलित हैं, दे सकता है। एक सार्वभौम सम्पूर्ण पृथ्वी को? एक माण्डलिक उस मण्डल को जिस पर वह शासन करता है? इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि पृथ्वी राजा की सम्पत्ति नहीं है और न (सम्पूर्ण) भूमि माण्डलिक की। विजय के द्वारा राजत्व और शत्रु के घर और खेतों की सम्पत्ति प्राप्त की जाती है।" जैमिनी और शबर के अतिरिक्त श्री जायसवाल ने नीलकण्ठ, माधवाचार्य, भट्टदीपिका के उद्धरण दिये हैं। नीलकण्ठ के अनुसार "क्षत्रिय आदि के लिए जय तथा अन्य साधन निर्दिष्ट हैं। जीत लेने पर भी विजित (राजा) का गृह, क्षेत्र (खेत), द्रव्य आदि में जो स्वत्व (स्वामित्व) है वही विजेता का होता है। जहाँ विजित (राजा) का कर ग्रहण करने (का अधिकार है) विजेता को भी वही अधिकार प्राप्त होता है स्वत्व नहीं। अतः छठी पुस्तक (मीमांसासूत्र) में सार्वभौम के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी अथवा माण्डलिक के द्वारा मण्डल दिया जावे, यह नहीं कहा है। सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल में उस-उस ग्राम, (और) क्षेत्र आदि का स्वत्व उस-उस भूमि के स्वामी आदि का है, राजा का तो केवल कर ग्रहण करने मात्र (का अधिकार है)। अतएव यहाँ जो क्षेत्र दानादि हैं वह भूदान नहीं है किन्तु केवल वृत्ति की व्यवस्था मात्र है। भूमि के स्वामी से यदि गृह, क्षेत्र आदि मोल लिया जाये तब (उसमें) स्वत्व भी होता है। (व्यवहारमयूरव-दायनिर्णय) माधवाचार्य के अनुसार दुष्टों को दण्ड देने तथा शिष्टों के परिपालन में राजा की संप्रभुता है, किन्तु वह भूमि

अपने कर्म के फल का भोग करने वाले साधारण प्राणियों का धन है।" भट्टदीपिका के अनुसार राज्य का इतना ही अधिकार है कि अपने क्षेत्र का पालन तथा कण्टकों का विनाश करे और इस निमित्त कृपकों से कर ले तथा दण्ड योग्य व्यक्तियों से दण्ड ले। उसका उसमें स्वत्व नहीं है। कात्यायन के अनुसार "राजा को भूमि का स्वामी तो सर्वदा कहा गया है अन्य किसी द्रव्य का नहीं। उसके फलस्वरूप वह षड्भाग (उत्पत्ति का छठा भाग) प्राप्त करता है अन्य कुछ नहीं।" इन सब प्रमाणों का स्पष्ट अर्थ है कि भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार मान्य था और भूस्वामी भूमि को किराये पर लेने वाला ही केवल नहीं था उसका वास्तविक स्वामी था तथा राजा का स्वामित्व इतना ही था कि वह शासन करता था, दुष्टों को, जिसमें भूस्वामी भी हो सकते हैं, दण्ड देता था तथा कर लेता था।

—: ० :—